2.1

कृष्णदास संस्कृत सीरीज 91

श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता

प्रौढमनोरमा

[श्रीहरिदीक्षितविरचित 'लघुशब्दरत्न' विभूषित]

सविमर्श 'भावप्रकाशिका' 'भावबोधिनी'

संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

(पञ्चसन्धिपर्यन्ता)

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

डॉ. जयशङ्करलाल त्रिपाठी

चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

Name Pankaj Parsai - Shastri I year
नाम - पंकज परसाई

~~नाम जितेन्द्र द्विवेदि~~

~~कक्षा उत्तर मध्यमा प्रथम वर्ष~~
~~द्वितीय वर्ष~~

जितेन्द्र द्विवेदी

कृष्णदास संस्कृत सीरीज

९१

❀❀❀❀
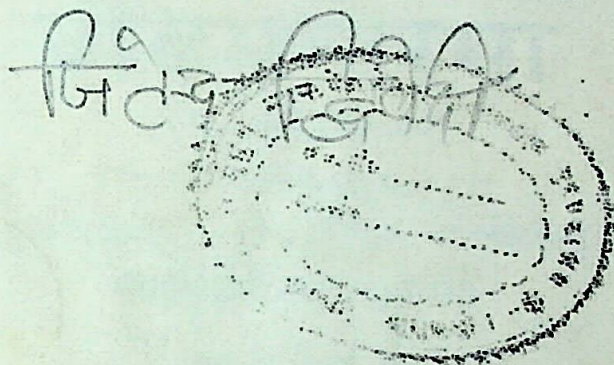
म० म० श्रीभट्टोजिदीक्षितविरचिता

प्रौढमनोरमा

म० म० श्रीहरिदीक्षितकृत-

लघुशब्दरत्नेन व्याख्यानेनालङ्कृता

सा च सविमर्श 'भावप्रकाशिका' 'भावबोधिनी'

संस्कृतहिन्दीव्याख्याद्वयोपेता

[पञ्चसन्धिपर्यन्ता]

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

डॉ० जयशङ्कर लाल त्रिपाठी

व्याकरणाचार्यः (लब्धस्वर्णपदकः), एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०

रीडर, संस्कृत-विभागः, कलासङ्कायः,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः, वाराणसी

कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक : कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण : पुनर्मुद्रित सम्बत् २०५९, सन् २००२
मूल्य : १००.००

ISBN : 81 - 218 - 0026 - 9

पोस्ट बॉक्स नं० १११८
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० १००८, के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस), ३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES

89

PRAUDHAMANORAMĀ

OF

M. M. BHATTOJI DISHITA

With

'LAGUSHABDARATNA' COMMENTARY

By

Pt. Shree Hari Dikshita

[Pancha-Sandhyanta]

Edited With

Bhāvaprakāśikā and **Bhāvabodhinī**

Sanskrit-Hindi Commentaries

By

Dr. Jaya Shankar Lal Tripathi

M. A., Acharya (Goldmedalist), Ph. D., D. Litt.

Reader, Department of Sanskrit, Faculty of Arts

Banaras Hindu University, Varanasi

KRISHNADAS ACADEMY

VARANASI

Publisher : Krishnadas Academy, Varanasi.
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.

Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221 001
Phone : 335020
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

Also can be had from

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi-221 001 (India)
Phone : Off. 333458, Resi. : 334032 & 335020
e-mail : cssoffice@satyam.net.in

सम्पादकीय

संस्कृत भाषा और उसका व्याकरण विश्व में सर्वोत्कृष्ट है। इसमें महान् वैयाकरण पाणिनि का योगदान सर्वाधिक है। लाघवप्रिय पाणिनि ने अपने व्याकरणसूत्रों में प्रत्येक वर्ण सुचिन्तित और सप्रयोजन रखा है। इसीलिए सूत्रशैली के आचार्यों में पाणिनि का स्थान सर्वोपरि है। पाणिनि ने संस्कृत का विशाल वाङ्मय, इसी शैली के केवल चार सहस्र सूत्रों से; नियन्त्रित करने में अद्भुत सफलता प्राप्त की है। परन्तु उनकी इस सूत्र-शैली से अध्येताओं के लिए कुछ जटिल समस्यायें भी उपस्थित हो गयीं। इसका अनुभव स्वयं पाणिनि ने भी किया था। इसीलिये इन्होंने अपने सूत्रों पर स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी थी।

आचार्य पाणिनि के उत्तरवर्ती आचार्य कात्यायन और पतञ्जलि जैसे मेधावी विद्वानों के प्रयास के फलस्वरूप पाणिनीय व्याकरण पल्लवित, पुष्पित होता हुआ सुप्रतिष्ठित हो गया। इन 'मुनित्रय' के आगे प्राचीन समस्त वैयाकरणों के कार्य समाप्तप्राय हो गये। अपने उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँचने के लिए समय समय पर इसके अध्ययन-अध्यापन की पद्धतियों में परिवर्तन भी होते रहे। कभी अष्टाध्यायीक्रमानुसारी पद्धति लोकप्रिय थी तो कभी प्रतिपद शास्त्रार्थपरक प्रक्रियाक्रमानुसारी पद्धति। द्वितीय पद्धति की उद्भावना का श्रेय यद्यपि धर्मकीर्ति को दिया जाता है, परन्तु इसका प्रौढ, उपयोगी और परिपूर्ण रूप प्रदान करने की यशः प्राप्ति के अधिकारी नव्य वैयाकरण-शिरोमणि भट्टोजिदीक्षित ही हैं।

दीक्षित ने महाभाष्य का गम्भीर अध्ययन और प्रचुर अभ्यास किया था। फलस्वरूप भाष्यविरुद्ध किसी मत को सहन करना इनके लिए असह्य था। यदि इनके पूज्य गुरु शेषकृष्ण का भी कोई कथन भाष्यविरुद्ध प्रतीत हुआ तो उसकी भी समालोचना करने में इन्होंने संकोच नहीं किया। इन्होंने पहले सूत्रों के विशद व्याख्यान के रूप में 'शब्दकौस्तुभ' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। बाद में व्यावहारिक उपयोगिता देखकर प्रक्रिया-क्रमानुसारी लक्ष्यसिद्धिप्रधान विवेचन करने के लिये 'वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी' की रचना की। इसकी रचना से एक नया युग ही प्रतिष्ठित होने लगा। इन्होंने पूर्ववर्ती विद्वानों के भ्रामक मत देखे। उनका खण्डन और

सिद्धान्तकौमुदी में अप्रदर्शित उपयोगी विचारों को प्रस्तुत करने के लिए 'सिद्धान्त-कौमुदी' की टीका के रूप में **'प्रौढमनोरमा'** नामक ग्रन्थ की रचना की। इसे पढ़कर विद्वानों में व्याकुलता छा गयी। कारण स्पष्ट था—अपने गुरुसहित प्राचीन विभिन्न आचार्यों के अपवक्तव्यों का प्रबल खण्डन। परिणाम यह हुआ कि दो दल बन गये—१. दीक्षित-विरोधी और २. दीक्षित-समर्थक। दोनों दलों के विद्वानों की ओर से खण्डनमण्डनपरक अनेक ग्रन्थ लिखे जाने लगे।

दीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित ने भी अपने पितामह के सदृश महाभाष्य का गंभीर अध्ययन और अभ्यास करके प्रौढ पाण्डित्य अर्जित किया था। इन्होंने अपने समक्ष उपस्थित 'प्रौढमनोरमा' के खण्डनमण्डनपरक समस्त ग्रन्थों का परिशीलन करके प्रतिपक्षियों के विरोध के रूप में प्रौढमनोरमा का **'बृहच्छब्दरत्न'** नामक व्याख्यान लिखा। इसके वाद अपने शिष्य नागेश भट्ट के सहयोग से **'लघुशब्दरत्न'** नामक दूसरा व्याख्यान लिखा। इन व्याख्यानों की गम्भीरता सर्वविदित है।

इस प्रकार 'सिद्धान्तकौमुदी' की टीका 'प्रौढमनोरमा' और इसकी टीका 'लघुशब्दरत्न' विद्वानों में प्रतिष्ठित हो गयीं। परन्तु इन टीकाओं की कठिनता का अनुभव सभी कर रहे थे। अतः नागेश के साक्षात् शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने 'लघुशब्दरत्न' पर 'भावप्रकाश' नामक अति उपयोगी व्याख्या लिखी। कुछ समय पश्चात् उसी परम्परा के दूसरे काशीस्थ विद्वान् भैरव मिश्र ने 'भैरवी' नामक उत्कृष्ट व्याख्या लिखी। इन दोनों का महत्त्व सर्वविदित है।

उपर्युक्त दोनों व्याख्यायें अति गम्भीर और विशद हैं। उनमें प्रमुख रूप से शब्दरत्न का ही व्याख्यान किया गया है। यत्र तत्र 'प्रौढमनोरमा' का भी व्याख्यान है।

आज के अध्येता के समक्ष कई समस्यायें हैं। प्राचीन काल के समान रटने और अभ्यास करने की परम्परा शनैः शनैः लुप्त होती जा रही है। अतः मूल, टीका और प्रटीका समझ सकना उसकी शक्ति से बाहर हो रहा है। प्राचीन व्याख्याओं की प्रौढता प्रसिद्ध है। अतः एक ऐसी सरल, सीधी-सादी, और उपयोगी अंशमात्र की संस्कृत-व्याख्या की अपेक्षा थी जो आधुनिक छात्रों की आवश्यकता के अनुरूप हो। इस उद्देश्य से यह **'भावप्रकाशिका'**-संस्कृत-व्याख्या लिखी गई है। इसमें 'सिद्धान्तकौमुदी' के उन अंशों को भी उद्धृत किया गया है जिनमें से प्रतीक लेकर

'प्रौढमनोरमा' व्याख्या लिखी गयी है। इस व्याख्या में 'प्रौढमनोरमा' और 'लघुशब्दरत्न' दोनों के व्याख्येय अंश स्पष्ट किये गये हैं। ऐसा प्रथमतः ही किया जा रहा है। जिन विषयों की स्पष्टता के लिए शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दावली अपेक्षित थी, वहाँ उसका आश्रयण किया गया है। अब इसकी उपयोगिता का निर्णय छात्र और निर्मत्सर विद्वान् ही करेंगे।

सम्प्रति संस्कृत-अध्ययन-अध्यापन की दुरवस्था से सभी संस्कृतज्ञ परिचित हैं। शास्त्रों की रक्षा और शास्त्रीय ज्ञान-प्रसार की महती आवश्यकता है। अन्य विषयों के समान व्याकरणशास्त्र का अध्येता भी हिन्दी-व्याख्या चाहता है क्योंकि उससे श्रम और समय दोनों की बचत होती है।

विगत अनेक वर्षों से अध्ययन-अध्यापन और लेखन में व्यापृत रहते हुए मेरे मन में यह संकल्प उठा कि संस्कृत-व्याकरण के उपयोगी, प्रसिद्ध और कठिन ग्रन्थों की हिन्दी-व्याख्या लिखूँ। कार्य जटिल है। फिर भी, यथाशक्ति प्रयास करके 'महाभाष्यपस्पशाह्निक' 'परमलघुमञ्जूषा', 'काशिकावृत्ति' की हिन्दी व्याख्या प्रकाशित करने के बाद अब 'प्रौढमनोरमाशब्दरत्न' की 'भावबोधिनी' हिन्दी-व्याख्या प्रकाशित की जा रही है।

'भावबोधिनी' हिन्दी व्याख्या में मूलग्रन्थ के अभिप्राय को अधिक से अधिक स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयास किया गया है। सामान्य अनुवाद से जहाँ आशय स्पष्ट नहीं हो सका है वहाँ कोष्ठकों में अतिरिक्त अंश जोड़ा गया है। इसमें सबसे बड़ी विशेषता है प्रतीकों के माध्यम से व्याख्या करना। इसमें तीन प्रतीकों का उपयोग किया गया है—[सि०कौ०], [मनो०], [शब्द०]। सामान्य व्याख्या से जो अंश स्पष्ट नहीं हो सके उन्हें अच्छी प्रकार समझाने के लिए 'विमर्श' के अन्तर्गत विशद प्रतिपादन है। इस प्रकार इस हिन्दी-व्याख्या से जिज्ञासु छात्र अधिक से अधिक लाभान्वित होंगे, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत दोनों व्याख्यायें लिखने में वैद्यनाथ की 'भावप्रकाश', भैरव मिश्र की 'भैरवी', पं० गोपालशास्त्री नेने और पं० सभापति शर्मोपाध्याय की टिप्पणियों से सहायता ली गयी है। अतः इन विद्वानों की अधमर्णता हृदय से स्वीकार है। इस प्रसङ्ग में पूज्य गुरुवर प्रो० पं० मुरलीधर मिश्र, प्रो० पं० भूपेन्द्रपति त्रिपाठी और प्रो० पं० कालिकाप्रसाद शुक्ल (सभी-भूतपूर्व व्याकरण-विभागाध्यक्ष, सं० सं० वि० वाराणसी) के चरणों में

अपनी भक्ति श्रद्धा व्यक्त करता हूँ क्योंकि उनके आशीर्वाद से इस कार्य को सम्पादित करने की शक्ति प्राप्त हो सकी।

प्रो० डा० विश्वनाथ भट्टाचार्य, संस्कृत-विभाग, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी ने इस ग्रंथ के लेखन और सम्पादनकार्य में अनेक उपयोगी परामर्श दिये, एतदर्थ उनका हृदय से आभारी हूँ।

मेरे विभागीय मित्र डा० सुधाकर मालवीय ने इसके प्रकाशन में सदैव अपेक्षित सहयोग प्रदान किया। अतः उनको हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ।

आज इस महर्घता के युग में विशाल ग्रंथों का प्रकाशन सबके वश की बात नहीं है। अतः इस ग्रन्थ को सुन्दर रूप में प्रकाशित करने के लिये 'चौखम्बा संस्कृत सीरीज' और 'कृष्णदास अकादमी' के संचालक-गण विशेषरूप से धन्यवाद के पात्र हैं।

पूर्ण प्रयास करने पर भी यत्र तत्र सामान्य त्रुटियाँ रह जाना स्वाभाविक है, विद्वज्जन उन्हें सुधार कर अनुगृहीत करेंगे।

विनयावनत

विजयादशमी —जयशङ्करलाल त्रिपाठी

१९४३

विषयानुक्रमणी

सशब्दरत्न-प्रौढमनोरमा

पृष्ठाङ्काः

संज्ञाप्रकरणम्

हल्सन्धि-प्रकरणम्

विसर्गसन्धिप्रकरणम्

स्वादिसन्धिप्रकरणम्

अशुद्धि-पत्रम्

प्रौढमनोरमायाम्

पृष्ठः	पङ्क्तिः	अशुद्धिः	शुद्धिः
२१	३	ब्रह्मण	ब्राह्मण

५३	१	प्रत्यय	प्रत्ययो
५८	३	स्ज्ञायाः	संज्ञायाः
७५	१	विनव	विनैव
७५	२	काय	कार्यं
१२२	४	स्वाराणो	स्वराणो
१९१	३	प्रामाणिक	प्रामाणिकैः
१९८	१	द्यो	द्यौः
२०१	२	इण न	इण् न
२१७	२	लापे	लोपे
२७९	४	तवव	तवैव
२९१	१	उपगर्ग	उपसर्गं
३३२	४	प्लुतगृह्या	प्लुतप्रगृह्या
३५०	१	त्प्रयुक्ताः	प्रत्युक्ताः
३५२	२	चत्वस्य	चत्वंस्य
३७६	४	द्वतम्	द्वैतम्
३९६	२	नकवचनम्	नैकवचनम्
४१६	५	ग्नहणम्	ग्रहणम्

शब्दरत्ने

७	१	पुमक्ह	पुमक्ह्
३७	६	ङ्गत्यापत्तेः	सङ्गत्यापत्तेः
४६	२	० मर्शसम्भवे	० मर्शासम्भवे
५६	४	त्यादिति	त्यादीति
८२	१	जसघुः प्त्वात्	जसः सुप्त्वात्
११४	२	त्येतत्	इत्येतत्
१२२	३	स्थितिति	स्थितमिति
१८९	६	पत्तो ।	पत्तौ
३१७	३	वै लिक	वैकल्पिक
३३८	१०	० स्वारप्राप्तिः	० स्वाराप्राप्तिः

भावप्रकाशिकायाम्

११	७	त्यस्यवृत्त्येति	त्यस्यावृत्त्येति
१२	४	सो	स
७०	५	बहुहिरिति	बहुव्रीहिरिति
७७	१६	:व्यवहिन्यते	व्यवह्रियन्ते

९६	१	वर्णाना माम्य०	वर्णानामाम्य०
९७	७	सामान्य=शास्त्र	सामान्य-शास्त्र
१०४	१३	सरकार०	सकार०
१५१	११	इत्यर्थक सद्वित्व	इत्यर्थकसद्वित्व
१५४	४	स्थनाशब्देति	स्थानशब्देति
१७७	२३	प्रथमाध्ययस्थ	प्रथमाध्यायस्थ
१७८	२	बोधोपकारकारत्व	बोधोपकारकत्व
१७८	४	निवेशानाधि०	निवेशेनाधि०
२०२	२०	तनेति	तेनेति
२०८	२	रेफषकाभ्यां	रेफषकाराभ्यां
२०८	१२	इकार	ईकार
२०८	१४	मग्रिमं	मग्रिमं
२१२	९	एञ्चेति	एवञ्चेति
२१७	२	सो	स
२४०	२	तस्येव	तस्यैव
२५५	७	सङ्गतित	सङ्गतिरतः
२५९	४	पाणिनिणा	पाणिनिना
३७६	६	परमेट्ति	परमाट्ति

भावबोधिन्याम्

१६	१	न 'विभक्तौ'	'न-विभक्तौ'
१८	२०	पदार्थं	परार्थं
२६	२१	अन्तर्भाव	अन्तर्भाव करके
४९	१८	लाभ	सूत्र से भी लाभ
५०	१६-१७ पंक्तियों की हिन्दी को १–२ पंक्तियों की हिन्दी समझ कर प्रारम्भ में ही पढ़ना चाहिये—"प्रायिक है अतः असंज्ञा में भी.... दाय—घजन्त हैं।..."		
९२	१५	नपुंक	नपुंसक
१०३	१०	दर्शनाभाभाव	दर्शनाभावाभाव
२५४	६	क्योंकि	[मनो०] क्योंकि
२७३	२	दूसरा वह	वह दूसरा
२७३	१५	क्योंकि षष्ठ कहना चाहिए	कहना चाहिए क्योंकि षष्ठ
२७७	१०	जिघाययिषति	जिघाययिषति
२९५	६	एको	इको

भूमिका

संस्कृतव्याकरण की प्राचीनता और महत्ता

भाषा के सूक्ष्म चिन्तन का सर्वप्रथम गौरव यदि किसी देश को प्राप्त है तो वह है भारतवर्ष। हमारे मनीषियों ने अति प्राचीन काल से ही शब्दतत्त्व के विषय में सोचना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होंने भाषा और शब्द की विभिन्न अवस्थाओं पर विचार किया था। इसका स्पष्ट प्रमाण है यहाँ का विशाल व्याकरण-साहित्य। पतञ्जलि ने अपने भाष्य में एक उपाख्यान का संकेत किया है। उसके अनुसार बृहस्पति ने इन्द्र को प्रतिपद अन्वाख्यान करते हुये शब्दों का अनुशासन किया था[1]। किन्तु उस पद्धति के द्वारा अध्यापन और अध्ययन में प्रश्नवाचक चिन्ह पतञ्जलि ने लगा दिया था। कारण स्पष्ट था कि उस पद्धति में अत्यधिक विस्तार था। अतः सामान्य मनुष्य के लिये वह सम्भव नहीं थी।[2]

कालान्तर में इस दिशा में चिन्तन करते हुए विद्वानों ने एक नयी पद्धति का आविष्कार किया। इसके अनुसार प्रत्येक शब्द पर विचार न करके कुछ सामान्य और कुछ अपवाद नियम बनाकर शब्दानुशासन पर महत्त्व दिया जाने लगा।[3] इस पद्धति का आश्रयण आचार्य पाणिनि ने अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में सर्वत्र किया है। परन्तु पाणिनि ही प्रथम आचार्य नहीं थे। इनसे पूर्व भी अनेक आचार्य हो चुके थे। उनका संकेत या स्पष्ट उल्लेख स्वयं पाणिनि ने किया है।[4] उनमें कुछ आचार्यों के सम्प्रदाय भी प्रचलित थे।

---

१. एवं हि श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, नान्तं जगाम। म० भा० परस्पशा०

२. तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। पस्पशा०

३. किञ्चित् सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यं येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्। पस्पशा०

४. आपिशलि (पा० सू० ६।१।९२), काश्यप (पा० सू० १।२।२५), गार्ग्य (पा० सू० ८।३।२०), गालव (पा० सू० ८।४।६७), चाक्रवर्मण (पा० सू० ६।१।१३०), भारद्वाज (पा० सू० ७।२।६३), शाकटायन (पा० सू० ८।४।५०) शाकल्य (पा० सू० ८।३।१९), सेनक (पा० सू० ५।४।११२), स्फोटायन (पा० सू० ६।१।१२३)।

व्याकरणशास्त्र की प्राचीनता वैदिक काल से ही प्रतीत होती है। पाणिनीय व्याकरण में प्रयुक्त कुछ संज्ञाओं का स्पष्ट उल्लेख गोपथ-ब्राह्मण में है।[१] इसके अतिरिक्त रामायण[२], महाभारत[३], निरुक्त,[४] महाभाष्य[५] और काशिका आदि के उल्लेखों से व्याकरण शास्त्र की प्राचीनता स्पष्ट है। जिस समय से वेदाङ्गों की सत्ता बनी तब से व्याकरण का अस्तित्व मानना आवश्यक है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में एक वचन उद्धृत करके षडङ्ग-सहित व्याकरण का अध्ययन ब्राह्मण का कर्तव्य बताया है—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति।"

विविध व्याकरण-सम्प्रदाय

ऊपर यह संकेत किया जा चुका है कि आचार्य पाणिनि के पहले भी अनेक व्याकरण-सम्प्रदाय सत्ता में थे। कहीं आठ[६] और कहीं नौ[७] व्याकरण-सम्प्रदायों का उल्लेख है। जो सम्प्रदाय विशेष प्रतिष्ठित हो सके उनमें 'ऐन्द्र' और 'शैव' प्रधान माने जाते हैं। ऐन्द्र व्याकरण अतिविशाल था। उसकी तुलना में पाणिनि का व्याकरण बहुत छोटा[८] है। पाणिनीय व्याकरण 'शैव' सम्प्रदाय का प्रतिनिधि है।

१. आचार्य पाणिनि

पाणिनि के समान दूसरा वैयाकरण विश्व में नहीं हुआ है। इनके समक्ष संस्कृत का विशाल वाङ्मय उपस्थित था। विभिन्न स्थानों पर प्रयुक्त शब्दों के

---

१. ओंकारं पृच्छामः—को धातुः, किं प्रातिपदिकम्, किं नामाख्यातम्.........।
गो० ब्रा० पू० १।२४
२. नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। वाल्मीकि कि० कां० ३।२९
३. सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा॥ महाभा० उ० प० ४३।६१
४. नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। निरुक्त १३।२
५. पुराकल्पे एतदासीत्...... । म० भा० पस्पशा०।
६. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥ कविकल्पद्रुम
७. ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्॥ श्रीतत्त्वविधि
८. (क) समुद्रवद् व्याकरणं महेश्वरे, तदर्धकुम्भोद्धरणं बृहस्पतौ।
तद्भागभागाच्च गतं पुरन्दरे कुशाग्रबिन्दूत्पतितं हि पाणिनौ॥ सारस्वतभाष्य
(ख) यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥ देवबोध

रूपों और उनके अर्थों में भी कहीं-कहीं अन्तर था।[1] प्राचीन आचार्यों के शब्दानुशासन भी विद्यमान थे। इन सभी का अध्ययन और चिन्तन करना आवश्यक था। पाणिनि ने अपनी विलक्षण लोकोत्तर प्रतिभा से इस दिशा में अति प्रशंसनीय कार्य किया। उन्होंने प्राचीन नियमों की अनावश्यकता देखकर उन्हें समाप्त किया[2]। नयी कल्पनायें कीं। स्वर आदि के महत्व को समझ कर विभिन्न प्रत्ययादि की कल्पना की।[3] यही नहीं, विभिन्नदेशीय शब्दों के विषय में भी नियम स्थिर करने का प्रयास किया।[4] इन सबके फलस्वरूप इन्होंने एक सर्वाङ्गीण व्याकरण प्रस्तुत करने में आशातीत सफलता प्राप्त की। इनके व्याकरण की व्यापकता; गम्भीरता, सूक्ष्मता और उपयोगिता देखकर भारत के ही नहीं, अपितु विश्व के समीक्षक नतमस्तक हो जाते हैं।[5]

पाणिनि का देश (जन्मस्थान)–

यह दुःख का विषय है कि इस महान् आचार्य के देश (जन्मस्थान) के बारे में विद्वान् एकमत नहीं हो सके हैं। त्रिकाण्डशेष-कोष में इनका एक नाम 'शालातुरीय' दिया गया है। इस शब्द की व्याख्या करते हुये जैन विद्वान् वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि में यह लिखा है—

"शालातुरो नाम ग्रामः। सोऽभिजनोऽस्यातीति शालातुरीयस्तत्रभवान् पाणिनिः।"[6]

---

१. एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते।······म० भा० पस्पशा०

२. प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्। पा० सू० १।२।५३। कालोपसर्जने च तुल्यम्। पा० सू० १।२।५७

३. (क) 'च्लि लुङि।' चकारः स्वरार्थः। काशिका ३।१।४३। (ख) 'च्लेः सिच्।' चकारः स्वरार्थः। काशिका ३।१।४४। (ग) 'कर्त्तरि शप्' पकारः स्वरार्थः। काशिका ३।१।६८

४. एङ् प्राचां देशे १।१।७५। उदक् च विपाशः। ४।२।७४। उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात्। ४।२।१०५। प्राचां कटादेः ४।२।१३९। आदिसूत्रों पर काशिका द्र०।

५. प्रो० मोनियर विलियम्, प्रो० मैक्समूलर, प्रो० कोलब्रुक तथा हण्टर के मत युधिष्ठिर मीमांसक के 'संस्कृत व्याकरण का इतिहास' पृ० २०० में उद्धृत।

६. गणरत्नमहोदधि पृ० १।

'अभिजन' तथा 'निवास' में भेद है—

"अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम्, निवासो नाम यत्र सम्प्रति उष्यते।"[१] अतः पाणिनि के पूर्वज निश्चित रूप से शालातुर रहते थे।

गुप्तशिलालेखों में से बलभी से प्राप्त एक शिलालेख में पाणिनीयशास्त्र को 'शालातुरीय तन्त्र' कहा गया है। चीनी यात्री ह्वेन च्वांग ने भी लिखा है कि उसने पाणिनि की प्रतिमा देखी थी। पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार यह स्थान गान्धार प्रदेश में उद्भाण्ड के समीप 'लहुर' है। उद्भाण्ड को इस समय 'ओहिन्द' कहा जाता है जो सिन्धु तथा काबुल नदियों के संगम पर स्थित है।[२]

पाणिनि का वंश—

पाणिनि के वंश के बारे में अत्यल्प सामग्री उपलब्ध है। महाभाष्य में इनकी पूज्य माता का नाम 'दाक्षी' कहा गया है[३]। ऋक्सर्वानुक्रमणी में छन्दःशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य पिङ्गल को पाणिनि का अनुज कहा गया है।[४] लक्ष्यग्रन्थात्मक विशालकाय 'सङ्ग्रह' ग्रन्थ के रचयिता व्याडि को 'दाक्षायण' कहा गया[५] है। इस प्रकार दोनों में कुछ सम्बन्ध अवश्य है। युधिष्ठिर मीमांसक दाक्षायण व्याडि को पाणिनि का मामा (मातुल) मानते हैं[६]। परन्तु पं० बलदेव उपाध्याय ममेरा भाई मानते हैं।[७] उपाध्यायजी का कथन ही तर्कसंगत है क्योंकि दक्ष का पुत्र—दाक्षि और पुत्री दाक्षी। दाक्षि का युवापत्य 'दाक्षायण' होता है। पञ्चतन्त्र के प्रसिद्ध कथन से पाणिनि की मृत्यु सिंह द्वारा हुई थी। (सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः।)

पाणिनि का काल—

पाणिनि का जन्मकाल अतिविवादग्रस्त है। युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार इनका जन्म उस समय हुआ था जब वैदिक संस्कृत ह्रासोन्मुख थी और लौकिक

---

१. महाभाष्य ४।३।९०
२. द्र० 'संस्कृत शास्त्रों का इतिहास' पृ० ४१८। तथा तुलनीय 'संस्कृत व्याकरण का इतिहास' पृ० १८२।
३. सर्वे सर्वपदादेशा: दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। म० भा० १।१।२०
४. सं० शा० इतिहास पृ० ४१९।
५. शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः। म० भा० २।३।६६
६. संस्कृतव्याकरण का इतिहास पृ० १७९।
७. मेरी दृष्टि में व्याडि पाणिनि के मातुलतनय प्रतीत होते हैं। सं० शा० इतिहास पृ० ४१९।

संस्कृत विकासोन्मुख। यह समय ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व होना चाहिये।[1] दूसरे समीक्षक इतनी प्राचीनता के समर्थक नहीं हैं। वे गौतम बुद्ध के समीपकाल में इनका जन्म मानते हैं। पाणिनि ने 'कुमारः श्रमणादिभिः' (पा० सू० २।१।७०) सूत्र में 'श्रमणा' का उल्लेख किया है। यह बौद्ध संन्यासिनी के लिए प्रयुक्त होता है। अतः पाणिनि बुद्ध से परवर्त्ती प्रतीत होते हैं। अन्य आलोचक इस आधार का खण्डन करते हैं।[2] पाणिनि का एक सूत्र है—'निर्वाणोऽवाते' (पा० सू० ८।२।५०)। काशिका आदि में इसके उदाहरण हैं—"निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणो दीपः, निर्वाणो भिक्षुः।" यदि पाणिनि बुद्ध के बाद होते तो बौद्धधर्म में प्रसिद्ध 'निर्वाण' का अर्थ लिखते। रहा 'श्रमणा' का प्रयोग, वह तो ब्राह्मणग्रन्थों में भी मिलता है।[3] अतः शब्दविशेष के आधार पर पाणिनि को बुद्ध के पश्चात् मानना ठीक नहीं है। साथ ही, बुद्धवचन सभी पाली में हैं। यह उस समय बोलचाल की भाषा थी। पाणिनि के अनुसार संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। यह भाषा का अन्तर भी पाणिनि की पूर्वकालिकता सिद्ध करता है।

डा० वासुदेव-शरण अग्रवाल ने अपने 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' ग्रन्थ में पाणिनि का समय ई० पू० ५०० वर्ष सिद्ध किया है।

पाणिनि की शिक्षा-दीक्षा—

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि पाणिनि का जन्म 'लाहुर' में हुआ था। अतः उसके समीपवर्त्ती 'तक्षशिला' विद्यापीठ में इनका शिक्षाग्रहण प्रतीत होता है। राजशेखर ने पाटलिपुत्र में पाणिनि की विद्वत्ता की परीक्षा का उल्लेख किया है।[4]

यह प्रसिद्धि है कि प्रारम्भ में पाणिनि मन्दबुद्धि छात्र थे। नित्यप्रति के अपमान से दुःखी होकर इन्होंने देवशक्ति का आश्रय लेना निश्चित किया। और आशुतोष भगवान् शंकर की आराधना में लग गये। दीर्घ तपस्या के बाद भगवान् प्रसन्न हुए

---

१. पाणिनि का काल भारतयुद्ध के २०० वर्ष अर्थात् २९०० विक्रम वर्ष पूर्व है। संस्कृत व्याकरण का इतिहास पृ० १९८।

२. द्र० संस्कृत व्याकरण का इतिहास पृ० १८५-८६ और संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पृ० ४१७।

३. 'श्रमण' शब्द बुद्धोपज्ञ है यह सिद्धान्त ही मिथ्या है, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों में इस शब्द का प्रयोग मिलता है। द्र० शतपथब्राह्मण १४ काण्ड, ७ अध्याय, १ ब्राह्मण, २२ कण्डिका। संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पृ० ४१७।

४. श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिङ्गलाविह व्याडिः। वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः। राजशेखर।

और आविर्भूत होकर १४ बार अपना डमरू बजाया। इससे पाणिनि को 'अइउण्' आदि चतुर्दशसूत्री का दर्शन हुआ।[१]

यह चतुर्दशसूत्री पाणिनीय व्याकरण की आधारशिला है। इसकी प्राप्ति की कल्पना में मतभेद हो सकता है परन्तु इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। इन सूत्रों के द्वारा पाणिनि ने प्रत्याहार-शैली का विकास किया[२] और दो दो अक्षरों की संज्ञाओं (प्रत्याहारों) से अनेक अर्थों का ज्ञान कराया। इनकी इस कल्पना से प्रसन्न होकर समीक्षकों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। भाष्यकार पाणिनि की प्रशंसा में लिखते हैं—शोमना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः।[३] आकुमारं यशः पाणिनेः"।[४] इनके अनुसार अष्टाध्यायी में कुछ भी व्यर्थ का नहीं है।[५] इसी प्रकार काशिका आदि में भी अनेक प्रशस्तिवचन मिलते हैं[६]।

पाणिनि के ग्रन्थ—

यद्यपि 'पातालविजय' और 'जाम्बवती-परिणय' ये दो नाटक भी पाणिनि की रचना के रूप में उल्लिखित हैं। परन्तु इनकी उपलब्धि न होने से निश्चित रूप से कुछ भी कह सकना कठिन है।

सम्प्रति इनकी अमरकृति 'अष्टाध्यायी' ही है। इसमें आठ अध्याय हैं। प्रत्येक में चार पाद हैं। प्रत्येक पाद में अनेक सूत्र हैं। इसमें कुल सूत्रों की संख्या चार हजार के लगभग है। ऐसा प्रतीत होता है कि पाणिनि के सूत्र को देखकर ही सूत्र का निम्न लक्षण बनाया गया—

अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

पाणिनीय सूत्रों के निम्न छः भेद किये गये हैं—

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च।
अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रमुच्यते॥

---

१. नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्। नन्दिकेश्वरकारिका १
२. वृत्तिसमवायार्थ वर्णोपदेशः। अनुबन्धकरणार्थश्च। म० भा० पस्पशा०।
३. म० भा० २।३।६६
४. म० भा० १।४।८९
५. (क)...तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्। म० भा० १।१।१
   (ख) सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदस्मिन् पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्। म० भा० ६।१।७७
६. महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य। काशिका ४।२।७४

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी बड़ी वैज्ञानिक रीति से सजायी है। स्वरितत्व-प्रतिज्ञा के द्वारा अनुवृत्ति की कल्पना[1], अधिकार[2] सूत्रों की कल्पना और पौर्वापर्य[3] सोच कर तत्तत्कार्य विहित करने के लिए सूत्रों का उपन्यास करना—आदि ऐसी विशेषतायें है जिनसे पाणिनि की विलक्षण प्रतिभा का ज्ञान होता है।

२. आचार्य कात्यायन

पाणिनि ने अपने समय में विद्यमान संस्कृत-साहित्य और प्रयुज्यमान भाषा के शब्दों के विषय में नियम बनाये थे। बोलचाल में प्रयुक्त होने के कारण कुछ नवीन शब्दों का प्रचलन, प्रचलित शब्दों के रूप और अर्थ मे कुछ परिवर्तन स्वाभाविक था। अब इनके साधुत्व के उपपादन की समस्या थी। लोगों ने इस विषय में चिन्तन किया होगा परन्तु उसका कोई विवरण नहीं मिलता है। सम्प्रति आचार्य कात्यायन का ही ज्ञान होता है। इन्होंने पाणिनि के समान सूक्ष्मता को मानकर वार्त्तिकों का प्रणयन किया। इन्होंने उन शब्दों के बारे में नियम प्रतिपादित किये जो पाणिनि के समय में नहीं थे अथवा उनकी दृष्टि में नहीं आ सके थे।

ये बड़े मेधावी प्रतीत होते हैं। इन्होंने पाणिनि जैसे प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य के मतों की समीक्षा करने का साहस किया। और पर्याप्त सीमा तक इन्हें सफलता भी मिली। इनके वार्त्तिकों को देखकर ही वार्त्तिक का लक्षण बनाया गया।

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुः वार्त्तिकज्ञाः मनीषिणः॥

यह खेद का विषय है कि इस महान् आचार्य के विषय में हम सर्वथा अज्ञान में हैं। इन्हें पाणिनि से उत्तरवर्त्ती माना जाता है। यदि पाणिनि की न्यूनतम सीमा ई० पू० ५०० वर्ष है तो कात्यायन की ई० पू० ३०० वर्ष।

इनके देश आदि का भी कोई ज्ञान नहीं होता है। महाभाष्य में इन्हें दाक्षिणात्य कहा गया है।[4] ऐसा कहा जाता है कि कात्यायन ने सूत्रकार की आलोचना की है और भाष्यकार ने कात्यायन की।

---

१. प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः॥ 'उपदेशेऽज्०' १।३।२ पर सि० कौ०

२. स्वरितेनाधिकारः। पा० सू० १।३।११ पर काशिका—"स्वरितेनेति 'इत्थम्भूतलक्षणे' तृतीया। स्वरितो नाम स्वरविशेषो वर्णधर्मः, तेन चिन्हेन अधिकारो वेदितव्यः। अधिकारो विनियोगः। स्वरितगुणयुक्तं शब्दरूपमधिकृतत्वादुत्तरत्रोपतिष्ठते।"

३. विप्रतिषेधे परम्। पा० सू० १।४।२। पूर्वत्रासिद्धम्। पा० सू० ८।२।१

४. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। म० भा० पस्पशा०।

कात्यायन के अतिरिक्त आचार्य १. सुनाग, २. भारद्वाज, ३. क्रोष्टा, तथा ४. वाडव के भी कुछ वार्तिक मिलते हैं[1]। कुछ विद्वानों द्वारा प्रयास किये जाने पर भी आज तक वार्तिकों के विषय में अपेक्षित ज्ञान सम्भव नहीं हो सका है। महाभाष्य ही इस विषय में आधार माना जाता है।

३. आचार्य पतञ्जलि

पाणिनि तथा कात्यायन दोनों आचार्यों ने अपने मत सूत्र (संक्षिप्त) रूप में व्यक्त किये हैं। उनकी व्याख्या की आवश्यकता का अनुभव स्वयं पाणिनि ने भी किया था। इसीलिए सूत्रों को स्वोपज्ञ वृत्ति भी लिखी थी[2]। किन्तु वह आजकल उपलब्ध नहीं है। सूत्रों की अपेक्षित व्याख्या प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य पतञ्जलि को है। इन्होंने अपने महाभाष्य में रोचक, सुबोध किन्तु गम्भीर शैली में व्याकरणशास्त्रीय पदार्थों का प्रतिपादन किया है। इन्होंने सूत्रों पर लिखे गये वार्त्तिकों को साथ में लेकर उन दोनों की विस्तृत समीक्षात्मक व्याख्या लिखी है। इन्होंने केवल व्याख्या ही नहीं लिखी अपितु अनेक स्थलों पर अपने स्वतन्त्र मत भी प्रस्तुत किये हैं जिन्हें 'इष्टि' कहा जाता है।[3] इनके महाभाष्य में 'आह्निकों' के माध्यम से प्रकरण विभक्त हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उतना विषय एक दिन में पढ़ाया या पढ़ा जाता था। यह उस युग की अध्ययन की विशेषता प्रकट करता है।

पतञ्जलि का देश (स्थान)—

पतञ्जलि के जन्मस्थान के बारे में कुछ विवाद है। कुछ विद्वानों ने इन्हें

---

१. (क) इह हि सौनागाः पठन्ति—वुग्नश्चाक्रुतप्रसङ्गः। म० भा० ४।३।११५।
(ख) भारद्वाजीयाः पठन्ति—नित्यमकित्त्वमिडाद्योः, क्त्वाग्रहणमुत्तरार्थम्। म० भा० १।२।२। (ग) परिभाषान्तरमिति च कृत्वा क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति—नियमादिकोगुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन। म० भा० १।१।३। (घ) अनिष्टिज्ञो वाडवः पठति। म० भा० ८।२।१०६ इस पर उद्योत—"प्लुतौ चैच इदुतौ"रिति वार्त्तिकं वाडवस्य।

२. (क) उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः...। महाभाष्यदीपिका १।१।४५
(ख) सूत्रार्थद्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्याः प्रतिपादिताः। काशिका ५।१।५०

३. (क) प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः न तु इष्टिज्ञः। म० मा० २।४।५६
(ख) पाणिनीयव्याख्यानभूतत्वेऽपि इष्टयादिकथनेन अन्वाख्यातृत्वाद् अस्य इतर-भाष्यवैलक्षण्येन महत्त्वम्। कैयट १।१।१

कश्मीर का माना है[1]। दूसरे इन्हें काशीक्षेत्र का सिद्ध करते हैं[2]। इनका एक नाम 'गोनर्दीय' है। इस आधार पर इनका जन्मस्थान 'गोनर्द' था। यह पंजाब के किसी स्थान का नाम है, ऐसा कुछ लोग मानते हैं। दूसरे इसे उत्तरप्रदेश के 'गोंडा' को मानते हैं।

पतञ्जलि का काल—

इनका काल अधिक विवादग्रस्त नहीं है क्योंकि इन्होंने वर्तमानकालिकता के उपपादन के प्रसंग में काण्ववंशीय राजा 'पुष्यमित्र' के यज्ञ कराने का उल्लेख किया है[3]। ये स्वयं भी उसमें आचार्य थे। इसी प्रकार लङ्लकार के उपपादन में 'मिनाण्डर' नामक यवन के आक्रमण का उल्लेख किया[4] है। वह अक्रामक शासक बाद में बौद्ध बनकर 'मिलिन्द' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसका शासन काल १४२ ई० पू० के आसपास माना जाता है[5]। इन प्रमाणों के आधार पर इनका जन्मकाल ई० पू० द्वितीय शती माना जाना चाहिये।

महाभाष्य की विशेषता—

संस्कृत साहित्य में 'महाभाष्य' यह गौरवमय पद केवल इन्हीं के भाष्य को प्राप्त है। इसकी अनेक विशेषतायें हैं। इसमें रोचक प्रश्नोत्तर-शैली में व्याकरण जैसे नीरस विषय को भी आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया गया है। भाषा और शैली सरल होने पर भी भाव समझना कठिन है। पूरा प्रसंग पढ़ जाने पर सामान्यतया आशय ज्ञात नहीं हो पाता है। चिन्तन और मनन की आवश्यकता पड़ती है। तभी वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है। इन्होंने पाणिनि अथवा कात्यायन के मतों की व्याख्यामात्र नहीं की है। जहाँ भी किसी के मत में कोई भी अनुपपत्ति प्रतीत हुई उसकी समालोचना करने में संकोच नहीं किया है। इसी लिये अनेक वार्त्तिकों की अनावश्यकता तो सिद्ध की ही है कहीं-कहीं सूत्रों की भी आवश्यकता का निराकरण किया है[6]। इन्होंने भाषा के विषय में लोकव्यवहार को सर्वाधिक मान्यता[7] दी है। आज के भाषा-वैज्ञानिक भी इसी को मानकर चल रहे हैं। इन्होंने अपने भी मत

---

१. संस्कृतव्याकरण का इतिहास पृ० ३१५
२. संस्कृतशास्त्रों का इतिहास पृ० ४४९
३. इह पुष्यमित्रं याजयामः। म०भा० ३।२।१२३
४. अरुणद्यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्। म० भा० ३।२।१११
५. संस्कृतशास्त्रों का इतिहास पृ० ४५०
६. द्र० अपादानसंज्ञाविषयक सूत्रों पर महाभाष्य।
७. लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः। म०भा० पस्पशा।

दिये हैं। वे भी सूत्र तथा वार्त्तिक के समान ही प्रामाणिक माने जाते हैं। विवादग्रस्त स्थलों पर इनका मत ही सर्वाधिक मान्य होता है। उसी के अनुसार प्रयोग शुद्ध होता है। इसी लिये यह कहा जाता है "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्।" कुछ संकीर्ण व्याख्याकार इस की अपव्याख्या करते हैं। वास्तव में इसका आशय यह है कि विकासशील भाषा में उत्तरवर्त्ती विद्वान् के समय में जो प्रयोग होता है वह उस समय के लिये प्रमाण माना जाता है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि पाणिनि, कात्यायन या पतञ्जलि में किसी का मत कम प्रामाणिक है और किसी का अधिक। इनके अपने मतों के लिये 'इष्टि' शब्द प्रयुक्त होता है।[1]

महाभाष्य में शब्दानुशासन के साथ-साथ व्याकरणदर्शन के विषय भी यत्र तत्र विकीर्णरूप मे हैं[2]। इनका संग्रह करके भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' का, दीक्षित और कौण्डभट्ट ने 'वैयाकरणभूषण' का तथा नागेश ने 'वैयाकरण-सिद्धान्तमञ्जूषा' का प्रणयन किया। फलतः व्याकरणदर्शन एक व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठित हो गया।

इन तीन मुनियों की कृपा से व्याकरणशास्त्र सर्वाङ्गीण रूप में प्रतिष्ठित हो हो सका है। इसी लिये 'त्रिमुनि व्याकरणम्' ऐसा व्यवहार होता है।

व्याकरणाध्ययन की द्विविध पद्धतियाँ—

पाणिनि की अष्टाध्यायी का अध्ययन प्रारम्भिक काल में बहुत दिनों तक एक रूप में चलता रहा। बाद में उसके स्वरूप में कुछ परिवर्तन होने लगा। फलतः दो पद्धतियों का विकास हुआ—(१) अष्टाध्यायीक्रम और (२) प्रक्रियाक्रम।

(क) अष्टाध्यायी-क्रम—

पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी जिस रूप और क्रम में बनायी उसी के अनुसार उन्होंने स्वयं भी शिष्यों को पढ़ाया था[3]। वह वृत्ति आज अनुपलब्ध है। वार्त्तिक, भाष्य और काशिका वृत्ति आदि अनेक ग्रन्थ इसी क्रम को मानकर लिखे गये। और अध्ययन भी इसी क्रम को मानकर चलता था। इसके अनुसार पहले सूत्र के अर्थ को अच्छी प्रकार समझा जाता है। बाद में लक्ष्य में उसका समन्वय किया

---

१. प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियो न तु इष्टिज्ञः। म० भा० २।४।५६

२. कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥ वाक्यपदीय २।४८६

३. (क) ....उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः—केचिदाकडारादेका संज्ञेति, केचित् प्रावकडारात् परं कार्यमिति। म०भा० १।४।१
(ख) शुङ्गाशब्दं स्त्रीलिङ्गमन्ये पठन्ति ततो ढकं प्रत्युदाहरन्ति शौङ्गेय इति। द्वयमपि चैतत् प्रमाणमुभयथासूत्रप्रणयनात्। काशिका ४।१।११

जाता है। इसके लिये पूरी अष्टाध्यायी का अध्ययन करके ही किसी शब्दरूप की साधुता या असाधुता का दृढ़ता से समर्थन किया जा सकता है। इस प्रक्रिया से लाभ तो अवश्यम्भावी है परन्तु इसके लिये पर्याप्त धैर्य, निष्ठा और साहस की आवश्यकता है।

अष्टाध्यायीक्रम में 'महाभाष्य' और वामनजयादित्य की 'काशिका' तथा इस पर लिखी गयीं 'न्यास' और 'पदमञ्जरी' टीकायें प्रमुख हैं। न्यास का दृष्टिकोण सरलरूप में विषय को समझाना है। पदमंजरीकार हरदत्त की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है[1]। ये मूलग्रन्थ की असावधानियाँ प्रकट करने में अपने प्रौढ़ ज्ञान और साहस का परिचय देते हैं।

काशिकावृत्ति पर किसी विद्वान ने हिन्दी व्याख्या नहीं लिखी। यह देखकर प्रस्तुत व्याख्याकार ने एक अपेक्षित योजना बनाकर 'भावबोधिनी' नामक विशद हिन्दी-व्याख्या लिखी। (काशिका का सर्वोत्तम संस्करण 'न्यास', 'पदमञ्जरी' और 'भावबोधिनी' हिन्दी-व्याख्या के साथ प्रकाशित हो रहा[2] है। तीन भाग प्रकाशित हो चुके हैं। भगवत्कृपा से इस कार्य के शीघ्र पूर्ण होने की आशा है।)

काशिका के अतिरिक्त भागवृत्ति, दुर्घटवृत्ति, भाषावृत्ति, भट्टोजिदीक्षित का शब्दकौस्तुभ, विश्वेश्वर सूरि की 'वैयाकरणसिद्धान्त सुधानिधि' और स्वामीदयानन्द सरस्वती का अष्टाध्यायी-भाष्य आदि ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं।

अष्टाध्यायी क्रम को मानकर जो लिखा गया वह 'प्राचीन व्याकरण' का विषय माना जाता है।

(ख) प्रक्रिया क्रम—

अष्टाध्यायीक्रम को मान कर लिखित मूल ग्रन्थों और व्याख्या ग्रन्थों से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन-अध्यापन चल रहा था। लोग धैर्य और परिश्रम से इसमें लगे हुये थे। उस समय थोड़े से प्रयास से कार्यनिर्वाहक व्याकरणज्ञान प्राप्त करने की रुचि उत्पन्न होने लगी थी। लोग ऐसे ग्रन्थ या पद्धति की सोच रहे थे जो कम समय मे उपयोगी ज्ञानमात्र करा सके। फलतः एक नवीन पद्धति का का प्रयोग किया गया। इसके अनुसार पहले लक्ष्यों को देखा जाने लगा और उसके लिये उपयोगी सूत्रों का विषयविभाजन करके उपन्यास किया जाने लगा। अब सूत्र

---

1. प्रक्रियातर्कगहनप्रविष्टो हृष्टमानसः।
   हरदत्तहरिः स्वैरं विहरन् केन वार्यते ॥ पदमञ्जरी 1.1.14
2. इसका प्रकाशन मेरे सम्पादकत्व में 'तारा प्रिन्टिंग वर्क्स, वाराणसी' से हो रहा है।

नहीं, लक्ष्य प्रधान होने लगे। कारण स्पष्ट था, लोग शब्दों के साधुत्वमात्र की चिन्ता करने लगे थे। शब्दरूपसिद्धि की प्रक्रिया का अध्ययन प्रमुख हो गया।

(१) धर्मकीर्ति—

प्रक्रियाक्रम मान कर लिखा गया सबसे प्राचीन ग्रन्थ धर्मकीर्त्ति द्वारा लिखा हुआ 'रूपावतार' है। इसके मंगलश्लोक में 'सर्वज्ञ' को प्रणाम किया गया है। इससे इसका लेखक बौद्ध प्रतीत होता है। रूपावतार में पदमंजरीकार हरदत्त का उल्लेख है और मैत्रेयरक्षित के तन्त्रप्रदीप में इस ग्रन्थ का उल्लेख है। इस लिये हरदत्त के बाद और मैत्रेयरक्षित के पहले अर्थात् दोनों के मध्य में इनका काल समझना चाहिये। यह समय १२वीं शती का मध्यभाग होता है।

'रूपावतार' में दो भाग हैं। पूर्वार्द्ध में सुबन्त शब्दों की चर्चा है और इसमें आठ अवतार हैं। उत्तरार्ध में तिङन्त और कृदन्त की चर्चा है।

प्रसिद्ध बौद्धदार्शनिक से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति इसके लेखक हैं।[1]

(२) विमलसरस्वती—

इन्होंने 'रूपमाला' नामक प्रक्रिया ग्रन्थ लिखा था। इसका समय १४ वीं शती प्रतीत होता है।[2] यह ग्रन्थ पूज्य गुरुवर पं० मुरलीधर मिश्र जीने सम्पादित करके प्रकाशित कराया है।

(३) रामचन्द्राचार्य—

प्रक्रियाक्रम को सुदृढ़ आधार-शिला पर स्थापित करने का श्रेय रामचन्द्राचार्य को है। इन्होंने 'प्रक्रिया-कौमुदी' नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था।

रामचन्द्राचार्य शेषवंश के थे। व्याकरणशास्त्र के ज्ञान के क्षेत्र में इस वंश का विशेष योगदान प्रसिद्ध है। इनके पिता कृष्णाचार्य एक प्रौढ़ विद्वान् थे। इनके ताऊ (पिता के बड़े भाई) गोपालाचार्य भी उद्भट विद्वान् थे। इन दोनों से अध्ययन करने का सौभाग्य रामचन्द्राचार्य को मिला था। इन्होंने व्याकरण शास्त्र की 'प्रक्रियाकौमुदी' लिखकर एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। इसके अतिरिक्त 'कालनिर्णय-दीपिका' 'वैष्णवसिद्धान्तदीपिका' ये दो ग्रन्थ भी लिखे थे।

प्रक्रियाकौमुदी पर सबसे पहले विठ्ठलाचार्य ने 'प्रक्रियाकौमुदीप्रसाद' नामक व्याख्या लिखी थी। इसका एक हस्तलेख १५३६ सं० (१४८० ई०) का लिखा हुआ प्राप्त होता है। ये रामचन्द्राचार्य के पौत्र थे। अतः पितामह रामचद्राचार्य

---

१. संस्कृत व्याकरण का इतिहास पृ० ४८१
२. " " " पृ० ४८३

का काल लगभग ७५ वर्ष पूर्व अर्थात् चौदहवीं शती का उत्तरार्ध मानना चाहिये।[1]

प्रक्रियाकौमुदी दो भागों में विभक्त है–पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। सुबन्त शब्दों के ज्ञान के लिये—संज्ञा, सन्धि, स्वादि, स्त्रीप्रत्यय, विभक्त्यर्थ, समास तथा तद्धित का वर्णन पूर्वार्द्ध में है। उत्तरार्द्ध में तिडन्तों का वर्णन है। इसमें भ्वादि दशगणीय धातु, ण्यन्तादि धातु तथा कृत् प्रत्ययों का विवेचन है। शब्दरूप की प्रक्रिया के लिये उपयोगी सूत्रों का संकलन प्रत्येक प्रकरण में किया गया है। इसमें कुछ अपाणिनीय शब्दों का भी साधुत्व उपपादित किया गया है।[2]

इसकी सबसे प्राचीन व्याख्या लेखक के पौत्र विट्ठलाचार्य ने लिखी। यह 'प्रक्रियाप्रसाद' नाम से प्रसिद्ध है।[3] यह १४५० ई० के आसपास की है। मूल में अनुल्लिखित सहस्रों सूत्रों का यत्र तत्र व्याख्यान करने के कारण यह बहुत विस्तृत हो गयी है। इसके अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि इसके पूर्व भी किसी ने प्रक्रिया-कौमुदी पर टीका लिखी थी।

प्रक्रियाकौमुदी की दूसरी टीका 'प्रक्रियाप्रकाश' के लेखक प्रसिद्ध विद्वान् शेषकृष्ण हैं। इसमें विट्ठलाचार्य की प्रक्रियाप्रसाद का खण्डन कई स्थलों पर किया गया है। ये बादशाह अकबर के समकालीन थे। इन्होंने वीरवल (बीरबल) के पुत्र 'कल्याण' को पढ़ाने के उद्देश्य से वीरबल की आज्ञा से इस व्याख्या का प्रणयन किया था।[4] शेषकृष्ण अपने समय के उद्भट विद्वान थे। प्रख्यात नव्य वैयाकरण भट्टोजि दीक्षित ने इन्हीं से व्याकरण शास्त्र का अध्ययन किया था। इन्होंने साहित्य शास्त्रज्ञान में भी व्याकरणज्ञान की परमोपयोगिता मानी है—

रसालङ्कारसारापि वाणी व्याकरणोज्झिता।
श्वित्रोपहतगात्रेव न रञ्जयति सज्जनान्॥[5]

उक्त दो व्याख्याओं के अतिरिक्त चक्रपाणिदत्त का 'प्रक्रियाप्रदीप,' वारणवनेश-कृत 'अमृतासृति,' विश्ववर्मा शास्त्रीकृत 'प्रक्रियाव्याकृति,' नृसिंहकृत 'व्याख्यान',

---

१. संस्कृतव्याकरण का इतिहास पृ० ४८५
२. प्रक्रियाकौमुदी की विशेषताओं के ज्ञान के लिये डा० आद्याप्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित शोधग्रन्थ 'प्रक्रिया-कौमुदीविमर्शः' देखना चाहिये।
३. प्रसाद टीका सहित प्रक्रियाकौमुदी का प्रकाशन बम्बई से के० पी० त्रिवेदी ने प्रथम भाग १९२५ में और द्वितीय भाग १९३१ में कराया।
४. द्र० संस्कृत शास्त्रों का इतिहास पृ० ४९६
५. काव्यमाला (सीरीज) में 'कंसबध' के ७ वें पृष्ठ पर यह श्लोक है। और 'प्रक्रियाप्रकाश' की प्रस्तावना का २४ वां श्लोक है।

जयन्तकृत 'तत्त्वचन्द्र' और विद्यानाथ दीक्षित-कृत 'प्रक्रियारंजन' नामक टीकायें लिखीं गयीं।

(४) भट्टोजि दीक्षित—

अष्टाध्यायीक्रमानुसारी अध्ययन की ओर अरुचि उत्पन्न कराना और प्रक्रिया-क्रमानुसारी अध्ययन की ओर प्रवृत्ति करना जिन विद्वानों का कार्य रहा है उनमें भट्टोजिदीक्षित अग्रणी हैं। इन्होंने अपनी तीक्ष्णबुद्धि और गम्भीर अध्ययन के माध्यम से 'प्रक्रियाक्रम' को जनमानस में दृढ़ता के साथ प्रतिष्ठित कर दिया। इस समय यह स्थिति है कि बहुत से अध्येता इनकी अमर कृति "वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' को व्याकरण का सर्वस्व मान बैठे हैं। इन लोगों को पाणिनीय व्याकरण के अन्य ग्रन्थों के विषय में न तो कोई जानकारी है और न जानने की उत्सुकता। आज इस सिद्धान्तकौमुदी के आगे सभी प्राचीन ग्रन्थों का महत्त्व क्षीण हो गया है।

दीक्षित का जन्मस्थान—

भट्टोजि दीक्षित मूलतः आन्ध्र के निवासी थे। इन्होंने और इनके भतीजे ने 'कालहस्तीश्वर' की प्रार्थना की है। यह स्थान चित्तूर जिले में है। दीक्षित तैलंग ब्राह्मण थे। इनके वंश में अनेक प्रौढ़ वैयाकरण हुए थे। इनके पिता लक्ष्मीधर भट्ट, अनुज रङ्गोजि भट्ट, पुत्र भानुजि दीक्षित (संन्यासाश्रम का नाम रामाश्रम), भतीजे कौण्डभट्ट, और पौत्र हरिदीक्षित—इन सभी विद्वानों ने व्याकरण शास्त्र के विकास में अविस्मरणीय योगदान किया है।[1]

दीक्षित का जन्मकाल—

भट्टोजि दीक्षित के जन्मकाल के विषय में कुछ मतभेद है। इनके वेदान्त गुरु नृसिंहाश्रम ने १५४७ ई० में अपना 'वेदान्ततत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थ लिखा था। इस पर इन्होंने अपनी स्वोपज्ञ व्याख्या 'दीपन' नाम से लिखी थी। भट्टोजि दीक्षित ने 'वाक्यमाला'='दीपनव्याख्या अथवा 'तत्त्वविवेकविवरण' नाम से एक व्याख्या लिखी थी।

दीक्षित के शिष्य नीलकण्ठ शुक्ल ने सं० १६९३ (१६३६ ई०) में 'शब्द-शोभा' नामक ग्रन्थ लिखा था। इस लिये उक्त गुरु और शिष्य के मध्य में दीक्षित का काल होना चाहिये।[2]

वत्सराज ने 'वाराणसी-दर्शनदीपिका' नामक ग्रन्थ में अपने गुरु रामाश्रम

---

१. दीक्षित का वंशवृक्ष—देखिये—संस्कृतशास्त्रों का इतिहास पृ० ५०१

२. द्र० सं० शा० इति० पृ० ५०३

(—भानुजिदीक्षित) तथा उनके पिता भट्टोजिदीक्षित को सादर प्रणाम किया है।[१] इस गून्थ का रचना काल सं० १६९८ (१६४१ ई०) है।

शब्दकौस्तुभ के एक हस्तलेख की प्रति १६३३ ई० की प्राप्त होती है। अतः इसके लेखक को इससे पूर्ववर्त्ती होना चाहिये।

पण्डितराज जगन्नाथ का काल निश्चित है। ये शाहजहाँ के दरबार में रहते थे। बादशाह ने इन्हें 'पण्डितराज' पदवी से विभूषित किया था। शाहजहाँ सं० १६८४ (१६२७ ई०) में गद्दी पर विराजमान थे। पण्डितराज ने प्रख्यात विद्वान शेषकृष्ण के पुत्र वीरेश्वर जिन्हें अमरेश्वर भी कहा जाता था, उनसे विद्याध्ययन किया था। इस प्रकार पण्डितराज से एक पीढ़ी पूर्व में दीक्षित हुये थे।

इन सबके आधार पर यह कहा जा सकता है कि १५५० से १६०.० ई० के आसपास अर्थात् सोलहवीं शती का उत्तरार्ध भट्टोजिदीक्षित का जन्मकाल होना चाहिये।

दीक्षित के गुरु—

भट्टोजि दीक्षित ने उस समय के प्रख्यात विद्वान शेषकृष्ण से व्याकरणशास्त्र और धर्मशास्त्र का अध्यन किया था।[२] प्रसिद्ध वेदान्ती श्री नृसिंहाश्रम से वेदान्त की शिक्षा ली।[३] मीमांसा का अध्ययन अप्पय्य दीक्षित से किया था।[४] इनके न्याय-शास्त्र के गुरु का ज्ञान नहीं होता है। उक्त गुरुओं में से ही किसी से न्याय शास्त्र का अध्ययन किया होगा।

दीक्षित के शिष्य—

भट्टोजिदीक्षित जैसे उद्भट विद्वान् के अनेक शिष्य होना स्वाभाविक था। इनके एक शिष्य वनमाली मिश्र थे। ये महेश मिश्र के पुत्र थे। कुरुक्षेत्र इनका

---

१. भट्टोजिदीक्षितं नत्वा रामाश्रमगुरुं पुनः।
वत्सराजः करोत्येतां काशीदर्पणदीपिकाम्॥

२. इह केचित् (भट्टोजिदीक्षिताः) शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णपण्डितानां चिरार्चितयोः पादुकयोः प्रसादादासादितशब्दानुशासनाः········। (मनोरमा कुचमर्दन)

४. संस्कृत शा० इति० पृ० ५०२

५. अप्पय्यदीक्षितेन्द्रान् अशेषविद्यागुरूनहं नौमि।
यत्कृतिबोधाम्भोधौ विद्वदविद्वद्विभाजकोपाधी॥ (तन्त्रसिद्धान्तं)

निवास-स्थान था[१]। इनके अनेक ग्रन्थ अभी हस्तलेख के रूप में ही हैं। दूसरे शिष्य थे नीलकण्ठ शुक्ल[२]। इन्होंने 'शब्दशोभा नामक ग्रन्थ लिखा था। इनके पिता जनार्दन शुक्ल और माता हीरा थीं। इनके नाना वच्छाचार्य थे। इनके पांच ग्रन्थ हैं।

दीक्षित के प्रसिद्ध शिष्य का नाम वरदराज है। इनकी दोनों कृतियाँ—'लघुसिद्धान्तकौमुदी' तथा 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' अति लोकप्रिय हैं। इसके अतिरिक्त 'सारसिद्धान्तकौमुदी' तथा 'गीर्वाणपदमञ्जरी' ये दो कृतियाँ भी लिखीं। इन्होंने 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' के प्रारम्भ में दीक्षित को गुरु के रूप में प्रणाम किया है—

नत्वा वरदराजः श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान्।
करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥[३]

वरदराज भी दक्षिण भारत के थे। काशी में जब दीक्षित थे तब ये वहाँ से अध्ययन करने के लिए काशी आये थे। किन्तु तब तक दीक्षित का देहान्त हो चुका था और वे प्रेत बन गये थे। किसी प्रकार दोनों मिले। दीक्षित ने अपना ज्ञान विधिपूर्वक इन्हें दिया जिसके कारण वे प्रेतयोनि से मुक्त हो गये, ऐसी कथा काशी में प्रचलित है। किन्तु इसकी सत्यता सन्दिग्ध है।

अमेरिका में लघुकौमुदी का एक हस्तलेख है जिसका समय १६२४ ई० है। अतः वरदराज का समय १७वीं शती का पूर्वार्द्ध मानना चाहिये।

दीक्षित की कृतियाँ—

भट्टोजिदीक्षित व्याकरण के अतिरिक्त वेदान्त और धर्मशास्त्र के भी विद्वान् थे। इन्होंने विभिन्न विषयों में अनेक ग्रन्थ लिखे।

धर्मशास्त्र—(१) अशौच-प्रकरण, (२) तिथि-निर्णय (३) त्रिस्थलीसेतु।

वेदान्त—(१) वेदान्त-तत्त्वविवेक, (२) दीपन-व्याख्या, (३) अद्वैतकौस्तुभ, (४) तत्त्वसिद्धान्त-चन्द्रिका।

विविध विषय—(१) तन्त्राधिकारनिर्णय, (२) वेदभाष्यसार, (३) तत्त्वसिद्धान्तदीपिका, (४) तैत्तिरीय-सन्ध्याभाष्य।

व्याकरण—(१) शब्दकौस्तुभ, (२) वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी, (३) प्रौढ-

---

१. इति श्रीभट्टोजिदीक्षितशिष्य-कुरुक्षेत्रनिवासि—महेशमिश्रात्मजवनमालिमिश्र-विरचितायां सन्ध्यामन्त्रव्याख्या ब्रह्मप्रकाशिका समाप्ता।

२. शुक्लजनार्दनपुत्रो वच्छाचार्यस्य दौहित्रः।
अभ्यस्तशब्दशास्त्रो भट्टोजिदीक्षितच्छात्रः॥ (शब्दशोभा)

३. मध्यसिद्धान्तकौमुदी-मंगल।

मनोरमा, (४) धातुपाठनिर्णय, (५) लिङ्गानुशासनवृत्ति, (६) वैयाकरणभूषण-कारिका।

'शब्दकौस्तुभ'—यह अष्टाध्यायीसूत्रों की विस्तृत व्याख्या है। इसमें महाभाष्य के विषयों की भी चर्चा है। उसी के समान आह्निकों में विषयविभाजन है। यह इनकी प्रथम प्रौढ रचना है। सिद्धान्तकौमुदी और वैयाकरणभूषणकारिका इसके बाद की रचनायें हैं। सिद्धान्तकौमुदी के अन्त में लिखा है—

इत्थं लौकिकशब्दानां दिङ्मात्रमिह दर्शितम्।
विस्तरस्तु यथाशास्त्रं दर्शितः शब्दकौस्तुभे ॥[१]

वैयाकरणभूषण के प्रारम्भ में यह कारिका है—

फणिभाषितभाष्याब्धेः शब्दकौस्तुभ उद्धृतः।
तत्र निर्णीत एवार्थः सङ्क्षेपेणेह तन्यते ॥[२]

यह दुर्भाग्य का विषय है कि शब्दकौस्तुभ जैसा उपयोगी ग्रन्थ आज पूर्णरूप में उपलब्ध नहीं होता है। केवल तृतीय अध्याय के चतुर्थ आह्निक तक ही उपलब्ध और प्रकाशित हो सका है। इस पर अनेक टीकायें भी लिखीं गयीं।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी—

पाणिनीय व्याकरण के प्रक्रियाक्रमानुसारी ग्रन्थों में दीक्षित की 'वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी' सबसे अधिक प्रसिद्ध, उपयोगी और लोकप्रिय ग्रन्थ है। रामचन्द्राचार्य की 'प्रक्रियाकौमुदी' की उपयोगिता देखकर दीक्षित ने उसकी न्यूनताओं पर गम्भीरता से विचार किया। इसके बाद बड़ी बुद्धिमत्ता और प्रयास के साथ एक ऐसी अमर कृति प्रस्तुत की जिसने अपने तुल्य कोटि के सभी ग्रन्थों की महिमा ही समाप्त कर दी।

सिद्धान्तकौमुदी दो भागों में विभक्त है—(१) पूर्वार्द्ध और (२) उत्तरार्द्ध। पूर्वार्ध में संज्ञा, सन्धि, सुबन्त, स्त्रीप्रत्यय, कारक, समास तथा तद्धित का विवेचन है। उत्तरार्ध में भ्वादिगण-सहित दश गण, ण्यन्तादि-प्रक्रियायें, पूर्वकृदन्त, उणादि और उत्तरकृदन्त। अन्त में अष्टाध्यायी-क्रमानुसार वैदिकी-प्रक्रिया में वैदिक शब्दों पर विचार है। इसके बाद स्वरप्रक्रिया में पुनः अपने ढंग से प्रक्रियानुसारी प्रतिपादन है। इसमें सामान्य स्वर के बाद, धातुस्वर, प्रातिपदिकस्वर, फिट् सूत्र, प्रत्ययस्वर, समासस्वर, तिङन्तस्वर हैं। अन्त में लिङ्गानुशासन है।

मूलकौमुदी में ३३८६ सूत्र हैं। वैदिकीप्रक्रिया में २६३ और स्वरप्रक्रिया-

---

१. सिद्धान्तकौमुदी-उत्तरकृदन्त की समाप्ति पर।
२. वैयाकरणभूषण के प्रारम्भ में।

३२९, कुल योग ३९७८ होता है। इनमें माहेश्वर चतुर्दशसूत्री मिलाने पर ३९९२ और स्वरसिद्धान्तचन्द्रिकानुसार ३९९५ अर्थात् लगभग चार हजार सूत्र हैं।[1] इनमें उणादिसूत्र[2] और फिट्सूत्र[3] सम्मिलित नहीं हैं।

सिद्धान्तकौमुदी की प्रमुख व्याख्यायें :

(क) प्रौढमनोरमा—

सिद्धान्तकौमुदी के प्रणयनकाल में ही दीक्षित ने उस पर एक टीका लिखने का निश्चय कर लिया था, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिए अनेक सामान्य बातें जो मूल ग्रन्थ में स्पष्ट की जा सकतीं थीं उन्हें वहाँ नहीं लिखा गया। उनका विचार था कि सामान्य अध्येता के लिए उपयोगी विचार ही सिद्धान्तकौमुदी में प्रतिपादित किये जांय। बाद में विशेष जिज्ञासुओं के लिए इन्होंने अपनी 'प्रौढमनोरमा' नामक टीका लिखी। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में वेदान्ती होने के नाते परब्रह्म का ध्यान करके अपने गुरु के वचनों के स्मरण के माध्यम से उनका भी स्मरण किया है[4]। यहाँ गुरुवचनों का स्मरण सोद्देश्य है क्योंकि इस व्याख्या में इन्होंने अनेक स्थलों पर अपने गुरु शेषकृष्ण के अपसिद्धान्तों की आलोचना की[5] है। यह ग्रन्थ सामान्य

---

१. चतुःसहस्री सूत्राणां पञ्चसूत्रविवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह ॥ स्वरसिद्धान्तचन्द्रिका

२. उणादि पञ्चपादी और दशपादी के रूप में हैं। सिद्धान्तकौमुदी में पञ्चपादी है। इसमें ७५९ सूत्र हैं। इनके प्रणेता शाकटायन माने जाते हैं। द्र० प्रदीप और उद्द्योत ३।३।१।

३. फिट्—प्रातिपदिक। ये ८७ सूत्र हैं। ये स्वरों का विधान करते हैं। इनके प्रणेता शन्तनु हैं। इसलिये इन सूत्रों को 'शान्तनव' कहा जाता है।

४. ध्यायं ध्यायं परं ब्रह्म स्मारं स्मारं गुरोर्गिरः। (प्रौढमनोरमामङ्गल)

५. 'भावप्रकाश' में इसका स्पष्ट उल्लेख है—
गुरुग्रन्थे न्यूनतयैवमुक्तेऽपि न सापगतेति भावः। पृ० ६
अत एव सूत्रावृत्ति गौरवात् सन्दूष्य एकदेशस्यैव तन्त्राद्यन्यतमं प्रकाशितवान् प्रकाशकृदिति चेत् ? तदेतत् खण्डयितुमेव क्रियमाणत्वेन भासमानमपि गुरुद्वेषं निगूहितुं च शङ्कते मूले—स्यादेतदित्यादिना। पृ० १५
करिष्यमाणासकृत् गुर्वादिमतखण्डनसूचिततद्द्वेषनिरासमाह—मूले—यद्यपीति। न केवलं मम तत्रैवाभिनिवेशः, किन्तु यस्य कस्याप्यसदुक्तिनिरास इति सदर्थमात्रग्राहित्वेन न मम स इति भावः। पृ० ३९
—तदाशयः। प्रक्रियाप्रसादकृतोराशय इत्यर्थः। पृ० १०१

अध्येताओं के लिए नहीं है अपितु जो विविध विषयों का अध्ययन और ज्ञान प्राप्त करके प्रौढ मस्तिष्क वाले बन चुके हैं, उन्हीं के बौद्धिक आनन्द के लिये यह रचना की गयी है।

इसकी रचना के कुछ ही काल बाद लोग इसे भी मूलग्रन्थ के समान समझकर पढ़ने लगे। इस पर टीकायें भी लिखीं जाने लगीं।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि दीक्षित ने रामचन्द्राचार्य की प्रक्रिया-कौमुदी के अनुकरण पर सिद्धान्तकौमुदी बनायी थी। अतः प्रक्रियाकौमुदी पर लिखी गयी प्रमुख व्याख्याओं का खण्डन प्रौढमनोरमा में किया है। इसमें अपने गुरु शेषकृष्ण द्वारा रचित 'प्रक्रियाप्रकाश' का भी बहुत स्थलों पर खण्डन किया है।[1] इसे देखकर अपने गुरु के पिता के सिद्धान्तों का खण्डन करने वाले दीक्षित पर पण्डितराज जगन्नाथ बहुत क्रुद्ध हुए। और दीक्षित द्वारा गुरुवचनों के खण्डन के कारण उन्हें 'गुरुद्रोही' की उपाधि दे डाली। यही नहीं, प्रौढमनोरमा के खण्डन के लिये इन्होंने 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक ग्रंथ लिखा। दीक्षित के शब्दकौस्तुभ का भी खण्डन किया।[2] मनोरमा में प्रक्रियाप्रकाश के जिन दोषों की चर्चा की गयी थी उनका निरकरण चक्रपाणि ने किया। पण्डितराज द्वारा मनोरमा का जो खण्डन किया गया था उसका निराकरण भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुजिदीक्षित ने 'मनोरमामण्डन' में किया। इस प्रकार दोनों पक्षों से खण्डन-मण्डन चलता रहा। जिन दोषों या अनुपपत्तियों पर अन्य विद्वानों का ध्यान नहीं गया था, उनकी समालोचना शब्दरत्नकार ने प्रबल तर्कों से कर डाली। इसमें भी जो दोष छूट गये उनकी समीक्षा नागेश के शब्देन्दुशेखर आदि में प्रस्तुत की गयी है।

इति भाव इति। कृष्णपण्डितानामिति भावः। पृ० १०२
क्लिश्यन्ते इतीति। प्रकाशकृत इति शेषः। पृ० १३९
(शब्दरत्न) प्राचामिति। प्रकाशकृताम्। पृ० २१५
पररूपमाहुः। प्रकाशकृत इति भावः। पृ० २३४
तदतिरभसात्। तत्=प्रकाशकृदुक्तमित्यर्थः। पृ० ३१७

१. इह केचित् (भट्टोजिदीक्षिताः) ......शेषवंशावतंसानां श्रीकृष्णपण्डितानां चिरायार्चितयोः पादुकयोः प्रसादादासादितशब्दानुशासनास्तेषु पारमेश्वरपदं प्रयातेषु तत्रभवद्भिरुल्लासितं प्रक्रियाप्रकाशं...दूषणैः स्वनिर्मितायां मनोरमाया-माकुल्यमकार्षुः। (मनोरमाकुचमर्दन)

२. इत्थं च 'ओत्' इतिसूत्रस्य कौस्तुभग्रन्थः सर्वोऽप्यसंगत इति ध्येयम्। अधिकं कौस्तुभखण्डनादवसेयम्। (मनोरमाकुचमर्दन)

(ख) तत्त्वबोधिनी—

सिद्धान्तकौमुदी की प्रौढमनोरमा-व्याख्या के बाद दूसरी महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय व्याख्या 'तत्त्वबोधिनी' है। इसके लेखक ज्ञानेन्द्रसरस्वती थे।[१] इन्हें भट्टोजिदीक्षित का समकालिक माना जाता है। यह व्याख्या काशिका[२] के अतिरिक्त मुख्यरूप से दीक्षित की प्रौढमनोरमा पर आधृत है[३]। अतः दीक्षित के अभिप्राय समझाने में सहायक है। कहीं-कहीं काशिका आदि अन्य ग्रन्थों के मत भी उद्धृत हैं। इसमें अपेक्षित विषयों पर ही विस्तार से चर्चा है। सामान्य विषय अविचारित छोड़ दिये गये हैं। इसमें प्रतिपादित सिद्धान्त पण्डितसमाज में पूर्णतया मान्य हैं। विवादनिर्णय के लिये भी इसको कभी-कभी उद्धृत किया जाता है। इस पर अनेक विद्वानों ने टिप्पणियाँ लिखीं।[४]

(ग) शब्देन्दुशेखर—

नव्य वैयाकरणों के अग्रणी विद्वान् नागेश भट्ट ने सिद्धान्तकौमुदी पर गम्भीर व्याख्यायें—(१) 'बृहच्छब्देन्दुशेखर' और (२) 'लघुशब्देन्दुशेखर'—नाम से लिखीं। नागेश महाभाष्य के प्रकाण्ड पण्डित थे।[५] इस लिये इन्होंने अपनी हर व्याख्या में भाष्यज्ञान का प्रदर्शन किया है।

नागेशभट्ट महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। इनका उपनाम 'काल' था। इनकी माता का नाम 'सतीदेवी' और पिता का नाम 'शिवभट्ट' था।[६] ये अपने माता-पिता के ऊपर अपार श्रद्धा रखते थे। इनकी कोई सन्तान नहीं थी। अतः पितृऋण से मुक्त होने के लिए इन्होंने उनके नामकी प्रायः सर्वत्र (समाप्ति या प्रारम्भ में) चर्चा की है और शब्देन्दुशेखर तथा मञ्जूषा को अपनी सन्तति के रूप

---

१. इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीवामनेन्द्रस्वामिचरणसेवक-ज्ञानेन्द्रसरस्वतीकृतायां सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यायां तत्त्वबोधिन्याख्यायां कृदन्तप्रकरणम्। समाप्तेयं तत्त्वबोधिनी।

२. प्रत्याहारात्तत् सिध्यतीति काशिकाकाराशयः। 'आदिरन्त्येनसहेता' इस सूत्र पर तत्त्वबोधिनी।

३. प्रौढमनोरमा से तुलना करने पर सुस्पष्ट है।

४. उनमें म० म० शिवदत्तशर्मा की टिप्पणियाँ अत्युपयोगी हैं।

५. (क) पातञ्जले महाभाष्ये कृतभूरिपरिश्रमः। लघुशब्देन्दुशेखरमङ्गलश्लोक १।
(ख) नागेशभट्टो नागेशभाषितार्थविचक्षणः। प्रदीपोद्द्योत-मंगलश्लोक २

६. इति श्रीकालोपनामकशिवभट्टसुतसतीगर्भज-नागेशभट्टविरचिते सिद्धान्तकौमुदीव्याख्याने शब्देन्दुशेखराख्ये पूर्वार्द्धं समाप्तम्।

में उन्हें (और शिवपार्वती को) समर्पित किया है।

नागेश ने भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था।[१] न्याय का अध्ययन रामराम भट्टाचार्य से किया था।[२] इन्होंने अपने इन दोनों गुरुओं के वैदुष्य का उल्लेख किया है।

नागेश के प्रधान शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे थे।[३] इन्होंने नागेश के प्रायः सभी ग्रन्थों पर उपयोगी व्याख्यायें लिखीं हैं। वैद्यनाथ के पुत्र बालम्भट ने भी नागेश से शिक्षा ग्रहण की थी। बालम्भट ने याज्ञवल्क्य-स्मृति की मिताक्षरा टीका पर लक्ष्मी' नामक व्याख्या लिखी थी।[४] ये अपने समय के प्रधान धर्मशास्त्री थे।

नागेश ने अपने आश्रयदाता शृङ्गवेरपुर के महाराज रामसिंह वर्मा के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त की है।

याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात्।
शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः ॥[५]

नागेश का जन्मकाल विवादग्रस्त है। जयपुर के संस्थापक राजा जयसिंह के अश्वमेध यज्ञ में इन्हें आमन्त्रित किया गया था। किन्तु क्षेत्रसंन्यास-ग्रहण कर लेने के कारण ये उसमें सम्मिलित नहीं हो सके थे। वह यज्ञ पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार सं० १७९९ (१७४२ ई०) में और युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार १७१४ ई० में हुआ था[६]। अतः नागेश अठारहवीं शती के प्रारम्भ में अथवा सत्रहवीं शती के अन्त में हुए थे। (इनके विषय में मेरी सम्पादित 'परमलघु-मञ्जूषा' की भूमिका में विस्तृत जानकारी दी गयी है, वहीं देखना चाहिये।)

शब्देन्दुशेखर के अतिरिक्त नागेश की अनेक कृतियाँ हैं। ये दीर्घजीवी थे। इन्होंने प्रायः प्रत्येक विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं।[७] इनके ग्रन्थों की संख्या लगभग एक सौ है। महाभाष्य पर लिखी गयी 'प्रदीपोद्द्योत' अति विस्तृत व्याख्या है। व्याकरण-दर्शन पर इनकी 'मञ्जूषात्रयी' बड़ी प्रामाणिक और उपयोगी मानी जाती

---

१. हरिदीक्षितपादाब्जसेवनावाप्तसन्मतिः। उद्द्योतमङ्गलश्लोक २।
२. न्यायतन्त्रं रामरामाद्वादिरक्षोघ्नरामतः। लघुमञ्जूषा की समाप्ति पर।
३. नमामि दुरिताहरं गुरुवरं सनागेश्वरम्। कलाटीका का मङ्गलश्लोक
४. संस्कृतशास्त्रों का इतिहास पृ० ५५९। संस्कृतव्याकरण का इतिहास पृ० ३९३
५. लघुशब्देन्दुशेखर का मङ्गलश्लोक।
६. द्र० संस्कृतव्याकरण का इतिहास पृ० ३९३ और 'संस्कृतशास्त्रों का इतिहास' पृ० ५२३।
७. सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः सर्वत्र च निबन्धकृत्। लघुमञ्जूषा की समाप्ति पर।

है। 'शब्देन्दुशेखर' व्याख्यान नव्यन्याय की शैली में लिखा गया है। उस पर विद्वानों की विभिन्न व्याख्यायें भी उसी शैली में हैं। आज शेखर का ज्ञान व्याकरण के पाण्डित्य की कसौटी माना जाता है। परिभाषेन्दुशेखर की उपयोगिता सर्वविदित है।[1]

साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों पर भी इनकी टीकायें हैं। काव्यप्रकाश पर 'प्रदीपोद्द्योत', रसगङ्गाधर पर 'मर्मप्रकाशिका' टीकायें प्रौढ पाण्डित्य की सूचक हैं। धर्मशास्त्र पर भी इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे।

ये एकान्त में सारस्वतसाधना के पक्षधर थे। पाण्डित्य-प्रदर्शनार्थ शास्त्रार्थों में जाना इन्हें अच्छा नहीं लगता था[2]।

(घ) अन्य टीकायें—

नागेश के बाद अनेक विद्वानों ने सिद्धान्तकौमुदी की टीकायें लिखीं थी। इनमें नीलकण्ठ वाजपेयी-रचित 'सुखबोधिनी', रामानन्दकृत 'तत्त्वदीपिका', रामकृष्णकृत 'रत्नाकर' रङ्गनाथयज्वाकृत 'पूर्णिमा', कृष्णमित्रकृत 'रत्नार्णव', तिरुमलद्वादशाहयाजी-रचित 'सुमनोरमा' आदि अनेक टीकाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।[3]

(ङ) बालमनोरमा—

सिद्धान्तकौमुदी की उपयोगी और महत्त्वपूर्ण व्याख्या 'बालमनोरमा' है। इसके लेखक वासुदेव दीक्षित हैं। इनकी माता का नाम 'अन्नपूर्णा' और पिता का नाम 'महादेव' था। इन्होंने बड़े भाई 'विश्वेश्वर' से विद्याध्ययन किया था। ये तन्जौर के राजा शाहजी आदि के समकालिक थे, ऐसा इन्होंने स्वयं लिखा है[4]। इन राजाओं का समय अठारहवीं शती है। बालमनोरमा टीका में नागेश के प्रदीपोद्द्योत[5],

---

१. इसीलिये इस पर अनेक व्याख्यायें लिखीं जा चुकी हैं।

२. नास्ति तर्के दृढोऽभ्यास इति चिन्त्यं न पण्डितैः।
दृषदोपि हि सन्तीर्णाः पयोधौ रामयोगतः॥ लघुमञ्जूषा की समाप्ति में

३. द्र० संस्कृतव्याकरण का इतिहास पृ० ४९१–९४।

४. श्रीमत्सन्ततसन्तन्यमान ... ... श्रीशाहजी शरभजी-तुक्कोजी-भोसल चोलमहीमहेन्द्रामात्यधुरन्धरस्य-श्रीमत आनन्दराय–विद्वत्सार्वभौमस्याध्वर्युणा......पदवाक्यप्रमाणपारावारीणाग्रजन्म-विश्वेश्वरवाजपेययाजितो लब्धविद्यावैशद्येन ... महादेववाजपेययाजिसुतेन अन्नपूर्णाम्बागर्भजातेन वासुदेवदीक्षित-विदुषा...... बालमनोरमायां......सम्पूर्णम्।

५. भाष्यप्रदीपोद्द्योते च स्पष्ट इत्यास्तांतावत्। 'अकथितं च' सूत्र पर बालमनोरमा।

शब्देन्दुशेखर[1] और मञ्जूषा[2] आदि की अनेक स्थलों पर चर्चा की गयी है। इससे भी इनका काल अठारहवीं शती सिद्ध होता है।

इस व्याख्या की विशेषता नाम से ही स्पष्ट है। इसमें व्याकरण के नीरस और कठिन विषय भी सरल ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है। प्रक्रिया समझाने में विस्तार है। लेखक ने पाण्डित्य का प्रदर्शन न करके विषयों के अधिकाधिक स्पष्टीकरण को महत्त्व दिया है। इस कारण साधारण व्याकरणज्ञ भी इसकी सहायता से अपेक्षित ज्ञान प्राप्त कर सकता है। व्याख्याकार अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल कहा जा सकता है।

(च) 'लक्ष्मी'—

सिद्धान्तकौमुदी की इस सुन्दर व्याख्या के लेखक पं० सभापति शर्मोपाध्याय थे। इन्होंने प्राचीन विभिन्न व्याख्याओं का आलोडन करके यत्र-तत्र नव्य न्याय की शैली का अवलम्बन करके यह व्याख्या लिखी है। इस व्याख्या से गुरु-परम्पराप्राप्त अनेक विषयों का ज्ञान हो जाता है। परन्तु यह दुर्भाग्य का विषय है कि माननीय उपाध्याय जी सम्पूर्ण सिद्धान्तकौमुदी पर यह टीका नहीं लिख सके। यह 'कारक-प्रकरण' के प्रारम्भ के कुछ अंश तक ही लिखी जा सकी।

पूज्य उपाध्यायजी का जन्म विक्रम सं० १९३७ में भाद्र-शुक्ल-द्वितीया को बलिया जिला में गंगातट पर स्थित 'उदयीछपरा' नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम पलटोपाध्याय और माता का नाम सखी देवी था। जन्म के छः महीनों के बाद ही माता का देहान्त हो जाने से धात्री ने इनका पालन-पोषण किया। अपने ग्राम से १८९६ ई० में ये काशी आये और पहले देवनारायण त्रिपाठी से अध्ययन किया। इसके बाद में विख्यात विद्वान् श्री दामोदर शास्त्री के शिष्य बन गये। उस समय के प्रख्यात विद्वानों से तत्तद्विषयों का अध्ययन करके आपने प्रौढ पाण्डित्य और शास्त्रार्थयोग्यता प्राप्त की।

आपने १९६४ ई० जून २९ तदनुसार वि० सं० २०२१ आषाढ कृष्णचतुर्थी सोमवार दिन में शरीरत्याग किया।

पं० सभापति शर्मोपाध्याय काशीस्थ बिरला संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य पद पर अनेक वर्षों तक कार्यरत रहे। आपकी शिष्य-परम्परा विशाल है। आपकी कोई सन्तति नहीं थी। लम्बी आयु प्राप्त कर आपने अनेक ग्रन्थों की व्याख्यायें तथा

---

१. ......प्रौढमनोरमायां 'हलन्त्यमि'तिसूत्रे स्थितम्। तद्व्याख्याने शब्दरत्ने शब्देन्दुशेखरे च बहुधा प्रपञ्चितम्। 'षष्ठी स्थानेयोगा' सूत्र पर बालमनोरमा।

२. न सार्वभौमशब्दात् सम्बोधनविभक्तिरिति मञ्जूषायां विस्तरः। 'सम्बोधने च' सूत्र पर बालमनोरमा।

टिप्पणियाँ लिखीं और सम्पादनकार्य किया। 'प्रौढमनोरमा' पर आपकी 'प्रभा' टिप्पणियाँ बहुत उपयोगी हैं। 'लघुमञ्जूषा' पर आपकी 'रत्नप्रभा' टीका और वैयाकरणभूषणसार पर आप द्वारा निर्दिष्ट 'प्रभा' व्याख्या परमोपयोगी है।

प्रौढमनोरमा की व्याख्यायें :—

(क) मनोरमामण्डन—

भट्टोजिदीक्षित ने अपनी सिद्धान्तकौमुदी पर 'प्रौढमनोरमा' नामक व्याख्या लिखी थी।[1] इस प्रौढमनोरमा की गम्भीरता देखकर और पण्डितराज आदि द्वारा किये 'मनोरमाकुचमर्दन' आदि खण्डनग्रन्थों को देखकर भट्टाजिदीक्षित के पुत्र भानुजिदीक्षित ने 'मनोरमामण्डन' नामक एक ग्रन्थ लिखा।[2]

(ख) बृहच्छब्दरत्न, (ग) लघुशब्दरत्न—

भट्टोजिदीक्षित के ही पौत्र हरिदीक्षित ने मनोरमा की विस्तृत व्याख्या 'बृहच्छब्दरत्न' नाम से लिखी। हरिदीक्षित के पिता वीरेश्वर थे। इन्होंने अपने चाचा भानुजिदीक्षित जो बाद मे 'रामाश्रम' नाम से प्रसिद्ध हुए थे, से व्याकरणशास्त्र का अध्ययन किया था। इस बृहच्छब्दरत्न में प्रक्रियाकौमुदी तथा उसके समर्थक विद्वानों के विभिन्न मतों की खूब आलोचना की गयी है[3]। ये दीक्षित के पौत्र थे। अतः इनका जन्मकाल दीक्षित से ६०-७० वर्ष बाद अर्थात् सत्तरहवीं शती का मध्य मानना चाहिए।

बृहच्छब्दरत्न का सम्पादन डा० सीतारामशास्त्री ने किया। यह मूलमात्र 'अव्ययीभाव' तक छपा है[4]।

नव्यवैयाकरणों में अग्रणी नागेश भट्ट हरिदीक्षित के शिष्य थे। नागेश ने इनके महाभाष्यज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। 'बृहच्छब्दरत्न' के बाद 'लघुशब्दरत्न'

---

१. 'सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यां कुर्मः प्रौढमनोरमाम्' ॥ प्रौढमनोरमामङ्गल।

२. भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुजिदीक्षित ने अपने पिता के मतों का फिर समर्थन करते हुए 'मनोरमामण्डन' का निर्माण किया। सं० शा० इति० पृ० ५०५।

३. गूढोक्तिग्रथितां पितामहकृतां विद्वत्प्रमोदप्रदां
भक्त्याधीत्य 'मनोरमां' निरुपमाद् 'रामाश्रमात्' सद्गुरोः।
तत्त्वाज्ञानवशात् परेण कलितान् दोषान् समुन्मूलयन्
व्याचष्टे हरिरेष तां फणिमतान्यालोड्य वैरेश्वरिः ॥ (बृहच्छब्दरत्न)

४. यह प्रौढमनोरमा, बृहच्छब्दरत्न और लघुशब्दरत्न के साथ काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है।

नामक व्याख्या लिखी गयी। ऐसा कहा जाता है कि नागेशभट्ट ने अपने गुरु के यश को अमर करने के लिए इस ग्रन्थ के कर्ता के रूप में अपने गुरु 'हरिदीक्षित' का नाम लिख दिया है। लघुशब्दरत्न नागेशकृत है—इसका सर्वप्रथम संकेत नागेश के साक्षात् शिष्य वैद्यनाथ पायगुण्डे ने किया है। उन्होंने लघुशब्दरत्न की अपनी 'भावप्रकाश' व्याख्या के मङ्गलाचरण में यह लिखा है—

'गुरुं नत्वा श्रये बद्धरत्नशब्देन्दुशेखरम् ॥'[1]

इसका आशय यह है कि शब्दरत्न और शब्देन्दुशेखर की रचना करने वाले अपने गुरुवर नागेश को प्रणाम करता हूँ। आगे भी 'अत्र यद् वक्तव्यं तदन्यत्रोक्तम्'[2] 'तथान्यत्र निरूपितम्'[3] 'अन्यत्र विस्तरः'[4] इनकी व्याख्या करते हुए यही सिद्ध किया है कि नागेश ने ही 'शब्दरत्न' लिखा। कहीं-कहीं 'गुरुचरणाः', 'गुरुचरणानामाकूतम्' आदि लिखा। नागेश के साक्षात् शिष्य होने के नाते इनका कथन प्रामाणिक मान लेना चाहिये।

यद्यपि परम्परा से अध्ययन करनेवाले शिष्य और गुरु के वचनों में बहुशः साम्य होना सम्भव है। अतः हरिदीक्षित ही इन दोनों व्याख्याओं के लेखक हो सकते हैं। तथापि 'लघु' और 'बृहत्' विशेषणों का प्रयोग करना नागेश की सामान्य बात है। साथ ही जब इन्होंने अपने माता, पिता और आश्रयदाता के प्रति अपनी पूरी निष्ठा व्यक्त की है तो विद्यादाता गुरु का नाम अमर करने के लिए उनका यह प्रयास मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं होनी चाहिये।

लघुशब्दरत्न की व्याख्यायें—

लघुशब्दरत्न की भाषा और विषय बड़े ही परिष्कृत रूप में हैं। अनावश्यक शब्दप्रयोग पूर्णतया रोका गया है। अनेक पूर्वपक्षियों या प्राचीनों के मत 'यत्तु' आदि शब्दों से प्रस्तुत किये गये हैं। अतः इसकी व्याख्या की अपेक्षा हुई। फलतः कुछ विद्वानों ने इस दिशा में कार्य किया। इनमें नागेश के साक्षात् शिष्य वैद्यनाथ और भैरव मिश्र प्रमुख हैं। उनकी व्याख्याओं का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

---

१. भावप्रकाश-मङ्गलश्लोक

२. र-प्रत्याहारविषये यद् वक्तव्यं खण्डनं, तच्छब्देन्दुशेखरे उक्तमित्यर्थः। भावप्रकाशः पृ० ५५।

३. अन्यत्र=शब्देन्दुशेखरादौ। भावप्रकाश पृ० ६९।

४. स्पष्टीकृतं चैतद् गुरुचरणैर्धात्वर्थवादे उपसर्गवादे च मञ्जूषायाम्। भावप्रकाश पृ० ९०।

(क) भावप्रकाश–

शब्दरत्न की यह सबसे प्राचीन व्याख्या है। इसके लेखक वैद्यनाथ पायगुण्डे हैं। ये नागेश के साक्षात् शिष्य थे[1]। इसलिए अपने गुरु के ग्रन्थों का आशय इनकी व्याख्याओं से सरलतया समझा जा सकता है। मनोरमा के खण्डन-मण्डन से सम्बद्ध मतमतान्तर तथा शब्दरत्न में कहाँ किस अन्य आचार्य या ग्रन्थ का खण्डन किया जा रहा है—इसका प्रामाणिक ज्ञान इसी व्याख्या से होता है। ग्रन्थ की पङ्क्तियों का शब्दार्थ और भावार्थ दोनों को यथासम्भव समझाने की चेष्टा की गयी है।[2] इस व्याख्या की सहायता से शब्दरत्न का अभिप्राय समझने में बड़ी सहायता मिलती है। आगे के व्याख्याकार इस भावना को छोड़कर केवल शास्त्रार्थयोग्य स्थलों पर ही अपनी प्रतिभा और परिश्रम का प्रदर्शन करने लगे। फलतः अध्येताओं को मूल ग्रन्थ का आशय समझना कठिन होता गया।

वैद्यनाथ पायगुण्डे और इनके पुत्र[3] दोनों ने नागेश से अध्ययन किया था। अतः इनका काल नागेश के कुछ ही बाद समझना चाहिए, अठारहवीं शती का मध्यभाग। इनके पिता का नाम 'महादेव' था। ये भी महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। इन्होंने शब्दकौस्तुभ पर 'प्रभा', शब्दरत्न पर 'भावप्रकाश', शब्देन्दुशेखर पर 'चिदस्थिमाला', परिभाषेन्दुशेखर पर 'गदा' और 'काशिका', लघुमञ्जूषा पर 'कला', प्रदीपोद्द्योत पर 'छाया' टिप्पणी और व्याख्यायें लिखीं।[4]

(ख) रत्नप्रकाशिका (भैरवी)

वैद्यनाथ पायगुण्डे के बाद जिस विद्वान् ने नागेश के विभिन्न ग्रन्थों पर व्याख्यायें लिखीं वे हैं काशी की महान् विभूति 'भैरव मिश्र'। इनकी व्याख्यायें 'भैरवी' नाम से प्रसिद्ध हैं। ये अगस्त्य कुल में उत्पन्न हुए थे। इनकी माता का नाम 'सीता' और पिता का नाम 'भवदेव मिश्र' था।[5] इन्होंने अपने समय के प्रमुख वैयाकरण अपने पिता से शिक्षा-ग्रहण की थी। ये नागेश से कुछ ही काल बाद के प्रतीत होते हैं। इनकी टीका का एक हस्तलेख १८२४ ई० का मिलता है। इससे इन्हें १९वीं शती के पूर्वार्द्ध अथवा १८वीं के अन्तिम चरण का समझना चाहिये।

---

१. गुरुं नत्वा श्रये बद्धरत्नशब्देन्दुशेखरम्। भावप्रकाश-मङ्गलश्लोक २।
२. भावप्रकाशिकां व्याख्यां कर्तुं बालदयान्वितः॥ भावप्रकाश मङ्गलश्लोक ३।
३. वैद्यनाथ पायगुण्डे का पुत्र बालशर्मा (बालम्भट्ट) भी नागेश का शिष्य था। संस्कृत व्या० इति० पृ० ३९३, द्र० सं० शा० इति० पृ० ५२९।
४. इनमें से अधिकांश प्रकाशित हो चुकीं हैं।
५. नत्वा तातं जगद्वन्द्यं भवदेवाभिधं गुरुम्।
सीताख्यां जननीं कुर्वे भैरवोऽगस्त्यसंभवः॥ शब्दरत्न-भैरवी का मङ्गल।

भैरवी व्याख्या में शब्दरत्न का आशय अच्छी तरह प्रतिपादित किया गया है। कुछ स्थलों पर वैद्यनाथ की व्याख्या की समानता दिखाई देती है। कहीं-कहीं कुछ अन्तर भी है। ऐसा लगता है कि भैरवमिश्र को किसी ऐसे योग्य गुरु का शिष्यत्व प्राप्त था जो नागेश के ग्रन्थों की परम्परानुसारी-व्याख्या में दक्ष था। इनके समय नव्य न्यायशैली का प्रभाव व्याकरण शास्त्र पर अच्छी तरह पड़ चुका था; अतः शब्देन्दुशेखर आदि की टीकाओं में इन्होंने उसका आश्रयण लिया है।

भैरव मिश्र के प्रपौत्र श्रीगणेशदत्तशर्मा मिश्र ने शब्देन्दुशेखर की 'चन्द्रकला' (भैरवी) व्याख्या सं० १९४४ में प्रकाशित करायी। उसकी प्रस्तावना के अनुसार भैरव मिश्र के पिता 'माधव पेशवा' द्वारा सम्मानित किये गये थे। भैरव मिश्र ने १९वीं शती में अस्सी से अधिक वर्षों तक जीवित रहकर अध्यापन और लेखन किया। इन्होंने 'रसगोनगभू' विक्रमवत्सर में श्रावणकृष्णा त्रयोदशी को शरीर-त्याग किया।

(ग) अन्य व्याख्यायें—

भैरवमिश्र के बाद शब्दरत्न की कोई महत्त्वपूर्ण टीका नहीं प्राप्त होती है। अधिकांश विद्वानों ने टिप्पणियाँ ही लिखीं। इनमें पं० गोपालशास्त्री नेने तथा पं० सभापति शर्मोपाध्याय की टिप्पणियाँ प्रकाशित हैं। अन्य साधारण व्याख्यायें भी एक प्रकार से टिप्पणी का ही रूप हैं। ग्रन्थ समझाने की चेष्टा न करके गिने चुने स्थल स्पष्ट करने या शास्त्रार्थोपयोगी अंशमात्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

(घ) भावप्रकाशिका (नवीन व्याख्या)

इस प्रस्तुत संस्करण में 'भावप्रकाशिका' संस्कृत-व्याख्या दी जा रही है। इस व्याख्या में यह प्रयास किया गया है कि सिद्धान्तकौमुदी, प्रौढमनोरमा और शब्द-रत्न—इन तीनों का सामञ्जस्य करके विषयों का स्पष्टीकरण किया जा सके। इससे पूर्ववर्ती व्याख्यायें मुख्यरूप से शब्दरत्न का आशय प्रकट करती हैं। किन्तु प्रस्तुत व्याख्या में प्रौढमनोरमा के उन स्थलों का भी स्पष्टीकरण किया गया है जिन्हें शब्दरत्नकार ने छोड़ दिया था। अपेक्षित स्थलों पर सिद्धान्तकौमुदी के अंश भी उद्धृत हैं जिससे पूर्वा-पर प्रसङ्ग समझने में सहायता प्राप्त हो सके। आधुनिक परिष्कार-पद्धति का भी समावेश है। इसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना न रख कर अध्येताओं के लाभ की चिन्ता प्रधान रूप से की गयी है। विवादग्रस्त विषयों के सन्दर्भ में वैद्यनाथ या भैरवमिश्र अथवा दोनों के वचनों को ही प्रमाण मान कर प्रस्तुत किया गया है। अनावश्यक विस्तार का प्रदर्शन न करके केवल उपयोगी अंश ही रखे गये हैं।

प्रौढमनोरमा-शब्दरत्न की हिन्दी व्याख्यायें—

व्याकरणशास्त्र के ग्रंथों की हिन्दी-व्याख्या लिखना अति कठिन कार्य है। उसमें भी नव्यव्याकरण के ग्रंथ जिनमें 'अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' की भावना से कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक भाव व्यक्त किये गये हैं, उन पर हिन्दी-माध्यम से भावप्रकाशन-समर्थ व्याख्या लिखना एक बहुत कठिन कार्य है। फिर भी, समय की मांग को देखते हुए हिन्दी-व्याख्यायें लिखीं जा रहीं हैं।

(क) बालप्रकाशिका—

इसके लेखक पं० द्वारिकाप्रसाद शास्त्री हैं। इसमें हिन्दी भाषा में व्यवस्थित रूप से न तो अनुवाद ही है और न व्याख्या। प्रौढमनोरमा और शब्दरत्न को मिला जुलाकर लिखने से विषय स्पष्ट नहीं हो सके हैं। फिर भी प्रथम प्रयास होने से यह भी सराहनीय ही हैं।

(ख) भावबोधिनी—

प्रस्तुत संस्करण में 'भावबोधिनी' हिन्दी व्याख्या दी गयी है। यह व्याख्या प्रौढमनोरमा और शब्दरत्न दोनों पर लिखी गयी है। सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या 'प्रौढमनोरमा' है और उसकी व्याख्या है 'शब्दरत्न'। कई स्थलों पर तीनों को मिलाने पर ही सही आशय प्रकट होता है। अतः तीनों के आशय अलग-अलग [सि०कौ०, मनो०, शब्द०] प्रतीकों से प्रतिपादित किये गये हैं। समझाने में जहाँ अन्य वाक्यादि आवश्यक हुए उनके लिये ( ) और भाव को स्पष्ट करने के लिए [ ] कोष्ठकों का प्रयोग किया गया है। कहीं इनमें कुछ असावधानी भी हो गयी। मूल उद्देश्य ग्रंथ के भाव को अधिक से अधिक स्पष्ट करना रहा है।

अनुवाद में यह ध्यान रखा गया है कि मनोरमा और शब्दरत्न को अलग अलग लिखा जाय। कहीं यदि शब्दरत्न में अतिसामान्य शब्दप्रयोग हुआ है तो उसे मनोरमा के अपेक्षित अंश के साथ ही जोड़कर अनूदित कर दिया गया है। इस लिये बड़े-बड़े स्थलों पर अलग-अलग समझाया गया है और समझाने के पहले ही [मनो०] या [शब्द०] ऐसा संकेत कर दिया गया है। इससे विषय आपस में सङ्कीर्ण नहीं हुए हैं। अध्येता को जिस अंश की व्याख्या या अनुवाद देखना है, वह प्रतीक की सहायता से तत्काल समझ सकता है। जिन विषयों को संक्षेप में समझाना सम्भव नहीं हो सका उन्हें '**विमर्श**' के अन्तर्गत पूर्णतया स्पष्ट किया गया है। अधिक से अधिक स्पष्ट करने के कारण कहीं-कहीं सामान्य पुनरुक्ति भी हो गयी है। पर इसे दूषण न मानकर व्याख्याकार की बाध्यता माननी चाहिये।

विजयादशमी, १९८६

—जयशङ्करलाल त्रिपाठी

संकेत-सूची

का० वा०	=	कात्यायन-वार्तिक
कै० प्र०	=	कैयटीय प्रदीप
गो० ब्रा०	=	गोपथब्राह्मण
पस्पशा०	=	महाभाष्यपस्पशाह्निक
पा० सू०	=	पाणिनीय सूत्र
भावप्रकाश	=	लघुशब्दरत्न की व्याख्या
भैरवी	=	,, ,, ,,
मनो०	=	प्रौढमनोरमा
म० भा०	=	महाभाष्य
महाभा०	=	महाभारत
मा० सू०	=	माहेश्वरसूत्र
शब्द०	=	लघु शब्दरत्न
सं० व्या० इति०	=	संस्कृत व्याकरण का इतिहास
सं० शा० इति०	=	संस्कृत शास्त्रों का इतिहास
सि० कौ०	=	वैयाकरण-सिद्धान्त-कौमुदी

—=*——

[१]

अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम् ।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥ (वा० प० १।१३)

[२]

यदेकं प्रक्रियाभेदैर्बहुधा प्रविभज्यते ।
तद्व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥ (वा० प० १।२२)

[३]

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ (वा०प० १।१२३)

[४]

तस्माद् यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः ।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ॥ (वा०प० १।१३२)

[५]

साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः ।
अविच्छेदेन शिष्टानामिदं स्मृतिनिबन्धनम् ॥ (वा० प० १।४२)

सच्छब्दरत्न-

प्रौढमनोरमा

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

सशब्दरत्न-

प्रौढमनोरमा

भावप्रकाशिका-भावबोधिनी-संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेता

अथ संज्ञाप्रकरणम्

ध्यायं ध्यायं परं ब्रह्म स्मारं स्मारं गुरोर्गिरः।
सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यां कुर्मः प्रौढमनोरमाम् ॥ १ ॥

शब्दरत्नम्

शेषविभूषणमीडे शेषाशेषार्थलाभाय ।
दातुं सकलमभीष्टं फलमीष्टे यत्कृपादृष्टिः ॥ १ ॥

भावप्रकाशिका

विश्वेश्वरं सकलविघ्नहरं तथाम्बां बुद्धिप्रदान् गुरुवरांश्च शनिश्च नत्वा ।
श्रीशब्दरत्नयुत-प्रौढमनोरमायाः व्याख्यां तनोम्यनुपमां जयशङ्करोऽहम् ॥

भावबोधिनी

॥ विघ्नविनाशनाय नमः ॥

[मनो०] परब्रह्म का पुनः पुनः ध्यान करके [और] गुरु [शेषश्रीकृष्ण] के वचनों [व्याख्यानों] का पुनः पुनः स्मरण करके [हम भट्टोजिदीक्षित स्वरचित वैयाकरण -] सिद्धान्त-कौमुदी की व्याख्या 'प्रौढमनोरमा' की रचना करते हैं।

[शब्द०] शेष [-नाग के अवतारभूत भगवान् पतञ्जलि] के [द्वारा प्रतिपादित] समस्त पदार्थों [महाभाष्योक्त रहस्यों] का ज्ञान करने के लिये शेषविभूषण [शेष नाग हैं विशिष्ट भूषण=अलङ्कार जिनके ऐसे शिवजी को अथवा शेष=शयनाधाररूप से शेषनाग और वाहनरूप से वि=गरुड हैं भूषण=अलङ्करण जिनके

"ग्रन्थादौ ग्रन्थमध्ये ग्रन्थान्ते च मङ्गलं समाचरेत्" इत्यादिस्मृतिविधिवाक्यात् शिष्टाचारानुमितात् "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते" इत्यादि-महाभाष्याद्युक्तफलकत्वाच्च प्रारिप्सितग्रन्थसमाप्तिप्रतिबन्धकविघ्न-विनाशार्थं समुचितेष्टदेवतास्तुतिरूपं मङ्गलमाचरन् भट्टोजिदीक्षितः शिष्यशिक्षायै निवध्नाति—**ध्यायं ध्यायमिति**। एवमेव शब्दरत्नकारोऽपि शिष्यशिक्षायै निवध्नाति—**शेषविभूषणमीडे इति**।[1]

मूले—परं ब्रह्म ध्यायं ध्यायम्, गुरोर्गिरः स्मारं स्मारं सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यां प्रौढमनोरमां कुर्मं इत्यन्वयः। **शब्दरत्ने**—शेषाशेषार्थलाभाय शेषविभूषणम् ईडे। यत्कृपादृष्टिः सकलम् अभीष्टं दातुम् ईष्टे इत्यन्वयः। **शेषविभूषणमिति**—। विशिष्टं विविधं वा भूषणम्—विभूषणम्, शेषः=शेषनाग एव विभूषणं यस्य तं

ऐसे विष्णु] की स्तुति [मैं हरि दीक्षित] करता हूँ। जिन [शिव अथवा विष्णु] की कृपारूपी दृष्टि [भक्तों के] मनोवाञ्छित समस्त फलों को प्रदान करने में समर्थ है।

विमर्श—वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी के प्रणेता भट्टोजिदिक्षित हैं। वे अपनी कृति के गूढ रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए प्रौढ लोगों के लिये यह व्याख्या बना रहे हैं। अपनी विशेषज्ञता द्योतित करने के लिये 'कुर्मः' इस उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रयोग किया है। ग्रन्थ के भावीरूप को मस्तिष्क में स्थिर कर लेने के कारण इस व्याख्या का कर्मत्व आदि सम्भव है।

भट्टोजिदीक्षित ने अपनी वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी पर प्रौढमनोरमा व्याख्या लिखी है। इस प्रौढमनोरमा पर इन्हीं के पौत्र हरिदीक्षित ने बृहच्छब्दरत्न नामक प्रौढव्याख्या लिखी है। इन्हीं गुरु हरिदीक्षित के शिष्य नागेशभट्ट ने अपने गुरु के नाम से ही प्रस्तुत लघुशब्दरत्न व्याख्या लिखी है, यह प्रसिद्धि है। इसकी सहायता से सिद्धान्त-कौमुदी के रहस्यों को समझने में अतीव सहायता प्राप्त होती हैं, यह सर्वविदित है।

---

१. अस्यां भावप्रकाशिकाव्याख्यायां प्रौढमनोरमायाः शब्दरत्नस्य चोभयोः ग्रन्थयोः यथाक्रमं व्याख्यानं क्रियते। तत्रेदं सर्वविदितं यदियं प्रौढमनोरमा भट्टोजिदीक्षितेन लिखितायाः स्वीयायाः वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्याः व्याख्यारूपा, प्रौढमनोरमायाश्च व्याख्यानभूतः लघुशब्दरत्नग्रन्थः। एवञ्च सिद्धान्तकौमुदी परममूलम्, प्रौढ-मनोरमामूलम्, शब्दरत्नं च अस्याः व्याख्यानभूतम्। अत्रास्यां व्याख्यायां परममूलशब्देन सिद्धान्तकौमुदी मूलशब्देन च प्रौढमनोरमा प्रस्तूयते इति बोध्यम्।

शिवमित्यर्थः। यद्वा—शेषश्च विश्च इति शेषवी, "अभ्यर्हितं च" इत्यनेन वार्तिकेन शेषशब्दस्य पूर्वनिपातः, तौ भूषणे यस्य तम्, अथवा शेषयुक्तः शेषविरुद्धो वा विः=गरुडः भूषणम् यस्य तम्, पर्यङ्करूपेण वाहनरूपेण च शेषशायिनं गरुड-वाहनं विष्णुमित्यर्थः, एवञ्च श्लेषबलेन शिवं विष्णुञ्चोभयम्, ईडे=स्तौमि, ईड स्तुतावित्यदादौ। कस्मै प्रयोजनाय ? शेषाशेषार्थलाभाय। शेषस्य=शेषावतार-भूतस्य पतञ्जलेः योऽशेषोऽर्थः=सम्पूर्णमहाभाष्यस्थसिद्धान्तः, तल्लाभाय=तज्ज्ञान-प्राप्तये, यद्वा—शेषश्च अशेषश्च—शेषाशेषौ=फणिगरुडौ, नञोऽत्र विरोधार्थत्वा-दिति भावः, तयोः येऽर्थाः=महाभाष्य-गरुडपुराणस्थ-सिद्धान्तास्तेषां लाभायेत्यर्थः। महाभाष्योक्ताः=व्याकरणपदार्थाः, गरुडपुराणोक्तोऽर्थः=सदसद्विवेकः, उभयोर्ला-भायेति भावः। एवञ्चात्र शब्दरत्ने दुराग्रहं परित्यज्य सुष्ठु ज्ञात्वा विचार्य च सदसद्विवेकेनैव सिद्धान्ता वक्ष्यन्ते इति बोध्यम्। इयं च चतुर्थी तादर्थ्ये इति बोध्यम्। यत्कृपादृष्टिः=यस्य शिवस्य विष्णोः वा कृपायुक्ता दृष्टिः, कृपैव दृष्टिर्वा। सकलम-भीष्टं फलं दातुम् ईष्टे=ईश्वरत्वेन स्वातन्त्र्यात् समर्था भवतीत्यर्थः। एवञ्च यस्य तादृशदृष्टेरेवेदृक्षसामर्थ्यमिति तस्य महत्त्वं किं वर्णनीयमिति सर्वोत्कृष्टत्वं तत्रेति सुस्पष्टम्। यत्कृपापूर्वकदृष्ट्या सकलार्थलाभो भवति तेन तदन्तर्गतत्वेन प्रारिप्सित-ग्रन्थस्य निर्विघ्नपरिसमाप्तिरपि भविष्यत्येवेति ध्वनितम्।

ननु ध्यायमित्यादेः घञन्तप्रकृतिकद्वितीयान्तत्वे अभ्यासान्वयद्वितीयानामनुप-पत्तिरत आह—**ध्यात्वेति**। णमुलन्तम्—'ध्यैचिन्तायाम्' इत्यस्माद्धातोः "आभीक्ष्ण्ये णमुल् च" [पा० सू० ३।४।२२] इति णमुल् प्रत्ययः। एवमेव स्मारमित्यत्रापि 'स्मृ चिन्तायाम्' इत्यस्मात् णमुल् प्रत्ययो बोध्यः। अनयोरर्थभेदस्तूपपादयिष्यते।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥

इति श्रुत्या कार्यब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्यापि नपुंसकलिङ्गब्रह्मशब्दवाच्यत्वात् तद्-व्यावृत्तये आह—**परमिति**। ननु ब्रह्मणि किं नाम परत्वम् ? न चान्यत्वम्, भेद-स्यासत्त्वात्, न चोत्कृष्टत्वम्; यत्किञ्चित्-प्रतियोगिकोत्कर्षस्य येन केनचिद् रूपेण सर्वत्र सत्त्वात्, जगदुपादानत्वस्यापि हिरण्यगर्भादावतिप्रसक्तत्वादत आह—**सर्वेति**। एवञ्चेदृशोत्कर्षस्य तदन्यत्रासत्त्वान्नातिप्रसक्तिरिति बोध्यम्। **इदम्**=परम्—इति विशेषणमित्यर्थः। ध्यैस्मृधात्वोस्तुल्यार्थकत्वस्यातिप्रसिद्धत्वात्पौनरुक्तिपरिहारायाह—**ध्यानमिति**। **स्मृत्यनुकूलेति**। स्मृति-जनक-भावनाख्य-संस्कार - रूप-व्यापाररूपमित्यर्थः। **तज्जन्यम्** = उक्तसंस्काररूपव्यापारजन्यस्मरणरूपम्। **विशेषः**-इति। ध्यानस्मरणयोर्भेद इति भावः। ननु सर्वथा पूज्यत्वेन बहुव-

ध्यायं ध्यायमिति। ध्यात्वा ध्यात्वेत्यर्थः, णमुलन्तमेतत्। परं=सर्वं-जगदुपादानम्। कार्यब्रह्महिरण्यगर्भव्यावृत्तये इदम्। ध्यानं चिन्तापरपर्यायं

चनोपादानस्यैवौचित्यादेकवचनोपादानमनुचितमत आह—**एकवचनेने**ति। **एक-स्मादेवे**ति। श्रीकृष्णपण्डिताख्यादेवेत्यर्थः। तस्य सर्वविद्यानिधित्वसूचनद्वारा सर्वोत्कृष्टत्वसूचनेन सर्वपूज्यत्वप्रतिपादनद्वारा ईश्वरस्येवाद्वितीयत्वप्रतिपादनार्थमेक-वचनोपादानं सर्वथा समीचीनमेवेति बोध्यम्। ननु प्रौढानां मनांसि—प्रौढमनांसि, तानि रमयति या सा प्रौढमनोरमा–इत्यर्थस्वीकारे "कर्मण्यण्" [पा० सू० ३।२।१] इत्यस्य जागरूकतया अणो दुर्वारत्वेन "टिड्ढाणञ्०" [पा० सू० ४।१।१५] इति ङीवापत्तिरत आह—**प्रौढाना**मिति। एवञ्च गङ्गाधर इत्यादाविवात्रापि णिजन्तस्य रमयतेः पचादित्वं मूलविभुजादित्वं वा प्रकल्प्य रमयतीति रमा इति अचि के वा प्रत्यये संसाध्य प्रौढमनसां रमा प्रौढमनोरमा इति षष्ठीतत्पुरुषो बोध्यः। वस्तु-तस्तु मनोरमयतीत्यत्र णिच्-कर्मैतदुभयविशिष्टरम्धातोः पचादित्वस्य कल्पनेन अण एवाप्राप्तिरिति ङीबभावोऽपि सुकरः। अत एव येभ्यो विशिष्टेभ्य इष्यते तान् केवलान् पचादिगणे पठित्वा "कर्मोपपदेभ्यश्च ततो णिचश्च" इति पठनीयम्। चकारबलात् पूर्वाननुवर्त्य णिजन्तात् मनोरमा, केवलात् रमा इत्युभयप्रयोगसिद्धिरिति प्राहुः। अत एव मनो रमयतीत्यर्थिकामेवेत्युक्तम्। प्रकृतोपयोगिप्रौढपदार्थतावच्छेदकमाह—**प्रौढत्वञ्चे**ति। दर्शनम्=शास्त्रम्। एवञ्च विविधशास्त्रार्थज्ञा-नोत्तरमेव सकलमहाभाष्यस्य गूढार्थज्ञानं सम्भवति नान्यथा, भाष्ये तत्र तत्र विचार-समये संकलशास्त्रीयविषयाणां ध्वननात्। केचित्तु—सकलपदं महाभाष्ये विशेषणम्। तेन दर्शनार्थज्ञानपूर्वक-सकलमहाभाष्यगूढार्थज्ञानवत्त्वमित्यर्थः फलति। साकल्येन महाभाष्यगूढार्थज्ञाने सत्येव दर्शनानामीषज् ज्ञानेऽपि इयमानन्ददायिका।

एवञ्च (१) विविधदार्शनिकग्रन्थाध्ययनपूर्वकसिद्धान्तकौमुद्यध्येतारोऽधिकारिणः। (२) सिद्धान्तकौमुदीगूढार्थज्ञानं प्रयोजनम्। (३) सिद्धान्तकौमुद्युक्तार्थो विषयः। (४) प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावश्च सम्बन्धः—इत्यनुबन्धचतुष्टयं बोध्यमिति तत्त्वविदः।

[शब्द०] ध्यायं ध्यायम्=बार बार ध्यान करके–यह अर्थ है। यह णमुल्प्रत्ययान्तरूप है। [अर्थात् घञ्प्रत्ययान्त द्वितीयान्तरूप नहीं है। अतः द्वित्व में बाधा नहीं है।] पर=सम्पूर्ण जगत् के उपादान, कार्य हिरण्यगर्भ [अर्थ] की व्यावृत्ति=दूर करने के लिये [परम्] यह [ब्रह्म का विशेषण बनाया गया]। [भाव यह है कि केवल ब्रह्म कहने पर हिरण्यगर्भ ब्रह्म भी लिया जा सकता था, अतः 'पर' यह विशेषण प्रयुक्त करके समस्त संसार के उपादान कारणभूत ब्रह्म का उल्लेख किया है।] ध्यान—चिन्तन-रूपी पर्यायवाला, स्मृति का जनकरूप व्यापार [अर्थात् स्मृति का

'ह य व र ट्' (मा० सू० ५)। **हकारोपदेशः अट्अश्हश्इण्ग्रहणेषु**

स्मृत्यनुकुलव्यापाररूपम्। स्मरणं तु तज्जन्यमिति विशेषः। गुरोरित्येक-वचनेन सर्वविद्यालाभ एकस्मादेव गुरोरिति सूचितम्। प्रौढानां मनो रमयतीत्यर्थिकां मनोरमाम्। प्रौढत्वं च सकलदर्शनार्थपूर्वकमहाभाष्य-गूढार्थज्ञानवत्त्वम्।

ननु माहेश्वरसूत्रेषु हकारस्य द्विरुच्चारणमसङ्गतमत आह मूले—**अट्-अश्-हश्-इण्ग्रहणेष्विति।** अट्-अश्-हश्-इणः गृह्यन्ते येषु तेषु—सूत्रेषु इत्यर्थः। अत्र सूत्र-

---

जनक भावनानामक संस्काररूप] है, किन्तु स्मरण तो उससे जन्य=तादृशसंस्कार से जन्य स्मरणरूप है यह [ध्यान और स्मरण में] विशेष=अन्तर है। [अतः किसी एक शब्द के उल्लेख से कार्यनिर्वाह सम्भव न होने के कारण भट्टोजिदीक्षित ने दोनों का उपादान किया है। ध्यायं ध्यायम् के समान स्मारं स्मारम् यहाँ भी णमुल् प्रत्यय ही है। पूज्य होने से वहुवचन का प्रयोग उचित था वह न करके एकवचन के प्रयोग का रहस्य प्रकट करते हैं—] 'गुरोः'='गुरु के' इस एकवचन द्वारा 'एक ही गुरु' अर्थात् शेषश्रीकृष्णपण्डित से ही समस्त विद्याओं का लाभ हुआ [एक ही पण्डित का शिष्यत्व स्वीकार किया]—यह सूचित किया है। प्रौढ़ों के मनों का रमण कराती है=आनन्दित कराती है—इस अर्थ वाली मनोरमा को [बना रहा हूँ]। और [प्रौढों में रहने वाला] प्रौढत्व—दर्शन शास्त्र के अर्थों का ज्ञान करते हुए संपूर्ण महाभाष्य के गूढ अर्थों के ज्ञानवाला होना है। [अर्थात् जो व्यक्ति दर्शनग्रन्थों का अध्ययन एवं ज्ञान प्राप्त करके सम्पूर्ण महाभाष्य के गूढ रहस्यों को समझ चुका है वही यहाँ प्रौढ है। उसके मन को आनन्दित कराने वाली यह रचना है।]

विमर्श—प्रौढमनोरमा—शब्द की व्युत्पत्ति रसगङ्गाधर के समान है। पहले रमयति इस अर्थ में 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' पा० सू० ३।१।१३४ से अच् प्रत्यय अथवा 'मूलविभुजादिभ्यः कः' वार्त्तिक से क=अप्रत्यय करके स्त्रीप्रत्यय करने पर 'रमा' शब्द निष्पन्न होता है। इसके बाद प्रौढमनसां रमा—यह षष्ठीसमास करना चाहिए। शब्दरत्न में 'प्रौढानां मनो रमयति' यह विग्रह नहीं है अपितु तात्पर्यार्थ है। अन्यथा अण् प्रत्यय करने पर ङीप् की आपत्ति आती है। इसका विशेष विवेचन संस्कृत-व्याख्या में देखिये।

[मनो०] हयवरट् [मा०सू० ५]—अट्, अश्, हश् एवम् इण् का ग्रहण जिनमें है उन [सूत्रों] में हकार का ग्रहण कराने के लिये 'ह' का उपदेश=उच्चारण [इस

हकारग्रहणार्थः। अर्हेण, 'अड्व्यवायेऽपि' इति णत्वम्। देवा हसन्ति, 'भोभगो' (पा० सू० ८।३।१७) इति रोर्यत्वम्। देवो हसति, 'हशि च' (पा० सू० ६।१।११४) इत्युत्वम्। लिलिहिढ्वे, लिलिहिध्वे, विभाषेटः' (पा० सू० ८।३।७९) इति वा ढः।

इण्ग्रहणेष्विति। नन्विदं न्यूनम्, अम्ग्रहणेऽपि ग्रहणात्। फलं तु 'बहु-

---

कारमतमनुसृत्य प्रत्याहारचतुष्टयोपादानम्। भाष्यकारमते तु अशि इणि च प्रत्याहारे हकारोपादानमनर्थकमिति अटि हशि चेति प्रत्याहारद्वये एव हकारग्रहणार्थं 'हयवरट्' इति माहेश्वरसूत्रे हकारोपादानं बोध्यम्। **"अड्व्यवायेऽपीति।** "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि" (पा० सू० ८।४।२) इति सूत्रेण हकारस्य अटि सत्त्वात् तद्व्यवायेऽपि 'अर्हेण' इत्यादिलक्ष्यसिद्धये प्रथमहकारस्योपादानम्। एवमेव अश्-प्रत्याहारेऽपि हकारस्य ग्रहणात् देवा हसन्तीत्यादौ अश्परकत्वात् "भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि" (पा० सू० ८।३।१७) इत्यनेन रोर्यकारादेशः। हश् प्रत्याहारे हकारस्य सत्त्वात् देवो हसतीत्यादौ हश्परकत्वात् "हशि च" (पा० सू० ६।१।११४) इत्यनेन रोरुकारादेशः। इण् प्रत्याहारे हकारस्य सत्त्वात् लिलिहिढ्वे लिलिहिध्वे इत्यादौ "विभाषेटः" (पा० सू० ८।३।७९) इत्यनेन इणः परो य इट् ततः परस्य लिटो धस्य वा मूर्धन्यादेशः। हयवरडिति माहेश्वरसूत्रे प्रथमहकारस्य प्रयोजनचतुष्टयं मूलकृता प्रदर्शितम्, तत्र न्यूनत्वमाशङ्क्य निराकर्तुमाह शब्दरत्ने—

माहेश्वर सूत्र में] है। अर्हेण—यहाँ 'अट् के व्यवधान में भी' [अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' [पा० सू० ८।४।२] से णत्व होता है। देवा हसन्ति—यहाँ 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' [पा० सू० ८।३।१७] से 'रु' का य् होता है। देवो हसति—यहाँ 'हशि च' [पा०सू० ६।१।११४] से 'रु' का उत्व होता है। लिलिहिध्वे लिलिहिढ्वे—में 'विभाषेटः' [पा० सू० ८।३।७९ इण् से परे जो इट् उससे परे 'षीध्वम्', लुङ् तथा लिट् के ध् का वैकल्पिक मूर्धन्य होता है] इससे विकल्प से ढ होता है।

[शब्द०] पूर्वपक्ष—इण्-ग्रहण वाले सूत्रों में—अर्थात् अट्, अश्, हश् और इण् प्रत्याहारों के ग्रहण वाले सूत्रों में—यह कथन न्यून है, क्योंकि 'अम्' प्रत्याहार वाले [पुमः खय्यम्परे पा० सू० ८।३।६] में 'भी [ह का] ग्रहण होता है। इसमें हकार के ग्रहण का फल तो 'बहुपुम्कूह्' इत्यादि में 'पुमः खय्यम्परे' [पा० सू० ८।३।६] इससे रुत्व करना है। [भाव यह है कि बहवः पुमांसो यस्य—इस अर्थ में बहुव्रीहि समास करने पर जब कप् प्रत्यय नहीं होता है क्योंकि 'शेषाद्विभाषा' [पा० सू० ५।४।११४] इसमें 'विभाषा'—विकल्प का ग्रहण है

पुम्क्ह्' इत्यादौ "पुमः खय्यम्" इति रुत्वम्। 'गवित्ययमाह्'त्यादिवत् अपदान्तत्वात्ककारादेर्न जश्त्वमिति चेन्न ; "सुट्तिथोः" इत्यादाविकाराद्यु-

---

न्विदमिति। **इदम्**=उक्तं फलचातुर्विध्यम्। **अम्ग्रहणेऽपि**=अम् प्रत्याहारो गृह्यते यस्मिन् तादृशे "पुमःखय्यम्परे" (पा० सू० ८।३।६) इत्यादावित्यर्थः। **ग्रहणात्**=पुमःरोर्विधाने अम्वाच्यत्वेन निमित्तया हकारग्रहणस्यापेक्षणीयत्वादिति भावः। अमि हकारग्रहणस्य क्लृप्तप्रयोजनाभावादाह—**फलं त्विति**। **बहुपुमिति**।

और 'उरः' प्रभृतिभ्यः' [पा०सू० ५।४।१५१] इसमें एकवचनान्त पुम्स् शब्द का पाठ है तब बहुपुम्स् यह बनता है। इसका अनुकरण किया जायगा और क् ह् इन दोनों का भी अनुकरण किया जायगा। और यहाँ अनुकरण में भेदविवक्षा मानी जायगी। अतः संयोगान्त सकार का लोप 'संयोगान्तस्य लोपः' [पा० सू० ८।२।२३] से हो जायगा। इस प्रकार बहुपुम्+क् ह् इस अवस्था में अम् प्रत्याहार में 'ह्' को मान लेने पर अम्परक खय् [हपरक क्] मिल जाता है। 'पुमः खय्यम्परे' [पा० सू० ८।३।६] से म् का रु होना चाहिए। इसके लिये 'अम् में भी 'ह' का ग्रहण फल है। यहाँ जब क् और ह् दोनों का अलग-२ अनुकरण है तब अनुकार्य अर्थ से क् और ह् दोनों ही अर्थवान् हो जाते हैं अतः प्रातिपदिक संज्ञा, सुविभक्ति एवं हलन्त होने से उसका लोप आदि कर देने पर ये दोनों [क् ह्] पद हो जाते हैं। इनमें क् का जश्त्व और ह् का ढत्व करना चाहिये। ऐसा कर देने पर अम्परक खय् नहीं रह पाता है। अतः यह फल नहीं हो सकता। इस शंका का समाधान करते हैं कि] 'गवित्ययम् आह' इत्यादि के समान अपदान्त होने के कारण जश्त्व नहीं होता है। [भाव यह है कि 'गवित्ययमाह' यहाँ अभेदविवक्षा में अर्थवत्त्वाभाव के कारण प्रातिपदिकत्व एवं स्वाद्युत्पत्ति नहीं होती है, पदसंज्ञा नहीं होती है। इसलिये 'लोपः शाकल्यस्य' पा० सू० ८।३।१९ से अपदान्त 'व्' का लोप नहीं होता है। इसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में क् ह् में अभेदानुकरण होने से पदत्व-प्रयुक्त कोई कार्य नहीं होता है। किन्तु बहुपुम् यहाँ सान्तप्रातिपदिक का अनुकरण और भेदविवक्षा है। अतः सकार का संयोगान्त लोप हो जाता है। यहाँ ककार का जश्त्व और हकार का ढत्व—पदान्तत्वप्रयुक्त ये दोनों कार्य नहीं होते हैं। अतः अम्—में हग्रहण का यह फल होना चाहिये।]

उत्तरपक्ष—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि [सुट् त्थोः यह अनेक व्यञ्जनों का एक साथ उच्चारण न करके] 'सुट्तिथोः' [पा० सू० ३।४।१०७] इत्यादि में इकार आदि [और 'झषस्तथोर्धोऽधः' पा० सू० ८।२।४० में अकार] का उच्चारण

च्चारणेन शास्त्राबोधिताजव्यवहितहल्समुदायस्यासाधुबोधनात्। अत एव "उच्चैरुदात्तः" [पा० सू० १।२।२९] इति सूत्रे भाष्यं "न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति" इति। स्कोरित्यादिस्तु सौत्रः प्रयोगः। अत

बहवः पुमांसो यस्येति बहुव्रीहिः—बहुपुंस् इति। न चात्र कप्प्रत्ययापत्तिः, "शेषाद्-विभाषा" (पा० सू० ५।४।१५४) इत्यत्र विभाषाग्रहणात् "उरः प्रभृतिभ्यः कप्" (पा० सू० ५।४।१५१) इत्यत्रैकवचनान्तस्यैव पुम्स्शब्दस्य पाठाद् बहुवचने तद-भावस्येष्टत्वात्। बहुपुम्स् इत्यत्र "संयोगान्तस्य लोपः" (पा० सू० ८।२।२३) इत्यनेन सकारलोपः। क् इत्यस्य ह् इत्यस्य च प्रत्येकमनुकरणद्वयम्। एवञ्च बहुपुम्+क् ह् इत्यत्र अम्परकखयः सत्त्वेन 'पुमः खय्यम्परे' (पा० सू० ८।३।६) इत्यनेन पुमो मकारस्य रुत्वापत्तिः। ननु प्रत्येकमनुकरणे तयोरनुकरणयोरनुकार्य-रूपौ अर्थौ स्तः, ताभ्यां ककारहकारयोरर्थवत्त्वात् 'अर्थवदधातुः' (पा० सू० १।२।५५) इत्यनेन प्रातिपदिकत्वे सुबुत्पत्तौ हल्ङ्यादिना तस्य लोपे प्रत्येकं पदं जातम्। एवञ्च पदत्वात् ककारस्य जश्त्वे हकारस्य च ढत्वे अम्परकखयोऽभावान्न रुत्वस्य प्राप्तिरत आह—**गवित्ययमाहेति**। अयं भावः—अनुकार्यस्यानुकरणे भेदविवक्षा अभेदविवक्षा चेति पक्षद्वयम्। एवञ्च गवित्ययमाहेत्यादावनुकरणस्थलेऽभेदविवक्षायामनुकरणेनानु-कार्यस्य सादृश्येनैवोपस्थितिर्न तु वृत्त्या, तेनार्थवत्त्वस्याभावात् प्रातिपदिकत्वाभावेन सुबनुत्पत्त्या पदान्तत्वाभावात् 'लोपः शाकल्यस्य' (पा० सू० ८।३।१९) इत्यनेन 'व्' लोपो न। एवमेवात्रापि अनुकरणस्थलेऽपदान्तत्वात् ककारस्य जश्त्वं हकारस्य ढत्वं च न शङ्क्यम्। अभेदपक्षश्च ककारहकारयोरनुकरणे एव न तु बहुपुमित्यस्य ; अत्र तु सान्तप्रातिपदिकस्य 'बहुपुम्स्' इत्यस्यानुकरणं भेदविवक्षा च। अत एव 'संयोगा-न्तस्य लोपः' (पा० सू० ८।२।२३) इत्यनेन सकारलोपः। **सुट्तिथोरिति**। आदिपदद्वयेन 'झषस्तथोर्धोधः' (पा० सू० ८।२।४०) इत्यस्यात्रत्याकारस्य च परिग्रहो बोध्यः। अयं भावः—"सुट्तिथोः" इत्यत्र इकारस्य 'झषस्तथोः' इत्यत्रा-कारस्य चोच्चारणेनेदं बोध्यते यत् शास्त्राबोधिताजव्यवहितहल्समुदायस्य साधुत्वं

करने से यही बोध कराया गया है कि स्वरों से रहित जो व्यञ्जनसमुदाय शास्त्र से बोधित नहीं होता है वह असाधु होता है। अतः बहुपुम् क्ह् यह अनेक व्यञ्जनों का संहिताकार्य अप्रामाणिक है।] [शास्त्र से अबोधित हल्समुदाय असाधु ही होता है] इसीलिए 'उच्चैरुदात्तः' [पा० सू० १।२।२९] इस सूत्र पर भाष्यहै—"अच् के बिना व्यञ्जन का उच्चारण भी नहीं होता है।" 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' [पा० सू० ८।२।२९] आदि तो सौत्र प्रयोग हैं। [शास्त्र से अबोधित हल्समुदाय

एवाटि हकारप्रयोजनकथनावसरे भाष्ये "शश्छोटि" [पा० सू० ८।४।६३] इत्युपन्यस्य तदुदाहरणं नोपन्यस्तम्। हकारपरशकारासम्भवेन शश्छोटीति प्रसङ्गोच्चारितमिति च कैयटेन व्याख्यातम्। अमि हकारप्रयोजनमिति च भाष्ये नोक्तमिति दिक्॥

नास्ति। **शास्त्राबोधितेति**। अचाऽव्यवहितोऽजव्यवहितः, अजव्यवहितश्चासौ हल्समुदायश्चेत्यजव्यवहितहल्समुदायः। शास्त्रेणाबोधितो योऽजव्यवहितहल्समुदायः,—शास्त्राबोधिताजव्यवहितहल्समुदायः, तस्यासाधुत्वमिति भावः। शास्त्राबोधितत्वञ्च—विधेयतासम्बन्धेन शास्त्रजन्यबुद्धिविषयतात्वावच्छिन्नस्य तदवच्छिन्नाश्रयत्वस्य वा योऽभावस्तद्वत्त्वम्। **बोधनादिति**। एवञ्च यथाऽपभ्रंशे न शास्त्रविषयता तथैव बहुपुम्क्ह् इत्यादावपि न शास्त्रप्रवृत्तियोग्यता। अत एव भाष्ये 'अम्' प्रत्याहारे हकारस्य ग्रहणरूपं प्रयोजनं न प्रदर्शितं न वा ध्वनितम्। वस्तुतस्तु तादृशसमुदायास्तित्वमेव नास्तीत्याह—**अतएवेति**। तादृशहल्समुदास्यासत्त्वस्य सत्त्वे वाऽसाधुत्वस्य बोधनादेवेत्यर्थः। **व्यञ्जनस्येति**। एकस्यापि हल उच्चारणासम्भवेन तादृशहल्समुदायस्य सुतरामुच्चारणमसम्भवमिति तस्य साधुत्वमपि दूरापास्तमिति बोध्यम्। ननु शास्त्राबोधिताजव्यवहितहल्समुदायस्यासाधुत्वाङ्गीकारे तदसाधुत्वं 'स्कोः' इत्यादावतिव्याप्तमत आह—**स्कोरिति**। आदिना 'लोपोव्योर्वलि' अत्रत्यस्य 'व्यो' रित्यस्य सङ्ग्रहः। **सौत्र** इति। एवञ्चात्र शास्त्रबोधितत्वमेवेति भावः। **अत एवेति**। तादृशस्य हल्समुदायस्यासाधुत्वबोधनेन तेषां प्रयोगाणां शास्त्रविषयत्वाभावादेवेत्यर्थः। **हकारेति**। हकारग्रहणप्रयोजनप्रतिपादनकाले इत्यर्थः। **तदुदाहरणमिति**। शश्छोऽटीत्यस्योदाहरणम्। **नोपन्यस्तमिति**। भाष्यकारेणेति शेषः। **हकारपरशकारेति**। **हकारपरेत्यत्र** बहुव्रीहिः—हकारः परो यस्मात् तादृशस्य शकारस्यासम्भवेनेत्यर्थः। असम्भवश्च 'बहुपुम्क्ह्' इत्यत्रोक्तरीत्या बोध्यः। **चेति**। इदं व्याख्यातपदोत्तरं योज्यम्, वाक्यालङ्कारे वा बोध्यम्। **नोक्तमिति**। एवञ्च अमि अशि इणि अत्र सर्वत्र हकारग्रहणस्य प्रयोजनं भाष्यकारमते

असाधु माना जाता है] इसीलिये अट् प्रत्याहार में हकार के प्रयोजनों को कहते समय भाष्य में "शश्छोऽटि' [पा० सू० ८।४।६३] इस सूत्र को उपन्यस्त करके [भी] इसका कोई उदाहरण नहीं दिया गया। और हकारपरक शकार=श्ह् सम्भव नहीं है, इसी लिये यहाँ 'शश्छोऽटि' [पा० सू० ८।४।६३] यह प्रसङ्गतः कहा गया है—ऐसी व्याख्या कैयट ने की है। 'अम् प्रत्याहार में हकार [के ग्रहण] का प्रयोजन है–' यह भाष्य में नहीं कहा गया। [अतः भाष्यविरुद्ध होने से बहुपुम् क्ह् आदि शब्द असाधु हैं, ये फल नहीं माने जा सकते।]

'हल्' (मा० सू० १४)। इदं सूत्रं वल्रल्झल्शलषु हकारग्रहणार्थम्। रुदिहि, स्वपिहि, 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (पा० सू० ७।२।७६) इति वलादिलक्षण इट्। स्निहित्वा, स्नेहित्वा, 'रलो व्युपधाद्' (पा० सू० १।२।२६) इति वा कित्त्वम्। अदाग्धाम्, 'झलो झलि' (पा० सू० ८।२।२६) इति सकारलोपः। अलिक्षत्, 'शल इगुपधात्' (पा० सू० ३।१।४५) इति क्सः।

इद सूत्रमिति। वलादिप्रत्याहाराश्च रेफेणैव सन्तु। हरन्त्यमित्यत्रा-

---

नास्तीति भाष्यासम्मतप्रयोजनप्रदर्शनमनुचितमिति ध्वनयन्नाह—**दिगिति**।

हरूपाङ्गिनोऽभावेऽङ्गभूतलस्य वैयर्थ्ये सम्पूर्णसूत्रस्यैव वैयर्थ्यं सिद्धमिति सूत्रमेवोपस्थापयति मूले—**इदं सूत्रमिति**। "हल्" इति चतुर्दशसूत्राभावे 'शषसर्' इत्यस्य रेफेणैव प्रत्याहाराः साध्याः। ननु हलिति सूत्राभावे वक्ष्यमाणरीत्यान्योन्याश्रयपरिहारस्य कथमुपपत्तिरत आह—**परिहारस्त्विति**। 'रन्त्यं हर्' इति न्यासे

[मनो०] हल् [मा०सू० १४] यह सूत्र वल्, रल्, झल् और शल् प्रत्याहारों में हकार का ग्रहण कराने के लिये है। रुदिहि स्वपिहि, [इनमें] 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' [पा० सू० ७।२।७६] इससे वलादि [सार्वधातुक] को मान कर होने वाला इट् आगम होता है। स्निहित्वा, स्नेहित्वा [इनमें] 'रलो व्युपधाद्हलादेः संश्च' [पा०सू० १।२।२६ इकार अथवा उकार हैं उपधा में जिसके ऐसे हलादि रलन्त धातु से परे सेट् क्त्वा और सन् प्रत्यय विकल्प से कित् होते हैं] इससे विकल्प से कित् होता है। [अतः वैकल्पिक गुणनिषेध होता है।] अदाग्धाम् [=अदाह्+स्+ताम्] यहाँ 'झलो झलि' [पा० सू० ८।२।२६—झल् से परे स् का लोप होता है झल् परे रहते] से स् का लोप होता है। अलिक्षत् [अलिह्+च्लि+त्] यहाँ 'शल इगुपधादनिटः क्सः' [पा० सू० ३।१।४५ शलन्त इगुपध धातु से परे च्लि का क्स=स होता है] से च्लि का क्स होता है।

विमर्श—माहेश्वर सूत्रों में 'हकार' ही एक ऐसा वर्ण है जिसका दो बार उल्लेख किया गया है 'हयवरट्' और 'हल्'। इन दोनों में उपदेश करने के अलग-अलग फल हैं। प्रथमस्थल के हकारग्रहण का फल चार प्रत्याहारों में ह का ग्रहण कराना है–(१) अट् (२) अश्, (३) हश् और (४) इण्—यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ दूसरे स्थल के हकारग्रहण के भी चार प्रयोजन प्रस्तुत किये गये हैं–(१) वल् (२) रल् (३) झल् और (४) शल् प्रत्याहार। इन प्रत्याहारों वाले चार सूत्र और उनके लक्ष्य मनोरमा में प्रस्तुत किये जा चुके हैं।]

[शब्द०] ['हल्' यह सूत्र वल्, रल्, झल् एवं शल् प्रत्याहारों में हकारग्रहण के लिये है। यहाँ यह विचारणीय है कि] वल् आदि [रल्, झल्, शल्]

न्योन्याश्रयपरिहारस्तु "रन्त्यं हर्" इति न्यासेनावृत्त्या हर्प्रत्याहारबोधक-सूत्रसमुदायान्त्यमिदित्यर्थेन वा सुकर इति भावः।

वाक्यद्वयं कल्पनीयम् (१) रन्त्यम् (२) हर्—इति च। अत्र द्वितीयेऽपि वाक्ये अन्त्य-पदस्य सम्बन्धः। अत एव तस्य मध्ये पाठः। 'र्' इति पृथक् पदम्। तेन 'अन्त्यं 'र्' इति स्वरूपम् इत्', तथा 'अन्त्यं हर् इत्'। एवञ्च रेफस्येत्संज्ञायां सिद्धायामित्-पदार्थस्य प्रसिद्धौ "आदिरन्त्यनेन सहेता" (पा० सू० १।१।७१) इत्यनेन 'हर्' पदार्थबोधे जाते द्वितीयवाक्यस्यार्थबोधः सुलभः। एवञ्चान्योन्याश्रयपरिहारः उपपद्यते। अत्र पक्षे रेफस्य प्रश्लेषे गौरवादपाणिनीयत्वाच्चाह—आवृत्येति। 'हरन्त्यमित्यस्यवृत्त्येति भावः। तत्र प्रथमस्य 'हरन्त्यमित्यस्य हयवरडिति हकारमारभ्य दघसरिति रेफपर्यन्तवर्णसमुदाये लक्षणया 'हरः अन्त्यम् इत्' इत्यर्थेन इत्पदार्थज्ञाने जाते 'आदिरन्त्येन सहेता'(पा० सू० १।१।७१) 'इत्यनेन हर्पदार्थस्य ज्ञाने जाते—'अन्त्यः हर्=हर-प्रत्याहारबोध्यः इत्' इत्यर्थः सञ्जायते। एवञ्चान्योन्याश्रयदोष-परिहारः सुकरः। वल् प्रत्याहारे हकारस्य ग्रहणात् 'रुदिहि स्वपिहि' इत्यादौ "रुदादिभ्यः सार्वधातुके" (पा० सू० ७।२।७६) इत्यनेन वलादिनिमित्तक इट् प्रवर्तते। रल् प्रत्याहारे हकारस्य ग्रहणात् 'स्निहित्वा स्नेहित्वा' इत्यादौ "रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च" (पा० सू० १।२।२६) इत्यनेन वा कित्त्वम्। झल् प्रत्याहारे

प्रत्याहार रेफ से हो जाँय [अर्थात् वर्, रर्, झर्, शर् ही हो जाँय]। और 'हरन्त्यम्' यहाँ अन्योन्याश्रय दोष का परिहार तो–'रन्त्यं हर्' इस न्यास के द्वारा अथवा आवृत्ति से– 'हर् प्रत्याहार के बोधक सूत्रसमुदाय का अन्त्य इत् होता है–इस अर्थ के द्वारा सरलता से किया जा सकता है— यह भाव है।

विमर्श—यहाँ भाव यह है कि 'हल्' इस सूत्र की आवश्यकता नहीं है। ल् के साथ जितने प्रत्याहार हैं वे सभी र् के साथ बना दिये जाँय—वर्, रर, झर, और शर्। 'हल्' इस चौदहवें सूत्र के रहने पर 'हलन्त्यम्' की आवृत्ति से आगे अन्योन्याश्रय दोष का परिहार बताया गया है। इस पक्ष के अनुसार हल् सूत्र न होने पर 'हलन्त्यम्' के स्थानपर 'रन्त्यं हर्' यह सूत्र कल्पित करना चाहिये। इसमें दो वाक्य हैं—(१) रन्त्यम् (२) हर्। द्वितीय सूत्र में भी 'अन्त्यम्' का सम्बन्ध होता है, इसीलिए 'अन्त्यम्' को मध्य में पढ़ा गया। रन्त्यम्—इसका यह अर्थ है—उपदेश में अन्त्य 'र्' इत् होता है। इस से इत् पदार्थ का ज्ञान हो जाता है। फलस्वरूप "आदिरत्त्येन सहेता" (पा० सू० १।१।७१) का वाक्यार्थबोध उपपन्न हो जाता है। द्वितीय वाक्य 'हर्' है। इसका अर्थ है—उपदेश में अन्त्य हर् इत् होता है। यहाँ हर् प्रत्याहार है उसके अन्त्य वर्ण की

ग्रहणार्थमिति । शषहरित्येव तु नोक्तम्; खरि हकारग्रहणापत्तौ हरिर्हरतीत्यादौ विसर्गापत्तेः ॥

हकारस्य ग्रहणात् 'अदाग्धाम्' इत्यादौ 'झलो झलि'' (पा० सू० ८।२।२६) इत्यनेन झलः=हकारात् परस्य सस्य लोपः । शल् प्रत्याहारे च हकारग्रहणात् 'अलिक्षत्' इत्यत्र 'शल इगुपधादनिटः क्सः'' (पा० सू० ३।१।४५) इत्यनेन शलन्तात् परस्य च्लेः क्सादेश उपपद्यते । ननु द्वितीयहकारस्यैव प्रयोजनान्युक्तानि । एवञ्च सो हकारः 'शषसर्' इत्यस्मिन् सूत्रे सकारानन्तरं पठनीयः, तस्मादन्तिमं हलिति सूत्रं नारम्भणीयमत आह—**शषसहरि**ति । रेफात् पूर्वमेव हकारो न पठित इति भावः । **विसर्गापत्तेरि**ति । तथा पाठे खरि हकारस्य ग्रहणापत्तौ ''खरवसानयोर्विसर्जनीयः''

इत्संज्ञा हो जाती है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष का परिहार हो जाता है। इस न्यास की कल्पना में यदि गौरव होता है तो 'हरन्त्यम्' इ की आवृत्ति कर लेनी चाहिए। इनमें आवृत्त 'हरन्त्यम्' में षष्ठीसमास मानकर 'हरः अन्त्यम्' यह विग्रह है। हर् प्रत्याहार-बोधक सूत्रों के समुदाय का अन्त्य इत् होता है। अर्थात् हर् रूपी प्रत्याहार का ज्ञान कराने वाले हयवरट् से लेकर शषसर् तक सूत्रों का जो समुदाय है, उसका अन्त्य इत् होता है। हकार एवं रेफ के बोधक 'हर्' शब्द की स्वघटितत्वसम्बन्ध से हकारादि-रेफान्त सूत्रों के समुदाय में लक्षणा मानकर उक्त अर्थ सम्भव है। इससे जब इत् पदार्थ का ज्ञान हो जाता है तब 'आदिरन्त्येन सहेता' इस सूत्र का वाक्यार्थबोध सम्भव होता है। आवृत्त दूसरे 'हरन्त्यम्' का यह अर्थ होगा—अन्त्य हर्=हर् प्रत्याहारबोध्यवर्ण इत् होता है। इस प्रकार चौदहवें 'हल्' सूत्र की आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त प्रतिपक्षियों का खण्डन करने के लिए मनोरमाकार ने यह लिखा है कि वल्, रल्, झल् एवं शल्—इन चार प्रत्याहारों में 'ह' रखने के लिये चतुर्दश सूत्र 'हल्' की आवश्यकता है। अन्यथा इनके लक्ष्यों में निर्वाह सम्भव नहीं है।

[शब्द०] (मूल में जो भी प्रयोजन बताये गये हैं वे सभी केवल द्वितीय 'ह' को मानकर ही है। अतः 'शषसर्' इसी सूत्र में 'स' के वाद 'ह' पढ़ देना चाहिये—इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं—) 'शषसहर्' यही सूत्र तो नहीं बनाया गया क्योंकि (ऐसा करने पर) खर् प्रत्याहार में भी हकार का ग्रहण होने का प्रसङ्ग आने पर 'हरिर्हरति' आदि में ('खरवसानयोर्विसर्जनीयः' पा० सू० ३।८।१५ से) विसर्ग होने का प्रसंग आता है।

विमर्श—यहाँ का तात्पर्य यह है कि वल्, रल् आदि प्रत्याहारों के अन्तर्गत 'ह' भी आ जाय इसी के लिये चौदहवें सूत्र 'हल्' को बनाया गया। यदि ऐसी बात

हलन्त्यम् (पा० सू० १।३।३)। सूत्रेऽन्त्यमिति। हलि अन्त्यमिति विग्रहे

सप्तमीति। अधिकरणकारकस्य कर्त्राद्यन्वयद्वारा क्रियान्वयादस्ति

पा० सू० ८।३।१५) इत्यनेन हरिर्हरतीत्यादावपि विसर्गप्रसङ्गात् [illegible]-
दित्यर्थः। 'प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने" (पा० सू० २।३।६१) इत्यादि-
पाणिनीयनिर्देशैर्विसर्गस्य वारणसम्भवेऽपि 'प्रत्यङ्ङ्हसति, सुगण्हसतीत्यादौ शरि
हकारस्यापि ग्रहणात् "ङ्णोः कुक् टुक् शरि" (पा० सू० ८।३।२८) इत्यनेन कुक्-
टुकापत्तिः। "एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धौ" (६।१।६९) इत्यादिनिर्देशैः कुगादिवारण-
सम्भवेऽपि अनेकज्ञाप्यवचनकल्पनापेक्षया हकारस्य पृथक् सूत्रे परत्र पाठ एव लाघव-

---

है तब तो 'शषसर्' इसी में 'ह' को सम्मिलित करके 'शषसहर्' यही एक सूत्र बनाने से काम चल सकता है, अतिरिक्त सूत्र बनाने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे पूर्वपक्ष का निराकरण करने के लिए शब्दरत्न में लिखा है कि 'शषसहर्' यह एक सूत्र बना देने पर उक्त प्रत्याहार के कार्य तो हो जायेंगे परन्तु 'खर्' प्रत्याहार में भी 'ह' का ग्रहण होने लगेगा, जिसके फलस्वरूप 'हरिर् हरति' आदि में 'खरवसानयो-र्विसर्जनीयः' (पा० सू० ८।३।१५) से विसर्ग रोकना सम्भव नहीं हो सकेगा; क्योंकि इसके अनुसार खर् में 'ह' भी आ जायेगा। यहाँ इसके समाधान में यह कहा जा सकता है कि 'प्रेष्यब्रुवोर्हविषो देवतासम्प्रदाने' (पा० सू० २।३।६१) में पाणिनि ने विसर्ग नहीं प्रयुक्त किया है। अतः—हकार परे रहते विसर्ग नहीं होगा—इसमें इस सूत्र को ज्ञापक मान लिया जा सकता है। परन्तु अन्य दोष भी आता है—'प्रत्यङ्ङ्हसति' यहाँ ह्=शर् परे होने से "ङ्णोः कुक् टुक् शरि" (पा० सू० ८।३।२८) से कुक् आगम होने लगेगा। इसको रोकने के लिये यदि 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धौ' (पा०सू० ६।१।७९) इस सूत्र को ज्ञापन रूप से प्रस्तुत करें कि 'ह' परे रहते कुक् आदि नहीं होते हैं तो अन्य दोष भी प्रसक्त होने पर उन्हें भी अन्य ज्ञापकों से रोकना पड़ेगा। अतः अनेक वचनों की कल्पना करने की अपेक्षा एक स्वतन्त्र 'हल्' सूत्र में 'ह' का ग्रहण करने में ही लाघव है। अतः यही करना उचित समझा गया।

(मनो०)—हलन्त्यम् (पा० सू० १।३।३) 'हल्' इस सूत्र में अन्त्य 'ल्' इत् होता है। हलि अन्त्यम् (अर्थात् हल् इस सूत्र में अन्त्य ल् इत् होता है)—इस विग्रह में ('सप्तमी शौण्डैः' (पा० सू० २।१।४० के) 'सप्तमी' इस योग-विभाग से अथवा 'सुप्सुपा' (=सह सुपा पा० सू० २।१।४) से समास होता है, यह भाव है। अथवा 'षष्ठी-तत्पुरुष' (—हलः अन्त्यम्) यह है। **[शब्द०]** कर्ता आदि आदि (=कर्म) के माध्यम से अधिकरण कारक का क्रिया में अन्वय होने के कारण

'सप्तमी'ति योगविभागात् 'सुप्सुपा' (पा० सू० २।१।४) इति वा समास इति भावः। यद्वा षष्ठीतत्पुरुषोऽयम्।

सामर्थ्यमिति भावः। अस्य योगविभागस्य भाष्येऽदर्शनादाह—**सुप्सुपेतीति**। अनेनापि साधनस्यागतिकगतित्वादाह—**यद्वेति**। हलो, हलिति सूत्रस्या-

---

मिति तत्त्वविदः। एवञ्च द्वितीयहकारस्य शरादिप्रत्याहारे ग्रहणाभावाय चतुर्दश-सूत्रे एव तत्पाठः समुचित इति निष्कर्षः।

अत्रेदं बोध्यम्—सिद्धान्तकौमुद्यामिदमुक्तम्—"एषामन्त्या इतः।" तत्रेयं जिज्ञासा समुदेति केन सूत्रेणैषामित् संज्ञा जायते—तत्र 'उपदेशेऽन्त्यं हल् इत्' इत्यर्थकं 'हलन्त्यम्' [पा० सू० १।३।३] इति सूत्रं समुपस्थितं भवति। परन्तु वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानं कारणमितिरीत्या हल्पदार्थबोधं विना सूत्रार्थबोधो नोपपद्यते। अत्र 'हल्' पदेन विलेखनार्थक 'हल्' धातोः चतुर्दशस्य 'हल्' इति सूत्रस्य वा ग्रहणं न युज्यते, "न विभक्तौ तुस्माः" (पा० सू० १।३।४) इति परसूत्रवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। इदं सूत्रं विभक्तिस्थानां तवर्गसकारमकाराणामित्संज्ञां निषेधति, परन्तु 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः' इति न्यायेनेत्संज्ञायाः प्राप्तिः केनापि अवश्यं वक्तव्या। तस्मात् "न विभक्तौ तुस्माः" (पा० सू० १।३।४) इत्यस्य सार्थकतामुपपादयितुं हल् पदेन व्यञ्जनानां ग्रहणं वक्तव्यम्। तादृशो बोधश्च हल्पदे व्यञ्जननिरूपितशक्तिज्ञानमन्तरा न सम्भवति, शाब्दबोधं प्रति शक्तिज्ञानस्य कारणतायाः सर्वसम्मतत्वात्। हल्पदे तादृश-शक्तिज्ञानं च—अन्त्येनेता सहादिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यादित्यर्थकेन "आदिरन्त्येन सहेता" (पा० सू० १।१।७१) इति सूत्रेणैव साध्यते, एवञ्च हल्पदार्थ-ज्ञानम् "आदिरन्त्येन" इति सूत्रार्थबोधं विना न सम्भवति। परन्तु "आदिरन्त्येन सहेता" इति सूत्रवाक्यार्थस्य बोधात् पूर्वमित्—पदार्थज्ञानमपेक्षितम्। इत्पदशक्तिज्ञानञ्च "हलन्त्यम्" इति सूत्रवाक्यार्थज्ञानाधीनम्। "हलन्त्यम्" इत्यस्यार्थबोधश्च हल्पदार्थज्ञानाधीनः। एवञ्च यदा लकारस्य इत्संज्ञा तदा

सामर्थ्य है। (अतः सप्तमीसमास हो सकता है) यह भाव है। ('सप्तमी शौण्डैः (पा० सू० २।१।४० में) 'सप्तमी' यह विभाग भाष्य में नहीं देखा गया है। इसलिये **(मनोरमा में)** कहा गया—'सुप्सुपा' से समास होता है। इस 'सुप्सुपा' (पा० सू० २।१।४) से समास करना अगतिकगति है (अर्थात् किसी से समास सम्भव न होने पर ही इस सामान्य सूत्र से समास करना उचित है—) इसलिये (तीसरा पक्ष) कहा गया—यद्वा। अर्थात् यह षष्ठी-समास है—हलः=हल् इस चतुर्दश सूत्र का अन्त्यम्=अन्तिम (वर्ण 'ल्' इत् होता है)—यह विग्रह है, यह इसका

न्त्यमिति, विग्रह इति भावः। "षष्ठी स्थाने" इत्यस्य च "ऊदुपधाया गोहः" [पा० सू० ६।४।८९] इत्यादाविव 'गुणानां च परार्थत्वादि'ति न्यायेन वाऽप्रवृत्तिरिति बोध्यम्।

हल्प्रत्याहारसिद्धिः, यदा च हल्प्रत्याहारसिद्धिस्तदा इत्संज्ञासिद्धिः; अनेन प्रकारेण 'हल्पदार्थज्ञानाधीनमित्पदार्थज्ञानम्, इत्पदार्थज्ञानाधीनञ्च हल्पदार्थज्ञानम्' इति परस्परापेक्षत्वरूपान्योन्याश्रयदोषः प्रसज्यते। यद्यपि सूत्रकारस्य कृते नायं दोषः, किन्तु लक्षणैकचक्षुष्काणामस्माकं कृते अस्त्येव। बोद्धॄणां तु आवृत्त्यैवैकेन वाक्येनानेकार्थबोधः इति सिद्धान्तानुसारं सिद्धान्तकौमुदीकारः 'हलन्त्यम्' इति सूत्रस्य आवृत्तिं कृत्वा आवृत्तस्य प्रथमस्य सूत्रस्य 'उपदेशे हल् सूत्रस्यान्त्यमित्संज्ञं भवति' इत्यर्थकं "हलन्त्यम्" [पा० सू० १।३।३] इति सूत्रं व्याख्यातुं प्रस्तौति मूले—**हलन्त्यमि**ति। ननु 'हलि' इत्यस्य अधिकरणकारके सप्तमीविभक्त्यन्तत्वेन क्रियान्वयौचित्येन अन्त्यपदेन तदभावेऽसामर्थ्यात् समासानुपपत्तिरत आह—**अधिकरणे**ति। **कर्त्राद्यन्वये**ति। आदिना कर्मणः परिग्रहः। अत एव परममूले 'आधारोऽधिकरणम्' (पा० सू० १।४।४५) इति सूत्रव्याख्याने कर्तृकर्मद्वारा क्रियाधारस्यैवाधिकरणत्वमुक्तम्। यद्द्वारा यस्य क्रियाजनकत्वं तद्द्वारा क्रियान्वयस्यौचित्यमिति बोध्यम्। **सामर्थ्य**मिति। हल्पदस्यान्त्यपदस्य चेत्यर्थः। **योगविभाग**स्येति। "सप्तमी शौण्डैः" (पा० सू० २।१।४०) इत्यस्मिन् सूत्रे 'सप्तमी'तियोगविभागस्येत्यर्थः। **सुप्सुपे**ति। 'सह सुपा' (पा० सू० २।१।४) इत्यननेति भावः। **साधन**स्य=समासविधानस्य, हलः=हल् इति चतुर्दशस्य सूत्रस्य अन्त्यमिति भावः। ननु 'हलः अन्त्य'मिति षष्ठीतत्पुरुषस्वीकारे "षष्ठी स्थानेयोगा' (पा० सू० १।१।४९) इति परिभाषया 'हलः स्थाने योऽन्त्यः स इत् स्यात्' इत्यर्थप्रसक्तौ पूर्वोक्तार्थाप्रतीतिरत आह—**षष्ठी स्थाने** इति। अयं भावः—"ऊदुपधायाः गोहः" (पा० सू० ६।४।८९) इत्यस्मिन्

भाव है। (षष्ठी-समास मान लेने पर भी) 'ऊदुपधायाः गोहः' (पा० सू० ६।४।८९) इत्यादि में जैसे 'षष्ठी स्थानेयोगा' (पा० सू० १।१।४९) की प्रवृत्ति नहीं होती है वैसे ही यहाँ भी नहीं होगी (अर्थात् हल् के स्थान पर अन्त्य इत् हो—यह अर्थ नहीं होगा)। अथवा "गुण=संज्ञा एवं परिभाषा शास्त्र परार्थ=विध्यर्थ होते हैं" इस न्याय से (संज्ञा सूत्र में परिभाषा सूत्र की) प्रवृत्ति नहीं होती है, ऐसा समझना चाहिए।

विमर्श—यहाँ रहस्य यह है कि 'हलन्त्यम्' (पा० सू० १।३।३) में 'हल्' शब्द से 'हल् विलेखने'—इस धातु का अथवा चौदहवें 'हल्' इस सूत्र का ग्रहण नहीं

सूत्रे उपधापदस्य श्रवणात् अन्त्यादलःपूर्ववर्णस्योपधासंज्ञकत्वाच्च पष्ठ्या यथाऽवयवावयविभावार्थकत्वस्य निर्णयस्तथा 'हलन्त्यम्' इत्यत्रापि अन्त्यपदश्रुत्या तथैवार्थप्रतीतेः "षष्ठी स्थाने" इति परिभाषाया अप्रवृत्तिः। वस्तुतस्तु इदं संज्ञासूत्रम्, 'षष्ठीस्थाने'

है क्योंकि न 'विभक्तौ तुस्माः' (पा० सू० १।३।४ विभक्तिस्थ तवर्ग, सकार एवं मकार की इत्संज्ञा नहीं होती है) यह सूत्र व्यर्थ होने लगेगा क्योंकि सूत्रोल्लिखित वर्णों की इत्संज्ञा प्राप्त रहने पर ही उनका निषेध चरितार्थ होता है। इस परिस्थिति में यहाँ 'हल्' पद से समस्त व्यञ्जनों को लेना पड़ेगा। परन्तु व्यञ्जनों का ग्रहण तभी सम्भव होगा जब 'हल्' पद का इनमें शक्तिग्रह हो जाय। इसके लिए 'आदिरन्त्येन सहेता' (पा० सू० १।१।७१ अन्त्य इत् के साथ आदि वर्ण अपना और अपने मध्यवर्ती वर्णों का भी बोधक होता है) इस सूत्र का वाक्यार्थबोध होना अपेक्षित है। वाक्यार्थबोध के पहले पदार्थबोध अपेक्षित होता है क्योंकि वाक्यार्थबोध में पदार्थबोध कारण होता है। अतः इस सूत्र का वाक्यार्थबोध करने के पहले इत् पदार्थ का ज्ञान करना आवश्यक है। और इत् पदार्थ का ज्ञान 'हलन्त्यम्' इस सूत्रार्थबोध के बिना सम्भव नहीं है। और इस सूत्र का वाक्यार्थबोध तभी सम्भव है जब हल् पदार्थ का ज्ञान हो जाय।

उपर्युक्त विवेचनानुसार 'ल्' की इत्संज्ञा होने पर 'हल्' प्रत्याहार की सिद्धि और 'हल्' प्रत्याहार के सिद्ध होने पर 'ल्' की इत्संज्ञा की सिद्धि होती है। इस प्रकार हल् पदार्थज्ञान के अधीन है इत् पदार्थज्ञान और इत्पदार्थज्ञान के अधीन है हल्पदार्थज्ञान। अतः परस्परापेक्षत्वरूप अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है।

अन्योन्याश्रय दोष का परिहार करने के लिए अन्तिम 'हल्' सूत्र के लकार की इत्संज्ञा करने के लिये 'हलन्त्यम्' इसमें (दो सूत्रों का) एकशेष कर लिया जाय अथवा तन्त्र से उच्चारण माना जाय अर्थात् हलन्त्यम् हलन्त्यम् ये दो हैं इनमें एक शेष है एक लुप्त है अथवा 'सकृद् उच्चारितः शब्दोऽनेकार्थबोधजनको भवति' इस तन्त्र के अनुसार दो अर्थों का बोध मान लेना चाहिए। इस प्रकार प्रथम वाक्यार्थ यह होता है—'हल्' इस चौदहवें सूत्र का अन्त्य इत् होता है' इस प्रकार 'इत्' पदार्थ का ज्ञान सम्भव हो जाता है। तब 'आदिरन्त्येन सहेता' (पा० सू० १।१।७१) का वाक्यार्थबोध सम्भव हो जाता है। इस प्रकार द्वितीय 'हलन्त्यम्' का वाक्यार्थबोध यह होता है—उपदेश में अन्त्य हल् (हल् प्रत्याहारबोध्य= व्यञ्जन) इत् होता है। अब जस् एवं शस् आदि विभक्तियों (प्रत्ययों) के सकारादि वर्णों की इत्संज्ञा प्राप्त होती है, उसका निवारण करने के लिए 'न विभक्तौ तुस्माः' (पा० सू० १।३।४) यह निषेध चरितार्थ होता है।

स्यादेतत्। हलित्येकदेशस्यैव तन्त्रावृत्त्येकशेषान्यतममस्तु। 'हस्य ल्' तन्त्रावृत्त्येकशेषान्यतममस्त्विति। यद्यपीदृशे विषये उच्चारयितुस्तन्त्रै-

इति च परिभाषासूत्रम्, अनयोः परस्परं गुणप्रधानभावो न युज्यते। इदमुभयं विध्यु-पकारकमेवेति तत्रैवोपस्थितिरत आह—**गुणानाञ्चेति**। "गुणानाञ्च परार्थत्वाद-सम्वन्धः समत्वात् स्यात्" इति हि जैमिनीयं सूत्रम्। गुणत्वे परार्थत्वमसम्वन्धे च समत्वं हेतुरिति बोध्यम्। परार्थत्वात्=तादृशफलवत्प्रधानार्थत्वात्, तादृशविध्युप-कारकत्वात्, गुणानाम्=अङ्गानाम् अफलानाम् अप्रधानानां मिथोऽसम्वन्धः स्यात्। कुतः ? समत्वात्। गुणप्रधानभावेन सर्वत्रान्वयो भवति किन्तु द्वयोः गुणयोः परस्परं द्वयोः प्रधानयोर्वा परस्परं न तथान्वयः, गुणत्वस्य प्रधानत्वस्य चोभयत्र तुल्यत्वात्तथान्वये ·आकाङ्क्षाविरहादिति भावः।

परममूले सिद्धान्तकौमुद्यां 'हलन्त्यम्' इति सम्पूर्णसूत्रस्यैवावृत्तिः कृता। साम्प्रतं तदपेक्षया एकस्य 'हल्' इत्यंशस्यैवावृत्त्याभीष्टसिद्धिरस्त्वित्याशयेन मूले

'हलि अन्त्यम्'—इस विग्रह में 'सप्तमी शौण्डैः' में 'सप्तमी' योग-विभाग की कल्पना में गौरव है। अतः 'हलः अन्त्यम्' यह षष्ठी-समास माना जाता है। यद्यपि अनिर्धारित सम्बन्ध-विशेषवाली षष्ठी स्थानेयोगा समझनी चाहिये इस अर्थ वाले 'षष्ठी स्थानेयोगा' (पा० सू० १।१।४९) परिभाषा सूत्र की उपस्थिति होने पर 'हल् के स्थान में' ऐसा अनिष्ट अर्थ प्रसक्त होता है तथापि 'ऊदुपधायाः गोहः' (पा० सू० ६।४।८९) आदि में जैसे इस परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है वैसे ही प्रस्तुत स्थल में भी नहीं होती है। यदि प्रवृत्ति के लिए दुराग्रह करते हैं तो 'गुणानां च परार्थत्वात् असम्वन्धः समत्वात् स्यात्' इस न्यायानुसार संज्ञाशास्त्र एवं परिभाषाशास्त्र दोनों की समानता के कारण परस्पर गुणप्रधानभाव नहीं होता हैं। ये दोनों ही विधि के उपकारक होते हैं उसी के प्रति विशेषण=गौण वनते हैं। अतः षष्ठी-समास मान लेने पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं है।

[मनो०] यह हो—'हलन्त्यम्' इस सूत्र के एकदेश=अवयव 'हल्' इसका ही तन्त्र, आवृत्ति अथवा एकशेष में से कोई एक मान लिया जाय। और 'ह' का 'ल्' यह व्याख्या कर दी जायेगी। षष्ठी का अर्थ—सामीप्य है। [ह का समीपवर्ती अन्त्य ल् इत् होता है—इस प्रकार इत् पदार्थज्ञान सम्भव हो जाता है।] **(शब्द०)** तन्त्र, आवृत्ति और एकशेष में कोई भी एक हो। यद्यपि ऐसे [विरुद्ध अनेकार्थों का एक काल में बोध कराने वाले] विषय में उच्चारणकर्ता का तन्त्र अथवा एकशेष इनमें से किसी भी एक से उच्चारण होता है परन्तु बोधकर्ता को तो

इति च व्याख्यास्यते। सामीप्यं षष्ठ्यर्थः।

कशेषान्यतरेणोच्चारणं बोद्धुस्त्वावृत्त्या बोध इत्येवानुभवसिद्धम्, तथाऽपि व्यवस्थितैवान्यतमसत्ताऽनेन बोध्यत इति न दोषः। एकशेषश्च प्रत्याख्यातोऽसहविवक्षायामपि शास्त्रमात्रप्रक्रियोपयोगीत्याशयेन पृथगुक्तः।

सामीप्यं षष्ठ्यर्थं इति। "षष्ठीस्थाने" इत्यस्य "गुणानां च परार्थ-

---

शङ्कते—**स्यादेतदि**त्यादिना। चेदित्यनेनान्वयः। **तन्त्रावृत्ती**ति। सकृदुच्चारितस्य शब्दस्यानेकार्थपरत्वे तन्त्रत्वव्यवहारः। तन्त्रं द्विधा —शब्दतन्त्रम् अर्थतन्त्रं च। शब्दस्य पर्यायपरिवृत्त्यसहत्वे शब्दतन्त्रम्, पर्यायपरिवृत्तिसहत्वेऽर्थतन्त्रम्। अक्षान्

आवृत्ति द्वारा ही बोध होता है—यही अनुभवसिद्ध है, तथापि इन तीनों में से किसी भी एक की सत्ता निश्चित ही है=नियत ही है [ऐच्छिक नहीं है]—यह इस कथन से बोधित होता है—अतः दोष नहीं है [इन तीनों में तन्त्र और एकशेष ये दो केवल वक्ता के लिये ही हैं और आवृत्ति तथा एकशेष ये भी वक्ता के लिये हो सकते हैं। परन्तु श्रोता=बोधकर्ता के लिये केवल आवृत्ति ही होती है जिससे वह अनेक अर्थ समझ सकता है। अतः इन तीनों को केवल वक्ता अथवा केवल श्रोता के के अनुसार नहीं मानना चाहिये। इस प्रकार वक्ता पाणिनि ने तन्त्र से अथवा एकशेष से 'हलन्त्यम्' का उच्चारण किया है और हमलोगों को तो आवृत्ति के द्वारा ही ज्ञान करना होगा।] और [भाष्यकार ने यद्यपि] असहविवक्षा में भी एकशेष का प्रत्याख्यान कर दिया है [तथापि] केवल शास्त्रीय प्रक्रिया का उपयोगी है, इस आशय से [मनोरमा में] अलग कहा है।

विमर्श—भाष्यकार का आशय यह है कि सहविवक्षा में सजातीय अर्थवाले अनेक शब्दों का प्रयोग न होने से उनका द्वन्द्व नहीं होता है। इसलिये तन्त्र द्वारा एक ही शब्द से अनेक अर्थों का बोध सम्भव होने पर इसी कार्य के लिये एकशेष शास्त्र बनाने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार लौकिक शब्दों के साधकरूप में एकशेष की आवश्यकता न मानते हुए भाष्यकार ने प्रत्याख्यान किया है। किन्तु केवल शास्त्रीय शब्दों के साधन के लिए एकशेष की उपयोगिता है, यह मानकर मनोरमा में एकशेष को भी अलग से लिखा गया है।

(शब्द०) हस्य लः यहाँ षष्ठी का अर्थ सामीप्य है। 'गुण=संज्ञा एवं परिभाषा शास्त्र पदार्थ=विधि के उपकारक होते हैं' इस न्याय के कारण 'यहाँ षष्ठी रहने पर भी] 'षष्ठी स्थाने योगा' [१।१।४९] की प्रवृत्ति नहीं होती है। [अतः हल्, के स्थान पर' यह अनिष्ट अर्थ नहीं होता है।]

त्वादि"ति न्यायेनाप्रवृत्तिः। न च "इको गुणवृद्धी" [पा० सू० १।१।३] इति सूत्रे तच्छेषशब्देन परिभाषयोरपि गुणगुणिभाव उक्त इति वाच्यम्; "सार्व-

पश्येत्यादौ शब्दतन्त्रम्, घटान् पश्येत्यादावर्थतन्त्रम्। श्रोतृणामनेकार्थविषयकं ज्ञानं जायतामितीच्छया वक्त्रा एकोच्चारणं तन्त्रम्। तत्र 'घटाः' इत्यादिस्थले कथञ्चिदावृत्तिमन्तरा बोद्धुरेकशब्दानुसन्धानेनाविरुद्धानेकार्थबोधः सम्भवति परन्तु "सुखिते दुःखिते चेतसि दवदहनदीधितिराशिस्तुहिनदीधितिः" इत्यादौ सुखिते चेतसि दवदहनदीधितिराशिः=वनाग्निसमूहः, तुहिनदीधितः=चन्द्रकिरणः। दुःखिते चेतसि च तुहिनदीधितिः=चन्द्रकिरणः, दवदहनदीधितिराशिः—इत्युद्देश्यविधेयभेदेन विरुद्धार्थतया उभयोः पदयोरावृत्त्यैवाभीष्टार्थबोधः बोद्धुर्भवति। एवमेव 'हलन्त्यम्' इत्यत्रापि हल्पदार्थस्याप्रसिद्धार्थतया 'हसमीपो ल इत्' 'हल्रूपान्त्यश्च इत्' इत्युभयोरर्थयोर्विरुद्धतया बोद्धुः केवलावृत्त्यैव बोधसम्भवेन मूले ऐच्छिकविकल्पबोधक—**अन्यतम**—शब्दस्य प्रयोगोऽसङ्गत इत्याशयेन शङ्कते—**यद्यपीति**। **ईदृशे**=विरुद्धार्थयोर्युगपद्बोधाजनके। **व्यस्थितैवेति**। नियतैवेत्यर्थः, एवेन ऐच्छिक्याः व्यवस्थायाः निवृत्तिः। अयं भावः—मूले वक्तृबोद्धृ—एतदन्यतराभिप्रायेण त्रयाणामैच्छिकवैकल्पिकत्वं निर्दिष्टम्। एवञ्च वक्तुः तन्त्रेणैकशेषेण वोच्चारणं भवतु किन्तु बोद्धुस्तु आवृत्तिरेव स्वीकार्या। अत एव परममूलेऽपि 'हलन्त्यम्' इत्यस्यावृत्तिरेव विहिता। **न दोष** इति। वक्तृ-सम्बन्धि-अभिप्रायेण तन्त्रावृत्त्येकशेषाणां योजनेऽनुभवविरोधरूपो दोषो नास्तीति भावः। पृथगनुक्तिरूपो दोषो नेति वार्थः। ननु भाष्यादावेकशेषस्य प्रत्याख्यानादन्यतमशब्दस्य प्रयोगोऽसङ्गत इत्यत आह—**एकशेषश्चेति**। अत्र 'यद्यपि', 'तथापी'ति शब्दौ योज्यौ। एवञ्च यद्यपि भाष्यकृता लौकिकादिप्रयोगसाधकत्वेनैकशेषः निराकृतस्तथापि शास्त्रमात्रघटकशब्दसाधनोपयोगी स एकशेष इति भाष्यकारस्याशयं मत्वा मूले दीक्षितैः तन्त्राद्यपेक्षया एकशेषः पृथगुक्त इति भावः।

ननु 'हस्य ल्' इत्यत्र सामीप्यं षष्ठ्यर्थ इत्यनुपपन्नम्, 'षष्ठीस्थाने योगा' इत्यस्यात्रापि प्रवृत्तिसम्भवादत आह—**षष्ठी स्थाने** इति। इत्संज्ञाविधायकसूत्रे

(पूर्वपक्ष)—'इको गुणवृद्धी' [१।१।३] इस सूत्र [पर भाष्य] में [तत्पुरुष और बहुव्रीहि मानकर] 'तच्छेष' शब्द से ['अलोऽन्त्यस्य' १।१।५२ और 'इको गुणवृद्धी' इन] दो परिभाषाशास्त्रों का भी परस्पर गुणगुणिभाव [अङ्गाङ्गिभाव, शेषशेषिभाव] कहा गया है [अतः यहाँ हलन्त्यम् [१।३।३] इस संज्ञासूत्र में भी 'षष्ठी स्थानेयोगा' इस परिभाषा सूत्र की प्रवृत्ति होनी चाहिए।]

धातुकार्धधातुकयोः’ ‘अलोऽन्त्यस्य’ ‘इकोगुणवृद्धी’’ इति सूत्रत्रयस्य लक्ष्यसंस्कारकमहावाक्ये विशेष्यविशेषणभावमादायैव तच्छेषव्यवहारो न तु गुणगुणिभावेन परस्परापेक्षत्वेन वेति कैयटेन स्पष्टमुक्तेः। एतन्मूलकतयैव तत्पक्षासम्भवस्य तेनोक्तेश्चेति भावः।

(उत्तरपक्ष)—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ ‘अलोऽन्त्यस्य’ और ‘इको गुणवृद्धी’ इन तीन सूत्रों के लक्ष्यसंस्कारक महावाक्य में [अर्थात् महावाक्य के प्रतिपाद्य] विशेष्यविशेषणभाव [परिछेद्यपरिच्छेदकभाव] को लेकर ही [दोनों परिभाषाओं का] तच्छेषव्यवहार है न कि गुणगुणिभाव से अथवा परस्परापेक्षत्व रूप से [तच्छेषव्यवहार] है—ऐसा कैयट ने स्पष्ट कहा है। और इस [गुणानां च परार्थत्वात्०] न्यायमूलक होने से ही उस [तच्छेष] पक्ष का [दोनों परिभाषाओं में] सम्भव न होना कैयट ने कहा है, यह भाव है।

विमर्श—‘इको गुणवृद्धी’ [पा० सू० १।१।३] इस सूत्र पर भाष्य में यह विचार किया गया है कि यह सूत्र अलोऽन्त्य-शेष है अथवा अलोऽन्त्य का अपवाद? यह तच्छेष कैसे है अथवा अलोऽन्त्यस्य का अपवाद कैसे है? यदि एक वाक्य है वह और यह—अन्त्य अल् की विधियाँ होती हैं—इको गुणवृद्धी, अलोऽन्त्यस्य। इस से तच्छेष होता है। यहाँ तच्छेष शब्द में षष्ठीतत्पुरुष है—तस्य = अलोऽन्त्यस्य शेषः = विशेषणम् इकोगुणवृद्धी’। और सः = अलोऽन्त्यस्य यह सूत्र शेषः = विशेषण है अस्य = इकोगुणवृद्धी इसका—वह तच्छेष है—यह बहुव्रीहि होता है। भाष्य के व्याख्यान से यह स्पष्ट है कि ‘इको गुणवृद्धी’ यह परिभाषा सूत्र ‘अलोऽन्त्य’ इस परिभाषा-सूत्र का विशेषण और विशेष्य दोनों बनता है। यहाँ गुणगुणिभाव अथवा परस्परापेक्षत्व नहीं कहा गया है। यह स्थिति महावाक्य में होती है। ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ [पा० सू० ७।३।८४] इस विधि सूत्र में उक्त दोनों परिभाषा शास्त्रों की उपस्थिति होती है। इससे ‘इकः’ और ‘अन्त्यस्य अलः’ का विशेष्य-विशेषणभाव मानकर—सार्वधातुक-आर्धधातुक से अव्यवहित पूर्व अङ्गावयव अन्त्य अल् से अभिन्न इक् का गुण होता है अथवा सार्वधातुक-आर्धधातुक से अव्यवहित-पूर्व इक् से अभिन्न अन्त्य अल् का गुण होता है—ऐसे महावाक्य में परस्पर विशेष्य-विशेषण मानकर दोनों परिभाषाशास्त्रों का तच्छेष कहा गया है। अतः यहाँ गुण-गुणिभाव न्याय नहीं है। परन्तु प्रस्तुत स्थल में गुणगुणिभाव होने से ‘षष्ठी स्थानेयोगा’ सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। षष्ठी का अर्थ सामीप्य होने से ह का समीपवर्ती ‘ल्’ इत् होता है—यह अर्थ सम्भव है।

यद्वा मास्तु तन्त्रादि। अस्तु समाहारद्वन्द्वो हल् च ल् चेति। लकारस्य संयोगान्तलोप इति चेत्, मैवम्।

आद्ये समासस्य क्लिष्टत्वात्। न हि ब्राह्मणकम्बल इत्यादौ ब्राह्मणसमीपवर्त्यन्यदीयः कम्बलः प्रतीयते। न वा चित्रगुशब्दाच्चित्रगवीणां

क्लिष्टत्वादिति। 'ब्राह्मणस्य कम्बलः' इत्यादावसत्यपि प्रकरणादौ

परिभाषात्वादस्य प्रवृत्तिर्न भवति उभयोः समत्वात्, गुणप्रधानभावस्यानुचितत्वादित्यर्थः। 'गुणानाञ्चे'तिन्यायस्य व्यभिचारमाशङ्क्य निराकर्तुमुपक्रमते—**न चेति**। तच्छेषशब्देन=तस्य शेषः, सः शेषो यस्येति तन्त्रेण षष्ठीतत्पुरुष-बहुव्रीहिभ्यां द्व्यर्थकेनेत्यर्थः। **परिभाषयोः**='अलोऽन्त्यस्य' 'इकोगुणवृद्धी' इति परिभाषयोरित्यर्थः। **महावाक्ये** इति। 'सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः' इत्यस्मिन् विधिसूत्रे 'इको गुणवृद्धी'ति परिभाषोपस्थाप्यार्थस्य 'इकः' इत्यस्य "अलोऽन्त्यस्य" इति परिभाषोपस्थाप्यार्थस्य 'अन्त्यस्यालः' इत्यस्य च विशेष्यविशेषणभावेन—सार्वधातुकार्धधातुकाव्यवहितपूर्वस्याङ्गावयवस्य 'अन्त्यालभिन्नेकः' 'इगभिन्नान्त्यालो वा गुणः'—इति महावाक्यार्थे विशेष्यविशेषणभावम्=परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावमादायैव परिभाषयोः तच्छेषत्वव्यवहारः इति भावः। **गुणगुणिभावेन**=अङ्गाङ्गिभावेन। **परस्परापेक्षत्वेन**=परस्परनिमित्ति-निमित्तभावेन मिथः साकाङ्क्षत्वेनेति भावः। **एतन्मूलकतयैव**=उक्तन्यायमूलकतयैवेत्यर्थः। **तत्पक्षासम्भवस्य**=परिभाषयोरेव तच्छेषत्वमितिपक्षासम्भवस्य। **तेन**=कैयटेन।

मूले—**आद्ये**=हस्य ल् इत्यत्र सामीप्यस्य षष्ठ्यर्थत्वाभ्युपगमे इत्यर्थः। **अन्तरा**=विना। **तस्य**=सामीप्यादेः। **तत्प्रयोगे**=सामीप्यादिशब्दप्रयोगे। **असामर्थ्यादिति**। हस्य लस्य च परस्परमन्वयाभावेन सामर्थ्याभावादित्यर्थः। **समासे**=स्वीक्रियमाणे सतीति शेषः। **तत्र**=हस्य ल् इति षष्ठीसमासे इत्यर्थः। **तदेतत्**=पूर्वोक्तमेव क्लिष्टत्वमाह मूले इति भावः। मूले **न हि प्रतीयते** इति योजना। ब्राह्मणस्य कम्बलः—ब्राह्मणकम्बल इत्यादौ ब्राह्मणस्वामिककम्बल इत्ये-

---

[मनो०] अथवा तन्त्र आदि न रहें। समाहार द्वन्द्व हो—हल् च ल् च [और हल्ल् में] लकार का संयोगान्त लोप हो जाय—[मनोरमा में **स्यादेतत्** से जो पूर्वपक्ष प्रारम्भ किया गया उसका खण्डन करते हैं—] यदि ऐसा कहना चाहते हो तो नहीं कह सकते क्योंकि प्रथम [हस्य लः, यह षष्ठी-समास और षष्ठी का अर्थ सामीप्य मानने] में [षष्ठी-] समास का होना क्लिष्ट है। क्योंकि [ब्राह्मणस्य कम्बलः विग्रह द्वारा साध्य समास] ब्राह्मणकम्बलः इत्यादि में ब्राह्मण का समीप-

समीपवर्ती वृक्षादिः प्रतीयते । अत एवानन्तरादिषु न समासोऽनभिधानादिति स्पष्टमाकरे । किं बहुना, 'ब्राह्मणस्य कम्बलः' 'चित्रा गावोऽस्य' इति व्यस्तप्रयोगोऽपि तत्रानिष्टः ।

स्वस्वामिभावादिप्रतीतिवदनन्तरसमीपादिशब्दप्रयोगमन्तरेण समीप्याद्यप्रतीतेः तस्य षष्ठ्यर्थत्वाभावात्, तत्प्रयोगे त्वसामर्थ्यात् षष्ठीसमासाप्राप्तिरिति,

---

वार्थः प्रतीयते न तु ब्राह्मणसमीपवर्त्ती अन्यस्वामिकः कम्बल इति । **चित्रगवीणा-मिति ।** चित्राश्वता: गावः चित्रगव्यस्तासां चित्रगवीणामिति । अत्र शब्दरत्नकार-मते 'कुमति च' इत्यनेन णत्वम्, नवीनानां मते 'एकाजुत्तरपदे णः' इत्यनेन णत्वम् । एवञ्च णत्वविशिष्टप्रयोग एव समीचीन इति बोध्यम् ।

वर्ती, किसी अन्य व्यक्ति का कम्बल—ऐसा नहीं प्रतीत होता है। और न ही 'चित्रगु' शब्द से चित्रवर्ण वाली गायों का समीपवर्त्ती वृक्षादि प्रतीत होता है । [सामीप्यार्थ मानने पर तो चित्रा गौः यस्य सः में षष्ठी होने से वृक्षादि की प्रतीति होनी चाहिये ।] इसीलिये अनन्तर आदि में समास नहीं होता है क्योंकि अनभिधान है यह भाष्य में स्पष्ट है । अधिक क्या कहा जाय, उस [पूर्वोक्त सामीप्य] अर्थ में 'ब्राह्मणस्य कम्बलः' और 'चित्रा गावोऽस्य' यह व्यस्त प्रयोग भी इष्ट नहीं है ।

विमर्श—'ब्राह्मणस्य कम्बलः' यह व्यस्त अथवा ब्राह्मण-कम्बलः यह समस्त किसी भी प्रकार का प्रयोग करने पर ब्राह्मणस्वामिक कम्वल = ब्राह्मण-सम्बन्धी कम्बल यही अर्थ सर्वानुभवसिद्ध है । ब्राह्मण का समीपवर्ती अन्य व्यक्ति का कम्बल यह अर्थ कभी भी नहीं प्रतीत होता है । इसी प्रकार 'चित्रगुः' यह समास अथवा चित्रा गावो यस्य सः—इस व्यास में भी चित्र गायों का स्वामी—यही अर्थ प्रतीत होता है ! षष्ठी रहने से ऐसी गायों के समीपवर्त्ती वृक्षादि की प्रतीति नहीं होती है । ठीक इसी प्रकार 'हस्य ल' यहाँ षष्ठी रहने पर 'ह' का समीपवर्त्ती 'ल्' यह अर्थ उपपादित करना सम्भव नहीं है । और यदि यह अर्थ मानने का दुराग्रह है तो समास सम्भव नहीं है । इसका विशेष स्पष्टीकरण शब्दरत्न में है ।

[शब्द०] क्लिष्ट होने से समास नहीं हो सकता । ब्राह्मणस्य कम्बलः आदि में [तात्पर्य-निर्णायक] प्रकरणादि के न रहने पर भी जिस प्रकार स्व-स्वामिभावादि सम्बन्धो की प्रतीति होती है उसी प्रकार अनन्तर एवं समीप आदि शब्दों के प्रयोग के बिना सामीप्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती है, इस कारण वह [सामीप्यादि] षष्ठी का अर्थ नहीं होता है । [इसलिए इस अर्थ में षष्ठी-समास करना कठिन है] और समीप एवम् अनन्तर आदि शब्दों का प्रयोग करने पर तो [समीपादि के साथ ह का

मध्यमपदलोपिसमासे सौत्रे वा तत्र समासस्य क्लिष्टत्वमिति भावः। तदेतदाह—**नहीत्यादिना तत्रानिष्ट इत्यन्तेन। चित्रगवीणामिति।** 'कुमति

अत्र केचित्—"सरूप०" इति सूत्रे भाष्ये कृतद्वन्द्वानामेकशेष इति पक्षे—'ऋक् च ऋक् च—ऋचौ इत्यत्रासारूप्यादेकशेषो न प्राप्नोति" इति भाष्योक्तेः 'ऋचौ' इत्यत्र "ऋक्पूरब्धूपक्षामानक्षे" इति 'अ' प्रत्ययस्य समासावयवत्वे पूर्वोत्तरपदयोः सरूपत्वसत्त्वेनासङ्गत्यापत्त्या समासान्तानामुत्तरपदावयवत्वं ध्वनितम्। तथा चैकस्यादन्तत्वेनापरस्य हलन्तत्वेन 'असारूप्यात्' इति भाष्योक्तिः सङ्गच्छते। अत एव 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः' इति वार्त्तिकात् 'द्विधुरी' इत्यादौ स्त्रीत्वात् ङीप्सिद्धिः। अत एव समासान्तानामुत्तरपदावयवत्वमित्यपि भाष्यकारस्य मतमिति सरूपसूत्रे कैयट इति प्राचीनाः।

नवीनास्तु 'समासान्ताः समासावयवा एव', उक्तभाष्यस्य कृतद्वन्द्वानां विभक्तौ परत एकशेष इति पक्षे प्रवृत्तत्वेन विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टस्य 'ऋचः' इत्यदन्तस्य सारूप्याभावेन समासावयवत्वपक्षेऽपि विरोधाभावः। 'द्विपुरी' 'द्विधुरी' इत्यादि तु 'अर्धनावम्' 'अर्धखारम्' इतिवत् "लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य" इति भाष्योक्त्या लिङ्गविधायकशास्त्राणां प्रत्याख्यानरीत्या सिद्धम्। अत एव 'बहुकुमारीकः' इत्यादौ "गोस्त्रियोः" [पा० सू० १।२।४८] इति ह्रस्ववारणाय "समासान्ताः" [पा० सू० ५।४।६८] इत्यत्र समासपदस्य लक्षणया अलौकिकविग्रहवाक्यपरत्वमाश्रित्यान्तरङ्गत्वात् कपं विधाय ह्रस्वाभावसाधनपरं भाष्यं सङ्गच्छते। उत्तरपदावयवत्वे तु यदागमन्यायेन कब्विशिष्टस्य स्त्रीप्रत्ययान्तया ङीपो निर्दिश्यमानत्वेन ह्रस्वत्वापत्त्या भाष्यासङ्गतिः स्यात्।

अत एव "अन्त" [पा० सू० ६।२।९२] इति सूत्रे समासस्य उत्तरपदस्य वान्तोदात्तत्वमिति शङ्कायाम्, आद्ये 'इदं प्रथमकाः' इत्यत्र कपोऽन्तोदात्तत्वापत्तिः, द्वितीये 'अनृचः' इत्यात्रन्तोदात्तत्वासिद्धिरिति भाष्यासङ्गतिः। उत्तरपदावयवत्वे तूभयसिद्ध्या

अन्वय होने से और 'ल्' के साथ अन्वय न होने से ह् और ल् में] सामर्थ्याभाव के कारण षष्ठी-समास की प्राप्ति नहीं है, [शाकप्रियः पार्थिवः-शाकपार्थिवः के समान हसमीपो ल्-हल्-यह] मध्यमपदलोपी समास स्वीकार करने पर [अथवा इसमें गौरव देखकर] सौत्र समास स्वीकार करने पर उस षष्ठी-समास में क्लिष्टता है। इस क्लिष्टता को [मनोरमा में] "न हि" यहाँ से लेकर "तत्रानिष्टः" तक कहा गया है। चित्रगवीणाम्—यहाँ 'कुमति च' [८।४।१३] से णत्व होता है। [क्योंकि इस सूत्र का अर्थ है—कवर्ग वाले उत्तर पद में न का ण होता है।] यहाँ दन्त्य=चित्र-

च' [पा० सू० ८।४।१३] इति णत्वम्। दन्त्यपाठस्तु लेखकप्रमादात्। एवं स्त्रीगवीणामित्येकशेषप्रकरणान्तस्थकैयटप्रयोगेऽपि बोध्यम्। अस्तेरनन्तरे

तदसङ्गतिः स्पष्टैव। एतेन—'उपशरदम्' इत्यादावुत्तरपदावयवत्वेऽपि 'अवयवावयवः समुदायावयव' इति न्यायेन 'अम्' सिद्धिरित्यपास्तम्, उक्तभाष्यविरोधेन मूलस्यैवाभावात्।

नन्वेवमपि 'कुमति च' इत्यस्यासिद्धतया 'एकाजुत्तरपदे णः' इति णत्वं न्याय्यम्, इति चेन्न, असिद्धत्वस्य कार्यार्थतया फले विशेषाभावेन तदप्रवृत्तेः, प्रतिपदविधित्वेन शीघ्रोपस्थितिकतया "कुमति च" इत्यस्यैव प्रवृत्तेश्च। न चान्तर्वत्तिविभक्त्या गोशब्दस्य पदतया 'पदव्यवायेऽपि' इति णत्वनिषेधः, 'उत्तरपदत्वे' इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधस्तु न, अपदादिविधाविति पर्युदासेन पदान्तविधावेव तत्प्रवृत्तेरिति वाच्यम्, 'अतद्धिते इति वक्तव्यम्' इति वार्त्तिकैकवाक्यतया णत्वाश्रयातिरिक्तो यस्तद्धितभिन्नोऽर्थवान् तत्परकं यत्पदम्, तादृशपदव्यवधाने एव निषेधप्रवृत्तेः; णत्वाश्रयातिरिक्तेत्युक्त्या 'रम्यविणा' इत्यत्र, तद्धितभिन्नेत्युक्त्या 'आर्द्रगोमयेण' इत्यत्र च णत्वसिद्धिः, 'न' इत्यस्य णत्वाश्रयत्वात् 'मय' इत्यस्य तद्धितत्वाच्च। 'चतुर्वह्वङ्गेण' इत्यत्र वहुचः पदत्वाभावेन णत्वाश्रयातिरिक्तस्तद्धितभिन्नो योऽङ्गशब्दस्तत्परकत्वेऽपि न दोषः।

यत्तु—'निष्कृतम्' 'दुष्पीतम्' इत्यादौ सत्वस्यासिद्धतया षत्वाप्राप्त्या 'प्रकरणे प्रकरणान्तरमसिद्धम्' इति भाष्योक्तरीत्या परत्वात् "कुमति च" इत्यस्य प्रवृत्तिरिति, तन्न, 'भोश्छिन्धि, भगोश्छिन्ध, हरिवंश्छिन्धि—इत्यादौ "नश्छव्यप्रशान्" [पा० सू० ८।३।७] इत्यस्य "मतुवसो रुः" [पा० सू० ८।३।१] इत्यपेक्षया परत्वात् तेनैव रुत्वे "अत्रानुनासिकः" [पा० सू० ८।३।२] इत्यस्याधिकारपक्षे तदुत्तर—'नश्छव्य' इति सूत्रविहितरुत्वसत्वेनानुनासिकाद्यापत्त्या कैयटेनैव तत्पक्षस्य "उपसर्गादसमासे" [पा०सू० ८।१।४] इति सूत्रे दूषितत्वात्, 'निष्पीतम्' इत्यादौ विसर्गस्यैव षत्वसिद्ध्या फलाभावेन तत्पक्षस्यैकदेश्युक्तित्वाच्चेति दिगित्याहुः।

गवीनाम् यह पाठ तो लेखक के प्रमाद से हुआ है। इसी प्रकार एकशेष-प्रकरण के अन्त में कैयट के प्रयोग 'स्त्रीगवीणाम्' में भी इसी प्रकार णत्व है, यह समझना चाहिए। ['त्यादादीनि सर्वैर्नित्यम्' पा० सू० १।२।७२ सूत्र भाष्य पर कैयट-प्रदीप में यह प्रयोग है।] [यदि षष्ठी का अर्थ आनन्तर्य=सामीप्य नहीं मानते हैं तो 'षष्ठी स्थानेयोगा' पा० सू० १।१।४९] इस सूत्र-भाष्य में—"अस्तेर्भूः" पा० सू० २।४।५२ इसमें केवल षष्ठी का उच्चारण करने पर "अस्तेरनन्तरे समीपे वा" इस कथन की

समीपे वेत्यादि भाष्यं त्वनन्तरादिपदाध्याहारेण तन्निरूपितसम्बन्धार्थिका स्थानपदाध्याहारेण तन्निरूपितसम्ब्रन्धार्थिका वा षष्ठीत्यभिप्रायकम्। अत एव मतुप्सूत्रे कैयटेन 'गावोऽस्य सन्त्यनन्तरा' इत्यर्थे मतुप्शङ्कापरभाष्यव्याख्याऽवसरे आनन्तर्यमस्त्यर्थवत्प्रकृत्यर्थोपाधिरित्युक्तम्, न तु तस्य षष्ठ्यर्थत्वेन प्रत्ययार्थत्वमुक्तम्। भाष्यकृता चासामर्थ्यात् तत्र वृत्त्यभाव उक्तः।

एकशेषेति। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' [पा० सू० १।२।७२] इति सूत्रस्थेत्यर्थः। ननु आनन्तर्यस्य षष्ठ्यर्थत्वाभावे "अस्तेर्भूः" [पा० सू० २।४।५२] इति सूत्रे षष्ठीमात्रस्योच्चारणे 'अस्तेरनन्तरे समीपे वे' ति सन्देहप्रतिपादकं भाष्यमसङ्गतं स्यादत आह—**अस्तेरित्यादि। तन्निरूपिते**ति। अध्याहृतानन्तरादिपदार्थनि-

---

उपपत्ति कैसे होगी? इसके लिए लिखते हैं—] "अस् के अनन्तर अथवा समीप में" आदि भाष्य तो अनन्तर आदि पदों के अध्याहार से उस [आनन्तर्यादि] से निरूपित सम्बन्ध अर्थ वाली [षष्ठी है] अथवा 'स्थाने' पद के अध्याहार से उस [स्थान] से निरूपित सम्बन्ध अर्थवाली षष्ठी है, इस अभिप्राय वाला वह भाष्य है। [भाव यह है कि जैसे 'स्थाने' पद का अध्याहार करने पर स्थाननिरूपित निवर्त्यनिवर्तकभावसम्बन्ध षष्ठ्यर्थ माना जाता है उसी प्रकार यहाँ के भाष्य में अनन्तर एवं समीप आदि पदों के अध्याहार से आनन्तर्य से निरूपित जो निरूपकत्व अथवा आश्रयत्व सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध अर्थवाली षष्ठी—यह प्रतिपादन करना भाष्यकार का उद्देश्य है न कि सामीप्य या आनन्तर्य को षष्ठ्यर्थ बताना। अतः भाष्यविरोध नहीं है।] [सामीप्य षष्ठ्यर्थ नहीं होता है] इसीलिए "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्" [पा० सू० ५।२।९४] इस सूत्र-भाष्य मे कैयट ने 'गावः सन्ति अस्य अनन्तराः' इस अर्थ में मतुप् प्रत्यय की शङ्का के प्रतिपादक भाष्य की व्याख्या करते समय—'अस्ति के अर्थ के समान आनन्तर्य प्रकृत्यर्थ [गो पदार्थ] की उपाधि [विशेषण] है'—यह कहा है, न कि उस [आनन्तर्य] के षष्ठ्यर्थ होने से प्रत्ययार्थ है, यह कहा है। [अर्थात् जैसे अस्ति पदार्थ अपने प्रकृत्यर्थ गो आदि का विशेषण होता है—इसलिए अस्ति-पदप्रतिपाद्य वर्तमानकालावच्छिन्नत्वरूप अर्थ गोरूप प्रकृत्यर्थ का विशेषण होता है 'षष्ठ्यर्थ नहीं होता है' उसी प्रकार आनन्तर्य भी प्रकृत्यर्थ गोपदार्थ का ही विशेषण होता है, षष्ठी का अर्थ नहीं होता है, अतः मतुप् का अर्थ नहीं होता है, प्रत्यय नहीं होता है।] और भाष्यकार ने [सापेक्ष असमर्थवत् होता है—इस न्याय से] सामर्थ्य न होने के कारण उस [गावः सन्त्यनन्तराः इस प्रयोग] में तद्धितवृत्ति [मतुप् प्रत्यय] का अभाव कहा है। [अर्थात् जैसे ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः यहाँ ऋद्धस्य यह राज्ञः का विशेषण बन जाता है,

षष्ठ्यर्थत्वे तु प्रत्ययार्थत्वात् क्वासामर्थ्यम् । तस्माद् यत्र षष्ठ्यन्तमात्रप्रयोगे आनन्तर्यादिप्रतीतिस्तत्रानन्तरादिपदाध्याहार एव बोध्यः । तत्रास्तिग्रहणाभावे तस्यान्यफलकत्वे वा सूत्रानुपात्तास्त्यर्थान्तिर्भावेण मत्वर्थीयवद् बहुव्रीहिवच्च तथाभूतानन्तर्याद्यर्थान्तिर्भावेण 'चित्रा गावोऽस्य सन्त्यनन्तरा' इत्याद्यर्थे बहुव्रीहिमत्वर्थीयौ न भवतोऽनभिधानादिति मतुप्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

रूपितेत्यर्थः । **तन्निरूपिते**ति । अध्याहृतस्थानपदार्थनिरूपितेत्यर्थः । एवञ्चाध्याहारेणैव भाष्ययोजना कार्येति भावः । ननु आनन्तर्यादेः षष्ठ्यर्थत्वाभावात् तथाऽस्तु, स्थानं तु षष्ठ्यर्थ एवेति सिद्धम्, 'षष्ठी स्थानेयोगे'ति सूत्रात्, अतः सः किमर्थ इति चेन्न, तृतीयान्तेन [स्थानेन योगो यस्याः सा] सप्तम्यन्तेन [स्थाने योगो

राज्ञः सापेक्ष हो जाता है, इसका पुरुष के साथ समास नहीं होता है उसी प्रकार प्रस्तुत भाष्य में भी आनन्तर्य गोपदार्थ का विशेषण बन जाता है, गोपदार्थ सापेक्ष हो जाता है, सापेक्ष समर्थ नहीं माना जाता है अतः तद्धितवृत्ति = मतुप् नहीं होता है ।] यदि आनन्तर्य षष्ठी का अर्थ होता तब तो उस [आनन्तर्य] के प्रत्यय का अर्थ हो जाने से आसामर्थ्य कहाँ रहता है, [सामर्थ्य ही रहता । तब भाष्योक्त असामर्थ्य असंगत हो जायेगा ।] अतः [उपर्युक्त तर्क के अनुसार] जहाँ [गुरुपुत्रो देवदत्तस्य किञ्चत् आदि प्रयोग में] केवल षष्ठ्यन्त का प्रयोग करने पर [यदि] आनन्तर्य आदि अर्थ की प्रतीति हो जाती है वहाँ अनन्तर आदि पदों का अध्याहार ही समझना चाहिए [उसे षष्ठी का अर्थ नहीं समझना चाहिए ।] उस [मतुप्-विधायक "तदस्यास्त्यस्मिन्" पा० सू० ५।२।९४] में 'अस्ति' का ग्रहण न रहने पर अथवा उसका अन्य फल [अर्थात् अस्तिमान् आदि की सिद्धि] होने पर सूत्र में अनुपात्त अस्ति के अर्थ के अन्तर्भाव से जैसे मत्वर्थीय प्रत्यय और बहुव्रीहि समास होता है उसी प्रकार तथाभूत [सूत्र में अनुपात्त] आनन्तर्य आदि अर्थों का अन्तर्भाव करके 'चित्रा गावः सन्ति अनन्तराः' इत्यादि अर्थ में बहुव्रीहि और मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं होते हैं, क्योंकि अनभिधान है, ऐसा मतुप् सूत्र पर भाष्य में स्पष्ट है ।

विमर्श-भाव यह है कि बहुव्रीहि चित्रगुः आदि में जिस प्रकार वर्तमानकालावच्छिन्नअस्तिअर्थ का अन्तर्भाव रहता है उसी प्रकार शब्दशक्तिस्वभाववश मतुप्-प्रत्ययान्त से भी अस्त्यर्थ की प्रतीति हो ही जायेगी, अस्ति ग्रहण की आवश्यकता नहीं है । अथवा अस्तिमान् प्रयोग के लिए 'अस्ति' शब्द है। इस स्थिति में सूत्र में उस रूप में अनुपात्त भी 'अस्ति' के अर्थ का अन्तर्भाव करके मत्वर्थीय प्रत्यय हो जाता है और बहुव्रीहि हो जाता है उसी प्रकार सूत्र में अनुपात्त आनन्तर्य आदि अर्थो का अन्तर्भाव मत्वर्थीय

यस्याः सा] वा तेन व्यधिकरणवहुव्रीहिप्रदर्शकभाष्यात् तस्यापि षष्ठ्यर्थत्वाभावस्य लाभात्। अन्यथा 'स्थानं योगः=सम्बन्धो यस्या इत्येव वक्तुं न्याय्यम्। आवश्यक-निपातनात् साधुत्वन्तु उभयथापि वक्तव्यमेव। एवञ्च स्थाननिरूपितो यः सम्बन्धो =निवर्त्यनिवर्त्तकभावरूपः स एव षष्ठ्यर्थः। स्थाने योगेत्यस्य स्थाननिमित्त-सम्बन्ध इत्यर्थं वदता कैयटेनापि स्थानरूपः सम्बन्धो न षष्ठ्यर्थ इति ध्वनितमेव। एत्वघटितं सूत्रं पठता पाणिनिनापि सूचितमिति वोध्यम्। **अभिप्रायकमि**ति। न तु सामीप्यादेः षष्ठ्यर्थत्ववोधकमिति भावः। यद्यपि एकशतं षष्ठ्यर्थसम्बन्धास्त-थापि निर्णयाय 'षष्ठी स्थाने' इति सूत्रमिति। **अत एव**=सामीप्यस्य षष्ठ्यर्थत्वा-भावादेवेत्यर्थः। **अस्त्यर्थवदि**ति। अयं भावः—सूत्रघटकास्तिपदप्रतिपाद्यः वर्त-मानकालावच्छिन्नरूपास्त्यर्थो यथा प्रकृत्यर्थस्य विशेषणं तथैव आनन्तर्यमपि प्रकृत्यर्थस्य गोपदार्थस्य विशेषणम्, न तु षष्ठ्यर्थः। अस्त्यर्थः=वर्तमानसत्ता। 'गोमान् आसीदि'त्यादौ तु 'तथाव्यवहारविषय आसीदि'त्यर्थो बोध्यः। अत्र सूत्र-घटकमस्तिपदं प्रकृतिविशेषणम्। विभक्तिप्रतिरूपकं विद्यमानवाचकमव्ययम्। प्रकृत्यर्थ विशेषणत्वादेव 'अनन्तरा' इत्युक्तम्, अन्यथा 'अनन्तरम्' इत्येव वदेदिति भावः। **तस्य**=आनन्तर्यस्य। **असामर्थ्यादि**ति। सापेक्षमसमर्थवदिति न्यायादित्यर्थः। **तत्र**=गावोऽस्य सन्त्यनन्तरा इत्यत्रेत्यर्थः। **वृत्त्यभावः**=मतुप्रूपतद्धितवृत्त्यभाव इत्यर्थः। **षष्ठ्यर्थत्वे** त्विति। आनन्तर्यस्य षष्ठीविभक्तिप्रतिपाद्यार्थत्वे त्वित्यर्थः। उपसंहरन्नाह—**तस्मादि**ति। उक्तहेतोरित्यर्थः। **यत्र**='गुरुपुत्रो देवदत्तस्य किञ्चिदि'त्यत्र। **षष्ठ्यन्तमात्रे**ति। अत्र मात्रशब्देन प्रकृतसमीपादिपदमात्रव्यावृत्तिः। **आनन्तर्यादि**ति। आनन्तर्यादिनिरूपितसम्बन्धस्य प्रतीतिरित्यर्थः। **तत्र**=तादृश-स्थले। **एवे**ति। एवकारेण तस्य षष्ठ्यर्थत्वनिवृत्तिर्बोध्या। **तत्र**=तदस्यास्त्य-स्मिन्निति मतुप्विधायकसूत्रे। **अस्तिग्रहणाभावे** इति। यथा वहुव्रीहौ अस्त्यादि-पदप्रयोगाभावेऽपि शब्दशक्तिस्वाभाव्याद् वर्तमानसत्तान्तर्भावसम्भवः, तथैव मतुबन्ता-दपि प्रतीतिर्भविष्यतीति 'अस्ति'ग्रहणस्य दृष्टफलाभावः। किञ्च 'न हि पदार्थः सत्तां व्यभिचरती'ति सिद्धान्तात् गोपदेनैव सत्ताया अपि प्रतीतेरस्तिग्रहणस्य फलं नास्तीति भावः। **तस्य**=अस्तिग्रहणस्य। **अन्यफलकत्वे** इति। सूत्रकारस्या-ज्ञानकल्पनापेक्षया तस्यान्यफलकत्वकल्पनमेवोचितम्। एवञ्च शब्दशक्तिस्वभावात् अस्त्यर्थे मतुपो विधानात् 'घटो घटः' इतिवत् सत्ताविशिष्टकर्तृवाचकात् अस्त्यव्यपा-यात् समानार्थकत्वेन 'अस्ति' इति तिङन्तप्रतिरूपकाव्ययेन सामानाधिकरण्याभावेऽपि

प्रत्यय और बहुव्रीहि नहीं होते हैं, क्योंकि अनभिधान है। यहाँ वैपरीत्य में दृष्टान्त समझना चाहिए।]

अनन्तरादेरिदमर्थत्वे "तस्येदम्" [पा० सू० ४।३।१२०] इति शैषिकोऽप्यनभिधानान्नेति "तस्येदम्" [४।३।१२०] इत्यत्र भाष्ये। तदुक्तम्—**अनन्तरादिषु न समासोऽनभिधानादिति स्पष्टमाकर इति।** तत्र समासग्रहणं तद्धितवृत्तेरप्युपलक्षणम्। अनन्तरादिशब्दैः षष्ठीतत्पुरुषादिस्तु भवत्येव। ग्रामकूपो गङ्गातीरमित्यादौ समीपे एवावयवत्वारोपेण समासः। स्पष्टा चेयं रीतिः "मपर्यन्तस्य" [पा० सू० ७।२।९१] इति सूत्रे कैयटे। किं च हस्य

मतुप्। तेन 'अस्तिमान्' इत्यस्य 'सत्ताकर्तृत्वेन धनवान्' इत्यर्थे मतुप्सिद्ध्यर्थम् अस्तिग्रहणमिति भावः। **सूत्रानुपात्ते**ति। तथात्वेनानुपात्तस्यापि अस्त्यर्थस्यान्तर्भावेण शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् मत्वर्थीयः प्रत्ययो बहुव्रीहिश्च भवति तेन प्रकारेण तथाभूतस्य=सूत्रानुपात्तस्यानन्तर्याद्यर्थस्यान्तर्भावेण बहुव्रीहि-मत्वर्थीयौ न भवतः इति वैपरीत्ये दृष्टान्तः इति बोध्यम्।

इदमर्थत्वे इति। 'राज्ञ इदम् अनन्तरम्' इत्येवंरूपेण .नन्तर्यस्य इदमर्थत्वे इत्यर्थः। **तदुक्त**मिति। प्रागुक्तं सर्वं मनसि निधाय स्वकल्पितवाक्येनैवमुक्तमित्यर्थः, न तु निर्मूलं न वा भाष्याद्यनुक्तमुक्तमिति भावः। मूले—**अत एव**=तथा प्रतीतेरस्वीकारादेवेत्यर्थः। **अनन्तरादिषु**=आनन्तर्यादिष्वित्यर्थः, आदिना सामीप्यस्य संग्रहः। **तत्र**=प्रौढमनोरमावाक्ये इत्यर्थः। नन्वेमनन्तरशब्देन षष्ठीतत्पुरुषोपि न स्यादत आह—**षष्ठीतत्पुरुषादिस्त्व**ति। अनभिधानरूपयुक्तेरभावात् वृत्त्यभावप्रयोजकस्य असामर्थ्यस्य चाभावात्तत्र समासे बाधकाभावः। अत एव

[शब्द०] अनन्तर आदि 'इदम्' पद के अर्थ हो जाते हैं तो 'तस्येदम्' इस सूत्र से [राज्ञः इदम्=आनन्तर्यम् आदि में] शैषिक प्रत्यय भी नहीं होता है क्योंकि अनभिधान है, ऐसा 'तस्येदम् [पा० सू० ४।३।१२०] इस सूत्र पर भाष्य में है। यही **[मनोरमा** में] कहा है—"अनन्तर आदि [=आनन्तर्य, सामीप्य आदि अर्थों] में [बहुव्रीहि] समास नहीं होता है क्योंकि अनभिधान है, ऐसा आकर=महाभाष्य में स्पष्ट है"। यहाँ मनोरमा में समासग्रहण तद्धित वृत्ति [मत्वर्थीय प्रत्ययों] का भी उपलक्षण है। परन्तु अनन्तर आदि शब्दों के साथ षष्ठी-तत्पुरुष तो होता ही है। [क्योंकि इसके लिए अनभिधान नहीं है। इसीलिए स्नानान्तरम्, तदनन्तरम् आदि प्रयोग संगत होते हैं।] ग्रामकूपः गङ्गातीरम् आदि में समीप अर्थ में ही [ग्रामावयवत्व और गङ्गावयवत्व के आरोप से षष्ठी-समास उपपन्न हो जाता है। 'मपर्यन्तस्य' [पा० सू० ७।२।९१] इस सूत्रभाष्य में कैयटप्रदीप में यह रीति [आरोप करना] स्पष्ट है। [आनन्तर्य यदि षष्ठ्यर्थ मान भी लें तो भी दोष है इसलिए लिखते हैं—**किञ्च**] और भी. हस्य ल् इस अर्थ में हसमीपवर्त्ती ल् इत् होता है इस अर्थ में]

(सूत्रार्थ प्रधान वृत्ति)
(समास स्वरूप अव्ययकृते निरूपितः)

लित्यर्थे "हल विलेखने" इति धातोर्लस्येत्त्वापत्तिः। न च फलाभावः? देवदत्त हलित्यादौ डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपवल्लित्त्वसामर्थ्यात् प्रत्ययात्पूर्वंत्वाभावेऽपि लित्स्वरस्यैव फलत्वं वक्तुं शक्यत्वादित्यपि बोध्यम्।

यद्यपि "हलसीरात्" [पा० सू० ४।३।१२४] इति निर्देशेन तस्य नेत्त्वमिति कल्पयितुं शक्यम्; तथाऽपि ज्ञापकस्वीकारापेक्षया सूत्रावृत्तिरेव लघीयसीति दिक्।

विलेखन=जोतना अर्थ वाली 'हल्' धातु के ल् की इत्संज्ञा होने लगेगी [और फलस्वरूप 'ल्' का लोप होने लगेगा। यहाँ इत् संज्ञा का लोप के अतिरिक्त दूसरा] फल नहीं है [और वह लोप ल् के उच्चारणसामर्थ्य से नहीं होगा, अतः कोई दोष नहीं है]—ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि डित् होने के सामर्थ्य से भसंज्ञारहित भी टि का लोप जिस प्रकार होता है उसी प्रकार 'देवदत्त ! हल्' इत्यादि में प्रत्यय से पूर्व न होने पर भी लित् स्वर का होना ही [ल् की इत्संज्ञा का] फल कहा जा सकता है, यह भी समझना चाहिए।

विमर्श—"लुटः प्रथमस्य डारौरसः" [पा० सू० २।४।८५] इससे लुट् तिप् का डा आदेश इसलिए किया गया है कि डित् होने के फलस्वरूप=सामर्थ्यवश बिना भसंज्ञा के ही टि=आस् का लोप हो सके। उसी प्रकार 'देवदत्त ! हल् अस्ति' आदि में 'ल्' की इत्संज्ञा करने के कारण "लिति" [पा० सू० ६।१।१९३] सूत्र से प्रत्ययाव्यवहित पूर्व न होने पर भी देवदत्त का 'त' उदात्त होना ही फल है। अतः यहाँ व्यञ्जन की इत्संज्ञा का फल लोप न मानकर स्वर करना मानना चाहिए। यहाँ हल् का ल् इत् है वह प्रत्यय नहीं है तो भी विधान-सामर्थ्यवश प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व न होने पर भी देवदत्त का स्वर उदात्त हो जायगा। यहाँ हल् शब्द क्विप् प्रत्ययान्त ही है, उसके बाद अस्ति जोड़ना चाहिए। देवदत्त यह सम्बोधनान्त है। 'हे देवदत्त ! हल्=जोतनेवाला यहाँ है' इत्यादि अर्थ होता है। कुछ व्याख्याकारों ने 'हल्' को लोट् मध्यमपुरुष लिखा है। वह ठीक नहीं है क्योंकि भौवादिक होने से शप् करने पर अकारान्त 'हल' यही रूप होगा न कि लकारान्त हल्। यदि यह कहा जाय कि यहाँ तो केवल इत् संज्ञा ही करनी है, उसी को मानकर स्वर करना है तब तो मध्यमपुरुष एकवचन के 'हल' रूप में भी लित्व सम्भव है। इस पक्ष में 'देवदत्त ! हल' देवदत्त जोतो' यह अर्थ होता है, 'अस्ति' आदि के अध्याहार की आवश्यकता नही है।]

[शब्द०] यद्यपि "हलसीराट्ठक्" [पा० सू० ४।३।१२४] इस सौत्र निर्देश

द्वितीयेऽपि संयोगान्तलोपो दुर्लभः, यणः प्रतिषेधारम्भात्। तत्प्रत्याख्यान-

---

'स्नानानन्तरम्' इत्यादिसामान्यप्रयोगा अनुभवसिद्धाः। **अवयवत्वारोपेणे**ति। तेन समीपदेश-ग्रामावयवस्तेन षष्ठीविभक्तिसिद्धिः। यदा तु 'ग्रामशब्दोऽयं बह्वर्थः' इति भाष्यात् ससीमकस्य सारण्यकस्य सजनस्य शालासमुदायस्य ग्रामशब्दवाच्यत्वेन ग्राम-कूपे ग्रामावयवत्वमक्षतमेवेति तत्रारोपो नापेक्षित इति बोध्यम्।

अस्तु वा षष्ठ्यर्थ आनन्तर्यम्, तदापि नेष्टसिद्धिरित्यत आह—**किञ्चे**ति। **हस्ये**ति। हावयवल् हसमीपल् इति वार्थे। **फलाभाव** इति। लोपतदन्य-फलयोरभाव इत्यर्थः। **डित्वसामर्थ्यादि**ति। यथा "लुटः प्रथमस्य डारौ-रसः" [पा० सू० २।४।८५] इत्यनेन तिपः स्थाने विहित-डादेशस्य डित्वविधानसाम-र्थ्यवशादभसंज्ञकस्यापि टेः=आस्-इत्यस्य लोपे भवितास्+आ इत्यादौ दृश्यते तथैव प्रकृते लकारस्येत्वसामर्थ्यात् 'देवदत्त! हल्' इत्यत्र प्रत्ययात् पूर्वत्वाविभावेऽपि 'लिति' [पा० सू० ६।१।१९३] इत्यनेन स्वरितत्वमेव फलं वाच्यम्। ननु "हलसीराट्ठक्" [पा० सू० ४।४।८१] इत्यत्र लकारस्य लोपाभावदर्शनेन तस्य इत्त्वमपि न भविष्यति, प्रतियोगितासम्बन्धेन लोपस्य इत्त्वव्यापकतया व्यापकाभावे व्याप्याभावस्य न्याय्य-त्वादित्यत आह—**यद्यपी**ति। **ज्ञापके**ति। उक्तनिर्देशज्ञापकेत्यर्थः। **लघीय-सी**ति। अयं भावः—अत्र वर्णाभिव्यक्तिजनककण्ठाद्यभिघातगौरवमेवादरणीयम्, न तु ज्ञानजनकमनोव्यापारगौरवमिति न हि राजाज्ञास्ति। एवञ्च सम्पूर्णसूत्रावृत्ति-रेव अत्यन्तं लघुभूतेति बोध्यम्।

के कारण ल् का इत्व नहीं होता है [अर्थात् लोप न होने से उसकी कारणभूत इत्संज्ञा भी नहीं होती है] यह कल्पना की जा सकती है तथापि [उक्त निर्देश रूप] ज्ञापक स्वीकार करने की अपेक्षा [सम्पूर्ण] सूत्र की आवृत्ति करना ही लघुतर है। [क्योंकि आवृत्ति के लिए कण्ठताल्वादि अवयवों का प्रयास करना मनोव्यापारसाध्य क्लिष्ट कल्पना से लघुभूत है। अतः सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्ति करना चाहिए। और प्रथम सूत्र का अर्थ—हल्—इस सूत्र में अन्त्य इत् होता है—इससे इत् पदार्थ का ज्ञान हो जाने के बाद 'आदिरन्त्येन' सूत्र का वाक्यार्थबोध, उसके बाद हल् प्रत्याहार का ज्ञान करके द्वितीय आवृत्त 'हलन्त्यम्' का अर्थ—उपदेश में अन्त्य हल्=व्यञ्जन इत् होता है—यह अर्थ सम्भव होता है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष दूर हो जाता है।]

[मनो०] द्वितीय पक्ष—[हल् च ल् च इस समाहार-द्वन्द्व] में भी [ल् का] संयोगान्तलोप दुर्लभ है क्योंकि 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' (यण्=यवरल के लोप का प्रतिषेध कहना चाहिए') यह वार्तिक बनाया गया है और इस वार्त्तिक के प्रत्याख्यान-

पक्षेऽपि 'झलो झलि' (पा० सू० ८।२।२६) इत्यतो झल्ग्रहणमपकृष्य संयोगान्तस्य झलो लोपविधानाच्च। किं च, पदार्थबोधं विना वाक्यार्थबोधासम्भवेन हल् प्रत्याहारसिद्धेः प्रागेतत्सूत्रार्थाबोधे प्रसक्ते तदुद्धारार्थोऽयं यत्नः। अस्यां चावस्थायां हल् शब्दार्थाप्रसिद्धौ द्वन्द्व एव दुर्लभः, सहविवक्षाया असम्भवात्। तस्माद् यथोक्तमेव न्याय्यम्॥

मूले—**द्वितीये**=अस्तु समाहारद्वन्द्वो हल्च ल् च—इति व्याख्यानपक्षे इत्यर्थः। **प्रतिषेधारम्भादिति**। 'हल् च ल् च' इति समाहारद्वन्द्वे 'हल्ल्' इति स्थिते 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इति वार्त्तिकेन संयोगान्तलोपस्य प्रतिषेधात् लकारस्य श्रवणापंत्तिरिति भावः। **तत्प्रत्याख्यानेति**। वार्त्तिकप्रत्याख्यानपक्षे इत्यर्थः। **झल** इति।

पक्ष में भी 'झलो झलि' [पा० सू० ८।२।२६] इस [उत्तरवर्त्ती] सूत्र से झल्ग्रहण का अपकर्षण [पीछे के सूत्र 'संयोगान्तस्य लोपः' पा० सू० ८।२३ में सम्बन्ध] करके संयोगान्त झल् के ही लोप का विधान किया गया है। यहाँ संयोगान्त हल्ल् में ल् झल् नहीं है अतः इसका लोप सम्भव नहीं होगा।] और भी, पदों के अर्थों के ज्ञान के बिना वाक्य के अर्थ का ज्ञान सम्भव न होने के कारण हल् प्रत्याहार की सिद्धि के पहले इस ['हलन्त्यम्' पा० सू० १।३।३] सूत्र [-रूपी वाक्य] के अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है, इसी स्थिति में इस [अन्योन्याश्रय रूप] अनुपपत्ति को दूर करने के लिये यह [-हल् च ल् च—यह समाहार-द्वन्द्व आदि कल्पनारूप] प्रयत्न किया गया है। किन्तु इस [हल् पदार्थ के ज्ञानाभाव की] अवस्था में हल् पद का अर्थ प्रसिद्ध ही नहीं होता है तब [समाहार] द्वन्द्व ही दुर्लभ है, क्योंकि सहविवक्षा सम्भव नहीं है। अतः [संयोगान्त-लोप एवं सहविवक्षा के अभाव से समास इन दोनों के सम्भव न होने के कारण] यथोक्त अर्थात् सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्ति करना ही उचित है।

विमर्श—अन्योन्याश्रय दोष करने दूर के लिए दूसरा पक्ष यह कहा गया कि 'हल् च ल् च' यह समाहार-द्वन्द्व कर दिया जाय। यहाँ 'ल्' की इत्संज्ञा करके इत्पदार्थ का ज्ञान तब 'आदिरन्त्येन' का वाक्यार्थबोध और तब हल् पदार्थ का ज्ञान और 'हलन्त्यम्' सूत्र का अर्थबोध सम्भव है। इसका खण्डन करते हुए मनोरमाकार का यह कथन है कि समाहार-द्वन्द्व में 'हल्ल्' यहाँ 'ल्' का संयोगान्त लोप किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि किसी प्रकार लोप का उपपादन करना भी चाहें तो मूलभूत समाहार-द्वन्द्व समास का होना ही असम्भव है। क्योंकि सहविवक्षा में ही द्वन्द्व होता है। एकधर्माविच्छिन्न का एक धर्मावच्छिन्नसंसर्ग से एकधर्मावच्छिन्न में

झलो लोपेति। सौत्रलोपाश्रयणे तु मूलोक्तमेव लघु। **असम्भवादिति।** न च "आद्यन्तौ टकितौ" [पा० सू० १।१।४६] इत्यादौ यथासङ्ख्यमन्वयेऽपि प्रथमतः साहित्यावच्छिन्ने साहित्यावच्छिन्नान्वयमात्रेण सहविवक्षामाश्रित्य यथा द्वन्द्वसाधुत्वं तथेहापि प्रथमतो लकारो हल्पदवाच्यश्चेदिति सामान्यतो

लकारस्य झल्प्रत्याहारानन्तर्गतत्वात् लोपो दुर्लभः। **मूलोक्तमेव**=सिद्धान्तकौमुद्यामुक्तं सम्पूर्णसूत्रावृत्तिरूप मित्यर्थः। **लघु**=लघुतर इत्यर्थः। अत एवाह **किञ्चेति।** **तदुद्धारार्थः।** एतत्सूत्रवाक्यार्थबोधस्योपपादनार्थं इत्यर्थः। **अयं यत्न** इति। हल् च ल् च इति समाहारद्वन्द्वकल्पनारूपो यत्न इत्यर्थः। **अस्यां चावस्थायाम्**=हल्पदार्थस्य ज्ञानाभावदशायाम्। सहविवक्षाविषयिणीमाशङ्कां निराकर्तुमुपक्रमते—**न चेति।** **इत्यादाविति।** आदिना "तस्थस्थमिपां तांतंतामः" [पा० सू० ३।४।१०१] इत्यपि बोध्यम्। **अन्वयेऽपीति।** लक्ष्यसंस्कारकवाक्यार्थबोधकाले इति शेषः। **प्रथमतः**=उक्तबोधात् प्रागित्यर्थः। **साहित्यावच्छिन्ने**=आद्यन्तसमूहे, साहित्यावच्छिन्नान्वयमात्रेण=साहित्यावच्छिन्नस्य टित्कित्समुदायस्य समानविभक्तिकतयाऽभेदान्वयमात्रेणेत्यर्थः। अत्र पूर्वपक्षी मात्रप्रयोगेण लक्ष्या-

---

अन्वय ही सहविवक्षा है। इस प्रकार सहविवक्षा अन्वयरूप होती है और अन्वय अलग अलग ज्ञात पदार्थों का सम्बन्धरूप होता है। प्रस्तुत स्थल में केवल 'ल्' पदार्थ का ज्ञान है 'हल्' पदार्थ का नहीं है अतः इनकी सहविवक्षा सम्भव नहीं है। इस कारण समाहारद्वन्द्व की कल्पना ही असम्भव है। इन सभी बातों पर विचार करने पर यही उचित प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण 'हलन्त्यम्' सूत्र की आवृत्ति करके ही अन्योन्याश्रय दोष दूर करना चाहिए। यही मनोरमा का निष्कर्ष है।

[शब्द०] संयोगान्त झल् का ही लोप होता है। [यहाँ समाहारद्वन्द्व करके] सौत्र लोप का आश्रयण करने पर तो [इस कल्पना की अपेक्षा] मूलोक्त [सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्तिरूप मनोरमा का कथन] ही लघुभूत है। सहविवक्षा असम्भव है। (पूर्वपक्ष) आद्यन्तौ टकितौ' [पा० सू० १।१।४६] इत्यादि सूत्र में [लक्ष्यसंस्कारकवाक्यार्थबोध के समय] यथासंख्यरूप से अन्वय [अर्थात् टित् का आदि में और कित् का अन्त में अन्वय] करने पर भी [इस प्रकार के बोध के] पहले साहित्यावच्छिन्न [समुदाय] में साहित्यावच्छिन्न [समुदाय] के अन्वयमात्र से ही सहविवक्षा मानकर जिसप्रकार द्वन्द्व होता है इसी प्रकार यहाँ 'हलन्त्यम्' इस सूत्र में भी—लकार और हल् पदवाच्य [दोनों] इत् होते हैं—इस प्रकार [हल् पदवाच्यत्वरूप] सामान्य रूप से [सूत्र-प्रणयन की अन्य प्रकार से उपपत्ति सम्भव न होने के कारण] कल्पित बोध को

बोधं कल्पितमादाय द्वन्द्वमाधुत्वं, ततो विशेषजिज्ञासायामादिरन्त्येन—इत्येक-वाक्यतया विशेषतो वाक्यार्थो लक्ष्यसंस्कारकः।

किं च, सहविवक्षा—सह वक्तुं वक्तुरिच्छा, सा च सूत्रप्रणयनानुपपत्त्या पाणिनेस्ततः पूर्वमपि हल्पदार्थज्ञानादक्षतैव; बोद्धृबोधस्तु क्रमेणैवेति

संस्कारकस्यान्वयस्य कल्पने तस्याः सहविवक्षाया न वास्तविकत्वमिति ध्वनयति। **इहापि**=हलन्त्यमित्यत्रापीत्यर्थः। यद्यपि हल् च ल् च इत्येव द्वन्द्वप्रयोगस्तथापि अर्थक्रमस्य बलीयस्त्वादाह—**लकार** इति। **सामान्यत** इति। हल्पदवाच्यत्वेन सः कश्चिदित्यर्थः। **कल्पितमि**ति। यद्यपि शक्तिग्रहो लोकव्यवहाराद्यधीनः, अत्र च तथाऽभावात् तत्प्रतीतिर्न युज्यते तथापि सूत्रप्रणयनान्यथानुपपत्त्या कल्पितं बोध-मादाय सहविवक्षासम्भवेन द्वन्द्वस्य साधुत्वं सम्भवति। **ततः**=सामान्यतया बोध-माश्रित्य द्वन्द्वसाधनान्तरम्। **विशेषजिज्ञासाया**मिति। "न हि निर्विशेषं सामान्यं भवति" इति न्यायेन सामान्यज्ञानं विशेषजिज्ञासायां हेतुः। एवञ्चात्रापि विशेषजिज्ञासायाः उदये इत्यर्थः। **विशेषत** इति। उक्तरीत्या सामान्यबोधेन इत्पदार्थस्य ज्ञानसम्भवात् 'आदिरन्त्येन सहेता' इत्यनेन सहैकवाक्यतया हादि-हान्त-वर्णानां हल्त्वादिना विशेषरूपेण लक्ष्यसंस्कारको वाक्यार्थबोधो जायते। एवञ्च द्वन्द्व-स्योपपत्तिः, अन्योन्याश्रयस्य प्रसक्तिरपि नेति बोध्यम्।

लेकर द्वन्द्व का साधुत्व [सम्भव] है, इस [सामान्यरूप से द्वन्द्व को सिद्ध करके बोध करने] के बाद विशेष अर्थ की जिज्ञासा में 'आदिरन्त्येन' [पा० सू० १।१।७१] इसके साथ एकवाक्यता के द्वारा विशेषरूप अर्थात् प्रथम हकार से लेकर द्वितीय हकारपर्यन्त वर्णों का हल्त्वरूप से वाक्यार्थ [ज्ञात होता है, यह] लक्ष्यों का संस्कारक बनता है। [इस प्रकार सूत्र की सार्थकता और द्वन्द्व की उपपत्ति हो जाती है।]

और भी, सहविवक्षा—वक्ता की एक साथ कहने की इच्छा है, [अर्थात् दो या अधिक पदार्थों के प्रतिपादक शब्दों को एक साथ बोलने की इच्छा ही सहविवक्षा होती है।] और वह [सहविवक्षा 'आदिरन्त्येन सहेता' पा० सू० १।१।७१ इस] सूत्र के प्रणयन की उपपत्ति न हो सकने के कारण उस ['आदिरन्त्येन सहेता'—इस सूत्र के अर्थबोध] के पहले भी पाणिनि को हल्पदार्थ का ज्ञान होने के कारण अक्षत ही है अर्थात् पाणिनि प्रथम ह् से लेकर द्वितीय ह् तक हल्त्वरूप से जानते ही हैं अतः उनको ल् के साथ हल् को कहने की इच्छा=विवक्षा अक्षत ही है। परन्तु बोधकर्ता का ज्ञान तो क्रमशः ही होता है [अर्थात् (१) पहले 'ल्' का

वाच्यम्, "आद्यन्तौ" [पा० सू० १।१।४६] इत्यादौ यथासङ्ख्यसूत्रारम्भ-सामर्थ्येन तथासाधुत्वाङ्गीकारेऽप्यन्यप्रकारेण तस्य साधुत्वकल्पने मानाभावात्।

ननु वक्तुः सह वक्तुमिच्छैव विवक्षा, सा च "आद्यन्तौ टकितौ" [पा० सू० १।१।४६] इत्यादौ वक्तुः पाणिनेस्तयोः प्रत्येकं ज्ञानस्य सत्त्वादुभयत्रापि अस्त्येव। परन्तु अत्र हल्पदार्थज्ञानाभावेन नास्तीति द्वन्द्वाप्राप्तिरिति दृष्टान्तवैषम्यमिष्टासिद्धिश्चेति निरासयन् तत्साम्यमेवोपपादयन्नाह—**किं चेति**। अयं भावः—यदा वक्तुः सह वक्तुमिच्छा सहविवक्षेति स्वीक्रियते तदा तादृशी इच्छा वक्तुः पाणिनेः 'आदिरन्त्येन' इति सूत्रप्रणयनात् पूर्वमपि अस्त्येव अन्यथा स्वज्ञानाभावात् पाणिनिः तादृशवाक्यप्रयोगमेव न कुर्यात्। एवञ्च 'आदि-रन्त्येन' इति सूत्रप्रणयनात् पूर्वमेव हल् पदं—हादिहान्तवर्णानां बोधकमिति ज्ञानं पाणिनेरक्षतमेव। परन्तु श्रोतुरस्मदादेः ज्ञानं तु क्रमणैव—प्रथमं लकारस्येत्त्वेन ज्ञानम्, ततो हल्पदार्थत्वेन ज्ञानम्, ततो हल्पदवाच्य इत्—इति ज्ञानम्। एवञ्च सहविवक्षासम्भवे समाहारद्वन्द्वोपि सम्भवतीति पूर्वपक्ष्याशयः। तन्निराकरोति—**आद्यन्ताविति**। **तथा**=पाणिकयथासङ्ख्यान्वयेऽपीत्यर्थः। अयमाशयः—यद्यपि समासत उपस्थितिरेकैव भवति तथापि तत्सूत्रारम्भसामर्थ्येनात्र व्याकरणशास्त्रे लाघवेन द्वन्द्वनिर्देशेऽपि प्रत्येकान्वयबोधतात्पर्येण तथान्वयबोधकपृथक्वाक्यकल्पनया बोधो न ततः प्राक्। अन्यथा साहित्ये द्वन्द्वविधानात् क्रमान्वयो न स्यात्। एवञ्च तत्सूत्रद्वन्द्वनिर्दिष्टयोस्तथान्वयेनापि स्वशास्त्रे द्वन्द्वस्य साधुत्वं बोधयति पाणिनिः। एवञ्च प्राक् ततः पदार्थोपस्थितावपि अतात्पर्यविषयत्वान्न समूहान्वयबोधस्तथा तत्पदादिति दिक्। **अन्यप्रकारेण**=एकस्य तत्पदवाच्यत्वेनान्यस्य लत्वेन ज्ञानमिति रूपेणत्यर्थः। **तस्य**=द्वन्द्वस्य।

इत्त्वरूप से ज्ञान, (२) इसके बाद हल् पदार्थ रूप से ज्ञान, इसके बाद (३) हल् पदवाच्य इत् होता है—इस क्रम से ही ज्ञान होता है। इस प्रकार पाणिनि की सहविवक्षा सम्भव होने के कारण उनके लिए द्वन्द्व का प्रयोग करने में कोई बाधा नहीं है। इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं—] (उत्तरपक्ष)—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' [पा०सू० १।३।१०] इस सूत्र को बनाने के कारण 'आद्यन्तौ टकितौ' [पा०सू० १।१।४६] इत्यादि में उस प्रकार से [अर्थात् आद्यन्त-समुदाय में टित्कित्-समुदाय का अन्वय करके] साधुत्व मान लेने पर भी अन्य प्रकार से [अर्थात् श्रोता एवं वक्ता के भेद से अलग-अलग रूप में अन्वय करने पर] उस द्वन्द्व का साधुत्व मानने में कोई भी प्रमाण नहीं है।

किंच, श्रोतॄणां सह बोधो भवत्वितीच्छया सहवक्तुमिच्छाया एव सह-विवक्षात्वेन श्रोतॄणामपि सहबोध एवोचितः। तादृशेच्छया तेषां तादृशबोधा-

विमर्श—पूर्वपक्षी का आशय यह है कि 'आद्यन्तौ टकितौ' (पा०सू० १।१।४६) इस सूत्र में आद्यन्त-समुदाय में साहित्यावच्छिन्न टित्कित्समुदाय का अन्वय होता है। इसीलिए द्वन्द्व की उपपत्ति होती है। यह बात अलग है कि लक्ष्यसंस्कारकाल में यथासङ्ख्य सूत्र की सहायता से आदि में टित् का और अन्त में कित् का अन्वय होता है। इस सूत्र में जैसे सहविवक्षा हो जाती है उसी प्रकार 'हलन्त्यम्' के एक-देश 'हल्' इसमें भी 'लश्च हल्पदवाच्यश्च' ऐसा विग्रह करके सहविवक्षा से 'इत्' पदार्थ में अन्वय कर सकते हैं। चूंकि सूत्र-प्रणयन की अन्यथा. उपपत्ति सम्भव नहीं है, 'हल्पदवाच्यः कश्चित् भवति' यह सामान्यबोध मानकर द्वन्द्व की उपपत्ति हो सकती है। बाद में 'निर्विशेषं न सामान्यम्' इस न्याय के अनुसार जब विशेष जिज्ञासा होती है तब 'आदिरन्त्येन सहेता' के साथ एकवाक्यता कर ली जाती है और उसके बाद विशेषरूप से अर्थात् हकारादि-हकारान्तवर्ण—समुदाय का हल्त्वरूप से ज्ञान होता है और वाक्यार्थ का बोध लक्ष्यसंस्कारक होता है।

दूसरी बात यह है कि सहविवक्षा का अर्थ है—वक्ता की एक साथ कहने की इच्छा। श्रोता को भले ही हल्पदार्थ का ज्ञान न हो किन्तु पाणिनि को तो उसका ज्ञान रहता ही है। अन्यथा वे उस वाक्य [आदिरन्त्येन०] का प्रयोग ही नहीं करते। अतः यह मान लेना पड़ेगा कि पाणिनि को हल्पदार्थ का ज्ञान अवश्य है। अतः उनकी 'हल्' और 'ल्' की एक साथ कथनरूपी विवक्षा में कोई बाधा नहीं है। यह अलग विषय है कि श्रोता हम लोगों का ज्ञान क्रमशः ही होता है—(१) पहले ल् की इत्संज्ञा का ज्ञान, (२) उसके बाद "आदिरन्त्येन०" से हल् पदार्थत्वेन ज्ञान (३) उसके बाद—हल्पदवाच्यः इत्—इस प्रकार 'हलन्त्यम्' का ज्ञान।

इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए शब्दरत्नकार का यह कहना है कि 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' [पा०सू० १।३।१०] इस सूत्र को पाणिनि ने बनाया है; अतः पहले समुदाय का समुदाय में अन्वय मानकर भी बाद में यथासङ्ख्येन अन्वय मानकर साधुत्व सम्भव है। परन्तु यहाँ तो एक का हल् पदवाच्यत्वरूप से और दूसरे का लत्वरूप से ज्ञान करते हुए अन्वय में साधुत्व सम्भव नहीं है। आगे उपर्युक्त सहविवक्षा का ही खण्डन शब्दरत्न में किया जा रहा है।

[शब्द०] श्रोताओं का साथ-साथ बोध हो—इस इच्छा से साथ कहने की इच्छा ही सहविवक्षा होती है अतः [वक्ता के साथ ही साथ] श्रोताओं को भी एक साथ ही [सभी पदार्थों का] ज्ञान होना उचित है। उक्त रूपवाली इच्छा से [अर्थात्

जनकशब्दप्रयोगे तु पाणिनेर्भ्रान्तत्वापत्तिः। 'मुखनयनं पश्येत्या'दौ तु न दोषः ; उभयज्ञत्वेन ज्ञात प्रत्येव तादृशशब्दप्रयोगात्। तेन रूपेण ज्ञानं भ्रमः

पूर्वपक्ष्युक्तसहविवक्षापदार्थस्यैवासम्भवत्वं निरूपयितुमाह—**किञ्चेति**। श्रोतृ-सम्बन्धि-सहबोधकर्तृकसत्तेच्छा सहविवक्षा, सा च तदैव सम्भवति यदा श्रोतुः सह बोध स्यात्, किन्त्वत्र तु तथा न सम्भवति अन्योन्याश्रयादिति सह-विवक्षैव नास्ति, कुतो द्वन्द्वकल्पनमिति भावः। **श्रोतृणामपीति**। द्वन्द्व-प्रयोगेण श्रोतुः सहबोधस्यैव वक्तृतात्पर्यविषयत्वस्य निर्णयात्। अन्यथा तान् प्रति वक्तुं द्वन्द्वप्रयोगो वृथा स्यादिति भावः। अपिना वक्तृसमुच्चयः। **सहबोध एवेति**। एवकारेण प्रथमं सामान्यतस्ततः क्रमेण इति पूर्वोक्तरीत्या बोधस्य निरासः। नन्वेवपि श्रोतुर्हल्पदार्थाज्ञानेन तथा सहबोधासम्भवेनात्र क्रमेणैव बोधोऽस्त्वत आह—**तादृशेच्छयेति**। उक्तरूपेच्छयेत्यर्थः। **तेषाम्**=श्रोतृणाम्। **तादृशबोधेति**। हल्पदार्थस्य ज्ञानाभावात् तथासहबोधस्याजनकस्य 'हलन्त्यमि'ति शब्दप्रयोगे त्वि-त्यर्थः। श्रोतॄन् प्रतीति शेषः। **भ्रान्तत्वापत्तिरिति**। इच्छां प्रतीष्टसाधनताज्ञानं कारणम्। एवञ्च श्रोतृसमवेतं सहज्ञानं मदिष्टसाधनमिति ज्ञानं पूर्वं पाणिनेः कल्प-नीयम्। किन्तु अत्र श्रोतुः सहज्ञानं न भवतीति पाणिनिसमवेतस्य ज्ञानस्य—सह-बोधविशेष्यकत्वावच्छिन्नश्रोतृसमवेतत्वप्रकारकस्य भ्रमात्मकत्वेन पाणिनेर्भ्रान्तत्वापत्ति-रिति भावः। ननु मुखनयनं पश्येत्यादौ कथं द्वन्द्वोपपत्तिरत आह—**मुखनयनमिति**। उभयज्ञत्वप्रकारकज्ञानविषय-श्रोतारं प्रत्येव 'मुखनयनं पश्ये'ति द्वन्द्वप्रयोगो दृश्यते इति भावः। **दोष इति**। द्वन्द्वासाधुत्वरूपो दोष इत्यर्थः। **तेन रूपेणेति**। उभयज्ञत्वेन रूपेणेत्यर्थः। **अन्यदेतदिति**। भ्रमप्रमासाधारणज्ञानत्वेन हेतुत्वं लोकसिद्धमिति भावः।

श्रोताओं को भी साथ-साथ बोध हो—ऐसी इच्छा से] उन श्रोताओं के उस प्रकार के ज्ञान न कराने वाले शब्दों का प्रयोग करने पर तो पाणिनि का भ्रान्त होना प्रसक्त होगा; [अर्थात् श्रोताओं को हल्पदार्थ का ज्ञान न होने से उस प्रकार के साथ-साथ बोध के अजनक 'हलन्त्यम्' का प्रयोग करने पर तो श्रोताओं के प्रति पाणिनि भ्रान्त होने लग जायेंगे। अतः श्रोताओं को भी पाणिनि के साथ साथ ही ज्ञान होना आवश्यक है।] 'मुखनयनं पश्य' [मुख और नयनों को देखो] आदि में तो दोष नहीं हैं, क्योंकि उभयज्ञत्वरूप [मुख और नयन दोनों को जानने वाला है इस रूप] से जिस व्यक्ति का ज्ञान रहता हैं उसी के प्रति ही इस [समाहारद्वन्द्व] प्रकार के वाक्य का प्रयोग किया जाता है [केवल मुख जानने वाले अथवा केवल

प्रमा वेत्यन्यदेतत् ।

किं च, पाणिनेः पूर्वं हल्पदार्थज्ञानेऽपि तदभिप्रायेण न प्रयोगः । अन्यथा व्याख्यातृपरम्पराऽवगतवक्तृतात्पर्यानुपपत्त्या "लट् स्मे" [पा० सू० ३।२।११८] इति सूत्रस्थकैयटोक्तरीत्या लक्षणया तन्त्रान्तरीयप्रथमादिव्यवहारेण प्रथमादिपदानामिव शक्त्यनुमानाद्वा ततः श्रोतॄणां बोधसम्भवेनेतरेतराश्रयस्यैवाभावेन तदाशङ्का 'लश्चेति वक्तव्यमि'त्यादिसमाधानपरभाष्यासङ्गत्यापत्तेः ।

पूर्वपक्ष्युक्ततादृशीं सहविवक्षामभ्युपगम्यापि दूषणमाह—**किञ्चेति** । **हल्पदार्थज्ञानेऽपी**ति । आदिरन्त्येनेत्यादि-सूत्रप्रणयान्यथानुपपत्त्या पाणिनेः हल्पदार्थ-ज्ञानसत्त्वेऽपीत्यर्थः । **तदभिप्रायेण**=स्वज्ञातहल्पदार्थतात्पर्येण । **न प्रयोग** इति । न 'हल्ल्' इति समाहारद्वन्द्वप्रयोग इत्यर्थः । **अन्यथेति** । पाणिनेस्तादृशतात्पर्येण तत्प्रयोगाङ्गीकारे त्वित्यर्थः । **व्याख्यातृपरम्परेति** । पाणिन्यादयो ये व्याख्यातारः तेषां या परम्परा=शिष्यप्रशिष्यरूपा, तयाऽवगतं=ज्ञातं यद् वक्तृतात्पर्यं तदन्यथानुपपत्त्येत्यर्थः । **लक्षणयेति** । अयं भावः—"लट् स्मे" [पा० सू० ३।२।११८] इति

नयन जानने वाले के प्रति ऐसा 'मुखनयनं पश्य' यह समाहारद्वन्द्वात्मक वाक्य नहीं प्रयुक्त किया जाता है ।] उस उभयज्ञत्वरूप से ज्ञान प्रमा है अथवा भ्रम है—यह तो अलग विषय हैं । [अतः द्वन्द्व की उपपत्ति निर्बाध है ।]

[यदि पूर्वपक्षी द्वारा प्रतिपादित सहविवक्षा पदार्थ मान भी लें तो भी दोष है—यही कह रहें हैं] और भी, 'आदिरन्त्येन सहेता' इस सूत्र का प्रणयन करना उपपन्न नहीं हो सकता । अतः वास्तव में] पाणिनि को पहले हल् पदार्थ का ज्ञान रहने पर भी उस [ज्ञात हल् पदार्थ] के अभिप्राय से [हल्ल् इस द्वन्द्व का] प्रयोग नहीं है । अन्यथा [अर्थात् उस ज्ञात पदार्थ के तात्पर्य से उसका प्रयोग स्वीकार कर लेने पर तो] [पाणिनि आदि] व्याख्याताओं की जो परम्परा=शिष्य-प्रशिष्य रूपा, उससे अवगत जो वक्तृतात्पर्य, उसकी अन्यथा उपपत्ति न होने के कारण 'लट् स्मे' [पा०सू० ३।२।११८] इस सूत्र-भाष्य पर कैयटोक्त रीति से लक्षणा द्वारा अथवा अन्य शास्त्रों के प्रथमादि-व्यवहार से प्रथमादि पदों के समान शक्ति के अनुमान द्वारा उस [तात्पर्यवाले हल् शब्द के प्रयोगमात्र] से श्रोताओं का बोध सम्भव हो जाने से अन्योन्याश्रय दोष रहता ही नहीं है, अतः उस [अन्योन्याश्रय दोष] की शङ्का और 'ल् इत् होता है यह कहना चाहिये'—इत्यादि समाधान-सम्बन्धी भाष्य की असङ्गति होने लगेगी ।

सूत्रादारभ्य पञ्चसूत्र्यां कालविभागेन प्रत्ययविधानार्थं वार्तिककृता (१) 'स्मपुरा भूतमात्रे' (२) 'न स्म पुराद्यतने' इति वार्त्तिकद्वयं पठितम्। किन्तु 'स्मपुरा' इत्याकारक-कस्यापि सूत्रस्याभावात् अन्यथानुपपत्त्या प्रथमवार्त्तिके 'स्म पुराशब्दाभ्या-माद्यन्ताभ्यां—(१) 'लट् स्मे' [पा० सू० ३।२।११८] (२) 'अपरोक्षे च' [पा० सू० ३।२।११९] (३) 'ननौ पृष्टप्रतिवचने' [पा० सू० ३।२।१२०], (४) 'नन्वोर्विभाषा' [पा० सू० ३।२।१२१], (५) 'पुरि लुङि चास्मे' [पा० सू० ३।२।१२२]—इति पञ्च-सूत्री लक्ष्यते, इति उक्तम्। यदि लक्षणा न स्यात्तदा प्रथमवार्त्तिकेन 'लट् स्मे' 'अपरोक्षे च' 'पुरि लुङि चास्मे' इति सूत्रत्रयस्य भूतसामान्ये प्रवृत्तिर्बोधिता तस्यैवाद्य-तननिषेधप्रतिपादनद्वाराऽनद्यतने विधानप्रतिपादने भूतविशेषे विधानमिति लभ्यते ततश्च 'भूतमात्रे' इत्यनेन सामान्येन विधानेन विरोधः प्राप्नोति। यदा तु प्रथम-वार्त्तिके लक्षणा तदा पञ्चसूत्र्याः भूतमात्रे प्रवृत्तिर्बोधिता। तथा च 'लट् स्मे' 'अपरोक्षे च' 'पुरि लुङि' इतिसूत्रत्रयस्याद्यतनभूतेऽपि प्रवृत्तिः प्राप्ता, सा द्वितीयवार्त्तिकेन प्रतिषिध्यते। 'ननौ पृष्टप्रतिवचने' 'नन्वोर्विभाषा' इत्य-नयोस्तु भूतमात्रे प्रवृत्तिरिति सिध्यति। एवञ्च तत्रत्यभाष्यप्रघट्टकबलेन प्रथम-वार्त्तिके लक्षणा यथाऽस्ति तथेहापि हकारादिलान्तसूत्रसमुदायघटक-तत्तत्सूत्रान्त्ये लक्षणाङ्गीकार्या। अन्त्यपदश्च तादृशे तात्पर्यग्राहकं भविष्यति 'गभीरायां नद्यां

विमर्श—भाव यह है कि पाणिनि को 'आदिरन्त्येन' सूत्र बनाने से पहले ही हल् पदार्थ का ज्ञान अवश्य है परन्तु उन्होंने ज्ञात हल्पदार्थ के तात्पर्य से 'हल्ल्' ऐसा प्रयोग नहीं किया होगा। क्योंकि यदि उस प्रकार के तात्पर्य से पाणिनि ने 'हल्' का प्रयोग किया होता तब तो उन्होंने 'हल्' यह हकारादिलान्त-समुदायघटक है—इस प्रकार से अपने शिष्यों को समझाया होता और उन शिष्यों ने अपने अपने शिष्यों को समझाया होता। इस प्रकार परम्परया अवगत वक्ता (पाणिनि) के तात्पर्य की अन्यथा उपपत्ति न होने के कारण लक्षणा करके अथवा शक्ति न रहने पर भी जैसे अन्य शास्त्रों में प्रथमा आदि की शक्ति 'सु औ जस्' आदि में मानी जाती है वैसे ही यहाँ पाणिनीय व्याकरण में भी मान ली जाती है, इसी प्रकार 'हल् पद हकारादिलान्तसमुदाय का बोधक हो' ऐसी शक्ति का अनुमान करके इस तात्पर्य वाले हल् शब्द के प्रयोग से ही सभी श्रोताओं को इसका ज्ञान सम्भव हो ही जाता है तब इतरेतराश्रय दोष ही नहीं आता है। इस स्थिति में इस दोष की शंका करना और 'लकार इत् होता है' ऐसा समाधान देना—ये दोनों भाष्य असंगत हो जायेंगे।

न चैवमजादिव्यवहारस्यापि लक्षणादिनैवोपपत्तावादिरन्त्येन (पा० सू० १।१।७१) इति सूत्रवैयर्थ्यम्; क्वचिल्लक्षणादिना बोध इति सर्वत्र लक्षणाद्याश्रयणमेवेति नियमाभावात्। "नासूया कर्त्तव्या यत्रानुगमः क्रियते" इति "पङ्क्तिविंशति" [पा० सू० ५।७।५९] इति सूत्रे भाष्योक्तेः।

घोपः' इत्यत्र यथा नद्यामित्यस्य गभीरनदीतीराभिन्नाधिकरणप्रतिपादकत्वे गभीरायामिति तात्पर्यग्राहकं तद्वदिति भैरवमिश्राः। **लक्षणयेति** तृतीयान्तस्य **बोधसम्भवेने**-त्यत्रान्वयः। ननु क्वचिदावश्यकशक्त्यनुमित्या निर्वाहे लक्षणाश्रयणमयुक्तमत आह—**तन्त्रान्तरीयेति**। अयं भावः—यथा तन्त्रान्तरे स्वौजस्-इति प्रथमा, अम् औट् शस्—इति द्वितीया—इति रीत्या त्रिकसमुदाये प्रथमादिपदानां शक्तिर्बोध्यते तेनैवात्र व्याकरणशास्त्रेऽपि प्रथमादिपदानां शक्तिग्रहस्वीकारः। अनयैव रीत्या तेषु सूत्रेषु हादिहान्तान् स्वरूपेण पठित्वा हल्संज्ञायाः कृतत्वात्तदनुरोधेनोक्तहेतोस्तत्र शक्तिकल्पनम्। अनुमानञ्चेत्थम्—हल्पदं हकारादि-हकारान्तवर्णेषु शक्तं, तादृशबोधतात्पर्येण पाणिन्युच्चारितत्वात्। **ततः**=तादृशतात्पर्यकहल्शब्दप्रयोगमात्रात्। **सम्भवेनेति**। बोधासम्भवत्वरूपकारणाभावेन तादृशानिष्टरूपकार्यस्यासम्भवेनेति भावः। **तदाशङ्का**=अन्योन्याश्रयाशङ्का। **परेति**। उभयपरकभाष्येत्यर्थः।

सूत्रादिसार्थक्यमुपपादयितुमाह—**न चैवमिति**। अनुपदोक्तरीत्या लक्षणायाः

[शब्द०] (पूर्वपक्ष) इस प्रकार [अभी कही गयी रीति से लक्षणा अथवा शक्ति का अनुमान स्वीकार कर लेने पर] अच् आदि व्यवहार की भी लक्षणा आदि [शक्त्यनुमान] से ही उपपत्ति हो जाने पर "आदिरन्त्येन सहेता" [पा० सू० १।१।७१] यह सूत्र व्यर्थ होने लगेगा, (उत्तरपक्ष)—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि किसी स्थल [हल्पद] में लक्षणा आदि [शक्त्यनुमान] से बोध होता है इस लिये सर्वत्र [अच् आदि में भी] लक्षणादि का आश्रयण ही हो—ऐसा ऐसा नियम नहीं हैं। [अन्यथा व्याकरण की शक्तिग्राहकता उच्छिन्न हो जायेगी] इसीलिए "जहाँ अनुगम=निश्चय किया जाता है वहाँ असूया नहीं करना चाहिए" ऐसा पङ्क्तिविंशतित्रिंशत्०" [पा० सू० ५।१।५९] इस सूत्र पर भाष्य में कहा गया है। [अर्थात् प्रकृति प्रत्यय अनन्त होते हैं, अतः शब्दों के साधुत्व का ज्ञान नहीं हो पाता है अतः आचार्य पाणिनि ने "पङ्क्तिविंशति०" आदि सूत्र के द्वारा कुछ शब्दों का साधुत्व बता दिया। परन्तु अन्य सभी का साधुत्व इस प्रकार नहीं बताया क्योंकि शब्दों का अन्त नहीं है। अतः पाणिनि का दोष नहीं मानना चाहिए—यह वार्त्तिककार के प्रति भाष्यकार का कथन है। अब प्रकरण का उपसंहार किया जा

तस्मात्करिष्यमाणशक्तिग्रहोपायकपदस्य तदभिप्रायेणाचार्यस्य पूर्वमप्रयोग इत्येव कल्पना ज्यायसी। ध्वनितश्चायमर्थो "नाऽऽज्झलौ" [पा० सू० १।१।११०] इति सूत्रेऽष्टादशानां ग्रहणाभावाय "वर्णानामुपदेशस्तावत्, उपदेशोत्तरकालेत्संज्ञा, इत्सञ्ज्ञोत्तरकालः प्रत्याहारः, प्रत्याहारोत्तरकाला

शक्त्यनुमानस्य वा स्वीकारे। **लक्षणादिने**ति। उक्तप्रकारलक्षणया शक्त्यनुमानेन वेत्यर्थः। **वैयर्थ्य**मिति। वाच्यमिति शेषः। **क्वचित्**=हल्पदे। **सर्वत्र**=अजादिपदेष्वित्यर्थः। **नियमाभावा**दिति। व्याकरणशक्तिग्राहकत्वसिद्धान्तोच्छेदभिया तथास्वीकारस्यासम्भवादित्यर्थः। अत्र हेतुं प्रदर्शयति—**नासूये**ति। तत्र हि भाष्यकारस्य वार्तिककारं प्रतीयमुक्तिः। अनन्ताः शब्दाः, तेषु अनन्तानां प्रकृतिप्रत्ययानां साधुत्वज्ञानं न सम्भवति। तत्र 'पङ्क्तिविंशति०' [पा० सू० ५।१।१५९] इत्यादिसूत्रेण केषाञ्चिच्छब्दानां साधुत्वमाचार्येण प्रतिपादितम्। शब्दानामानन्त्यात् सर्वेषां शब्दानां तन्न सम्भवतीति तथा न कृतमित्येतावता नाचार्यस्य दोष इति भावः।

साम्प्रतमुपसंहरति—**तस्मा**दिति। **करिष्यमाणशक्तिग्रहोपायकपदस्य**=करिष्यमाणः=भविष्यति बोधयिष्यमाणः, [न तु कृतः क्रियमाणोऽकरिष्यमाणो वा] शक्तेर्ग्रहस्य=ज्ञानस्य उपायः यस्य तादृशं यत् पदं तस्य पदस्येत्यर्थः। **तदभिप्रायेण**=प्राक्ज्ञातार्थाभिप्रायेण। **आचार्यस्य**=पाणिनेः। **पूर्वम्**=तादृशक्तिग्रहस्योपायस्य ज्ञानात् पूर्वम्। स्वोक्तावन्यदपि साधकमाह—**ध्वनित**श्चेत्यादिना। अस्य **भाष्येणा**पीत्यत्रान्वयः। **अष्टादशाना**मिति। अच्पदेनेत्यादिः। **उपदेश**

रहा है—] इस लिए आगे कराया जाने वाला है शक्ति के ग्रह=ज्ञान का उपाय जिसका ऐसे पद का उस [पहले से ज्ञात] अभिप्राय से आचार्य का पहले [अर्थात् उस प्रकार के शक्ति के ग्रह के उपायज्ञान से पहले] प्रयोग नहीं होता है—यही कल्पना प्रशस्यतर है। [भाव यह है कि पाणिनि जिसका शक्तिग्रह आगे बताने वाले हैं उस पद का उस अर्थ में पहले प्रयोग नहीं करेंगे। अन्यथा उनके शक्तिग्रह को बताने का लाभ ही क्या होगा, क्योंकि श्रोता पहले ही जानता रहता है। अतः पाणिनि को हल् पद के अर्थ का ज्ञान रहने पर भी उस आशय से उन्होंने प्रयोग नहीं किया—यही मानना युक्तिसंगत है।] यह अर्थ 'नाज्झलौ' [पा० सू० १।१।१०] इस सूत्र में—अठारह भेदों का [अच् पद से] ग्रहण न हो इसके लिए—(१) सबसे पहले वर्णों का उपदेश=उच्चारण है, (२) उपदेश के बाद [ज्ञात वर्णों की] इत्संज्ञा होती है, (३) इत्संज्ञा के बाद ['आदिरन्त्येन सहेता'—इस सूत्र के साथ एकवाक्यता द्वारा अणादि] प्रत्याहार बनता है, (४) प्रत्याहार बन जाने के बाद सवर्णसंज्ञा [का ज्ञान

सवर्णसञ्ज्ञा, तदुत्तरकालमणुदि- (पा० सू० १।१।६९) दिति सवर्णग्राहक-मित्येतेन समुदितेनान्यत्र सवर्णानां ग्रहणं भवति न स्वस्मिन्नापि स्वाङ्गे" इत्येवं वाक्यापरिसमाप्तिप्रतिपादकभाष्येणापि। अन्यथा तत्तच्छास्त्रप्रणय-नानुपपत्त्या पाणिनेस्तथाज्ञानस्य पूर्वमपि सत्त्वेनाचार्येण तथा प्रयोगे

इति। आद्यमुच्चारणमित्यर्थः। तच्च पाणिन्याद्याचार्याणामेवेति बोध्यम्। **प्रत्याहार** इति। आदिरन्त्येनेति सूत्रैकवाक्यतयाऽणादिसंज्ञारूप इत्यर्थः। **तदुत्तरमिति।** सवर्णपदबोध्यानां निश्चयोत्तरं तत् सूत्रमकारादिभिः स्वसवर्णत्वेन ज्ञातानां ग्रहणं बोधयतीत्यर्थः। **समुदितेन**=उक्तसमूहयुक्तेनाणुदितिसूत्रेणेत्यर्थः। **अन्यत्र**=उक्त-समुदिताद्भिन्ने 'अकः सवर्णे' इत्यादौ। **स्वस्मिन्**=अणुदित् सूत्रे। **स्वाङ्गे**= उपदेशादौ। सवर्णग्रहणं न भवतीति भावः। **वाक्यापरीति।** स्व-स्वाङ्ग-एतदन्य-तरजन्यबोधकाले समुदितस्य तस्य वाक्यार्थस्य अनिश्चयस्य प्रतिपादकभाष्येणापीत्यर्थः।

होता है], इस सवर्णसंज्ञा के ज्ञान के बाद "अणुदित्" [पा० सू० १।१।६९] यह सूत्र सवर्णों का बोधक होता है [अर्थात् सवर्णपद से किन-किन का ग्रहण होता है, ऐसा निश्चय करने के बाद यह "अणुदित्" सूत्र अकारादि के द्वारा स्वसवर्णत्वरूप से ज्ञात वर्णों का ज्ञान कराता है।] इस समुदित [=पूर्वोक्त महावाक्यचतुष्टय के सहित 'अणुदित्' इस सूत्र] के द्वारा अन्यत्र [=समुदित के घटकों से भिन्न 'अकः सवर्णे दीर्घः' [पा०सू० ६।१।१००] आदि में विधेय से भिन्न में] सवर्णों का ग्रहण होता है न कि अपने में='अणुदित्' सूत्र में और न स्वाङ्ग में=उपदेश आदि में" [अर्थात् 'नाज्झलौ' पा० सू० १।१।१० इस सूत्र में सवर्णों का ग्रहण नहीं होता है]—इस प्रकार के वाक्य=परिष्कृत वाक्यार्थ की असमाप्ति=अनिश्चय के प्रतिपादक भाष्य के द्वारा भी ध्वनित हुआ है।

[भाव यह है कि जब तक सवर्णपदार्थ का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक सवर्ण-ग्रहण के बोधन का सामर्थ्य नहीं आता है। इसलिए साकाङ्क्ष होने के कारण अर्थवान् वाक्य की भी परिसमाप्ति नहीं हो पाती है। अतः शक्तिग्रह कराने के बाद ही उस पद का प्रयोग मानना उचित है] अन्यथा [पाणिनि द्वारा जिसका शक्तिग्रहोपाय कराया जाने वाला है उस पद का पाणिनि को ज्ञान रहता है उस ज्ञात अर्थ के तात्पर्य से प्रयोग मान लेने पर] उन उन [तुल्यास्यप्रयत्नम्, पा० सू० १।१।९] नाज्झलौ [पा० सू० १।१।१०] अणुदित् [पा० सू० १।१।६९] आदि शास्त्रों के प्रणयन की अन्यथा अनुपपत्ति [अन्य किसी प्रकार से उपपत्ति न] होने के कारण पाणिनि द्वारा वैसा ज्ञान पहले भी रहने से आचार्य पाणिनि द्वारा वैसा

बोद्धृणामपि क्रमेण तथा बोधे उपपन्ने किं तेन कृतं स्यात्, कथं वा नाऽज्झलावित्यत्राष्टादशादीनां ग्रहणवारणं भाष्योक्तं सङ्गतं स्यादिति विभाव्यतां तदाह—तस्मादिति।

सवर्णपदार्थनिर्णयं विना तद्ग्रहणबोधनस्यासामर्थ्यमिति भावः। **अन्यथेति**। करिष्यमाणशक्तिग्रहोपायकस्य पदस्य स्वस्य ज्ञानस्य सत्त्वात् प्राग् ज्ञातार्थाशयेन प्रयोगाङ्गीकारे इत्यर्थः। **तथाज्ञानस्य**=करिष्यमाणशक्तिग्रहोपायक - पदादि-बोध्यज्ञानस्येत्यर्थः। **आचार्येण**=पाणिनिना। **क्रमेण**=उपदेशादिपूर्वोक्तक्रमेणेत्यर्थः। **तथा बोधे**=आचार्यतुल्यबोधे। **तेनेति**। अन्योन्याश्रयशङ्का-लक्ष्येति वक्तव्यमिति समाधानपरकभाष्यादिनेत्यर्थः। **सङ्गतं स्यादिति**। पाणिनेः पूर्वमपि तावतां ज्ञानस्य सत्त्वेन तत्तत्सवर्णाभिप्रायेण प्रयोगेणाच्-पदेन सवर्णग्रहणं दुर्वार स्यादिति भावः। दीर्घप्लुताकाराभ्यां हकारेणासावर्ण्यं तु प्रश्लेषाद् सिध्यतीत्यन्यत्र साधितमिति बोध्यम्। **ग्रहणवारणमिति**। वर्णानामुपदेशस्तावा .दिन्यायेनेत्यर्थः। **विभाव्यतामिति**। समाहार-द्वन्द्ववादिभिरिति भावः। **तदाहेति**। तत्सर्वं हृदि निधाय मूले दीक्षित आह—**तस्मात् यथोक्तमेव न्याय्यमिति**। सम्पूर्ण-सूत्रा-वृत्तिरूपमेवोचितमिति तदर्थः।

प्रयोग करने पर बोद्धाओं=अध्ययनकर्ताओं को भी 'उपदेशादि-क्रम से उसी प्रकार [पाणिनि के समान] बोध होने पर उस भाष्य से क्या लाभ होगा और "नाज्झलौ" यहाँ अष्टादश आदि भेदों के ग्रहण का वारण जो भाष्य में कहा गया है, वह किस प्रकार संगत होगा—यह [द्वन्द्व के समर्थकों को] विचार करना चाहिये। इसीलिये [**मनोरमा** में] कहा है—"इसलिये यथोक्त=सम्पूर्ण सूत्र की आवृत्तिरूप कथन ही ठीक है।"

विमर्श—यहाँ तात्पर्य यह है कि जब तक तत्तत् पदार्थों का ज्ञान नहीं होता तब तक 'तुल्यास्यप्रयत्नम्' एवं 'नाज्झलौ' आदि सूत्रों का प्रणयन करना उपपन्न नहीं हो सकता। अतः हल् पदार्थ के ज्ञान के समान, इनमें भी तत्तत् सूत्रों के वाक्यार्थबोध के पहले भी क्रम से तत्तत् पदों के अर्थों का ज्ञान होना आवश्यक है और वह [तत्तत् पदार्थ का] ज्ञान उन उन शास्त्रों से साध्य नहीं है इसलिये पाणिनि द्वारा हल् पद के प्रयोग के समान, 'नाज्झलौ' [पा० सू० १।१।१०] इत्यादि में सवर्ण के आशय से उस [वाक्यचतुष्टय से बोध्य] न्याय के श्रोताओं के प्रति प्रवृत्त होने से उनका प्रयोग करने पर उन श्रोताओं को भी उपदेश आदि क्रम से जैसे हल् पदार्थ का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार उन सूत्रों की उपपत्ति न होने के कारण लक्षणादि के द्वारा उनका अर्थबोध हो जाने पर उस न्याय के बोधक भाष्य से क्या लाभ हुआ, अर्थात्

मध्यगानामिति । आद्यन्ताभ्यामवयवाभ्यामवयवी समुदाय आक्षिप्यते, तस्य च युगपल्लक्ष्ये प्रयोगाभावात्तदवयवेष्ववतरन्ती सञ्ज्ञा मध्यगेषु विश्राम्यति, न त्वाद्यन्तयोः, संज्ञास्वरूपान्तर्भावेण तयोः पारार्थ्यनिर्णयादिति भावः । स्वस्य चेति । 'स्वं रूपम् (पा० सू० १।१।६८) इत्यनुवृत्तेः । स्वं रूपं चादेरेव गृह्यते नान्त्यस्य । अन्त्येनेत्प्रधानतृतीयानिर्देशात् । सर्व-

---

आद्यन्ताभ्यामिति । अवयवत्वेन बोधकाद्यन्तशब्दाभ्यामित्यर्थः ।

व्यर्थ हो गया । और भी, पाणिनि को पहले भी उतने पदार्थों का ज्ञान रहने से उन उन वर्णों के अभिप्राय से प्रयोग के द्वारा अच् पद से सवर्णग्रहण रोकना कठिन होगा ।

अतः पाणिनि को ज्ञान रहने पर भी श्रोता को ज्ञान होना आवश्यक है । अतः जिस पद का आगे शक्तिग्रह कराया जाने वाला है, उसके अर्थ को जानते हुए भी पाणिनि पहले प्रयोग नहीं कर सकते । इसलिए श्रोता को भी साथ-साथ बोध हो —इस इच्छा से कहना ही सहविवक्षा है । वह समाहार-द्वन्द्ववादी के मत में उपपन्न नहीं हो पाती है । इस परिस्थिति में सम्पूर्ण सूत्र की ही आवृत्ति करके अन्योन्याश्रय दोष को दूर करना उचित है ।

[मनो०] ['हल्' इस सूत्र में अन्त्य=ल् इत् होता है, इसका क्या फल है ? इस आकाङ्क्षा में अग्रिम सूत्र प्रस्तुत करते हैं—'आदिरन्त्येन सहेता' [पा०सू० १।१।७१] अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण के सहित आदि वर्ण] मध्यवर्ती वर्णों की [और अपनी संज्ञा होता है ।] 'आदि' एवम् 'अन्त' इन अवयवों के द्वारा अवयवी 'समुदाय' का आक्षेप होता है **[शब्द०]** अवयवत्वरूप से बोधक 'आदि' एवं 'अन्त' शब्दों के द्वारा [समुदाय का आक्षेप होता है] यह अर्थ है । **[मनो०]** उस=समुदाय [आदि-मध्य-अन्तरूपी] का किसी भी लक्ष्य में एक साथ प्रयोग नहीं होता है अतः अवयवों में अवतीर्ण=परिसमाप्त होने वाली [अच् हल् आदि] संज्ञा मध्यवर्त्ती वर्णों में विश्रान्त होती है, फलित होती है, न कि आदि और अन्त में; क्योंकि संज्ञास्वरूप में अन्तर्भाव के कारण उन आदि और अन्त की परार्थता=संज्ञी की बोधकता का निर्णय हो जाता है, यह भाव है । **[शब्द०]** संज्ञा के स्वरूप का बोधक होने के कारण शक्तिग्रह के समय ही उन आदि और अन्त शब्दों का पारार्थ्यनिर्णय=संज्ञी की बोधकता का निर्णय हो जाता है, यह अर्थ है । (क्योंकि संज्ञा अपने संज्ञी का ही बोध कराती है अपने स्वरूप का नहीं ।) **[मनो०]** अपनी [भी संज्ञा होता है] क्योंकि "स्वं रूपम्०" [पा० सू० १।१।६८] इस सूत्र की अनुवृत्ति होती है । और स्व=अपना-

नाम्नामुत्सर्गतः प्रधानपरामर्शित्वात् ।

तस्येति । समुदायस्य । **तयोः पारार्थ्येति** । सञ्ज्ञास्वरूपबोधकतया शक्तिग्रह-काले एव तयोः पारार्थ्यनिर्णयादित्यर्थः । **परामर्शित्वादिति** । वस्तुतो ज्ञाप-कादिनाऽस्यापि न संज्ञाकार्यम्, आद्यन्तशब्दाभ्यामाद्यन्तघटितसमुदायस्या-क्षेपेणान्येषामिव तयोः प्राप्तायाः सञ्ज्ञायाः प्रकारान्तरेणाशक्यवारणत्वात् । स्वशब्दानुवृत्तेश्च न फलम् । भाष्येऽपि एतत्फलितार्थकथनमेव—स्वस्य च

[आदिरन्त्येन सहेता–(पा० सू० १।१।७१) अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यादिति—वृत्तिः । **आद्यन्ताभ्यामि**ति । यस्मात् पूर्वो नास्ति स आदिः, यस्मात् परो नास्ति सोऽन्तः । एकस्मिन्नपि व्यपदेशिवद्भावादस्य व्यवहा-रस्य सम्भवात् । आद्यन्तशब्दौ अवयववाचकौ । अवयविनं विनानुपपन्नौ तौ अव-यविनं समुदायमाक्षिपतः । तेन समुदायस्याणादिसंज्ञा सिध्यतीति बोध्यम्—तदाह मूले **समुदाय आक्षिप्यते** । **मध्यगेषु**=वर्णेष्वित्यर्थं । **तयोः**=आद्यन्तयोः । **पारार्थ्यनिर्णयादि**ति । संज्ञिबोधजनकत्वनिर्णयादित्यर्थः । यो हि बोधजनको भवति स बोधविषयो न भवतीति नियममनुसृत्येदमुक्तम् । अन्त्यस्याग्रहणे हेतुमाह—**अप्रधाने**ति । ननु येन रूपेण बोधजनकता तेन रूपेण बोधविषयता न भवतीति नायं नियमः, 'घेर्ङिति' [पा० सू० ७।३।१११] इति सूत्रे घित्वेन बोधजनकता, इकारान्तत्वेन बोधविषयतेति दर्शनादत आह—**वस्तुत** इतिं । **अस्यापि**=संज्ञास्व-रूपघटकान्त्यस्यापि । अत्रापिना समुदायघटकानुबन्धानां सङ्ग्रहः । **ज्ञापका-दिने**ति । अनुनासिक इत्यादि-निर्देशज्ञापकेत्यर्थः । **अन्येषामिव**=मध्यगानामिव ।

रूप आदिवर्ण का ही लिया जाता है, अन्त्य वर्ण का नहीं, क्योंकि 'अन्त्येन' यह अप्रधान अर्थ में तृतीया विभक्ति का निर्देश है । [और] सर्वनाम शब्द स्वाभाविक रूप से प्रधान का ही परामर्श=बोध कराते हैं । **[शब्द०]** वास्तव में तो ['अत्रानुनासिक' पा० सू० ८।३।२ आदि सूत्ररूप] ज्ञापन के द्वारा ही इस (संज्ञा-स्वरूप घटक अन्त्य) का भी संज्ञारूप कार्य नहीं होता है ; [यदि अन्त्य की भी संज्ञा=होता तो ऋलृक् का ककार भी अच् में आ जाता और 'अनुनासिक' शब्द में यणादि होने लगता] कारण यह है कि आदि-अन्त (के बोधक) शब्दों के द्वारा आद्यन्त से घटित समुदाय के आक्षेप से अन्यों=मध्यवर्त्तियों के समान उन=आदि एवं अन्त को प्राप्त होने वाली (अच् आदि) संज्ञा का अन्य प्रकार से वारण करना सम्भव नहीं है [अर्थात् ज्ञापक के द्वारा ही अन्त्य की संज्ञा को रोका जा सकता है ।] और 'स्व' शब्द की अनुवृत्ति का फल नहीं है । भाष्य में भी इस [ज्ञापकादि] का फ़लितार्थ कथन ही है—"और अपने रूप की (संज्ञा होता है ।)"

रूपस्येति । सञ्ज्ञास्वरूपत्वं विशिष्टस्यास्तु प्रत्येकं स्वबोध्यत्वं चास्तु को विरोधः। यथा "अच्च घेः" [पा०सू० ७।३।११९] इत्यादौ गुणदर्शनेन घिशब्दस्यापि घिसञ्ज्ञाबोद्धयत्वं तद्वत् ।

तयोः=आद्यन्तयोः । **सञ्ज्ञायाः**=अणादिसंज्ञायाः । **प्रकारान्तरेण**=ज्ञापकादिभिन्नप्रकारेणेत्यर्थः। **अशक्यवारणत्वादि**ति । आदित्वेन अन्त्यत्वेन च रूपेण तयोर्बोध्यत्वाभावेऽपि आद्यन्तघटित-समुदायघटकत्वेन रूपेण तयोर्बोध्यत्वस्य वारणे मानाभावात् । एवञ्चादेरपि बोधस्य सुलभत्वेन न तदर्थं स्वशब्दानुवृत्तिरिति भावः। तदाह—**स्वशब्दे**ति । अत्रानुवृत्तिपदोत्तरश्चकारो भिन्नक्रमः, फलपदोत्तरं योज्यः—फलाभावश्चेत्यर्थः फलति । नन्वेवं भाष्यविरोध अत आह—**भाष्येऽपी**ति । अत्रापिना परममूलस्य सिद्धान्त - कौमुदीस्थस्य संग्रहः । **एतत्फले**ति । ज्ञापकादिफलितेत्यर्थः । साम्प्रतं तद्द्वयमुपपादयति—**संज्ञे**ति । **विशिष्टस्य**=वर्णद्वयात्मकाणादेरित्यर्थः । **प्रत्येकम्**=तत्तद्रूपेणास्य णस्य च। **स्वबोध्यत्वम्**=अजादिबोध्यत्वम् । **को विरोध** इति। संज्ञा हि संज्ञिनं बोधयति न स्वम्, विरोधात् । उद्देश्यविधेयभावस्य भेदनिबन्धनत्वात्तत्र शक्ति-

---

विशिष्ट अर्थात् अन्त्यविशिष्ट आदि-वर्ण-द्वयात्मक अच् आदि संज्ञा का स्वरूप हो और प्रत्येक तत्तत् रूप से 'अ' और 'च्' का स्व=अच् आदि पद से बोध्य होना हो—इसमें क्या विरोध है; जैसा 'अच्च घेः' [पा०सू०.७।३।११९] इत्यादि में गुण को देखने से 'घि' शब्द को भी घि संज्ञा का बोध्य होना माना जाता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए ।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि इकारान्त एवम् उकारान्त शब्द की 'घि' संज्ञा 'शेषो घ्यसखि' [पा०सू० १।४।७] सूत्र से होती है। और इस घिसंज्ञा का लक्ष्य स्वयं 'घि' शब्द भी बना है। इसीलिये इस 'घि' शब्द के षष्ठी एकवचन के रूप 'घेः' में 'अच्च घेः' [पा०सू० ७।३।११९] सूत्र से उकार का गुण होता है। क्योंकि जहाँ उद्देश्यतावच्छेदक और विधेय इन दोनों की एक रूप से उपस्थिति होती है वहीं पर उद्देश्यविधेयभाव से अन्वय नहीं माना जाता है; जैसे—'दण्डवान् दण्डवान्' इत्यादि में दण्डवत्त्व ही उद्देश्यतावच्छेदक है और दण्डवत्त्व ही विधेय है। अतः विरोध है, अन्वयबोध नहीं होता है। परन्तु प्रस्तुत स्थल में ऐसा नहीं है क्योंकि अकारादिचकारान्त [अ से लेकर चपर्यन्त] समुदाय में पर्याप्तिसम्बन्ध से रहने वाला धर्म समुदायत्व उद्देश्यतावच्छेदक है [क्योंकि समुदाय की ही संज्ञा की जाती है] और अच् इत्याकारक आनुपूर्वी विधेयतावच्छेदक है। अतः विरोध नहीं हैं।

एवञ्चाजादिसञ्ज्ञा स्वसञ्ज्ञिघटकेकारादिष्विवाकारचकारयोरपि प्राप्नोत्येव। किं च, स्वशब्देन केवलान्त्यपरामर्शसम्भवेऽपि विशिष्टपरामर्शो न बाधकं, तत्र समुदाये फलाभावादवयवयोर्विश्रान्तिं प्राप्स्यति। तस्माज्ज्ञापकादिनैवान्त्यस्य तत्कार्यं वारणीयमित्यलम्।

ग्रहासम्भवात्। यथा दण्डवान् दण्डवान् इत्यादौ उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरेक-रूपेणोपस्थितिरतोऽत्र नोद्देश्यविधेयभावेनान्वयः। परन्तु प्रकृते तु नैवम्, अकारादिचान्त-समुदाय-पर्याप्तसमुदायत्वमुद्देश्यतावच्छेदकम्, 'अच्' इत्यानुपूर्वी तु विधेयतावच्छेदिकेति भावः। स्वोक्तं दृष्टान्तेन द्रढयति—**यथा अच्च घेरिति**। अस्मिन् सूत्रे घित्वेन बोधकता, इकारान्तत्वेन बोध्यता, एतद्द्वयमपि घि-शब्दे तथैव प्रकृतेऽपि बोध्यम्। इदानीं निर्णीतमुपसंहरति—**एवञ्चेति**। एकत्रोभयोर्विरोधाभावे च। अत्र चकाररहितस्त्वपपाठः, पौनरुक्त्यापत्त्याऽस्यैवं वैयर्थ्यापत्या च ग्रन्थस्यासामञ्जस्यात्। **प्राप्नोत्येवेति**। एतेन परममूलोक्तरीत्या आद्यन्तयोः संज्ञावारणासम्भवः, स्वशब्दानुवृत्तेश्च न किञ्चित् फलम्। प्रत्युत स्वशब्दस्यानुवृत्तिस्वीकारेऽपि अनिष्टं तदवस्थमेवेत्याह—**किञ्चेति**। **विशि-**

[प्रकाशित संस्करणों में 'एवमजादि संज्ञा' ऐसा पाठ है परन्तु वह ठीक नहीं है क्योंकि इससे पूर्व 'तद्वत्' के द्वारा समानता बता दी गयी है। अतः 'एवञ्च अजादिसंज्ञा' ऐसा ही पाठ युक्तिसंगत है। वही यहाँ रखा गया है।]

[शब्द०] और इस प्रकार [अविरोध रहने पर] अच् आदि संज्ञा जिस प्रकार अपने संज्ञी वर्णों के घटक इकार आदि की होती है उसी प्रकार (आदि और अन्त के) अकार तथा चकार आदि की भी प्राप्त ही होती है। [इसलिये मनोरमाकार की रीति से 'आदि' तथा 'अन्त' की संज्ञा का वारण करना सम्भव नहीं है और 'स्व रूपम्' की अनुवृत्ति भी निष्फल सिद्ध हो जाती है। इस परि-स्थिति में ज्ञापक के बल से 'ही अन्त' आदि का बोध रोकना उचित है।] और भी (मनोरमा के अनुसार) 'स्व' शब्द से केवल अन्त्य का परामर्श सम्भव न होने पर भी (अच् आदि) विशिष्ट का परामर्श करने में (मनोरमोक्त) कोई बाधक नहीं है, (अतः मनोरमोक्त रीति से निर्वाह सम्भव नहीं है।) उस समुदाय में कोई फल न होने के कारण (आदि-अन्त) अवयवों में विश्रान्त=फलित होती है। इस कारण (उपर्युक्त दोनों प्रकार से जब अन्त की भी संज्ञा प्राप्त ही होती है तो 'अनुनासिक' इत्यादि सूत्र-प्रयोगरूप) ज्ञापक आदि से ही अन्त्य वर्ण का संज्ञाकार्य रोकना चाहिये, अधिक विस्तार ठीक नहीं है। (अधिक संस्कृत-व्याख्या में देखें)

आद्योच्चारणमिति । **यद्यप्युपदिश्यतेऽनेनेति करणव्युत्पत्त्या शास्त्रमुपदेश इति भाष्यवृत्त्यादिषु व्याख्यातं, तथाऽपि तत्प्रौढिवादमात्रम्, करणे घञो दुर्लभत्वात्, ल्युटा बाधात् ।**

ष्टेति । अजित्यादिविशिष्टेत्यर्थः । **फलाभावादिति** । कुत्रापि समुदायस्योपस्थित्यसम्भवादिति भावः । **तस्मात्**—एकस्मिन्नेव बोध्यत्वबोधकत्वोभयसम्भवात् स्वशब्देन विशिष्टपरामर्शे बाधकाभावाच्चेत्यर्थः । **तत्कार्यम्**=संज्ञारूपं कार्यमित्यर्थः ।

'हल्' इति सूत्रेऽन्त्यम् इत्—इत्यर्थकेन आवृत्तेन 'हलन्त्यम्' इति सूत्रेण चतुर्दशसूत्रस्थ-लकारस्येत्वे वर्णसमाम्नायस्थ-हकारादिलान्त-समुदायघटकानां 'हल्' संज्ञायां सिद्धायां मूलभूतं 'हलन्त्यम्' इति सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते—उपदेशेऽन्त्यं हल् इत् स्यात् । उपदेश-पदार्थं विवृणोति—उपदेशः=आद्योच्चारणम् । उपशब्दः आद्यर्थकः, दिश् धातुरुच्चारणार्थकः, भावे घञ् । आद्यं च तदुच्चारणं च—आद्योच्चारणम् । अत्राद्यत्वम्—अज्ञातस्वरूपस्य शब्दस्य स्वरूपज्ञापकत्वरूपम् । यदानुपूर्वीकमुच्चार्यते तदानुपूर्वीकमेव बुध्यते चेत्तदा तदुच्चारणमाद्योच्चारणं बोध्यम् ।

[मनो०] ('हलन्त्यम्'—पा०सू० १।३।३ उपदेश में अन्त्य हल् इत् होता है । उपदेश=) आद्योच्चारण है ।

विमर्श—उप=आदि, दिश्=उच्चारण, घञ्=भाव—इस प्रकार उपदेश का अर्थ पाणिन्यादि का आद्य उच्चारण है । यहाँ आद्यत्व का विशेष अर्थ है—अज्ञात स्वरूप वाले शब्द का स्व स्वरूपज्ञापकत्व । जैसी आनुपूर्वीवाला उच्चारित हो वैसी ही आनुपूर्वीवाला समझा जाय तब वह उच्चारण आद्य उच्चारण होता है । जैसे—अइउण्, सु औ जस्, टाप्, ङीष्, एध्, शीङ्, आदि में है । और अच्, हल् आदि प्रत्याहार तथा टि, घु, भ आदि संज्ञावाचक शब्द उपदेश नहीं है क्योंकि इनमें स्व-स्वरूप-बोधकता नहीं है ।

इस प्रकार—'आद्य उच्चारण का अर्थ पाणिन्यादि का सर्वप्रथम बोलना मानने पर उनका पहला शब्द ही उपदेश होगा अन्य शब्द नहीं'—यह अपव्याख्यान असंगत सिद्ध हो जाता है ।

[मनो०] यद्यपि उपदिश्यतेऽनेन—इति उपदेशः अर्थात् जिसके द्वारा उपदेश किया जाता है—इस करण अर्थ की व्युत्पत्ति के द्वारा शास्त्र=उपदेश है, ऐसा भाष्य और वृत्ति आदि ग्रन्थों में व्याख्यात है तथापि वह प्रौढिवादमात्र है (केवल प्रौढ़ता के आधार पर कहा गया है ।) कारण यह है कि करण अर्थ में घञ् प्रत्यय ल्युट् प्रत्यय से दुर्लभ होता है क्योंकि (करण अर्थ में घञ् का) बाध हो जाता है ।

भाष्येति। तत्र हि "उपदेश इति किम्, अभ्र आँ अपः, प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशो गुणैः प्रापणमुद्देश इति नासावुपदेश" इत्युक्त्वोपदेशोद्देशयोर्लोकव्यवहारेण सङ्कीर्णत्वमाशङ्क्य "उपदेशनेऽजनुनासिक" इति वार्त्तिकक्रुद्दर्शितन्यासस्य खण्डनाय "उपदेश इति करणे घञ्, उपदिश्यतेऽनेन" इत्युक्तम्। तच्च शास्त्रम्=शासनकरणं, प्रत्यासत्त्यैतच्छास्त्रीयधात्वागमप्रातिपदिकप्रत्याहारसूत्रप्रत्ययादेशरूपम्।

अत्रोपदेशपदार्थे भावे करणे वा घञ् इति विचारणीयम्। तत्र मूलकारो दीक्षितः भावे एव घञ्—इति प्रतिपादयति। प्राचां मतं निरासयितुमुपक्रमते मूले—**यद्यपीति**। उपदेशकरणम्=शास्त्रम्=उपदेश इति भावः। **तत्र हि**='उपदेशेऽजनुनासिक' इति सूत्रे भाष्ये हीत्यर्थः। 'अभ्र आँ अपः' इत्यत्र 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' [पा० सू० ६।१।१२६] इत्यनुनासिकादेशः, अत्रोपदेशाभावान्नेत्संज्ञालोपाविति उपदेशग्रहणस्य फलमिति बोध्यम्। **प्रत्यक्षमिति**। प्रत्यक्षशब्दोऽर्श आद्यजन्तस्तेन प्रत्यक्षेन्द्रियग्राह्यस्याख्यानम् उपदेशः। **गुणैः प्रापणमिति**। प्रत्येकं प्रसिद्धैः साधारणगुणैः बोधनम् उद्देशः। **नासाविति**। 'आँ' इत्यत्र 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' इति सूत्रेण विहितानुनासिक इत्यर्थः। **सङ्कीर्णत्वमिति**। 'उपदिष्टो मेऽनुवाकः', 'उद्दिष्टो मे पन्थाः' इत्यादावुभयोः सामान्यतया प्रयोगदर्शनेन सङ्कीर्णत्वमित्यर्थः। **वार्त्तिककृदिति**। 'सिद्धन्तूपदेशनेऽजनुनासिक' इति वचनात्' इति वार्त्तिके 'उच्चारित' इति शेषः। एवञ्च 'उपदेशने=शास्त्रे उच्चारित अनु-

---

[शब्द०] भाष्य में कहा है। क्योंकि उस ('उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (पा० सू० १।३।३) इस सूत्र के व्याख्यानपरक भाष्य) में "उपदेश यह किस लिये है? 'अभ्र आँ अपः' (यहाँ अनुनासिक अच् 'आँ' की इत्संज्ञालोप न हो, इसके लिए 'उपदेश में अनुनासिक' ऐसा कहा गया।) प्रत्यक्ष पदार्थ का कथन उपदेश है, गुणों (प्रसिद्ध साधारण धर्मों के उपादान) से समझाना उद्देश है, इसलिये यह 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' (पा०सू० ६।१।१२६) से विहित अनुनासिक उपदेश नहीं है' यह कहकर उपदेश एवम् उद्देश की लोकव्यवहार से सङ्कीर्णता की आशङ्का करके "उपदेशनेऽजनुनासिक" इस वार्तिक के रचयिता कात्यायन द्वारा प्रदर्शित इस न्यास का खण्डन करने के लिये "करण अर्थ में घञ् है—उपदिश्यते अनेन इति उपदेशः" ऐसा कहा है। और वह=उपदेशकरण, शास्त्र=(प्रयोगों का) शासनकरण उपस्थित होने के कारण इस व्याकरण शास्त्र में उपात्त—धातु, आगम, प्रातिपदिक, प्रत्याहार सूत्र, प्रत्यय और आदेश रूप है (अर्थात् 'हलन्त्यम्' पा०सू० १।३।३ सूत्रभाष्य में जिन्हें व्यवसित पदार्थरूप से कहा गया है, वे उपदेश हैं।)

प्रौढिवादमात्रमिति । वार्त्तिककृदुक्तन्यासीयार्थस्य कथञ्चित्सूत्रतोऽपि लाभसम्भवाद् न्यासान्तरप्रवृत्तिस्ते वृथैवेति प्रौढ्या वोधयितुमेवं वाद इति भावः । **घञ् इति** । 'अकर्त्तरि च' (पा० सू० ३।३।१९) इत्यत्र

नासिक अच् इत्' इत्यर्थः फलति । **उक्तमिति** । भाष्यकृतेति शेषः । **तच्च**= उपदेशकरणञ्च । **शासनेति** । प्रयोगशासनकरणमित्यर्थः । **प्रत्यासत्त्या**=उपस्थितत्वेन । **एतच्छास्त्रीयेति** । व्याकरणशास्त्रोपात्तेत्यर्थः । **धात्वागमेति** । 'हलन्त्यम्' [पा० सू० १।३।३] इति सूत्रभाष्ये व्यवसितपदार्थत्वेन निर्दिष्टा इत्यर्थः । निपातस्य तु प्रातिपदिकत्वादेव सिद्धमिति न पृथगुक्तिः । उक्तहेतोर्यथाश्रुते प्रौढिवाद-

विमर्श—लौकिक व्यवहार में 'उद्दिष्टो मेऽनुवाकः' और 'उपदिष्टो मे पन्थाः' यह सामान्यरूप से देखा जाता है, अर्थ में कोई अन्तर नहीं समझा जाता है, अतः इनमें सङ्कीर्णता है । प्रत्यक्ष=इन्द्रियसे ग्राह्य पदार्थ को कहना उपदेश होता है जैसे 'अयं गौः ।' ज्ञान कर लेने के बाद कहता है 'उपदिष्टो मे गौः' । परन्तु प्रसिद्ध धर्म=विशेषणों के द्वारा कहा जाना उद्देश है । जैसे देवदत्त को न जानने वाले के लिए उसका ज्ञान कराने के लिए कोई कहता है "कुण्डली, किरीटी, व्यूढोरस्कः, विचित्राभरणः ईदृशो देवदत्तः ।' यहाँ उसके विशेषणों का उपादान कराकर ज्ञान कराया गया है । जान लेने के बाद वह कहता है कि 'उद्दिष्टो मे देवदत्तः ।' इस रीति से लौकिक सङ्कीर्णता का निराकरण भाष्यकार ने किया है । इस प्रकार का उपदेश पदार्थ लेने पर 'आँ' की इत्संज्ञा और लोप प्राप्त होते हैं। उन्हें रोकने के लिए वार्त्तिककार ने 'उपदेश' के स्थान पर पर करणार्थक 'उपदेशन' शब्द रखने का विचार प्रस्तुत किया । परन्तु वार्त्तिककार के कथन से आंशिक सहमत होते हुए भाष्यकार ने उनका खण्डन करके कहा कि 'उपदेश' शब्द में करण अर्थ में घञ् है और उसका अर्थ है—उपदिश्यतेऽनेन इति उपदेशः । और वह उपदेशकरण यहाँ प्रस्तुत होने से धातु आगम आदि ही लेना चाहिए, जिन्हें 'हलन्त्यम्' इस सूत्र के भाष्य में व्यवसित पदार्थ के रूप में गिनाया गया है ।

[शब्द०] प्रौढिवादमात्र है । वार्त्तिककार द्वारा कहे गये न्यास के अर्थ का किसी प्रकार [अर्थात् बाहुलकरूप अगतिकगति का आश्रयण करके] लाभ सम्भव हो जाने पर अन्य न्यास=उपदेशनेऽजनुनासिक' इत्याकारक में तुम्हारी=वार्त्तिककार की प्रवृत्ति वृथा ही है, इसे प्रौढि के द्वारा बताने के लिए [भाष्यकार का] का ऐसा वाद=कथन है, यह [मनोरमा के कथन का] भाव है। करण अर्थ में घञ् दुर्लभ है । 'अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्' (पा० सू० ३।३।१९) इस सूत्र में 'संज्ञायाम्' यह

संञ्ज्ञायामित्यस्य प्रायिकत्वात्तत्प्राप्तिरिति भावः। **बाधादिति**। वाऽसरूपविधिस्तु क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु प्रतिषिद्धः। न च तत्र साहचर्येण भावल्युट एव ग्रहणमिति वाच्यम्; 'ईषत्पानः सोमो भवता' इत्यत्र कर्मणि खल् नेति भाष्यादिप्रामाण्येनात्र साहचर्यानाश्रयणादिति

मात्रमित्यस्यायुक्तत्वेऽपि मूलकृता **'तन्न'** इत्याद्यनुक्त्वा तथोक्तिमाहात्म्येन च मूलकृतोऽपीत्थमेवाभिमतमिति ध्वनयितुं व्याचष्टे—**वार्त्तिककृदिति**। **कथञ्चिदिति**। बाहुलकरूपागतिकगत्याश्रयेणेत्यर्थः। **ते**=वार्त्तिककृत इत्यर्थः। **एवं वाद** इति। 'उपदेश इति करणे घञ्,—उपदिश्यतेऽनेनेति भाष्यकारस्य कथनमित्यर्थः। **तत्प्राप्तिरिति**। घञ्प्राप्तिरित्यर्थः। अस्य प्रायिकत्वादेव 'को लाभो लब्धः, को दायो लब्धः' इत्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते। **वाऽसरूपविधिरिति**। "वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्" [पा० सू० ३।१।९४] इति सूत्रोक्तविधिस्त्वित्यर्थः। **तत्र**=अपूर्वे वचने, तन्मूले वा परिभाषारूपे। **साहचर्येण**=परवर्तितुमुनः साहचर्येणेत्यर्थः। **खल् नेति**। किन्तु "आतो युच्" [पा०सू० ३।३।११८] इति सूत्रेण युच् प्रत्यय एवेति

घञन्त है।) ल्युट् से बाध हो जाता है। क्योंकि "वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्" (पा०सू० ३।१।९४) इससे बोधित विकल्पविधि तो क्त, ल्युट्, तुमुन् एवं खलर्थक प्रत्ययों में प्रतिषिद्ध है। (अतः ल्युट् के विकल्प में घञ् नहीं किया जा सकता।) उस (निषेधवचन) में (परवर्त्ती तुमुन् प्रत्यय) के साहचर्य से भावार्थक ल्युट् का ही ग्रहण होता है—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि 'ईषत्पानः सोमो भवता' (यहाँ ईषत् पीयते यः सः=ईषत्पानः—इस प्रकार) कर्म अर्थ में 'खल्' नहीं होता है (अपितु युच्=अन प्रत्यय ही होता है) इस प्रकार के भाष्यादि-प्रामाण्य से यहाँ (क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः—इस वचन में) साहचर्य का आश्रयण नहीं किया जाता, है यह भाव है।

विमर्श—'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' (पा०सू० ३।०।९४) इस सूत्र पर भाष्य में यह कहा गया है कि क्त, ल्युट्, तुमुन् और खलर्थक प्रत्ययों के विषय में असरूप विधि का वैकल्पिकत्व नहीं होता है। एक अपवाद प्रत्यय ही होता है। यहाँ तुमुन् प्रत्यय का साहचर्य मानकर यदि भावार्थक ल्युट् में ही असरूप-विधि के वैकल्पिकत्व का प्रतिषेध मान लिया जाय तो करणार्थक ल्युट् के वैकल्पिक होने में कोई बाधा नहीं होती है। अतः ल्युट् न होकर घञ् प्रत्यय करके करण अर्थ प्रायिक है अतः असंज्ञा में भी घञ् हो सकता है,) इसलिये उस घञ् की प्राप्ति है। (इसीलिये भाष्य में वहीं पर यह कहा गया है "को भवता दायो लब्धः' दाय

न च घः, असंज्ञात्वात्। प्रायेण संज्ञायामिति व्याख्यानस्य क्लिष्टत्वात्। न हि पाधेरुपाधिर्भवतीत्यादिना भाष्यकृताऽवहेलनाच्च। अत एव घापवादो

भावः। **क्लिष्टत्वादिति**। गुणप्रधानसन्निधौ प्रधानस्य विशेषणे साकाङ्क्षत्वे इतरान्वयस्तस्यायुक्त इति क्लेश इति भावस्तदाह—**नहीत्यादिना। भाष्यकृतेति**। अस्यार्थस्येति शेषः। एवं चोभयप्राप्तौ कर्मणीति नियमान्न कर्त्तरि

भावः। यदि अत्र वचने साहचर्याश्रयणं स्यात्तदा तुमुनः साहचर्येण भावार्थक-खल्विषय एव वाऽसरूपविधि-निषेधेन प्रस्तुतस्थले कर्मार्थकत्वेन निषेधस्य प्राप्तिरेव नेति भाष्यासङ्गतिः स्पष्टैवेति भावः। **क्लिष्टत्वादिति**। 'पुंसि संज्ञायां

की प्रतीति सम्भव हो सकती है। ऐसे पूर्वपक्ष का निराकरण यह है कि तुमुन् का साहचर्य यदि ल्युट् के साथ है तो खलर्थक प्रत्यय के साथ भी मानना होगा। इस स्थिति में भावार्थक खल् के विषय में ही असरूप विधि के वैकल्पिकत्व का निषेध होगा, अन्य अर्थ में नहीं होगा। अन्य अर्थवाले खलर्थक प्रत्यय के विषय में निषेध नहीं करना चाहिये। परन्तु भाष्यकार ने 'ईषत्पानः सोमो भवता' यहाँ यहाँ पर कर्मार्थक खल् प्रत्यय का जो निषेध कहा है वह असंगत हो जायेगा। क्योंकि यहाँ कर्मार्थक होने से (भावार्थक न होने से) निषेध की प्राप्ति ही नहीं होती हैं। अतः यही मानना चाहिए कि सभी अर्थवाले ल्युट् एवं खलर्थक प्रत्ययों में वैकल्पिकविधि का निषेध होता है। अतः कर्मार्थक खल् के भी विकल्प का निषेध होता है, अतः युच् ही होता है। अतः साहचर्य का आश्रयण असंगत है।

[मनो०] और 'घ' प्रत्यय भी नहीं हो सकता, क्योंकि (उपदेश शब्द) संज्ञा नहीं है। (और पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' पा० सू० ३।३।११८ इस सूत्र में) 'प्रायः संज्ञा में' (घ होता है और कभी कभी असंज्ञा में भी हो जाता है) यह व्याख्यान क्लिष्ट है। (क्योंकि प्रायेण को 'घः' के साथ जोड़ना चाहिये यही कहते हैं) और 'उपाधि की उपाधि [अर्थात् विशेषण का विशेषण] नहीं होती है' इत्यादि कहते हुए भाष्यकार ने [इस कल्पना की] अवहेलना की है। **[शब्द०]** क्लिष्ट होने से। अर्थात् जहाँ गुण और प्रधान दोनों की सन्निधि रहती है वहाँ प्रधान विशेषण के प्रति साकाङ्क्ष होता है इस स्थिति में उस गौण का प्रधान से भिन्न में [अर्थात् दूसरे गौण में] अन्वय=सम्बन्ध ठीक नहीं होता है, यही क्लेश है, यह भाव है—यही (मनोरमा में) 'न हि' से लेकर कहा गया हैं। भाष्यकार ने-'इस अर्थ की' इतना शेष है अर्थात् भाष्यकार ने इस अर्थ की अवहेलना की है। इस प्रकार [अस्यार्थस्य इति शेषः—यह लिख देने से] 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' [पा०सू० २।३।८]

'हलश्च' (३।३।१२१) इति घञपीह न।

बाहुलकं त्वगतिकगतिः। अत एव 'प्रक्रियन्ते शब्दा याभिरि'ति करणव्युत्पत्तिरपि परास्ता। तथा च वार्त्तिकम्—

"अजब्भ्यां स्त्रीखलनाः, स्त्रियाः खलनौ विप्रतिषेधेनेति"। अतो भाव एव

षष्ठीति बोद्धचम्। **अवहेलनाच्चेति**। चो हेतौ, यतोऽवहेलनमतः क्लिष्टत्वमित्यर्थः। **घापवाद इति**। ल्युडपवादश्चेत्यपि बोद्धचम्। तत्रापि सञ्ज्ञाया-

---

घः प्रायेण' [पा०सू० ३।३।११८] इति सूत्रे 'प्रायेण' इति संज्ञायामित्यस्य विशेषणं न भवति अपि तु 'घ' इत्यस्यैव। कुत इति चेदत्राह—**गुणप्रधानेति**। **विशेषण** इति। विशेषणान्तरे इत्यर्थः, निरूपितत्वं सप्तम्यर्थः, अस्य चाकाङ्क्षायामन्वयः।

इस सूत्र से कर्म में ही षष्ठी होती है [अतः 'अस्य अर्थस्य' इस कर्म में षष्ठी होने से] इस नियम के अनुसार कर्ता='भाष्यकृत्' शब्द में षष्ठी नहीं हुई है, यह समझना चाहिये। 'अवहेलनाच्च'—यहाँ 'च' हेतु अर्थ में है, चूंकि [भाष्यकार द्वारा] अवहेलना है अतः क्लिष्टता है, यह अर्थ है। [**मनो०**] (वैसा व्याख्यान क्लिष्ट है) इसीलिए घ का अपवाद 'हलश्च' [पा०सू० ३।३।१२३] से घञ् प्रत्यय भी इस उपदेश शब्द में नहीं होता है। (**शब्द०**) और ल्युट् का अपवाद—(घञ् नहीं होता है) यह भी समझना चाहिये क्योंकि, उस (हलश्च पा०सू०) में भी 'संज्ञायाम्' इसकी अनुवृत्ति होती है। [अर्थात् 'संज्ञायाम्' (पा०सू० ३।३।१०९) इसकी अनुवृत्ति के कारण ही जैसे घ का अपवाद घञ् नहीं होता है वैसे ही ल्युट् का अपवाद भी घञ् नहीं होता है] यह भाव है।

[**मनो०**]—बाहुलक का आश्रयण तो अगतिक-गति है। इसीलिये प्रक्रियन्ते=निष्पाद्यन्ते शब्दा याभिः—यह [प्रक्रिया शब्द की] व्युत्पत्ति भी परास्त=खण्डित हो गई। (अतः उपदेशनम्=उपदेशः के समान प्रकरणम्=प्रक्रिया यही व्युत्पत्ति माननी चाहिये) जैसा कि ('ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' पा०सू० ३।३।१२६ सूत्र पर भाष्य में) वार्त्तिक है—

'अच् एवम् अप् प्रत्ययों की अपेक्षा विप्रतिषेध से "स्त्रियाम्" (पा०सू० ३।३।९४) इस अधिकार के प्रत्यय [क्तिन्, आ], खल् और अन होते हैं। [उदाहरणार्थ—चयः में अच् और लवः में अप् प्रत्यय है। 'कृतिः हृति' आदि में 'स्त्रियां क्तिन्' प्रत्यय चरितार्थ है। किन्तु चितिः स्तुतिः में दोनों प्राप्त हैं। विप्रतिषेध से स्त्र्यधिकारोक्त क्तिन् ही होता है। ईषद्भेदः, सुभेदः यहाँ खल् प्रत्यय होता है। अच् और अप् उक्त लक्ष्यों में चरितार्थ हैं। ईषच्चयः, सुचयः, ईषल्लवः, सुलवः, में दोनों प्राप्त है किन्तु विप्रतिषेध से खल्=अ प्रत्यय ही होता है।]

प्रत्यय न्याय्य इति भावः ॥

मित्यनुवृत्तेरिति भावः। **अगतिकगतिरिति**। न च "खनो घ च" [पा०सू० ३।३।१२७] इति घविधानमन्यतोऽपीत्यर्थमित्याकरे स्पष्टम्, तेनात्र घे सिद्धघतीति वाच्यम् ; तस्याप्यगतिकगतित्वात्। 'भगः पदमि'त्यादौ यत्र घित्त्वफलं

एवञ्च विशेषणनिरूपिताकाङ्क्षावत्त्वे सतीत्यर्थः। **इतरान्वयः**=इतरस्मिन् प्रधानाद् भिन्ने गुणेऽन्वय इत्यर्थः। **तस्य**=विशेषणान्तरस्य। **अयुक्त** इति। किन्तु प्रधाने एवान्वयो युक्त इति भावः। प्रकृते च विधेयतया प्रत्यय एव प्रधानम्, तस्यैव विशेषणं 'प्रायेण' इति, न तु विशेषणीभूतायां 'संज्ञायाम्' इत्यस्य। **एवञ्चेति**। 'अस्यार्थस्य' इति पूरयित्वा वाक्यार्थे स्वीक्रियमाणे इत्यर्थः।

[यहाँ मूल में एक ही वार्तिक के रूप में लिखा है परन्तु ये दो वार्तिक है। दूसरे का यह अर्थ है—]

'स्त्रियाम्'—अधिकारोक्त प्रत्ययों की अपेक्षा विप्रतिपेध से 'खल्' और 'अन' प्रत्यय होते हैं। [जैसे—कृतिः हृतिः—यहाँ स्त्र्यधिकारोक्त प्रत्यय होते हैं और ईषद्भेदः सुभेदः–यहाँ खल्=अ प्रत्यय होता है। परन्तु 'ईषद्भेदा' और 'सुभेदा' में दोनों प्रत्यय प्राप्त होते हैं उनमें विप्रतिपेधसे खल्=अ प्रत्यय और टाप् होता है। इसी प्रकार इध्मप्रव्रश्चनः यहाँ अन होता है और स्त्र्यधिकारोक्त प्रत्यय 'कृतिः हृतिः' में चरितार्थ है। 'सक्तुधानी' और 'तिलपीडनी' यहाँ दोनों प्राप्त होते हैं उनमें विप्रतिषेधसे 'अन' ही होता है। ल्युट्=अन टित् हैं अतः ङीप् होकर ये रूप बनते हैं। प्रस्तुत स्थल में इस वार्तिक के अनुसार 'प्रक्रिया' शब्द में 'कृञः श च' (पा०सू० ३।३।१००) न प्रवृत्त होकर ल्युट्=अन होने लगेगा। अतः भाव अर्थ ही मानना चाहिये।] (करण अर्थ में ल्युट्=अन से बाध होता है) इसलिये (उपदेश शब्द में भी) भाव में ही घञ्=अ करना उचित है, यह भाव है। [**शब्द०**] बाहुलक तो अगतिकगति है। पूर्वपक्ष–'खनो घ च' (पा०सू० ३।३।१२७) इस सूत्र से घ प्रत्यय का विधान अन्य=खन् धातु से भिन्न से भी (घ करने के लिए है अन्यथा घित् करने का खन् धातु में कोई फल न होने से वह व्यर्थ है।) यह अर्थ भाष्य में स्पष्ट है। अतः उस सूत्र से यहाँ (उपदेश शब्द में करण अर्थ में) घ प्रत्यय करने पर सिद्ध हो जाता है; (उत्तरपक्ष)—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह (उस सूत्र से 'घ' का विधान) भी अगतिकगति ही है। (क्योंकि खन्ग्रहणसामर्थ्य से अथवा ज्ञापकसिद्ध होने से यह प्रत्यय भी सर्वत्र नहीं हो सकता अपितु) 'भगः पदम्' आदि में जहां घित् होने का फल ('चजोः कु घिण्यतोः' पा०सू० ७।३।५२ से कुत्व करना)

तत्रैव तत्प्रवृत्तेश्च। पदस्य घञर्थे केन सिद्धेर्नैतदुदाहरणं किं तु क्वाचित्कं वाक्यं तत्। किंचोच्चार्यं वर्णानाह—"उपदिष्टा इमे वर्णा" (म० भा० पस्पशा०) इत्यादिभाष्यादुपदेशशब्दस्योच्चारणार्थत्वस्य निर्णयेन, सङ्कीर्णलोकव्यवहारस्य लक्षणयाऽप्युपपत्त्या भावघञि बाधकाभावः।

मूले—**अत एव**=तथा व्याख्यानस्य विलष्टत्वादेवेत्यर्थः। **तत्रापीति**। 'हलश्च' [पा०सू० ३।३।१२१] इति सूत्रेऽपीत्यर्थः। न विद्यते गतिर्यस्य सः, तस्य गतिः, अगतिकगतिः—एतदनुपपन्नम्, बाहुलकं विनापि रूपसिद्धिसम्भवादत आह—**नचेति**। **अन्यतोऽपि**=खन्भिन्नादपि, घित्करणसामर्थ्यादिति भावः। **तेन**=सूत्रेण, हेतुना वा। **अत्र**=उपदेशशब्दे इत्यर्थः। घे इति करणे इति शेषः। **तस्यापीति**। तेन सूत्रेण घविधानस्यापीत्यर्थः। **अगतिकगतित्वादिति**। खन्ग्रहणसाध्यर्यात् ज्ञापकसिद्धत्वाद् वाऽसार्वत्रिकत्वादिति भावः। **यत्र**=भग इत्यत्रेत्यर्थः। **फलम्**="चजोः कुः घिण्ण्यतोः" [पा०सू० ७।३।५२] इति कुत्वरूपं फलमित्यर्थः। **केन**=कप्रत्ययेणेत्यर्थः, 'घञर्थे कविधानम्' इति वचनेनेति भावः। **नैतदिति**। पदमिति शब्द इत्यर्थः। **तत्**=भगः पदमिति। ननु "स्नानीयं चूर्णम्' इत्यत्र स्नान्त्यनेनेति करणे बाहुलकत्वेन अनीयर्-प्रत्यये तद्वदेवोपदेशपदेऽपि करणे घञि किम्बाधकमत आह—**किञ्चेति**। **उच्चारणार्थेति**। आद्योच्चारणेत्यर्थः। **लक्षणयापीति**। अपिना शक्तिपरिग्रहः। नन्वेवमपि "लृटः सद्वा' [पा०सू० ३।३।१४]

होता है वहीं प्रवृत्ति होती है। (यहां केवल 'भगः' ही 'घ' प्रत्यय करने का उदाहरण है 'पद' शब्द नहीं क्योंकि) 'पद' शब्द की सिद्धि तो घञर्थ में क=अ प्रत्यय करने पर हो जाती है, (अर्थात् 'घञर्थे कविधानम्' इस वचन से 'पदम्' शब्द बनता है) अतः यह इस [घ प्रत्यय] का उदाहरण नहीं है अपि तु कहीं का वाक्य है (इसीलिए सिद्धान्त–कौमुदी में दोनों एक साथ लिखे गये हैं।) (यदि कोई यह तर्क प्रस्तुत करे कि 'स्नानीयं चूर्णम्' आदि में जैसे करण अर्थ में अगत्या अनीयर् प्रत्यय होता है उसी प्रकार यहाँ भी अगत्या करण अर्थ में घञ् मान लेने पर क्या हानि है—इस पर लिखते हैं) और भी, "वर्णों का उच्चारण करके कहते हैं—'उपदिष्टा इमे वर्णाः' [इन वर्णों का उपदेश कर दिया] इत्यादि भाष्य से उपदेश शब्द की [आद्य] उच्चारणार्थकता का निर्णय होने से, सङ्कीर्ण लोकव्यवहार की लक्षणा से भी उपपत्ति हो जाने से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय में कोई बाधक नहीं है।

विमर्श—यद्यपि बाहुलकात् करण अर्थ में घञ् सम्भव है तथापि उसका आश्रयण अच्छा नहीं है। चूंकि 'इन वर्णों का उपदेश कर दिया' यह भाष्य-प्रयोग वर्णों का

किं चोपदेशशब्दस्य प्रत्ययादिपरत्वे तस्यैव हलन्त्यमित्यत्रान्वयेन यत्किंचित्समुदायान्त्यस्य वारणसम्भवे तदर्थमन्त्यग्रहणसामर्थ्यादिवर्णनक्लेशो

उच्चारण करने के वाद देखा जाता है। अत: उपदेश का अर्थ उच्चारण मानना चाहिये। और यह आद्योच्चारण है। रही सङ्कीर्णता की समस्या—उसके लिए तो लक्षणा मान लेनी चाहिये अथवा पाणिनि के समान अन्य वृद्ध लोगों के व्यवहार को भी शक्तिनिर्णायक मानकर दोनो में शक्ति मान लेनी चाहिये—इस प्रकार यह 'उपदेश' अनेकार्थक शब्द है।

यहाँ यह विचारणीय है कि जव भावघञन्त 'उपदेश' शब्द है और उससे आद्योच्चारणक्रिया अर्थ उपस्थापित होता है, इस क्रिया का अन्तत्व अनुवन्धत्वेन अभिप्रेत वर्णों का सम्भव नहीं होता है तव—'उपदेशे=आद्योच्चारण-क्रियायाम् अन्त्यं हल् इत्' यह वाक्यार्थ उपपन्न ही नहीं सकता? इसका समाधान यह है कि "उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेश:" इस भाष्यवचन से और जिनका स्व-स्वरूपज्ञापन के लिये अपूर्व उच्चारण होता है उन्हीं का उपदेश है, ऐसा 'आदेच उपदेशेऽशिति' [पा० सू० ६।१।४५] इस सूत्र पर भाष्य में कैयट के कथन से 'उपदेश' शब्द आद्योच्चारणपरक सिद्ध होता है। इस स्थिति में 'अन्त्य' पदार्थ का अन्वय करने के लिए इस उपदेश शब्द की 'उच्चारणविषय' में लक्षणा की जाती है। अत: 'आद्य-उच्चारण के विषय में जो अन्त्य है वह इत् होता है' यह अर्थ होता है। अथवा शब्द के माध्यम से अन्तत्व मान लेना चाहिये। अथवा 'उप' एवं 'देश' में वहुव्रीहि मानकर 'अज्ञातज्ञाप्य के उच्चार्यमाण रहने पर अन्त्य इत् होता है'—यह अर्थ होता है। 'आद्योच्चारणम्' में भी वहुव्रीहि है—आद्य है उच्चारण जिसका, उस का अन्त्य हल् इत् होता है' यह अर्थ उपपन्न होता है।

[यदि लौकिकव्यवहार के अनुसार 'उपदेश' शब्द दोनों अर्थों का प्रतिपादक हो जाता है तब तो 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' [पा० सू० ६।१।१२६] के उदाहरणभूत 'अभ्र आँ अप:' में भी उपदेशत्व की अतिव्याप्ति होने से इत्संज्ञा प्रसक्त होने लगेगी। इस कारण लिखते हैं] **शब्द०**—और भी, [भाष्योक्त-करण-व्युत्पत्ति के द्वारा] उपदेश शब्द के प्रत्यय आदि का वाचक होने पर उसी [अर्थवाले] का 'हलन्त्यम्' [पा० सू० २।३।३] इसमें भी सम्बन्ध होने के कारण [धातु आदि से भिन्न] जिस किसी समुदाय के अन्त (की इत्संज्ञा) का वारण सम्भव हो जाता है, इस स्थिति में इसी के लिए (अर्थात् धात्वादि से भिन्न जिस किसी समुदाय के अन्त्य की इत्संज्ञा का वारण करने के लिए) 'अन्त्य' पद के ग्रहण के सामर्थ्य—आदि का वर्णनक्लेश जो भाष्यकार ने

यत्तु–धातुसूत्रेत्यादि पठन्ति । यच्च व्याचक्षते—"करणव्युत्पत्त्या पूर्वार्धो-

---

भाष्यकृतो व्यर्थः स्यादिति बोध्यम् । 'उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेश' इति "आदेच उपदेशे" [पा०सू० ६।१।४५] इति सूत्रे च भाष्ये भाव-घञन्तस्यैव तस्याङ्गीकाराच्चेति दिक् ।

धातुसूत्रेत्यादीति ।

धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम् ।
आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥ इतीत्यर्थः ।

"निष्ठा [पा०सू० ३।२।१२३] इत्यादि-सूत्र-विहित-शत्राद्यवयवस्य तथा "राज-सूयसूर्य०" [पा०सू० ३।१।११४] इत्यादिनिपातानुमितक्यवाद्यवयवस्य इत्संज्ञा न सम्भवति । यद्युक्तरीत्या लौकिकव्यवहारेणोभयार्थकस्योपदेशशब्दस्यात्र ग्रहणमि-त्युच्यते तदा 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' [पा०सू० ६।१।१२६] इति सूत्रविहिते' 'अभ्र आँ अपः' इत्यादावतिव्याप्तिरत आह—**किञ्चेति । उपदेशशब्दस्येति ।** भाष्योक्तकरणव्युत्पत्त्येति भावः । **तस्यैव**=प्रत्ययादिपरकस्यैवोपदेशशब्दस्येति भावः । **अन्वयेन**=अनुवृत्त्या सम्बन्धेनेत्यर्थः । **यत्किञ्चिदिति ।** धात्वादि-भिन्नेत्यर्थः । **तदर्थम्**=यत्किञ्चित्समुदायान्त्यस्य वारणार्थम् । **सामर्थ्यादीति ।** आदिपदेन 'हलन्ते सर्वप्रसङ्गः सर्वावयवत्वात्, सिद्धन्तु व्यवसितान्त्यत्वात्' इति वार्त्तिकस्य परिग्रहः । उपदेशशब्दस्य भावघञन्तत्वे भाष्यान्तरमपि साधकत्वेनाह—

किया है, वह व्यर्थ हो जायगा, ऐसा समझना चाहिये । और "प्रातिपदिकों का उद्देश=साक्षात् बोधन होता है, उपदेश नहीं तथा "आदेच उपदेशेऽशिति' '(पा०सू० ६।१।४५) इस सूत्रपर भाष्य में भाव में घञ्-प्रत्ययान्त ही 'उपदेश' को स्वीकार किया है, यह दिग्दर्शन है ।

विमर्श—यहाँ भाव यह है कि करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके 'उपदेश' शब्द की सिद्धि मानते हैं और इसे प्रत्यय आदि का वाचक मान लेते हैं तब 'हलन्त्यम्' (पा०सू० १।३।३) इस सूत्र का भाष्य संगत नहीं होता है क्योंकि 'उपदेशेऽजनुनासिक इत् (पा०सू० १।३।२) के ही 'उपदेशे' का सम्बन्ध उक्त सूत्र में भी होता है । इस स्थिति में धातु आदि से भिन्न की इत्संज्ञा प्राप्त ही नहीं होती है, स्वतः वारण हो जाती है । तब 'अन्त्य' ग्रहण के सामर्थ्य से 'साधीयोऽन्त्यः, कश्च साधीयः ? व्यवसि-तानां योऽन्त्यः । के पुनर्व्यवसिताः ? धातुप्रातिपदिक-प्रत्यय-निपातागमादेशाः ।" यह जो कहा गया है वह व्यर्थ हो जायगा ।

[मनो०]—जो (प्रक्रिया - कौमुदीकार) यह पढ़ते हैं—धातु, सूत्र आदि । **(शब्द०)** धातु, सूत्र, गण, उणादि, वाक्य (वार्तिक), लिङ्गानुशासन, आगम,

पात्तानामुपदेशत्वम्, कर्मव्युत्पत्त्या त्वागमादीनाम्। उणादिलिङ्गानुशासनयोरपि सूत्रत्वात् सिद्धे पृथगुपादानं गोबलीवर्दन्यायेन। एवं गणत्वादेव सिद्धे धातोरपो"त्यादि।

उपदेशत्वमिति। उपदेशशब्दव्यवहार इत्यर्थः। **धातोरपीति।** प्रत्ययेभ्य उणादेरपीत्यपिशब्दार्थः। वाक्यशब्देन वार्त्तिकम्। शीङ्, लण्, चोरट्, उण्,

---

उद्देशश्चेति। **तस्य** = उपदेशशब्दस्य। एवञ्च भावघञन्तस्यैवौचित्यं प्रतिपाद्यापि करणघञन्तस्वीकार एवोचितः, यतो हि बहुविधक्लेशस्वीकारापेक्षया तत्परिहार-कल्पनायां गौरवापेक्षया च बाहुलकात् करणे एव घञि लाघवम्। अत एव "भव-तप्ठक्छसौ" [पा० सू० ४।२।११५] इति सूत्रविहितान्त्यस्येत्त्वसिद्धिः। अत एवाह— **दिगिति।** दिगर्थस्तु भाष्यकृत्-सरणिपरित्यागोऽनुचित इति बोध्यम्।

मूले—**यत्त्विति।** प्रक्रिया-कौमुदीकारा इत्यर्थः। **करणव्युत्पत्त्येति।** उप-दिश्यतेऽनेनेति भावः। **कर्मव्युत्पत्त्येति।** उपदिश्यतेऽसाविति भावः। कारिकायां वाक्यशब्देन सुप्तिङन्तचयस्य प्रसिद्धस्यार्थस्य न ग्रहणम्, प्रत्युत रूढस्येत्यत आह— **वार्त्तिकमिति।** **योगरूढमिति।** अत्रोपदेशशब्दः पङ्कजादिवद् योगरूढः अथवा पाठकादिवत् यौगिक इति प्रश्नाशयः।

प्रत्यय और आदेश—उपदेश कहे गये हैं। यह अर्थ है। [मनो०] और जो "उपदिश्यतेऽनेन-" इस करण-व्युत्पत्ति से (कारिका के) पूर्वार्द्ध में उपात्त उपदेश होते हैं। [शब्द०] उनका उपदेश शब्द-व्यवहार होता है, यह अर्थ है। [मनो०] कर्मव्युत्पत्ति (उपदिश्यते यः सः उपदेशः) से तो आगम आदि (उपदेश) हो जाते हैं, उपदेशशब्द के व्यवहार वाले हो जाते हैं। उणादि और लिङ्गानुशासन का सूत्र होने से उपदेश होना सिद्ध रहने पर (इनका) अलग से उपादान=कथन गो-वलीवर्दन्यायेन है। [जैसे गो और वलीवर्द दोनों शब्द बैल अर्थ के वाचक होने पर भी साथ-साथ प्रयुक्त किये जाते हैं उसी प्रकार उणादि सूत्र एवं लिङ्गानुशासन सूत्र भी सूत्र ही हैं, सूत्र से ही उनका ग्रहण हो जाने पर भी इस न्याय के अनुसार अलग से लिख दिये गये हैं।] इसी प्रकार (धातु के भी) गण होने से ही (उपदेशत्व के) सिद्ध रहने पर धातु का भी (पृथक् उपादान किया गया है)—इत्यादि व्याख्या करते हैं।

[शब्द०]—धातु का भी। प्रत्ययों से उणादि का भी (उपदेश) होना सिद्ध है यह 'अपि=भी' शब्द का अर्थ है, वाक्य शब्द से वार्त्तिक (समझना चाहिये न कि 'सुप्तिङन्तचयो वाक्यम्' आदि)। (कारिका में गृहीत पदार्थों के क्रमशः) उदा-

अत्रेदं वक्तव्यम्—किमेषामुपदेशसञ्ज्ञा, उत योगमात्रम् ? नाद्यः, संज्ञायाः शास्त्रकारैरनुक्तेः, "असंज्ञात्वाद् घप्रत्ययो नेति" भाष्योक्तेश्च। अस्मदादिकृतस्य ज्ञायः शास्त्रव्यवस्थापकत्वेऽतिप्रसङ्गाच्च, 'आमोऽमित्वमदन्तत्वादि'त्यादिस्वपरग्रन्थविरोधाच्च, नह्युत्सृष्टानुबन्धस्यामो न प्रत्ययत्वं येन मित्वं न भवेत्।

आचारेऽवगल्भ, धुट्, अण्, अनङ्, इत्युदाहरणानि।

उपदेशसंज्ञेति। उपदेशपदं योगरूढमेष्विति भावः। ननु सञ्ज्ञाशब्देन व्यवहार एवाभिमतोऽत आह—**आम इत्यादि।** न चाकारोच्चारणं व्यर्थम्,

---

मूले—**नाद्यः** इति। योगरूढ इत्यर्थं। संज्ञारूपत्वं विनाऽस्य शब्दस्य रूढत्वन्न सम्भवतीत्यर्थः। ननु शास्त्रकारकल्पित-संज्ञारूपत्वाभावेऽपि अस्मादिकृतमेव संज्ञारूपत्वमस्तु अत आह—**अस्मदादीति।** **अस्मत्-पक्षे** । भावघञन्तग्रहणपक्ष एवेत्यर्थः। चकारादीति। "चुटू" [पा०सू० १।३।७] इति सूत्रेण चुञ्चुपचणयोश्च-

---

हरण ये हैं—(१- धातु का) शीङ्, (२-सूत्र का) लण् (माहेश्वर सूत्र संख्या ६), (३-गण का) चोरट्, (४-उणादि का) उण्, (५-वाक्य=वार्त्तिक का) आचारेऽवगल्भ, (६-आगम का) धुट्, (७-प्रत्यय का) अण् और (८-आदेश का) अनङ्।

[मनो०]—यहाँ यह कहना=पूछना चाहिये— इन (धातु एवं सूत्र आदि) की उपदेश संज्ञा है ? **(शब्द०)** क्या इन अर्थों में 'उपदेश' पद योगरूढ है ? यह भाव है। **(मनो०)** अथवा केवल योग है ? (अर्थात् यौगिक शब्द है ?) (इनमें) प्रथम पक्ष (उपदेश संज्ञा=योगरूढि यह) नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्रकारों ने (उपदेश को) संज्ञा नहीं कहा है और '(उपदेश) संज्ञा नहीं है अतः इस (के वाचक शब्द) से [पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण पा०सू० ३।३।११८ सूत्र से] 'घ' प्रत्यय नहीं होता है,' ऐसा भाष्य में कहा गया है। और हम लोगों द्वारा बनाई गई संज्ञा के शास्त्रव्यवस्थापक होने पर अतिप्रसङ्ग होता है, (अर्थात् यदि हम लोग कहें कि उपदेश संज्ञा है तब तो अनेक स्थलों पर अतिप्रसङ्ग होने लग जायगा।]

[शब्द०] संज्ञा शब्द से व्यवहार ही अभिमत है—इसके लिये **(मनो०** में) कहते हैं—और 'आम् प्रत्यय का मकार इत् नहीं है अर्थात् यह मित् नहीं है क्योंकि यह (आम) अकारान्त है' यह अपने और दूसरों के ग्रन्थ से विरोध है, क्योंकि उत्सृष्ट अनुबन्ध वाला (अनुबन्धरहित) आम् प्रत्यय नहीं होता है जिससे मित्त्व नहीं होगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

किं चैवं प्रत्ययविधौ पञ्चम्याः षष्ठीप्रकल्पकत्वे सनः सनेत्रादेशोऽस्त्वत्याशङ्कयोपदेशाभावादित्सञ्ज्ञा न स्यादिति भाष्यकयटोक्तं व्याकुप्येत ।

तेनास्मत्पक्षज्ञापनस्यैवौचित्यादिति भावः। आदिना यकारादी चुञ्चुप्चणपावित्यादिसंग्रहः। **उपदेशाभावादिति।** आदेशस्योपदेशाभावादित्यर्थः।

विमर्श—'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (पा०सू० ३।१।३६) इस सूत्र पर प्रक्रिया-कौमुदी में यह कारिका पठित है—

आमोऽमित्त्वमदन्तत्वादगुणत्वं विदेस्तथा ।
आस्कासोराम्विधानाच्च पररूपं कतन्तवत् ॥

'आम' यह अकारान्त है मित् नहीं है क्योंकि अकार की ही इत्संज्ञा होती है, मकार की नहीं। अतः यह अकार इत्संज्ञा का अनुभव करता हुआ मकार की इत्संज्ञा का प्रतिवन्धक हो जायगा—ऐसा आगे प्रक्रिया-कौमुदी में लिखा है। इसके साथ विरोध होगा क्योंकि अकार का लोप कर देने पर भी आम् प्रत्यय तो रहता ही है तब उसके मकार की इत्संज्ञा रोकना सम्भव नहीं है। अतः प्रत्यय आदि के लिए उपदेश संज्ञा का व्यवहार करना ठीक नहीं है।

[शब्द०] यदि म् की भी इत्संज्ञा हो सकती है तव तो अंकार का उच्चारण व्यर्थ है (अतः अकारोच्चारणसामर्थ्यवश 'म्' की इत्संज्ञा नहीं होगी)—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इससे तो हमारा पक्ष=भावघञन्त पक्ष को ज्ञापित करना ही उचित होता है (क्योंकि भावघञन्तपक्ष में उपदेश शब्द का अर्थ क्लस है उसी का वोध कराने में लाघव है) यह भाव है। ('आमोऽमित्त्वमदन्तत्वाद्रित्यादि' के घटक) 'आदि' शब्द से यकारादि चुञ्चुप् एवं चणप् आदि का संग्रह होता है। (अर्थात् चुञ्चुप् एवं चणप् प्रत्ययों में 'चुटू' सूत्र से इत्संज्ञा रोकने के लिए इन दोनों को यकारादि माना गया है। प्रक्रियाकौमुदीकार के अनुसार तो य्' की इत्संज्ञा के वाद भी चकार का लोप हो जाना चाहिये था।)

[मनो०] और भी, ऐसा (उपदेश संज्ञा) होने पर 'प्रत्यय-विधान में पञ्चमी (अपने से बादवाले को) षष्ठी बना देती है, ऐसा होने पर [गुप्-तिज्-किद्भ्यः सन् पा०सू० ३।१।५ से] सन् का सन् ही आदेश हो—यह आशंका करके—उपदेश न होने से इत्संज्ञा नहीं होगी, यह भाष्य एवं कैयट का कथन विरुद्ध होने लगेगा [क्योंकि प्रक्रिया-कौमुदीकार के अनुसार उपदेश तो प्रत्यय की संज्ञा है। अतः आदेश 'सन्' भी उपदेश होगा, उसकी इत्संज्ञा में बाधा नहीं है।] **(शब्द०)** आदेश उपदेश नहीं होता है, यह अर्थ है।

किञ्च, "न धातुलोप" (पा० सू० १।१।४) इति सूत्रे "धातुग्रहणं किम् ? लूञ् लविता पूञ् पविता" इति भाष्यम्, "उपदेश एवानुबन्धलोपे कृते ततो धातुसञ्ज्ञे"त्येवम्परः कैयटग्रन्थश्च विरुध्येत ।

ततो धातुसञ्ज्ञेति । लूशब्द एव धातुसञ्ज्ञकः केवलमसौ ञित्कार्यं लभत इति भावः ।

कारस्येत्संज्ञावारणाय तयोः यकारादित्वं कल्प्यते । तेन चवर्गस्यादित्वाभावान्न लोपः । **चैवमि**ति । उपदेशशब्दस्य धात्वादिपरत्वे इत्यर्थः । **व्याकुप्येते**ति । आदेशेऽपि प्रत्ययत्वातिदेशे उपदेशसत्त्वे तस्येत्संज्ञावारणं कठिनं स्यादिति भावः ।

मूले—**विरुध्येतेति** । "न धातुलोप आर्द्धधातुके" [पा०सू० १।१।४] इति सूत्रे धातुग्रहणस्य फलप्रतिपादनावसरे लूञ्, लविता, पूञ् पविता इति भाष्ये उक्तम् । अत्र ञकारस्य लोपे कृतेऽपि धात्ववयवलोपो नाङ्गी[illegible]ते, उपदेशकाले एव ञकारानुबन्धस्य लोपे कृते तदनन्तरं धातुसंज्ञा भवति । एवञ्च नायं धात्ववयवलोपः, इति न गुणनिषेधः, परन्तु धात्वादीनामुपदेशसंज्ञास्वीकर्तृमतेऽत्र पूर्वमेव धातुत्वं जायते तदनन्तरमनुबन्धलोपो भवतीति तस्य धात्ववयवलोपत्वेन गुणनिषेधवारणं दुष्करमिति भावः । **ञित्कार्यमि**ति । ञित्त्वप्रयुक्तमुभयपदित्वं प्राप्नोतीति भावः ।

[मनो०] और भी. "न धातुलोप आर्धधातुके" (पा०सू० १।१।४) इस सूत्र में "धातुग्रहण का फल क्या है ? लूञ् लविता, पूञ् पविता" यह भाष्य और 'उपदेश में ही अनुबन्धलोप करने पर उसके वाद धातु संज्ञा होती है'—ऐसा कैयटग्रंथ विरुद्ध होने लगेगा । **(शब्द०)** उसके बाद धातुसंज्ञा होती है । लू शब्द ही धातुसंज्ञक होता है । यह केवल ञित् कार्य प्राप्त करता है, यह भाव है ।

विमर्श—'न धातुलोप आर्धधातुके' पा०सू० १।१।४ का अर्थ है–धात्ववयव का लोप होने पर आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते गुण एवं वृद्धि नहीं होते हैं । यहाँ आर्धधातुक को गुण एवं वृद्धि का विशेषण माना जाता है । सूत्र में धातुग्रहण न रहने पर 'लोपे सति आर्धधातुकनिमित्ते ये गुणवृद्धी प्राप्नुतस्ते न भवतः' अर्थात् लोप हो जाने पर आर्धधातुक,निमित्तक जो गुण एवं वृद्धि प्राप्त होते हैं वे नहीं होते हैं—और यहाँ लूञ् के 'ञ्' का लोप हो चुका है, अतः गुण नहीं होगा । धातु-ग्रहण करने पर यह अर्थ होगा कि धात्ववयव का लोप होने पर आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते गुण और वृद्धि नहीं होते हैं । 'ञ्' अनुबन्ध धातु का अवयव नहीं है क्योंकि उपदेश में ही इसकी इत्संज्ञा हो जाती है । प्रयोग में 'लू' शब्द की ही धातु संज्ञा होती है, क्योंकि वही क्रियावाचक है । 'ञ्' इत् करने से ञित्त्वप्रयुक्त कार्य उभय-

अपि च, "ध्वसोरेद्धौ" (पा० सू० ६।४।११९) इति सूत्रे 'लोपश्चे'ति-द्विशकारको निर्देशः, द्वितीयः शकार इदिति अलोऽन्त्यसूत्रस्थभाष्यकैयटादिक-मपि विरुद्ध्येत ।

नन्वत्र सूत्रसाहचर्याद्धात्वागमप्रत्ययादिशब्देन तद्बोधकपाणिन्यादिपठि-तानुपूर्वीकाणां ग्रहणम्, तेषां धात्वादिव्यवहारस्तु भाविसञ्ज्ञाविषयघटि-तत्वेन 'धातुपाठ'इत्यादिव्यवहारवदिति चेन्न; आद्योच्चारणविषयाणामित्येव सिद्धे एतस्यानुपयोगात् । इत एव वाऽरुचेराह—**अपि चेति ।**

अत्र='धातु - सूत्र - गणोणादि-वाक्यलिङ्गानुशासनमि' त्यादि - कारिकायामि-त्यर्थः । **साहचर्यात्**=सादृश्यादित्यर्थः । **तद्बोधकेति** । प्रयोगस्थधात्वादीनां बोधिका पाणिन्यादिपठिता आनुपूर्वी भूत्वएधत्वादिरूपा येषां सानुबन्धकभू-एधेत्या-दीनां तेषामित्यर्थः । **तेषाम्**=पाणिन्यादिपठितानामित्यर्थः । **भाविसञ्ज्ञाविषयेति** । भाविसंज्ञायोग्य-प्रयोगस्थानुबन्धरहितसजातीयघटितत्वेनेत्यर्थः । एवञ्च तत्पाठस्थौ-

---

पदी होना आदि प्राप्त करता है । इससे भी स्पष्ट है कि धातु आदि की उपदेश संज्ञा नहीं है । उपदेश पहले रहता है । धातु संज्ञा बाद में प्रयोगकाल में प्रत्ययादि के साथ होती है ।

[शब्द०] यहाँ 'धातुसूत्र०' आदि पूर्वोक्त कारिका में सूत्र के साहचर्यवश आगम और प्रत्यय आदि शब्दों से इन धातु आदि की बोधक [अर्थात् प्रयोगस्थ धात्वादि की बोधिका] पाणिन्यादि-पठित आनुपूर्वी—भूत्व, एधत्वादिरूपा जिन सानुबन्धक भू, एध इत्यादि की हैं, उनका ग्रहण होता है । उन पाणिन्यादि-पठितों का धातु आदि व्यवहार तो उसी प्रकार होता है जिस प्रकारभाविसंज्ञाविषयघटित होने से [भाविसंज्ञा-योग्य प्रयोगस्थ अनुबन्धरहित सजातीय घटित होने से] 'धातुपाठ' इत्यादि व्यवहार होता है । [भाव यह है कि जिनका धातुपाठ में पाठ है वे उसमें क्रियावाचक न होनेसे धातु नहीं है किन्तु भावी क्रियावाचकता मानकर जैसे धातुत्व होता है वैसे ही यहाँ भी समझ लेना चाहिये]—ऐसा यदि कहना चाहते हो तो नहीं कह सकते, क्योंकि आद्य उच्चारण के विषयों की [उपदेश संज्ञा होती है] इतने से सब सिद्ध होने जाने पर इस [उपर्युक्त अर्थ में लक्षणा की कल्पना] का उपयोग नहीं है । इसी अरुचि के कारण [मनोरमा में] कहते हैं—अपि च । **[मनो०]** और भी, 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' [पा० सू० ६।४।११९] इसमें 'लोपश्च' यह दो शकारों वाला निर्देश है और द्वितीय शकार इत् है, ऐसा 'अलोऽन्त्यात्' [पा०सू० १।१।६५] इस सूत्र पर स्थित भाष्य एवं कैयट-प्रदीप आदि भी विरुद्ध होने लगेगा । [क्योंकि

अलोऽन्त्यसूत्रेति । उपाधासञ्ज्ञासूत्रेत्यर्थः । **विरुध्येतेति** । तत्र हि 'लोपश्' इति भिन्नं पदं 'श्' इति च । पूर्वस्य श्चुत्वेन शः । असन्देहाय झलपरसंयोगादित्वेऽपि "स्कोः" [पा०सू० ८।२।२९] इत्यस्य न प्रवृत्तिः "झलां जश्" [पा०सू० ८।४।५३] इत्यादौ जश्त्वस्येव । शकारस्य धात्वाद्यन्तत्वाभावः स्पष्ट एवेति भावः । किं च "नमो वरिवश्चित्रङः" [पा० सू० ३।१।१९] इत्यस्यासङ्ग्रहोऽत्र पक्षे इत्यपि बोध्यम् । एष्वेतस्य रूढिरित्युक्तेः परिगणन-

---

पचारिकत्वमात्रं बोध्यमिति भावः । **एतस्य**=उक्तार्थलक्षणकल्पनस्य, परम्परया तेषां तथोपदेशत्वकल्पनस्येत्यर्थः । **अनुपयोगादि**ति । भाव-घञन्तोपदेशशब्दस्य सप्तम्यन्तस्याद्योच्चारण-विषयाणामित्यर्थे लक्षणेति तात्पर्यम् । कर्मकरणैतदुभयविधि-व्युत्पत्तिकल्पनं साहचर्यकल्पनं लक्षणाकल्पनश्चानुचितमिति भावः । **इत एवेति** । उक्तरीत्या दोषपरिहाररूपारुचेरिति भावः । **अलोऽन्त्येति** । उपधासंज्ञाविधायकम् 'अलोऽन्त्यात् पूर्वं उपधा' [पा०सू० १।१।६५] इति सूत्रमिति । **तत्र हीति** । 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चेति' [पा०सू० ६।४।११९] सूत्रे इत्यर्थः । **इति चेति** ।

यह 'श्' धातु,सूत्रादि उपदेशों में नहीं आता है । [**शब्द०**] अलोऽन्त्यसूत्र=उपधा-संज्ञाविधायक 'अलोऽन्त्यात्पूर्वं उपधा' [पा०सू० १।१।६५] इस सूत्र का भाष्य एवं कैयट-प्रदीप विरुद्ध होने लगेगा, यह अर्थ है । क्योंकि वहाँ पर 'लोपश्' यह भिन्न पद हैं और 'श्' यह भिन्न है । प्रथम (स् का) श्चुत्व करने से 'श्' हुआ है । झल्परक संयोग का आदि होने पर भी, सन्देहनिवारण के लिए "स्कोः 'संयोगाद्योरन्ते च' (पा० सू० ८।२।३५) इस सूत्र की यहाँ उसी प्रकार प्रवृत्ति नहीं होती है जिस प्रकार 'झलां जश् झशि'. (पा० सू० ८।४।५३) इसमें (जश् पद में इसी सूत्र से—झश्-परक झल् का जश्त्व नहीं होता है । अर्थात् जैसे यहाँ झश् परक झल् होने पर जश् पद में जश्त्व सम्भव रहने पर भी असन्देह के लिए ही इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है उसी प्रकार 'लोपस्+श्च' यहाँ झल्परक संयोग का आदि 'स्' होने पर 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च'से इसका लोप हो जाना चाहिये था परन्तु सन्देह न हो इसलिए ही लोप नहीं किया गया ।] यहाँ द्वितीय शकार धात्वादि (उपदेश-संज्ञकों] के अन्त में नहीं आता है, यह स्पष्ट है । [अतः इसकी इत्संज्ञा लोप कैसे होगा ? यह प्रक्रिया-कौमुदीकार नहीं बता सकते । इसलिये कारिकापठित धात्वादि की उपदेश संज्ञा नहीं माननी चाहिये ।] और भी, 'नमोवरिवश्चित्रङः क्यच्' (पा० सू० ३।१।१९) इस सूत्र (घटक चित्रङ् इस) का भी संग्रह इस पक्ष में नहीं हो सकेगा, (क्योंकि यह भी धात्वादि में नहीं होने से उपदेश नहीं है)—ऐसा समझना चाहिए । कारण यह है कि इन धात्वादि में इस उपदेश शब्द की रूढि है, ऐसा कहने से परि-

न द्वितीयः। योगस्यैव पुरस्कारे परिगणनस्य व्यर्थत्वात्। धात्वादिषु करणव्युत्पत्तिरागमादिषु नेति वैषम्यस्य दुरुपपादत्वाच्च। उपदेशताप्रयोजकधातुत्वादिरूपोपाध्यवच्छिन्नसमुदायान्त्यं हलिदित्यर्थ इतिस्वग्रन्थविरोधाच्च

ताया एव लाभात्। **योगस्यैवेति**। न तु रूढेरित्यर्थः। **परिगणनस्येति**। धात्वादिगणनस्येत्यर्थः। **वैषम्येति**। भाष्यरीत्या करणव्युत्पत्त्यैव सर्वसङ्ग्रहादिति भावः।

भिन्नं पदमिति सम्बध्यते। **असन्देहायेति**। "द्विशकारकोऽयं निर्देशः' इति भाष्याक्षरस्यान्यथानुपपत्त्या चेति शेषः। **जश्त्वस्येवेति**। 'झलां जश् झशि' [पा०सू० ८।४।५३] इति सूत्रे झश्परत्वेऽपि यथा जश्त्वं न भवति, तथैव 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चे' त्यत्र श्चुत्वात् पूर्वं सकारलोपो न भवतीति भावः। **शकारस्येति**। प्रश्लिष्टस्य द्वितीयस्य शकारस्येत्यर्थः। नन्वनुबन्धानामेकान्तत्वपक्ष एव सिद्धान्तितः। एवञ्चोक्तभाष्यस्यैकदेश्युक्तित्वेन तद्विरोधो न दोषायात आह—**किञ्चेति**। **इत्यस्य**=चित्रङ् इत्यस्य। **अत्र पक्षे**=धातुसूत्रेत्यादिकारिकायां पठितेषु उपदेशशब्दस्य योगरूढिरिति पक्षे। **एषु**=धात्वादिषु। **एतस्य**=उपदेशपदस्य। **लाभादिति**। रूढिस्वीकारे परिगणनस्य सिद्धत्वादिति भावः।

मूले—**न द्वितीय** इति। उपदेश-शब्दस्य योगमात्रमित्यपि नेत्यर्थः। **एवेति**। एवेन रूढेर्निरासः।

णगन होने का ही लाभ होता है।

(मनो०) और द्वितीय पक्ष=योगपक्ष भी नहीं हो सकता, क्योंकि यौगिक अर्थ ही प्रधान हो जाने पर, रूढि के प्रधान न होने पर धातु-सूत्र आदि का परिगणनं व्यर्थ है। और धात्वादि (सभी) में करण-व्युत्पत्ति (—उपदिश्यतेऽनेन इति उपदेशः) और आगम आदि में नहीं, (अर्थात् कर्मव्युत्पत्ति—उपदिश्यते यः स उपदेशः)—यह वैषम्य (अर्थात् अर्थभेद मानकर एक ही उपदेशपद में कर्म और करण अर्थ मान कर भेद करना) का उपपादन कठिन है। **[शब्द०]** क्योंकि भाष्य की रीति से करणव्युत्पत्ति से ही सभी का संग्रह होता है, यह भाव है। (क्योंकि धातु आदि के समान ही आगम से भी प्रयोग का उपदेश=उच्चारण होता है अतः आगम में भी 'उपदिश्यतेऽनेन' यह व्युत्पत्ति प्रवृत्त होती है। **[मनो०]** और, उपदेशता की प्रयोजक धात्वादिरूप उपाधि से अवच्छिन्न (धात्वादि)-समुदाय का अन्त्य हल्=व्यञ्जन इत् होता है—यह सूत्र का अर्थ है—इस अपने ग्रंथ से विरोध होता है।

उपदेशताप्रयोजकेति । ; योगमात्रस्वीकारे उपदेशता=उपदेशकरणता, नहि तत्प्रयोजकं धातुत्वादि भवतीति तद्विरोधः। सञ्ज्ञात्वे तु उपदेशता=उपदेशशब्दत्वम्, उपदेशशब्दस्य शब्दपरत्वात् । तदवच्छिन्नस्य प्रयोजकं तु रूढ्यर्थतावाच्छेदकतया धातुत्वादि वक्तुं शक्यमिति

मूले—**दुरुपपादत्वादिति** । 'सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवार्थं गमयति' इतिन्यायेनैकव्युत्पत्त्यैवार्थबोधकत्वं न तु तत्र व्युत्पत्तिद्वयसम्भवः, एकार्थबोधकतया चारितार्थ्यादावृत्तौ मानाभावात् । **भाष्यरीत्येति** । धात्वादिवदागमादिभिरपि प्रयोग उपदिश्यत एव । तेन तत्रापि करणव्युत्पत्त्या निर्वाहादिति भावः । **उपदेशकरणतेति** । उपदेशशब्दो यदि करणघञन्तस्तदा करणताया एव भाव-प्रत्ययार्थत्वम्, प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारस्यैव भावप्रत्ययार्थत्वादिति भावः । **तत्प्रयोजकमिति** । तद्व्यवहार-प्रयोजकमित्यर्थः । उपदेशशब्दस्य संज्ञात्वपक्षे तु कथञ्चिद् न ग्रन्थविरोध इत्याह—**सञ्ज्ञात्वे** त्विति । योगरूढत्वे त्वित्यर्थः । **उपदेशशब्दत्वमिति** । अत्रोपदेशशब्दः स्वरूपपरः प्रकृतिभूतः, ततो विधीयमानस्तल् प्रत्ययस्तद्वृत्तिधर्मपर इति भावः । **तदवच्छिन्नस्येति** । उपदेशशब्दत्वावच्छिन्नोपदेशशब्दस्य । प्रयोजकपदं रूढ्यर्थतावच्छेदके लाक्षणिकमित्यभिप्रायेणाह—**रूढ्यर्थेति** । नानार्थकस्य हर्यादिपदस्य यथा विष्णुत्वादिरूपा नानाधर्माः शक्यतावच्छेदका भवन्ति तथेहापि धातुत्वादिकं रूढ्यर्थतावच्छेदकं सम्भवतीत्यभिप्रायः । ननु उपदेशताप्रयोजकम्=उपदेशतापर्याप्त्यधि-

---

[**शब्द०**] (उपदेश शब्द में) केवल यौगिक मानने पर उपदेशता=उपदेशकरणता—उपदेश का कारण होना है, इस व्यवहार के प्रयोजक धात्वादि तो नहीं होते हैं अतः उस (आपके कथन) का विरोध होता है। संज्ञा=योगरूढ होने पर तो—उपदेशता=उपदेशशब्दत्व हैं क्योंकि उपदेश शब्द शब्दपरक है। उस=उपदेशशब्दत्वावच्छिन्न का प्रयोजक तो रूढ्यर्थतावच्छेदकतया धात्वादि कहा जा सकता है, यह भाव है।

विमर्श—तात्पर्य है कि करणघञन्त उपदेश शब्द मानने पर उपदेशता=उपदेशकरणता-यही अर्थ होता है क्योंकि प्रकृतिजन्यबोध में प्रकारीभूत अर्थ ही भाव प्रत्यय से कहा जाता है। किन्तु यह उपदेशकरणता तो तालु आदि में रहेगी, न कि धात्वादि में। अतः धात्वादि को उपदेशता का प्रयोजक धर्म नहीं माना जा सकता। अतः प्रक्रियाकौमुदीकार का यह कथन है—उपदेशताप्रयोजकधातुत्वादि—विरुद्ध हो जाता है। यदि उपदेश को संज्ञा=योगरूढ मानते हैं तो उपदेशता का भाव-प्रत्यय अपनी प्रकृतिभूत 'उपदेश शब्दस्वरूपपरक होगा। अतः उपदेशता=

पक्षद्वयेऽपि लिङ्गानुशासनस्य प्रकृतानुपयोगात्। लोपश्श्चेति शकारस्यासंग्रहाच्च। "आदेच उपदेशे" (पा० सू० ६।१।४५) "उपदेशेऽत्वतः" (पा० सू० ७।३।६२) इत्यादावाद्योच्चारणस्यैवोपदेशपदार्थतायाः सर्वसम्मतत्वाच्चेति दिक्॥

भावः। **शकारस्येति**। नह्यनेन किञ्चिदुपदिश्यत इति भावः। ननूपदिश्यते =ज्ञाप्यतेऽनेनेति तदर्थः, धात्वादिभिर्हि प्रयोगो ज्ञाप्यते, तद्वदनेनापि शकारेण सर्वादेशत्वं ज्ञाप्यते, इत्यरुचेराह—**आदेच इति**। **सर्वेति**।

करणतावच्छेदकम् इत्यर्थः। उपदेशत्वं यावति पर्याप्तं तत्रोपदेश इत्युत्तरं तथोक्तेरतो न स्वग्रन्थविरोध इति व्याख्यानं निराकर्तुमाह मूले—**पक्षद्वयेऽपीति**। पक्षद्वयसाधारणं दूषणमाह—**लोपश्श्चेति**। आद्यपक्षे परिगणनेनासङ्ग्रहः स्पष्ट एव। द्वितीयपक्षे आह—**न हि अनेनेति**। **तदर्थः**=उपदेशशब्दस्यार्थः। **ज्ञाप्यत**

उपदेशशब्दत्व होगा। उपदेशतायाः प्रयोजकम्—इस षष्ठी से तदवच्छिन्न-सम्बन्धित्व का ज्ञान हो जाता है। अतः उपदेशता=उपदेशशब्दत्व, इससे अवच्छिन्न का प्रयोजक तो रूढ्यर्थता का अवच्छेदक होने से धातुत्वादि को कहा जा सकता है। जैसे नानार्थक 'हरि' आदि पदों के विष्णुत्वादिरूप अनेक शक्यतावच्छेदक माने जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ धातुत्वादि रूढ्यर्थता का अवच्छेदक हो सकता है। प्रयोजक पद रूढ्यर्थतावच्छेदक में लाक्षणिक है।

(मनो०) दोनों पक्षों [अर्थात् (१) धात्वादि की उपदेशतापक्ष अथवा (२) योगपक्ष=उपदिश्यतेऽनेन] में लिङ्गानुशासन का प्रस्तुत विषय में कोई भी उपयोग ही नहीं है (परन्तु 'धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्' में लिङ्गानुशासन को भी उपदेश मानना पड़ेगा, जिसका कोई प्राकरणिक फल नहीं है।) और ('घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' सूत्रघटक) 'लोपश्च' इसके शकार का संग्रह नहीं हो सकेगा। **(शब्द०)** क्योंकि इस शकार द्वारा किसी का उपदेश नहीं किया जाता है, यह भाव है। उपदिश्यने=ज्ञाप्यतेऽनेन इति उपदेशः अर्थात् जिससे ज्ञापन होता है वह उपदेश पद का अर्थ है क्योंकि धात्वादि से जिस प्रकार प्रयोग का ज्ञापन होता है उसी प्रकार इस शकार से भी सम्पूर्ण से स्थान पर आदेश होना ज्ञापित होता है [अतः इस व्युत्पत्ति के कारण 'श्' भी उपदेश=ज्ञापक हो जाता है]—इस अरुचि=असन्तोष के कारण (मनोरमाकार) कहते हैं—**(मनो०)** और "आदेच उपदेशेऽशिति" [पा०सू० ६।१।४५] और "उपदेशेऽत्वतः" (पा०सू० ७।३।६२) इत्यादि में आद्योच्चारण का ही उपदेश पदार्थ होना (भाष्यकारादि) सभी का सम्मत है, यह दिग्दर्शन है। **(शब्द०)** सर्व=भाष्यकारादि—यह अर्थ है। किन्तु

भाष्यकारादीत्यर्थः । यत्र तु करणव्युत्पत्त्यैवार्थसङ्गतिः, तत्रागत्याऽस्तु "कृत्यल्युटः" [पा० सू० ३।३।११३] इति बाहुलकाल्ल्युडभावः, यथा "यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तौ" इत्यादाविति दिक् ।।

इति । एवञ्च शकारस्यापि उपदेशत्वम्=ज्ञापकत्वमुपपन्नमिति भावः । **इत्यादाविति** । आदिना 'एकाच उपदेशे' इत्यादि-सूत्राणां परिग्रहः । साम्प्रतं भाष्यकार-सम्मतं पक्षमपि समर्थयति—**यत्र त्विति** । **ल्युडभाव** इति । उपदिश्यतेऽनेनेति करणे इति भावः । **दिगिति** । दिगर्थस्तु प्रागुक्तभाष्यवार्त्तिकस्वारस्येन "लृटः सद्वा', [पा० सू० ३।३।१४) इत्यादि-सङ्ग्रहानुरोधेन सकललक्ष्यसाधनानुरोधेन च बाहुलकपक्षाश्रयणमेवोचितमिति भैरवमिश्राः । अत्र श्रीसभापत्युपाध्यायचरणाः—दिगर्थस्तु—भावे घञि अज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकोच्चारणरूपोपदेशपदार्थस्वीकारे 'लृटः सद्वा' 'निष्ठा' [पा० सू० ३।२।१०२] इति विहित-शतृ-शानच्-क्तक्तवतूनां शकार-ककारादेरित्त्वानापत्तिः, प्रत्यक्षाख्यानत्वाभावात् । तथा "राजसूयसूर्य०" [पा० सू० ३।१।११४] 'ऐकागारिट् चौरे' [पा० सू० ५।१।११३] इत्यादिनिपातानुमितक्यप्-ठगादीनां "कालेभ्यो भववत्" [पा० सू० ४।२।३४] "चरणेभ्यो धर्मवत्" [पा० सू० ४।२।४६] "गोत्रादङ्कवत्" [पा० सू० ४।३।८०] इत्याद्यतिदेशबोधितप्रत्ययानाञ्च पकारादेरित्त्वानापत्तिः । किञ्च—'उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेश' इति भाष्योक्तेः चित्रङ्— अवगल्भ-क्लीवहोडेत्यादिप्रातिपदिकानां 'चोः कुः' [पा० सू० ८।२।३०] इत्यादीनां चेत्वानापत्तिः, इति करणे घञा उपदेशपदेन व्यवसितपदार्थत्वेन भाष्ये उक्तानां धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातागमादेशानां ग्रहणं कार्यमिति नातिप्रसङ्ग इत्याद्याहुः ।

जहाँ पर करणव्युत्पत्ति (उपदिश्यतेऽनेन इस) के द्वारा ही अभीष्ट अर्थ की सङ्गति होती है वहाँ पर अगत्या 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (पा०सू० ३।३।११३) इस सूत्र से बाहुलक से ल्युट् प्रत्यय का अभाव हो [अर्थात् घञ् प्रत्यय मान लेना चाहिये ।] जैसे 'यन्निमित्तवैकल्य-प्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तौ' इत्यादि [और "यस्य सन्ध्यक्षरेषु तपरो-पदेशश्चेत् तपरोच्चारणम्" इस] में [उपदेश पद में] है, यह दिग्दर्शन है ।

विमर्श—यहाँ शब्दरत्नकार ने यद्यपि मनोरमाकार का स्पष्ट विरोध नहीं किया है तथापि उनके समान करणव्युत्पत्ति का सर्वथा निषेध भी नहीं किया है। इसीलिए कार्यनिर्वाह न होने पर बाहुलक के बल से ल्युट् को रोककर घञ् करने की स्वीकृति दे दी है । अतः उपदिश्यतेऽनेन इति उपदेशः यह मानना असंगत नहीं है । किन्तु 'एकाच उपदेशे' (पा०सू० ७।२।१०) और 'आदेच उपदेशे' (पा० सू०

"उपदेशेऽजनुनासिक इत्" (पा. सू. १।३।२)॥ यद्यप्यत्रोपजीव्यत्वादनुनासिकसञ्ज्ञा प्रथमं वक्तुमुचिता, तथापि 'नासिकामनुगत' इति योगाश्रयणेनैव गतार्थत्वाद् 'अनुनासिकसञ्ज्ञासूत्रं मन्दप्रयोजनम्' इति ध्वनयितुं नेहोपन्यस्तम्।

नासिकामनुगत इति। नासिकामभिहत्य वायुनाभिव्यञ्जित इत्यर्थः। प्रातिशाख्यशिक्षादौ लोके च तद्व्यवहारस्य तथैवोपपादनमावश्यकमिति तात्पर्यम्।

'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (पा०सू० १।३।२) उपदेशेऽनुनासिकोऽजित्संज्ञः स्यादिति —वृत्तिः। मूले—**अत्र**=अस्मिन् विचारप्रसङ्ग इत्यर्थः। **उपजीव्यत्वादि**ति।

६।१।४५) इत्यादि में भावसाधन ही मानना चाहिये। इस विषय का विशेष विवेचन इसी प्रसङ्ग में लघुशब्देन्दुशेखर में देखा जा सकता है।

(मनो०) 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (पा०सू० १।३।२)। [उपदेशे=आद्योच्चारण के विषय में अनुनासिक अच् इत्संज्ञावाला हो जाय।] यद्यपि उपजीव्य=उपकारक होने के कारण ['मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' पा०सू० १।१।८ सूत्रादि से ज्ञात होने वाली] अनुनासिक संज्ञा पहले कहनी उचित थी, तथापि 'नासिकाम् अनुगतः'—इस योग का आश्रयण कर लेने से ही गतार्थ (प्रसिद्ध यौगिक अर्थ से ज्ञात) हो जाने के कारण 'अनुनासिक संज्ञा का विधायक सूत्र मन्द लोगों में प्रयोजन वाला है'—यह भाव ध्वनित करने के लिए यहाँ पहले उपस्थापित नहीं किया गया है। **(शब्द०)** नासिकामनुगतः=नासिका का अभिघात=टकराहट करके वायु द्वारा अभिव्यक्त कराया गया—यह अर्थ है। [यहां अनुगतः में जो अनु शब्द है वह 'अभिहत्य' इस अर्थवाला और 'गतः' यह 'अभिव्यञ्जितः' अर्थवाला है। क्योंकि नासिकाम् अनु=पश्चाद्गतः अथवा नासिका अनु=पश्चात् व्याप्रियते यस्मिन्—इन यौगिक अर्थों को मानने पर अनुनासिकत्व-गुणरहित अकारादि स्वरों में अभिव्यक्ति के बाद नासावच्छिन्न वायुसंयोग से अनुनासिकत्व गुण उपलब्ध होता है, ठीक है परन्तु अकारादि तो कहीं भी उक्त अनुनासिकत्वगुण से रहित नही प्रतीत होते हैं क्योंकि एक साथ ही मुख एवं नासिका दोनों की सहायता से अभिव्यक्त होते हैं। अतः उनमें उक्त प्रसिद्ध अर्थ मानना सम्भव नहीं है। इसलिए शब्दरत्नकार ने 'नासिका का अभिघात करके वायु द्वारा अभिव्यक्त कराया गया—अनुनासिक कहा जाता है' ऐसा यौगिक अर्थ माना है।] प्रातिशाख्य तथा शिक्षा आदि ग्रन्थों में और लोक में इसी प्रकार [नासिकाम् अभिहत्य वायुनाऽभिव्यञ्जितः] का उपपादन आवश्यक है। [इसीलिये 'अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमिष्यते' यह शिक्षा-

अत एव मुखग्रहणप्रत्याख्यानभाष्यध्वनितो यमानुस्वारयोरनुनासिकव्यवहारः सूत्रमते सङ्गच्छते। "यरोऽनुनासिके" [पा० सू० ८।४।४९] इत्यादौ स्वरूपग्रहणाभावस्तु "पशुः" अपत्यम्" इत्यादिवदिति ध्येयम्। **मन्दप्रयोजनमिति।** मन्देषु प्रयोजनमस्येति बहुव्रीहिः। एवंविधयोगलोकप्रातिशाख्याद्यनभिज्ञं प्रति सप्रयोजनमित्यर्थः।

इत्संज्ञाबोधकसूत्रार्थबोधे सहायकत्वादित्यर्थः। ननु अनुनासिकपदाद् नासिकामनु= पश्चाद्गतः, अनु पश्चान्नासिका व्याप्रियते यस्मिन् वा— इत्यन्यतरयोगार्थस्य तेषु स्वरेषु सम्भवः, यतो हि अनुनासिकाकारादीनामनुनासिकत्वगुण - रहितानां स्वरूपोपलम्भाद् तद्विषये मतभेदेन उक्तस्यार्थस्य सम्भवः, तेन तेषां संग्रहो भवति। किन्तु ञादयस्तु तद्-गुणरहिता नोपलम्यन्ते, तद्गुणसहिता एव उपलभ्यन्ते। अतो

वचन सार्थक है]। [शब्दरत्नोक्त योग का आश्रयण किया जाता है।] इसीलिए [मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः पा० सू० १।१।८ इस सूत्र में] मुखग्रहण के प्रत्याख्यानपरक भाष्य से ध्वनित, यमों एवम् अनुस्वार का अनुनासिकत्व-व्यवहार सूत्रकार के मत में संगत होता है।

[भाव यह है कि 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' पा० सू० १।१।८ इस सूत्र में मुखग्रहण का प्रत्याख्यान करने के लिए एक युक्ति मानी गयी है— प्रासादवासिन्याय। इसका तात्पर्य यह है कि कुछ प्रासादवासी होते हैं, कुछ भूमिवासी होते हैं। [कुछ महलों में रहते हैं, कुछ झोपड़ियों में रहते हैं।] और कुछ दोनों में रहते हैं। इनमें जो प्रासादवासी हैं वे प्रासादवासिग्रहण से गृहीत होते हैं और जो भूमिवासी हैं वे भूमिवासि-ग्रहण से गृहीत होते हैं। किन्तु जो दोनों में रहते हैं वे दोनों से और इनमें प्रत्येक से गृहीत होते हैं। उसी प्रकार कुछ मुखवचन हैं कुछ नासिकावचन हैं और कुछ उभयवचन=दोनों से बोले जाने वाले हैं। अतः उभयवचनों का ग्रहण मुखवचन से भी होगा और नासिकावचन से। अतः सूत्र में मुखग्रहण की आवश्यकता नहीं है। इसका प्रत्याख्यान कर देना चाहिए। अतः शब्दरत्नोक्त योगार्थ मानना आवश्यक है।] "यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' [पा०सू० ८।४।४५] इत्यादि में 'अनुनासिक' शब्दस्वरूप का ग्रहण न होना तो उसी प्रकार सिद्ध है जैसे [हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ' पा० सू० ३।२।२५ और 'तस्यापत्यम्' पा० सू० ४।९२ इन सूत्रो में] 'पशु' और 'अपत्यम्' में नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिये। मन्दप्रयोजन शब्द में बहुव्रीहि समास है—मन्देषु प्रयोजनम् अस्य तद् मन्दप्रयोजनम् [साधारण बुद्धि वालों के विषय में जिसका प्रयोजन रहता है, व्युत्पन्न लोगों में नहीं] अर्थात् जो इस प्रकार के पूर्वोक्त योगार्थ एवं लोक तथा प्राति-

युगपदेवोभयावच्छेदेनोत्पन्नाभ्यां वायुसंयोगाभ्यामुत्पत्तिरिति विनिगमनाविरहेणो-भयोः स्थानत्वमतः योगाश्रयेण कथं गतार्थता। एवमेव यमानुस्वाराणामप्य-सङ्ग्रहः, 'अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमिष्यते।' इति शिक्षोक्तेः। तत्कथं गतार्थतेत्यत आह—नासिकामभीति। एवञ्च नोक्तरीत्या तस्य यौगिकत्वं बोध्यम्। किन्तु 'नासिकाम् अनुगत' इत्यत्र योऽनुशब्दस्तस्य 'अभिहत्य' इत्यर्थः; 'गत' इत्यस्य 'अभिव्यञ्जित' इत्यर्थः। एतद्योगाश्रयणमावश्यकमित्याह—**प्रतिशाख्येति**। **तद्व्यवहारस्येति**। अनुनासिकत्वव्यवहारस्येत्यर्थः। **अतएव**= मदुक्तयोगाश्रयणादेव। **प्रत्याख्यानेति**। प्रकृतसूत्रे भाष्ये "मुखग्रहणं शक्यमकर्तुम्। केनेदानीमुभयवचनानां सिद्धं भविष्यति? प्रासादवासिन्यायेन। तद्यथा—केचित् प्रासादवासिनः, केचिद् भूमिवासिनः, केचिदुभयवासिनः। तत्र ये प्रासादवासिनः, गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन। ये भूमिवासिनः, गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन। ये तूभयवासिनः, गृह्यन्ते ते प्रासादवासिग्रहणेन भूमिवासिग्रहणेन च। एवमिहापि केचिन्मुखवचनाः, केचिन्नासिकावचन केचिदुभयवचनाः। तत्र ये मुखवचनाः, गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन। ये नासिकावचनाः, गृह्यन्ते ते नासिकाग्रहणेन, य उभय-वचनाः, गृह्यन्ते ते मुखग्रहणेन नासिकाग्रहणेन च। भवेदुभयवचनानां सिद्धम्, यमानुस्वाराणामपि प्राप्नोति। नैव दोषो न प्रयोजनम्" इत्युक्तम्। इत्थमु-भयवचनानां ञमङणनानामनुनासिकसंज्ञायाः समर्थनं कृत्वा यमानुस्वारयोः "नैव दोषो न प्रयोजनम्" इत्युक्त्या अनुनासिकत्वस्य इष्टत्वस्य सूचनेन 'नासिका-मनुगतः' इत्यत्र 'अनु' शब्दस्य 'अभिहत्य' इत्यर्थे 'गत' शब्दस्य 'अभि-व्यञ्जित' इत्यर्थे लक्षणाऽवश्यं वक्तव्या। यदि अनु=पश्चाद् गतः इत्यर्थः स्वीक्रियते तदा तु पूर्वोक्तशिक्षावचनेन यमानुस्वाराणां नासिकामात्रस्थानकत्वेन पश्चान्नासिकागतत्वाभावादनुनासिकसंज्ञा न स्यादतः सूत्रभाष्ययोः फलैक्याय शब्द-रत्नोक्त अर्थोऽवश्यमाश्रयणीय इति बोध्यम्।

नन्वेवमनुनासिकशब्दस्य शब्दशास्त्रीय-संज्ञात्वाभावेन "स्वरूपं शब्दस्याशब्द-संज्ञा" (पा०सू० १।१।६८) इत्यनेनानुनासिकशब्दघटितसूत्रेषु स्वरूपग्रहणापत्तिरत आह—**यरोऽनुनासिक** इति। अयं भावः—"हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ" (पा० सू०

शाख्यादि से अनभिज्ञ हैं, उनके प्रति [मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः पा०सू० १।१।८] यह सूत्र सप्रयोजन है, व्यर्थ नही है, यह अर्थ है।

विमर्श—अभी यह बताया जा चुका है कि प्रासादवासिन्याय को मानकर 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' सूत्र के मुखग्रहण का प्रत्याख्यान भाष्य में किया गया है। यह प्रत्याख्यान तभी सम्भव होता है जब इसके प्रत्याख्यानाभाव पक्ष में भी यम

उपदेशे किम् ? 'अभ्र आँ अपः ।'

३।२।२५) "तस्यापत्यम्" (पा०सू० ४।१।९२) इत्यादौ स्वरूपग्रहणे पशुशब्दस्य नाथहरणकर्तृत्वासम्भवेन, गोत्रार्थे प्रत्ययविधानेन च यथा स्वरूपग्रहणाभावस्तथाऽत्र 'ङमुण्नित्यम्' इति निर्देशात् 'स्वर्नयति प्रातर्नयति' 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (पा०सू० ८।४।४५) इत्यनुनासिकः प्राप्नोति' इति 'हयवरट्' इति सूत्रस्थ-भाष्याच्च स्वरूपग्रहणाभाव इति बोध्यम् । बहुहिरिति । ज्ञापकादिना व्यधि-

---

और अनुस्वार के लिए अनुनासिकत्वव्यवहार उपन्न हो सके । क्योंकि फलैक्य में ही प्रत्याख्यान सम्भव होता है, फलभेद में नहीं । यदि सूत्र में मुखग्रहण रहता है और मुखसहितनासिका से उच्चार्यमाण वर्ण अनुनासिक होता है, यह अर्थ माना जाता है तो यम तथा अनुस्वार की अनुनासिक संज्ञा नहीं हो सकेगी । अतः 'अनुनासिक' शब्द को यौगिक ही मानना चाहिए—नासिकाम् अनु = अभिहत्य गतः = व्यञ्जितः—अनुनासिकः । यह अर्थ सर्वत्र सम्भव है । इसलिये भाष्यकारोक्त मुखग्रहण का प्रत्याख्यान संगत होता है । इसीलिये भाष्य में यह लिखा है—'भवेदुभयवचनानां सिद्धम् । यमानुस्वाराणामपि [अनुनासिकसंज्ञा] प्राप्नोति । नैव दोषो न प्रयोजनम् ।" [म० भा० १।१।८]

परन्तु 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' इस अनुनासिकत्व-विधायक सूत्र के रहने पर तो 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' [पा० सू० १।१।६८] के अनुस्वार अशब्दसंज्ञा यह निषेध लग जाता है.अतः 'अनुनासिक' यह शब्दस्वरूप नहीं लिया जाता है । अतः 'यरोऽनुसिकेऽनुनासिको वा' (पा० सू० ८।४।४५) आदि में अतिप्रसंग नहीं है । परन्तु यदि मन्दप्रयोजन मानकर सम्पूर्ण सूत्र का प्रत्याख्यान कर देते हैं तो 'अनुनासिक' यह शब्दशास्त्रीय संज्ञा नहीं होगी, अतः 'अशब्दसंज्ञा' यह निषेध लागू न हो सकने के कारण 'अनुनासिक' शब्दस्वरूप का भी ग्रहण होने लगेगा । इस शंका का समाधान यह है कि जैसे 'हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ' (पा० सू० ३।१।२५) 'दृति' एवं 'नाथ' उपपद रहने पर हृञ् धातु से इन् प्रत्यय होता है यदि पशु कर्ता रहता रहता है । यहाँ जैसे 'पशु' शब्दस्वरूप का ग्रहण नहीं होता है अपितु उसके अर्थ का ग्रहण होता है और 'तस्यापत्यम्' (पा० सू० ४।१।९२) 'उसका अपत्य' इस अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं, यहाँ भी 'अपत्य' शब्दस्वरूप नहीं अपितु इसके अर्थ का ग्रहण किया जाता है । ये दोनों शब्दसंज्ञायें नहीं हैं । उसी प्रकार प्रस्तुत सूत्र के प्रत्याख्यान कर देने पर भी अनुनासिक शब्द का ग्रहण नहीं होगा अपितु उसके अर्थ का ही ग्रहण होगा । इसलिये सूत्र के प्रत्याख्यान में भी कोई अनुपत्ति नहीं है ।

[मनो०] 'उपदेशे' इसके ग्रहण का क्या फल है ? 'अभ्र आँ अपः' [इसमें उपदेश = आद्योच्चारण में 'आँ' अनुनासिक नहीं है अपितु बाद में "आङोऽनु-

यद्यपीह "उञः" "ऊँ" (पा. सू.१।१।१७-१८) इत्यत्रेव विधानसामर्थ्या-न्नेत्त्वमिति सुवचम्, तथाप्युत्तरार्थमवश्यं कर्त्तव्यमुपदेशग्रहणं स्पष्टप्रतिपत्तये इहैव कृतम् ।

अभ्र आँ अप इति । अत्रेत्सञ्ज्ञायां लोपः स्यादिति भावः । **विधा-नेति ।** इदिति वक्तव्येऽनुनासिकविधानसामर्थ्यादित्यर्थः । **नेत्त्वमिति ।** तत्फललोपस्य सामर्थ्यादभावे इत्त्वमपि फलाभावान्नेत्यर्थः ।

ननु 'अभ्र आँ अटितः' इत्यत्र "अनेकान्ता अनुबन्धाः" इति पक्षे आदि-

---

करणबहुव्रीहेरपि स्वीकारादिति भावः । **अभ्र आँ अप इति ।** अत्रोपदेशेऽनुनासि-कत्वाभावान्नेत्संज्ञा भवतीत्येतदर्थम् उपदेशग्रहणमिति भावः । **अनुनासिक इति ।** 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' (पा० सू० ६।१।१२६) इति सूत्रेणानुनासिक-विधाना-दिति भावः । ननु विधानसामर्थ्यादस्य लोपो मा भूत्, इत्संज्ञा तु स्यादेवेत्यत आह—**तत्फलेति ।** तस्य इत्त्वस्य फलं प्रत्याहार-सिद्ध्यन्यफलान्तरद्वारभूतं तद्-व्यापको यो लोपस्तस्येत्यर्थः । **फलाभावादिति ।** उक्त-द्विविधफलाभावादित्यर्थः । अयं भावः—तस्येत्त्वस्य फलं लोपः, सः प्रतियोगितासम्बन्धेनेत्त्वस्य व्यापकः, किन्तु अनुनासिकविधानसामर्थ्याद् यदा व्यापको लोपो नैव भवति तदा व्याप्य-मित्वमपि नैव भवतीति बोध्यम् ।

नासिकश्छन्दसि" (पा० सू० ६।१।१२५) सूत्र से विहित है । अतः इस अनुनासिक की इत्संज्ञा न हो इसके लिए 'उपदेश में जो अनुनासिक' यह कहा गया ।] **[शब्द.]** यहाँ इत्संज्ञा होने पर लोप होने लगेगा, यह भाव है । **[मनो.]** यद्यपि यहाँ [आँ में] 'उञः' [पा० सू०. १।१।१७] 'ऊँ' [पा० सू० १।१।१८] इन सूत्रों के समान [सूत्रों से विहित अनुनासिक आदेश ऊँ के समान] विधान-सामर्थ्य से='इत्' यही कहना चाहिए था वैसा न करके अनुनासिक के विधान सामर्थ्य से [आँ की] इत्संज्ञा नहीं होती है, ऐसा सरलतया कहा जा सकता है, **(शब्द.)** क्योंकि इत्संज्ञा के फल लोप का सामर्थ्यवश अभाव रहने पर फलाभावके कारण इत्संज्ञा भी नहीं होती है [अर्थात् जहाँ जहाँ इत् होता है वहाँ वहाँ लोप होता है इस प्रकार लोप व्यापक है, इत् व्याप्य है । जैसे विधान–सामर्थ्यवश उञ् के ऊँ का लोप नहीं होता है उसी प्रकार यहाँ भी विधान किया गया है इसीलिए आँ का लोप नहीं किया जा सकता । फलतः इत्संज्ञा भी नहीं होगी] **(मनो.)** तथापि उत्तरवर्ती ['हलन्त्यम्' पा० सू० १।३।२] सूत्र में उपदेशग्रहण अवश्य करना है, इसलिये स्पष्ट ज्ञान के लिए इसी सूत्र में ग्रहण कर दिया गया है ।

[शब्द०] पूर्वपक्ष—'अभ्र आँ अटितः' इस लक्ष्य में 'अनेकान्ता अनुबन्धा

तश्च" [पा० सू० ७।२।१६] इतीट्प्रतिषेधः फलम्। न च लोपाभावे इदिति महासञ्ज्ञाकरणात्संज्ञापि नेति वाच्यम्, महासञ्ज्ञयैव लोपसिद्धया "तस्य लोपः" [पा० सू० १।३।९] इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, "इक" इत्यादौ ककारादिश्रवणानापत्तेश्च; इति चेन्न, "अनुबन्धानामेकान्तत्वमेव" इति मुख्यपक्षे दोषाभाव इत्याशयात्। तदा हि मुख्येऽवयविन्यन्यपदार्थे बहुव्रीहिः। न चायमाकारोऽट्धातोरवयव इत्यदोषात्।

मूले—**उत्तरार्थमिति**। 'हलन्त्यम्' (पा०सू० १।३।३) इति सूत्रेऽनुवृत्त्यर्थमिति भावः। फलान्तरं निराकर्तुमाह—**नन्विति**। **पक्षे** इति। अस्थितपक्षे इत्यर्थः।

[अनुबन्ध अवयव नहीं होते हैं]—इस पक्ष में "आदितश्च" [पा०सू० ७।२।१६] इससे इट् का प्रतिषेध करना ही इत् संज्ञा का फल है, [व्यर्थ नहीं है, अतः विधान-सामर्थ्य से लोपाभाव नहीं कहना चाहिए। तात्पर्य यह है कि 'अनुबन्ध अनेकान्त = अनवयव होते हैं इस पक्ष में स्वसमीप अनुबन्ध में स्वनिरूपित अवयवत्व का आरोप कर लिया जाता है। इस प्रकार 'आदित्' का अर्थ होगा—आकारः इत्संज्ञकः समीपे यस्य सः। और "आदितश्चः" इस सूत्र से आकार की इत्संज्ञा वाले से परे निष्ठा को इट् नहीं होता है, इस सूत्र से 'अटितः' यहाँ इट् का प्रतिषेध होने लगेगा क्योंकि आँ अट्+त इस अवस्था में अनुनासिक एवं इत् 'आँ' है समीप में जिसके ऐसी 'अट्' धातु है। इट् का निषेध हो जाना चाहिए। यही इत्संज्ञा का फल मान लेना चाहिये—[अवान्तर पूर्वपक्ष] लोप न होने पर 'इत्' यह महासंज्ञा करने के कारण अर्थात् एति = गच्छति इस प्रकार के अर्थ वाली अन्वर्थक संज्ञा बनाने के कारण इत् संज्ञा भी नहीं होगी—[अवान्तर उत्तर पक्ष] ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि [अन्वर्थक] महासंज्ञा कर देने से ही लोप स्वतः सिद्ध हो जाता है अतः 'तस्य लोपः' (पा० सू० १।३।९) यह (इत्संज्ञक का लोप-विधायक सूत्र] व्यर्थ होने लगेगा। और [इत् = लुप्त होने होने वाला—यह अन्वर्थ होने पर] 'इक' आदि में ककारादि नहीं सुने जा सकेंगे [सिद्धान्त में तो इत्संज्ञा के अलग-अलग फल होते हैं, अतः जहाँ के लिए लोप है वहीं लोप होता है अन्यत्र नहीं]—[उत्तरपक्ष] यदि ऐसा कहते हैं तो नहीं कह सकते, क्योंकि 'अनुबन्ध अवयव ही होते हैं' इस सिद्धान्त-पक्ष में कोई दोष नहीं है, यह भाव है। क्योंकि अनुबन्धों को अवयव ही मानने पर मुख्य अवयवी अन्य पदार्थ में बहुव्रीहि होता है, [आ है इत् जिस अवयवी धातु का उससे परे निष्ठा को इट् नहीं होता है—यह अर्थ होता है।] और 'अत्र आँ अटितः यहाँ 'आँ' यह आकार अट् धातु का अवयय नहीं है।[अतः इसके अनुनासिक एवं इत्संज्ञक

अच् किम् ? मनिनो मकारस्य मा भूत ।

'प्रतिज्ञायते इति प्रतिज्ञा' "आतश्चोपसर्गे" (पा. सू. ३।३।१०६) इति कर्मण्यङ् । प्रतिज्ञा आनुनासिक्यं येषामिति विग्रहः । एवं च 'प्रतिज्ञासमधिगम्ये प्रतिज्ञाशब्दस्य लक्षणा' इति श्लिष्टं

फलमिति । अनुबन्धा **अनेकान्ताः**=अनवयवा इत्यर्थः । अत्र पक्षे इत्संज्ञकानामनवयवत्वेन समीपेऽवयवत्वारोपेण षष्ठ्यर्थबहुव्रीहिस्वीकाराद्—आकार इत्संज्ञकः समीपे यस्य—इत्यर्थकेन 'आदितश्च' (पा०सू० ७।२।१६) इति सूत्रेण इत्संज्ञकाऽऽकारस्य समीपे सत्वाद् 'अट्' धातोर्विहितस्य क्तस्य इडागमनिषेध इत्यनिष्टमपि इत्संज्ञाफलं बोध्यम् । **महासंज्ञेति** । एति=गच्छति. प्रयोगे न तिष्ठतीति 'इत्' इत्यन्वर्थसंज्ञाकरणादित्यर्थः । **इक** इति । अन्वर्थसंज्ञया ककारस्य निवृत्त्यापत्तिरिति भावः । **मुख्यपक्षे** इति । "उभयमिदमनुबन्धेषूक्तमेकान्ता अनेकान्ता इति । किमत्र न्याय्यम् ? एकान्ता इत्येव" इति भाष्येण एकान्तपक्षस्यैवानुबन्धविषये सिद्धान्तपक्षत्वबोधनादिति भावः । एतत्पक्षे हि अनुबन्धानामवयवत्वेन आरोपानपेक्षणेन मुख्येऽवयविन्येवान्यपदार्थे बहुव्रीहिः । एवञ्चेत्संज्ञायाः नैतत्फलमिति बोध्यम् । तत्पक्षस्य मुख्यत्वमुपपादयति—**तदाहेति** । तेषामवयवत्वे हीत्यर्थः । **अयम्**=आँ, **अवयवः**=मुख्यावयवः । **अदोषादिति** । दोषसामान्याभावादित्यर्थः । नन्वत्र '**दोषाभावः**' इति प्रागुलिखितमेव, पुनरिह '**इत्यदोषात्**' इति लिख्यते इति पौनरुक्त्यमिति चेन्न, प्रथमस्य दोषपदस्य इट्प्रतिषेध-प्रसङ्गरूप-दोषपरत्वम्, द्वितीयस्य तु दोषसामान्यपरत्वमित्यर्थभेदेन तदभावात् ।

कर देने से भी 'अट्' धातु आदित् नहीं हो सकती । अतः इट् के प्रतिषेध का फल मानना सम्भव नहीं है ।]

[मनो०] 'अच्-ग्रहण का क्या फल है ? मनिन् प्रत्यय के मकार की इत्संज्ञा न हो, इसके लिए 'अच्' का ग्रहण है । [क्योंकि अच्-ग्रहण न रहने पर अनुनासिक 'म्' की इत्संज्ञा का वारण कठिन है ।] प्रतिज्ञायते इति प्रतिज्ञा—[प्रतिज्ञान के विषय यह अर्थ है ।] यहाँ प्रति+ज्ञा धातु से 'आतश्चोपसर्गे' [पा० सू० ३।३।१०६] इस सूत्र से कर्म अर्थ में अङ्=अ प्रत्यय होता है । [अनुनासिकस्य भावः आनुनासिक्यम्] प्रतिज्ञा=प्रतिज्ञान का विषय है आनुनासिक्य जिनका]—यह विग्रह है । [प्रतिज्ञान=यह ऐसा है, इस प्रकार कहना—इसका विषय जो है वह प्रतिज्ञा है, प्रतिज्ञा=प्रतिज्ञान का विषय है आनुनासिक्य जिनका वे प्रतिज्ञानुनासिक्य हैं । पाणिनीय=पाणिनीय व्याकरण के वर्ण आदि प्रतिज्ञानुनासिक्यहोते हैं अर्थात् उनमें अनुनासिकत्व कह दिया जाता है, वह आगे चलता रहता है ।] इस प्रकार [कर्म में घञन्त प्रतिज्ञा शब्द स्वीकार कर लेने पर]—प्रतिज्ञा से समधिगम्य में प्रतिज्ञा शब्द

व्याख्यानं नाश्रयणीयम् । "पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम्" इत्यादिष्विव लक्षणां

प्रतिज्ञेति । प्रतिज्ञानविषय इत्यर्थः । **प्रतिज्ञाशब्दस्येति ।** भावाङन्तस्येत्यर्थः । **क्लिष्टेति ।** शक्तिग्राहकव्याकरणसत्त्वाच्छक्त्यैव तदर्थबोधसम्भवे लक्षणाश्रयणं क्लेश इति भावः । **लक्षणां विनैवेति ।** अत्र लक्षणया व्याख्यानं कुर्वताऽपि तत्र लक्षणां विना मदुक्तरीत्यैव व्याख्यातम् ।

'प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः ।" अस्मिन् वचने 'प्रतिज्ञा' शब्दः कर्मबोधकाङन्तः । अत आह मूले—**कर्मण्यङिति ।** **प्रतिज्ञा**=प्रतिज्ञानविषयः आनुनासिक्यं येषां ते प्रतिज्ञानुनासिक्याः । प्रतिज्ञा चात्र 'इदमेवम्' इति बोधनरूपा । बोधनञ्च क्वचित् 'अयमनुनासिक' इति भाष्यकारादीना साक्षात् कथनेन 'प्रत्ययः' इत्यादि-निर्देशादिरूप-व्यवहारेण चेति बोध्यम् । पाणिनेरिमे इति पाणिनीया वर्णा इत्यर्थः । 'प्रतिज्ञानविषय आनुनासिक्यं येषाम्' अत्र निष्ठत्वं [illegible]ठ्यर्थः । एवञ्च यत्स्वरवर्णनिष्ठमानुनासिक्यं प्रतिज्ञाविषयः, ते वर्णा इत्यर्थः । [illegible]त्तु पाणिनीयाः= शिष्या इत्याहुस्तन्न, आनुनासिक्यस्य शिष्यनिष्ठत्वासम्भवात्, ज्ञानविषयत्वेन शिष्यनिष्ठत्वोपपादनस्य क्लिष्टत्वाच्चेति बोध्यम् ।

मूले—**एवञ्चेति ।** प्रतिज्ञाशब्दस्य कर्मबोधकाङ्प्रत्ययान्तत्वस्वीकारे इत्यर्थः । **प्रतिज्ञाशब्दस्य**=भावार्थाङन्तस्य । प्रतिज्ञानम्=प्रतिज्ञा इत्येवं भावेऽङि प्रत्यये प्रतिज्ञाशब्दार्थः=क्रियारूपः, आनुनासिक्यं च गुणः । अत उभयोः सामानाधिकरण्यासम्भवात् प्रतिज्ञाशब्दस्य **प्रतिज्ञासमधिगम्ये**=प्रतिज्ञानप्रयोज्यानां ज्ञानविषये लक्षणामाश्रित्य सामानाधिकरण्येन बहुव्रीह्युपपत्तिरिति भावाङ्पक्षाभिप्रायः ।

[भाव में घञन्त प्रतिज्ञा शब्द] की लक्षणा है । इस क्लिष्ट व्याख्यान का आश्रयण उचित नहीं है । [आशय यह है कि प्राचीन विद्वान प्रतिज्ञानं=प्रतिज्ञा यह भाव अर्थ में अङ् प्रत्यय करते हैं और प्रतिज्ञा शब्द की 'प्रतिज्ञा से ज्ञात होने वाले' इस अर्थ में लक्षणा करते हैं । परन्तु यह क्लिष्ट है ।] **[शब्द]** क्योंकि शक्ति-बोधक व्याकरण शास्त्र के रहने पर शक्ति के द्वारा उस [प्रतिज्ञान-विषय] अर्थ का ज्ञान सम्भव हो जाने पर [उसी अर्थ की प्रतीति के लिए] लक्षणा का आश्रय लेना ही क्लेश है, यह भाव है । **[मनो.]** क्योंकि 'पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम्' इत्यादि में लक्षणा के बिना ही निर्वाह हो जाता है । **[शब्द०]** यहाँ प्रतिज्ञा शब्द में लक्षणा के द्वारा व्याख्यान करते हुए भी वहाँ [पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम् में] लक्षणा के बिना मेरी रीति से ही व्याख्यान किया है । [-उपशब्द 'आदि' अर्थवाला है, 'कर्म' अर्थ में 'ज्ञा' धातु से अङ् प्रत्यय है—उपज्ञायते इति उपज्ञा । पाणिनेः उपज्ञा—यहाँ कर्ता अर्थ में षष्ठी है ।

विनव निर्वाहात्। यद्यपि सूत्रकारकृतोऽनुनासिकपाठ इदानीं परिभ्रष्टस्तथापि वृत्तिकारादिव्यवहारबलेन यथाकार्य प्राक् स्थित इत्यनुमीयत इति भावः।

एवं च पूर्वापरविरोधस्तस्येति भावः। न चोभयोर्विधानेऽपि लाघवाद्भावे शक्तिः, कर्मणि लक्षणा, अनुशासनमपि लाक्षणिकार्थानुशासनमेवेति वाच्यम्, "लः कर्मणि" [पा.सू. ३।४।६९] इत्यादीनामपि तथात्वापत्तौ 'तिङां कर्त्रादौ शक्तिः' इति सिद्धान्तासङ्गत्यापत्तेः, व्याकरणस्याभियुक्तोक्तशक्तिग्राहकत्वस्य भङ्गापत्तेश्च ॥

व्याख्यानस्य क्लिष्टत्वमुपादयति—**शक्तिग्राहकेति**। मूले—**पाणिन्युपज्ञमिति**। आद्यार्थक—उपशब्द-पूर्वकात् ज्ञाधातोः कर्मणि अङ्। पाणिनेरुपज्ञा—इति कर्तरि षष्ठ्या समासः। एवञ्च पाणिनिकर्तृकाद्यज्ञानविषयीभूतं व्याकरणम्' इत्यर्थः। **अत्र**=प्रतिज्ञाशब्दे। **तत्र**=दृष्टान्ते उपज्ञाशब्दे इत्यर्थः। **मदुक्तरीत्येति**। उपशब्द=आद्यार्थकः- कर्मणि अङ्—उपज्ञायते इति—उपज्ञा। पाणिनेरुपज्ञा इति कर्तृषष्ठ्या समास इत्याद्युक्तरीत्येति भावः। **एवञ्चेति**। एकत्र लक्षणाश्रयणम्, अन्यत्र कर्मणि अङ् इति द्विविधरीति-स्वीकारे इत्यर्थः। **तस्य**=भावार्थकाङ्स्वीकर्तुरित्यर्थः। **उभयोः**=भावकर्मणोः। **अनुशासनमेवेति**। एवेन शक्यार्थानुशासनस्य निरासः। **तथात्वापत्तौ**=लाक्षणिकार्थानुशासनत्वापत्तौ, लाक्षणिकार्थबोधापत्ताविति यावत्। **सिद्धान्तेति**। वैयाकरणनिकायसम्मतेत्यर्थ। **अभियुक्तेति**—

पाणिनिकर्तृक-आद्यज्ञानविषयीभूतं व्याकरणम्—यह दीक्षितोक्त शाब्द अर्थ प्राचीनों ने भी माना है।] इस प्रकार की स्थिति में प्राचीनों के कथन का पूर्वापर-विरोध है। [पूर्वपक्ष] भाव और कर्म इन दोनों अर्थों में [अङ् के] विधान में भी लाघव के कारण भाव अर्थ में शक्ति और कर्म अर्थ में लक्षणा मान ली जाय और अनुशासन भी लाक्षणिक अर्थ का ही अनुशासन हो [शक्यार्थ का अनुशासन न हो]—ऐसा नहीं कहना चाहिए, [सिद्धान्तपक्ष] क्योंकि "लः कर्मणि च" [पा० सू० ३।४।६९] इत्यादि शास्त्र भी उसी प्रकार के अर्थात् लाक्षणिक अर्थ के अनुशासन होने लगेंगे इसमें 'तिङ् प्रत्ययों की कर्ता आदि अर्थों में शक्ति है' यह सिद्धान्त असंगत होने लगेगा और अभियुक्त=प्रामाणिक आचार्यों द्वारा कही गयी [व्याकरण की] शक्ति-ग्राहकता भङ्ग होने लग जायेगी। **[मनो०]** यद्यपि सूत्रकार पाणिनि द्वारा बनाया गया अनुनासिक [संकेत] का पाठ इस समय परिभ्रष्ट=अज्ञात, दूषित हो चुका है तथापि वृत्तिकार आदि के [अनुनासिकत्व-] व्यवहार के बल से 'जैसा कार्य हो रहा है तदनुसार पहले स्थित था' यह अनुमान कर लिया जाता है, यह भाव है।

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सांन्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

इति वृद्धोक्तेरित्यर्थः । ननु सूत्रकारकृतानुनासिकत्वस्यानुपलम्भवात्तदभाव एवा-पततीति चेदत आह—**यद्यपीति** । **अनुमीयत** इति । कारणं विना कार्यस्या-सम्भवात् तस्यानुमानामिति बोध्यम् ।

विमर्श—'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' [पा०सू० १।३।२] इस सूत्र में 'अनुनासिक' का यौगिक अर्थ नहीं है अपितु अनुनासिक शब्द से कहना अथवा व्यवहार करना ही समझना चाहिये, जैसा कि वचन है 'प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः' । यहाँ प्रतिज्ञा शब्द के विषय में मतभेद है । [१] भाव अर्थ में 'अङ्' प्रत्यय माना जाय अथवा (२) कर्म अर्थ में? प्राचीन प्रक्रियाकौमुदीकार आदि भाव अर्थ में अङ् मानकर प्रतिज्ञानम्=प्रतिज्ञा यह व्युत्पत्ति कहते हैं और प्रतिज्ञा से समभि ाम्य अर्थ में 'प्रतिज्ञा' शब्द की लक्षणा मानते हैं । मनोरमाकार इससे सहमत नहीं ह । ये कर्म अर्थ में प्रत्यय मानते हैं—प्रतिज्ञायते=प्रतिज्ञाविषयीक्रियते इति प्रतिज्ञा, अनुनासिकस्य भावः आनुनासिक्यम् । प्रतिज्ञान का अर्थ है अनुनासिक शब्द से कहना अथवा व्यवहार करना । प्रतिज्ञा=प्रतिज्ञान विषय है आनुनासिक्य=अनुनासिकत्व जिन वर्णों का वे—प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः वर्णाः । अर्थात् पाणिनीय व्याकरण के वर्ण प्रतिज्ञा द्वारा अनुनासिक समझने चाहिये । प्राचीनों ने भाव अर्थ में प्रत्यय करके 'प्रतिज्ञा' शब्द की सिद्धि की है । इनके मत में 'प्रतिज्ञा' शब्द क्रियारूप है और 'आनुनासिक्य' गुण रूप है । अतः दोनों का सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है । इसकी उपपत्ति के लिये 'प्रतिज्ञा' शब्द की प्रतिज्ञासमधिगम्य=प्रतिज्ञान-प्रयोज्य ज्ञानविषय में लक्षणा करके समानाधिकरण बहुव्रीहि उपपन्न करते हैं । मनो-रमाकार के मतानुसार कर्म अर्थ में प्रत्यय करने पर सामानाधिकरण्य निर्बाध है । इनका यह भी कहना है कि 'पाणिन्युपज्ञं व्याकरणम्' यहाँ लक्षणा नहीं है और कर्म अर्थ में ही प्रत्यय है । उपज्ञायते=आद्यज्ञानविषयीक्रियते इति उपज्ञा, पाणिनेः उपज्ञा—यहाँ कर्ता अर्थ में "कर्तृकर्मणोः कृति" [पा०सू० २।३।६५] से षष्ठी होती है । इस प्रकार पाणिनिकर्तृक-आद्यज्ञानविषयीभूतं व्याकरणम्—यह शब्दार्थ होता है । अतः 'प्रतिज्ञानुनासिक्याः' में भी प्रतिज्ञा शब्द में कर्म अर्थ में प्रत्यय मानना उचित है ।

[मनो०] ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इस सूत्र के अनुसार 'लण्' सूत्र के अकार की इत्संज्ञा होती है । इस इत् 'अ' के साथ उच्चार्यमाण जो हयवरट् सूत्र का 'र' है वह 'रट् ल् अ'=र् और ल् दोनों की संज्ञा होता है—इसी का विचार प्रस्तुत है-]

ननु रलयोरिति न्यूनम्, टकारस्यापि मध्यगतत्वादित्यत आह—प्रत्याहारेष्विति ।

व्यवह्रियन्ते इति । **प्रत्याह्रियन्ते=संक्षिप्यन्ते वर्णा यत्रेति बाहुलका-**

टकारस्यापीति । अत्र यद् वक्तव्यं तदन्यत्रोक्तम् ।

'लण' सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः सञ्ज्ञेति परममूलम् । **नन्विति ।** अत्रेति शेषः । **प्रत्याहारेष्विति ।** प्रत्याहारेषु इत्संज्ञकवर्णानां ग्रहणाभावेनात्र 'र' प्रत्याहारे 'ट्' ग्रहणस्य प्रसङ्गाभाव इति बोध्यम् । **अत्र**='र' प्रत्याहारविषये इत्यर्थः । **यद्वक्तव्यम्**=खण्डनादिकम् । **अन्यत्र**=लघुशब्देन्दुशेखर इत्यादावित्यर्थः । तत्र हि—लण्सूत्रस्थाकारस्यानुनासिकत्वसत्त्वे रप्रत्याहारसत्त्वे "अतो ऌान्तस्य" (पा०सू० ७।२।२) इति सूत्रे पाणिनिर्लकारं नोच्चारयेत्, रप्रत्याहारेणैव व्यवहरेत् । किञ्च 'र प्रत्याहारवत् अकारेण य-प्रत्याहाराश्रयणे 'इको योऽचि' इति लघुभूतन्यासेनैव सिद्धे यण् इति णकारेण प्रत्याहाराश्रयणवैयर्थ्यम् । किञ्च प्रत्याहारेऽनुबन्धानां ग्रहणाभावे भाष्यकृता "आचारात्=अनुनासिक—इत्यादिनिर्देशरूप-व्यवहारात्, अप्रधानत्वात्=प्रत्याहारेषु ग्रहणार्थत्वाभावरूपात्, श्रुत्यघटकत्वरूपाद् वा, बलवत्तरलोपात् 'आदिरन्त्येन' इति संज्ञातः प्रागेव परत्वान्नित्यत्वादनुबन्धलोपे संज्ञाकाले तदभावेन तस्य संज्ञित्वाभावादिति हेतुत्रयमुक्तम् । तत्र लणोऽकारस्यानुनासिकत्वेऽन्योन्याश्रयदोष - परिहाराय प्रथमं हल् प्रत्याहार-सिद्धिसमये लणोऽकारस्येत्वाभावाल्लोपाप्रात्या इत्संज्ञकस्याग्रहणे तृतीयहेतोरव्यापकत्वापत्तिश्चेत्याद्युक्तमिति तत एवावधेयमिति दिक् ।

"आदिरन्त्येन" इत्येतत्सूत्रेण कृताः संज्ञाः प्रत्याहारशब्देन व्यवह्रियन्ते इति परममूलम् । प्रत्याहारशब्दस्य व्युत्पत्तिमाह—**प्रत्याह्रियन्ते** इति । यद्यपि

प्रश्न—'र' और 'ल' की संज्ञा होता है, यह न्यून है क्योंकि इनके मध्य में [हयवरट् सूत्र का] टकार भी है—इसके लिए [सिद्धान्तकौमुदी में] कहते हैं—प्रत्याहारों में इत्संज्ञक वर्णों का ग्रहण नहीं होता है । [अतः 'र' प्रत्याहार में 'ट्' का ग्रहण नहीं होता है ।] **[शब्द०]** यहाँ 'र' प्रत्याहार के विषय में जो कहना है वह अन्यत्र (लघुशब्देन्दुशेखर में) कहा गया है । [अर्थात् 'र' प्रत्याहार का खण्डन लघुशब्देन्दुशेखर में किया जा चुका है । वहीं देखना चाहिए ।]

[मनो०] ['आदिरन्त्येन सहेता' पा०सू० १।१।७१ इस सूत्र द्वारा की गई संज्ञायें प्रत्याहार शब्द से] व्यवहृत होती हैं [अतः प्रत्याहार शब्द में] प्रत्याह्रियन्ते=संक्षिप्त किये जाते हैं वर्ण जिसमें [वह प्रत्याहार है]—यह बाहुलक से अधि-

दधिकरणे घञ् । यद्यपि योगमात्रमकारादिसञ्ज्ञास्वतिप्रसक्तं तथापि योगरूढिरिति भावः । प्रत्याहाराश्चैकचत्वारिंशदिति प्राञ्चः ।

बाहुलकादिति । 'भावघञन्तादर्श आद्यज्' इत्यपि बाहुलकादविशिष्टमिति भावः । एकचत्वारिंशदिति ।

"एकस्मान् ङञणवटाः, द्वाभ्यां षस्त्रिभ्य एव कणमाः स्युः ।
ज्ञेयौ चयौ चतुर्भ्यो, रः पञ्चभ्यः, शलौ षड्भ्यः ॥

इति तदुक्तेरिति भावः ।

भावघञन्तात् प्रत्याहारशब्दाद् "अर्शआदिभ्योऽच्" [पा० सू० ५।२।१२७] इत्यनेन मतुबर्थेऽच् प्रत्ययं विधाय निर्वाहसम्भवस्तद् दूपयति—**भावेति** । **अविशिष्टमिति** । गणविशेपे पाठकल्पने कृत्तद्धितरूपवृत्तिद्वयकल्पने गौरवमिति वोध्यम् । ननु योगार्थमात्रस्वीकारे "अणुदित्सवर्ण" इति सूत्रेण कृतासु सवर्णग्राहिकासु अ, इ, उ, प्रभृति-

---

करण अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय समझना चाहिये । **[शब्द०]** भाव में 'घञ्' प्रत्यय करके तदन्त प्रत्याहार शब्द से 'अर्श आदिभ्योऽच्' [पा०सू० ५।२।१२७] से [मत्वर्थ में] अच् प्रत्यय करना भी वाहुलक से भिन्न नहीं होता है । [अर्थात् भाव में घञ् प्रत्यय करने के लिए कृदन्तवृत्ति और प्रत्याहारः अस्ति यस्मिन्—इस अर्थ में अच् प्रत्यय के लिए तद्धितान्त वृत्ति करने में कोई लाघव नहीं है] यह भाव है । **[मनो०]** यद्यपि केवल योग मानने पर अकारादि संज्ञा में यह (अर्थ) अतिव्याप्त होता है तथापि योगरूढि है, यह भाव है । [मनोरमाकार का आशय यह है कि 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः" [पा०सू० १।१।६९] से अ, इ, उ आदि संज्ञायें भी सवर्णग्रहिका होती हैं, इनमें भी प्रत्याहार शब्द का व्यवहार होने लगेगा । अतः यहाँ प्रत्याहार शब्द की 'पङ्कज' शब्द के समान योगरूढि माननी चाहिये । अतः 'आदिरन्त्येन सहेता' इस सूत्र द्वारा की गई संज्ञाओं के विषय में यह योगरूढि समझना चाहिये, अतः अकारादि में अतिव्याप्ति नहीं है ।] और प्रत्याहार एकताळीस हैं—ऐसा प्राचीन लोग कहते हैं ।

[शब्द०] क्योंकि उन्होंने ऐसा कहा है—

ङ्, ञ्, ण्, व्, ट्, [पाँच] अनुबन्ध एक-एक आदि वर्ण के साथ उच्चारित होते हुए केवल एक-एक=पांच प्रत्याहार बनाते हैं । इसी प्रकार ष् दो के साथ उच्चारित होकर दो प्रत्याहार बनाता है और क्, ण् तथा म् तीन-तीन के साथ उच्चारित होकर नौ प्रत्याहार बनाते हैं । च् और य् चार-चार के साथ उच्चारित होकर आठ प्रत्याहार बनाते हैं । र् पांच के साथ उच्चारित होकर पांच प्रत्याहार और श् तथा ल् छः-छः के साथ उच्चारित होकर बारह प्रत्याहार बनाते

चतुर्दशसूत्रीस्थैर्हल्भिरिद्भिः कृता अष्टाध्याय्यां व्यवहृता एकचत्वारिंशदिति तस्यार्थः। तेन सुप्तिङादीनां, रप्रत्याहारस्य, "चयो द्वितीया" इतिवार्तिकस्थचय्प्रत्याहारस्य चाधिक्येऽप्यदोषः।

यत्तु "ञमन्ताड्डः" इति, "यमिर्ञमन्तेष्वनिडेक इष्यते" इति च 'ञम्' वार्तिककृता व्यवहृत इत्याहुः, तदरभसाभिधानम्, आद्यस्योणादिसूत्रत्वात्, द्वितीयस्य व्याघ्रभूतिकारिकास्थत्वात्; इत्यास्तां तावत्। एष च सङ्ख्यानियमो नातीवोपयुज्यत इत्युपेक्षितः।

संज्ञास्वतिप्रसक्तिस्ताभिरपि संक्षिप्याष्टादशभेदानां बोधादत अत आह—**यद्यपीति**। **योगरूढिरिति**। पङ्कजादिवत् प्रत्याहारशब्दो वैयाकरणनिकाये 'आदिरन्त्येन' इति कृतासु संज्ञासु योगरूढ इति बोध्यम्। **एकस्मादिति**। ङञणवटा एकैकस्माद् एवादिवर्णादग्रे उच्चारिताः सन्तः एकैकमेव प्रत्याहारं जनयन्ति, नानेकमिति भावः। अत्र प्रथमसूत्रस्थ एव णकारो ग्राह्यः। तेन—एङ्, यञ्, अण्, छव्, अट्। द्वाभ्यामादिवर्णाभ्यां परः पः प्रत्याहारद्वयं जनयति—भष्, झष्। त्रिभ्य आदिवर्णेभ्यः परे उच्चारिता कणमाः प्रत्येकं त्रीन् त्रीन् प्रत्याहारान् जनयन्ति—अक्, इक्, उक्, अण्, यण्, इण्, अम्, यम्, ङम्। चतुर्भ्य आदिवर्णेभ्य परौ चयौ प्रत्येकं प्रत्याहारचतुष्टयं जनयन्ति—अच्, इच्, एच्, ऐच्, यय् मय्, झय्, खय्। पञ्चभ्य आदिवर्णेभ्यः परो रः पञ्च प्रत्याहारान् जनयति—यर्, झर्, खर्, चर्, शर्। षड्भ्य आदिवर्णेभ्यः परौ शलौ प्रत्येकं षट् षट् प्रत्याहारान् जनयतः—अश्, हश्, वश्, जश्, झश्, बश्, अल्,

---

हैं। [५+२+९+८+५+६+६=४१ प्रत्याहार होते हैं।] [मनो०]

इस प्राचीनोक्ति का अर्थ यह है कि चतुर्दशसूत्री में विद्यमान हल् जो इत् होते हैं उनके साथ बनाये गये, अष्टाध्यायी में व्यवहृत एकतालीस [प्रत्याहार होते] हैं। ऐसा मानने से सुप् एवं तिङ् आदि के, र-प्रत्याहार के और 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इस वार्तिक में स्थित चय् प्रत्याहार के अधिक हो जाने पर भी कोई दोष नहीं है।

जो यह कहते हैं—'ञमन्त से डप्रत्य होता है' और 'ञमन्तों में एक 'यम्' अनिट् धातु इष्ट है' यहां वार्तिककार ने 'ञम्' यह प्रत्याहार प्रयुक्त किया है'—वह शीघ्रता से (अविचारपूर्वक) कथन है, क्योंकि पहला उणादि सूत्र है और द्वितीय व्याघ्रभूति की कारिकाओं में स्थित है। (वार्तिकवचन कोई नहीं है।) अतः [इस विषय में] शान्त होकर बैठ जाइये। क्योंकि यह संख्यानियम अर्थात् इतने ही प्रत्याहार होते हैं—ऐसा निर्धारण करना अति उपयोगी नहीं है, अतः उपेक्षा कर दी गई है।

"ऊकालोऽच्" (पा. सू. १।२।२७) ह्रस्वदीर्घप्लुत इति समाहारद्वन्द्वः। सौत्रं पुंस्त्वम्।

सौत्रं पुंस्त्वमिति। यद्यपि इतरेतरयोगेऽपि सौत्रमेकवचनं वक्तुं शक्यम्, तथापि "लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य" इति तत्र तत्र वार्त्तिकोक्ते-

---

हल्, वल्, रल्, झल्, शल् इति। एवञ्च सङ्कलनया एकचत्वारिंशत् भवन्ति। **तदुक्तेः**=प्रक्रियाकौमुदीकारोक्तेरित्यर्थः। मूले **तस्यार्थः**=प्रक्रिया-कौमुदीकारकथनस्यार्थः। मूले **उपेक्षित** इति। एवञ्च सर्वेषां प्रत्याहाराणां सङ्ग्रहः फलतीति बोध्यम्।

"ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः" [पा० सू० १।१२७] उश्च, ऊश्च, उ३श्च—वः, वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यादिति—वृत्तिः। ननु ह्रस्वदीर्घप्लुत इत्येकवचनमसङ्गमत आह—मूले **समाहार-द्वन्द्व** इति। ननु

विमर्श—'अइउण्' आदि १४ सूत्रों के अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण=अनुवन्ध के आधार पर कारिका में प्रदर्शित अनुबन्धों के साथ निम्न एकतालीस प्रत्याहार निष्पन्न होते हैं—

१. एङ्,	२. यञ्,	३. अण्,	४. छव्,	५. अट्		=५
१. झष्,	२. भष्					=२
१. अक्,	२. इक्,	३. उक्				=३
१. अण्,	२. इण्,	३. यण्				=३
१. अम्,	२. यम्,	३. ङम्				=३
१. अच्,	२. इच्	३. एच्,	४. ऐच्			=४
१. यय्,	२. मय्,	३. झय्,	४. खय्			=४
१. यर्,	२. झर्,	३. खर्,	४. चर्,	५. शर्		=५
१. अश्,	२. हश्,	३. वश्,	४. झश्,	५. जश्,	६. बश्	=६
१. अल्,	२. हल्,	३. वल्,	४. रल्,	५. झल्,	६. शल्	=६
						योग=४१

['ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुतः' पा०सू० १।२।२७ कुक्कुट आदि के द्वारा उच्चारित उकार के काल के समान काल वाला जो अच् होता है वह क्रम से ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत होता है।] [**मनो०**] ह्रस्वदीर्घप्लुतः इस प्रयोग में समाहारद्वन्द्व है। [यद्यपि समाहारद्वन्द्व में नपुंसक लिङ्ग होता हैपरन्तु यहां] सौत्र (सूत्र में हो जाने वाला) पुंस्त्व है। [**शब्द०**] यद्यपि इतरेतरयोग-द्वन्द्व में भी सौत्र एकवचन कहा जा सकता है तथापि "लिङ्ग के विषय में अनुशासन नहीं करना चाहिये

वां काल इवेति। **फलितार्थकथनमिदम्। विग्रहस्तु 'वः कालो यस्ये'ति बोध्यः। ऊशब्देन स्वोच्चारणकालो लक्ष्यते।**

लिङ्गस्य लौकिकत्वात्तद्व्यत्ययकल्पनमेवोचितं, न तु शास्त्रीयवचनव्यत्यय-कल्पनमिति भावः। **फलितार्थेति।** ऊपदेन स्वोच्चारणकालसदृशलक्षणया कालशब्देन समानाधिकरणबहुव्रीहौ तत् फलतीति भावः। 'वां काल' इति तु न विग्रहो व्यधिकरणत्वादत आह—**विग्रहस्त्विति।** 'काल' इति जात्याख्यायामेकवचनम्। **स्वोच्चारणकाल इति।** स्वोच्चारणकालसदृश इत्यर्थः। सादृश्यमूलके कालयोरभेदाध्यवसाये तु यथाश्रुतमेव साधु।

समाहारद्वन्द्वे पुंस्त्वमसङ्गतमत आह—**सौत्रमिति।** पुंस्त्वस्यैकवचनस्य वा सौत्रत्वस्याश्रयणे न विशेष इति प्राचामनुरोधेनाह—**यद्यपीति। तत्र तत्र**=बहुषु सूत्रेष्वित्यर्थः। **तद्व्यत्ययेति।** लिङ्गव्यत्ययेति। **वचनेति।** एकवचनादीत्यर्थः। मूले **इवमिति।** वां काल इव—इति कथनमित्यर्थः। **ऊपदेनेति।** अस्य बहुव्रीहावन्वयः। **लक्षणयेति।** ऊपदस्य स्वोच्चारणकालसदृशे लक्षणयेत्यर्थः। **कालशब्देनेति।** चेति शेषः। मिथः इति योज्यम्। **तदिति।** परममूलोक्त-

---

क्योंकि लिङ्ग लोकव्यवहार पर आश्रित होता है, इस प्रकार का वार्तिककार ने अनेक स्थलों पर कहा है, इसलिये उस लिङ्ग का ही परिवर्तन (व्यत्यय) करना उचित है न कि शास्त्रविहित बहुवचनादि का व्यत्यय कल्पित करना उचित है, यह भाव है। [मनो०] उकारों के काल के समान काल है (जिसका वह अच् क्रमशः ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत होता है) इस फलितार्थ का कथन है क्योंकि [समानाधिकरण बहुव्रीहि में] विग्रह तो यही होता है—वः कालः यस्य सः ऊकालः। ऊ द्वारा अपने उच्चारण का काल लक्षित होता है। [शब्द०] फलितार्थ है—ऊ पद के द्वारा, स्व के उच्चारणकाल के सदृश में लक्षणा के द्वारा काल शब्द से, समानाधिकरण बहुव्रीहि में वह (वां काल इव कालो यस्य सः) फलित होता है, यह भाव है। 'वां कालः' यह विग्रह तो नहीं होता है क्योंकि व्यधिकरण [भिन्नार्थ-प्रतिपादक] हो जाता है—इसलिए (मनोरमा में) कहते हैं—विग्रह तो 'वः कालो यस्य' यही है। 'कालः' यह जाति की आख्या में एकवचन है, अर्थात् कालत्व-जातिगत एकत्व मानकर एकवचन हुआ है। स्व का उच्चारणकाल=स्व=उकार के उच्चारणकाल के सदृश—यह अर्थ होता है। कालों में सादृश्यमूलक अभेदाध्यवसाय [अभेद का आरोप] करने में तो यथाश्रुत [लक्षणा के बिना ही मूलोक्तकथन] ही साधु है।

आ ये इति। **'निपाता आद्युदात्ताः (फि० सू० १२ पा० ४) इत्याकार उदात्तः। यच्छब्दस्तु फिट् सूत्रेण।**

फिट्सूत्रेणेति। अन्तोदात्त इत्यर्थः। जसस्सुः प्त्वादनुदात्तत्वम्, "एकादेश

वाक्यबोध्यं भिन्नार्थरूपम्। एवञ्चाभेदे शाब्दे भेदः फलतीति परममूलं तत्प्रदर्शकमेव, न तु विग्रहप्रदर्शकमिति भावः। **अभेदाध्यवसाये**=अभेदारोपे इत्यर्थः। **यथाश्रुतमेव**=सदृशे लक्षणाश्रयणं विनैवेति भावः।

उच्चैरुदात्तः (पा०सू० १।२।२९) इत्यस्योदाहरणमाह—**आ ये इति**। आ इत्यस्य निपातत्वात् आद्युदात्तत्वम्। यत् शब्दात् जसि रूपम्। यत् शब्दः 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फि०सू० १।१) इत्यनेनान्तोदात्तः, "त्यदादीनामः" (पा०सू० ७।२।१०२) इत्यनेन दकारस्यानुदात्ताकारे, "अतो गुणे" (पा०सू० ६।१।९७) इत्यनेन पररूपे, "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" (पा०सू० ८।२।५) इत्यनेनैकादेशाकारस्योदात्तत्वे, जसः सुप्त्वात् "अनुदात्तौ सुप्पितौ" (पा०सू० ३।१।४) इत्यनेनानुदात्तत्वे, जसः श्यादेशेऽस्याप्यनुदात्तत्वे "आद्गुणः" (पा०सू० ६।१।८७) इत्यनेनोदात्तानुदात्तयोरकारयोः गुणरूपैकादेशे पुनः "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इत्यनेन एकारस्योदात्तत्वमिति बोध्यम्॥

विमर्श—उश्च, ऊश्च, उ३श्च-इति वः, वः कालः यस्य सः ऊकालः—यह विग्रह मानकर समानाधिकरण बहुव्रीहि सम्भव होता है। यहां 'ऊ' शब्द से अपना उच्चारणकाल लक्षित होता है। शब्दरत्नकार—अपने उच्चारण के कालसदृश को लक्षित मानते हैं और ऊकार के उच्चारणकाल के सदृश काल है जिस अच् का वह ह्रस्व, दीर्घ एवं प्लुत होता है। यहां ऊकारोच्चारणकाल और अच् के उच्चारणकाल इन दोनों में यदि सादृश्य को मानकर अभेदारोप कर लिया जाय तो ऊकाल,=ऊ के उच्चारण का काल है काल जिसका, वह अच् ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत होता है। इस प्रकार सादृश्यपर्यन्त लक्षित नहीं करना पड़ता है॥

उच्चैरुदात्तः [पा०सू० १।२।२९] ताल्वादि जो भागसहित स्थान हैं उनके ऊर्ध्व भाग में निष्पन्न अच् उदात्त होता है। [इसका उदाहरण है—] **[मनो०]** आ ये—'निपात आद्युदात्त होते हैं' [फिट् सू० ४।८०] इससे 'आ' उदात्त है। **[शब्द०]** 'फिषोऽन्त उदात्तः' [फिट् सू० १।१] से 'यत्' **[शब्द०]** अन्तोदात्त है, यह अर्थ है [फिट्=प्रातिपदिक अन्त उदात्त होता है इसके बाद] जस् विभक्ति है वह सुप् होने से 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' [पा०सू० ३।१।४] से अनुदात्त है, ['त्यदादीनामः' (पा०सू० ७।२।१०२) से द् का अनुदात्त 'अ' होता है उसका 'अतो गुणे' (पा०सू० ६।१।९७) से पररूप कर देने पर] "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" (पा.सू. ८।२।५) से 'अ'

अर्वाङ् इति। **अकारोनुदात्तः** ॥

तस्यादितः (पा.सू. १।२।३२)। अतन्त्रमिति। "उपेयिवान्" (पा. सू. ३।२।१०२) इत्यत्रोपसर्ग इवाविवक्षितमित्यर्थः।

उदात्तेन" (पा.सू. ८।२।५) इत्येकार उदात्त इति भावः। **अनुदात्त इति**। फिट्स्वरेणान्तस्योदात्तत्वे शेषनिघातेनेति भावः। अभिमुखवाच्यव्युत्पन्न प्रातिपदिकमर्वाङिति।

नीचैरनुदात्तः (पा० सू० १।२।३०) इत्यस्योदाहरणमाह—अर्वाङ् इति। **शेषनिघातेनेति**। "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (पा०सू० ६।१।१५८) इति सूत्रेणेति भावः ॥

तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम् (पा०सू० १।२।३२)। ह्रस्व-ग्रहणमतन्त्रमिति। **उपसर्ग** इवेति। अयं भावः—'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' (पा०सू० ३।२।१०९) इति सूत्रे यथा 'उप' इत्युपसर्गस्याविवक्षा, तथैव प्रकृतसूत्रे ह्रस्वग्रहणस्याविवक्षा। एवञ्च स्वरितस्यार्धभागो ह्रस्व इति भावः।

अत्रेदं बोध्यम्—स्वरितस्यार्द्धमात्रांशस्योदात्तत्वे पक्षद्वयम्—[१] कौमुदीकार-दीक्षितमते सर्वत्र स्वरितस्य पूर्वार्द्धांश उदात्तः, उत्तरार्द्धांशस्त्वनुदात्त इति। [२]

उदात्त होता है। जस् का शी=ई करने पर य+ई यहाँ उदात्त और अनुदात्त का गुणरूप एकादेश कर देने पर 'ये' यहाँ "एकादेश उदात्तेनोदात्तः सूत्र से 'ए' उदात्त रहता। [पूरा मन्त्र है—आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा मरुद्-भिरवन आगहि। ऋक् १।१९।८] ॥

नीचैरनुदात्तः पा.सू. १।२।३० तात्वादि जो भागसहित स्थान हैं उनके अधो-भाग में निष्पन्न अच् अनुदात्त होता है। इसका उदाहरण है—अर्वाङ्। यहाँ [शब्द] 'फिषोऽन्त उदात्तः' (फि.सू. ११) से अन्त='वा' का 'आ' उदात्त होता है, और 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' पा. सू. ६।१।१५८ से शेषनिघात से आदि 'अ' कार अनुदात्त होता है। यह अर्वाङ् शब्द अभिमुखवाची अव्युत्पन्न प्राति-पदिक है ॥

[तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्—पा०सू० १।२।३३ स्वरित के आदि में ह्रस्व का आधा उदात्त रहता है।] [मनो०] इस सूत्र में ह्रस्व का ग्रहण अतन्त्र=अविवक्षित है जैसे "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' [पा०सू० ३।२।१०२] में 'उप' उपसर्ग अवि-वक्षित रहता है। (इसलिये दीर्घ तथा प्लुत का भी आदि अर्धभाग उदात्त समझना चाहिये। शेष भाग अनुदात्त समझना चाहिए। यहाँ 'आधा' का तात्पर्य विवाद-ग्रस्त है। भट्टोजिदीक्षित स्वरितमात्र के आदि का आधा उदात्त और परिशेषात्

ननु तत्र "ईयिवांसमतिस्रिधः" इत्यादिप्रयोगदर्शनादविवक्षाऽस्तु । इह त्वविवक्षायां प्रमाणं किम् ? इति चेल्लक्ष्यदर्शनं प्रातिशाख्यादिकं चेति गृहाण ।

अविवक्षितमित्यर्थं इति । इदं च वक्ष्यमाणं प्रातिशाख्यं यच्छाखायां, तच्छाखास्थवैदिकोदाहरणविषयम् ।

शब्दरत्नकारमते—सर्वत्रैकमात्रार्धांश उदात्तः शेषांश अनुदात्त इति विशेषः। यथा ह्रस्वस्वरितेऽर्द्धांश उदात्तः शेषांशोनुदात्तः, दीर्घस्वरितेऽर्द्धांश उदात्तः, अवशिष्टः सार्द्धैकमात्रांश अनुदात्तः, एवमेव प्लुतस्वरिते प्रागर्धमात्रांश उदात्तः, शेषांशः सार्द्धमात्राद्वयांशोऽनुदात्त इति । ह्रस्वग्रहणमतन्त्रमित्यनेन स्वरितार्द्धमात्रस्याद्यस्योदात्तत्वविधायकमिति प्रतीयते । एवञ्चासङ्गतिः, दीर्घादावपि अर्द्धमात्राया एवोदात्तत्वस्य लोके दर्शनात् । अस्य व्याकरणशास्त्रस्य सर्वशाखासाधारण्येन सर्वोपकारकव्याख्यानस्यौचित्यात् 'अर्द्धं ह्रस्वशब्दोर्द्धमात्रायां रूढः' इति भाष्यविरोधश्चेत्यत आह—**इदं चेति** । अविवक्षितमित्यादि-मूल-कथनमित्यर्थः। **वक्ष्यमाणमिति** । मूलकर्तैवेति भावः । मूले—**तत्र**"उपयिवाननाश्वान्" इति सूत्रे इत्यर्थः । **इह**='तस्यादित उदात्तमर्द्धंह्रस्वम्' इति सूत्रे इत्यर्थः । जात्यवदिति प्रातिशाख्यवाक्यस्थपूर्वशब्दः प्रकरणात् पूर्वपदपरक इत्याशयेनाह—**पूर्वपदभूतयोरिति** । जात्यवत् पदार्थं वक्तु तद्घटक-जात्यपदार्थमाह—अतोऽन्यदिति ।

उदात्तपूर्वं स्वरितमनुदात्तं पदेक्षरम् ।

आधा अनुदात्त मानते हैं । परन्तु नागेश का यह मत है कि सर्वत्र एक मात्रा का ही आधा अंश उदात्त होता है शेष अंश अनुदात्त रह जाता है । अतः ह्रस्व में तो आधा+आधा उदात्त+अनुदात्त है किन्तु दीर्घ में आधी मात्रा उदात्त और डेढ़ मात्रा अनुदात्त तथा प्लुत में आधी मात्रा उदात्त और ढाई मात्रा अनुदात्त रहती है । [**शब्द०**] अविवक्षित है । और यह (अविवक्षितत्वकथन) [सिद्धान्तकौमुदी में] आगे कहा जानेवाला प्रातिशाख्य जिस शाखा में है, उस शाखा में स्थित वैदिक उदाहरणो को विषय मानकर है ।]

[**मनो०**] पूर्वपक्ष—वहाँ (उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च पा०सू० ३।२।१०२ में "ईयिवांसमतिस्रिधः" इत्यादि प्रयोग दिखाई देने के कारण [उप उपसर्ग की] अविवक्षा हो जाय, ठीक है, परन्तु प्रस्तुत स्थल में [ह्रस्व की] अविवक्षा में क्या प्रमाण है ? उत्तरपक्ष—यदि ऐसा कहते हो तो लक्ष्यों का दिखाई देना और प्रातिशाख्य आदि को प्रमाण मान लेना चाहिये । यह इस प्रकार है—

तथा हि—'येऽराः' इत्यत्रैकारः, 'तनूनपात्' 'शचीपतिम्' इत्यत्र पदपाठे ऊदीतौ चार्धोदात्तौ इति सकलबह्वृचप्रसिद्धम्। तनूनपाच्छचीपतिशब्दयोः "उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्" [पा. सू. ६।२।१४०] इति पूर्वोत्तरपदयोराद्युदात्तत्वे कृते "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (पा. सू. ६।१।१५८) इति शेषनिघातः। पूर्वपदभूतयोस्तनूशची—एतयोरन्त्यस्य पाक्षिकं स्वरितत्वं प्रातिशाख्ये उक्तम्—

"जात्यवद्वा तथा वाऽन्तौ तनूशचीति पूर्वयोः" इति। (ऋक् प्रा. ३।२६)

तनूनपाच्छचीपतिशब्दयोरिति। अस्य यद्यपीत्यादिः। शेषनिघात इति। अस्य तथापीति शेषः। तेनोदीतौ अनुदात्तौ प्राप्नुत इति भावः। जात्यवद्वेति। पूर्वपदभूतयोस्तनूशचीशब्दयोरन्तौ जात्यवदिति।

अतोऽन्यत्स्वरितं स्वारं जात्यमाचक्षते पदे।

इति लक्षितो जात्यः। उदात्तस्वरितपूर्वस्वरितादन्य एकपदे स्थितः स्वरितो जात्य इति तदर्थः। तेन तुल्यं तद्वत्, अस्यान्त उदात्तश्रुतिक

इति पूर्वमुक्तः। **अतः**=प्रकृतादुदात्तपूर्वात् स्वरितानुदात्तात् अन्यत्। उदात्तश्च स्वरितश्च—उदात्तस्वरितौ, तौ पूर्वौ यस्मात् तस्मात् स्वरितादन्य

[रथानां न येऽराः। ऋक् १०।७८।४ के] 'येऽराः' यहाँ एकार और 'तनूनपात्' 'शचीपतिम्' इनमें पदपाठ में ऊकार और ईकार अर्ध उदात्त हैं, यह समस्त बह्वृचों=ऋग्वेदियों में प्रसिद्ध है। यद्यपि तनूनपात् और शचीपति शब्दों में 'उभे वनस्पत्यादिषु युगपत्' पा०सू० ६।२।१४० से पूर्व एवम् उत्तर पदों का आद्युदात्त कर देने पर (परिशेषात्) "अनुदात्तं पदमेकवर्जम्" (पा०सू० ६।१।१५८) इससे शेष का निघात हो जाता है क्योंकि इस सूत्र से ऊकार और ईकार का अनुदात्त प्राप्त होता है यह भाव है तथापि पूर्वपदभूत तनु एवं शची शब्दों के अन्त्य का पाक्षिक स्वरित होना प्रातिशाख्य में कहा गया है—पूर्व=पूर्वपदभूत तनू एवं शची शब्दों के अन्त्य जात्यवत्=जात्य स्वरित के तुल्य अथवा वैसे [अर्थात् पूर्व सूत्र ३।२४ और ३।२५ में कहे गये के अनुसार] समझने चाहिये। [ऋग्वेद प्रातिशाख्य ३।२६] [शब्द०] एक पद में इस [उदात्तपूर्वस्वरित] से भिन्न जो स्वरित स्वर होता है उसे 'जात्य स्वरित' कहते हैं, इस लक्षण से लक्षित जात्य है।

उदात्त एवं स्वरित हैं पूर्व में जिसके ऐसे स्वरित से भिन्न एक पद में स्थित स्वरित जात्य होता है—यह इस [प्रातिशाख्य-वचन] का अर्थ है। उसके तुल्य=

तथा स्वरिताद्धंस्योदात्तत्वे प्रातिशाख्यमपि—

एकाक्षरसमावेशे पूर्वयोः स्वरितः स्वरः ।

इत्यर्थः । तथा वा असंहितवद्वा—संहितवद्वेत्यर्थः ।

पद्यादींस्तु द्व्युदात्तानामसंहितवदुत्तरान् । (ऋक् प्रा. ३।२५)

इत्युत्तरमस्य पाठात् । असंहितवदित्यनेन केवलमनुदात्तत्वम् । संहितवदित्यनेनार्धानुदात्तस्वरितत्वमिति तद्भाष्ये स्पष्टम् । तथेति । लक्ष्यदर्शनवत्प्रातिशाख्यमपि प्रमाणमस्तीत्यर्थः ।

इत्यर्थः । **इत्यर्थः**=पर्यवसितार्थः । प्रातिशाख्यस्थं 'तथा वा' इति व्याचष्टे—**असंहितवदिति** । जात्यवद्भावासंहितवद्भावयोर्विकल्पार्थको वा-शब्दः । द्वितीयकोटौ वा-शब्दोपादानेन विकल्पेऽर्थात् तत्कोटि-विपरीता कोटिर्लभ्यते, तेन संहितवदित्यस्यार्थस्य लाभ इति । तथाशब्देनासंहितवदित्यस्य प्रतिपादने साधकमाह—

तद्वत्, (जात्य के तुल्य जात्यवत्), इस पद का अन्त उदात्त श्रुतिवाला होता है यह अर्थ है । [जात्या=स्वरूप से ही=उदात्त एवम् अनुदात्त की संगति के बिना ही होनेवाला 'जात्य' कहा जाता है । प्रस्तुत स्थल में 'तनूनपात्' और 'शचीपतिम्' शब्दों में पूर्वपदभूत तनू और शची के अन्तिम अक्षर 'ऊ' तथा 'ई' जात्यस्वरित हो जाते है और 'तथा वा' अर्थात् २४ एवं २५ वें सूत्र के अनुसार हो जाते हैं । इसे ही कहते हैं ।] तथा वा=संहितवद् वा, असंहितवद् वा होता है—यह अर्थ है क्योंकि यह पूर्व है और—

दो उदात्त वाले पदों के उत्तर वाले पद्यादियों (अर्थात् उत्तर पद्यों के आद्य अक्षरों) को असंहितवत् (अर्थात् पूर्व-पद्यों के अन्तिम अक्षरों के साथ न मिले हुये के समान समझना चाहिये ।)

इसके बाद में यह (मनोरमोक्त प्रातिशाख्य) पठित है । असंहितवत्=इससे केवल अनुदात्त होना और संहितवत् इससे आधा अनुदात्त और आधा स्वरित होना —यह उसके भाष्य में स्पष्ट है ।.(यहाँ प्रातिशाख्य में दो बार 'वा' शब्द का प्रयोग है । प्रथम 'वा' से जात्यवद् और असंहितवद्भाव के वैकल्पिकत्व का ज्ञान होता है तथा द्वितीय 'वा' शब्द से इन दोनों का विकल्प ज्ञात होता है जिसका फलितार्थ है—संहितवत् ।)

[मनो०] स्वरित का आधा उदात्त होने में [शब्द०] लक्ष्यदर्शन की भाँति प्रातिशाख्य भी प्रमाण है—यह अर्थ है । (मनो०)—

'पूर्वों (उदात्त और अनुदात्त) का एक अक्षर में समावेश होने पर

तस्योदात्ततरोदात्तादर्धमात्राऽर्द्धमेव वा ॥
अनुदात्तः परः शेषः, स उदात्तश्रुतिर्न चेत् ।
उदात्तं वोच्यते किञ्चित्स्वरितं वाऽक्षरं परम् ॥ इति ।

अस्यार्थः—पूर्वयोरुदात्तत्वानुदात्तत्वयोरेकत्र समावेशे सति स्वरितो बोद्‌ध्यः । तस्य=स्वरितस्य, स्वतन्त्रोदात्तापेक्षयोदात्ततराऽर्द्धमात्रा बोद्‌ध्येति । "क्व वोऽश्वाः" इत्यादि ह्रस्वाभिप्रायम् । "अर्द्धम् वा" इति दीर्घाभिप्रायम् । अनेनैव ह्रस्वस्यापि सङ्ग्रहाद्व्यापकत्वादिदमेवादर्तव्यमिति सूचयितुमेवकारः ।

स्वतन्त्रोदात्तापेक्षयेति । श्लोके "उदात्तात्" इति स्वतन्त्रोदात्तादित्यर्थक-मिति भावः । एवकार इति । तच्छाखायां दीर्घादिष्वपि समांशोदात्तकस्व-

---

स्वरित स्वर होता है ।'

उस (स्वरित) की आधी मात्रा अथवा (सम्पूर्ण स्वरित का) आधा भाग उदात्त से उदात्ततर=उच्चतर (उच्चारित होता है) ।

(स्वरित का) परवर्ती अवशिष्ट अनुदात्त (अंश) उदात्त के समान श्रुतिवाला होता है, सुनाई देता है ।

(स्वरित का अनुदात्त अंश तभी उदात्त के समान सुनाई देता है) यदि (उस स्वरित के) बाद में विद्यमान अक्षर उदात्त अथवा स्वरित उच्चारित न होता हो । (अर्थात् उस स्वरित के बाद उदात्त अथवा स्वरित न हो ।)

इस प्रातिशाख्य का यह अर्थ है—पूर्व=उदात्तत्व एवम् अनुदात्तत्व का एक में समावेश करने पर स्वरित समझना चाहिये । उस=स्वरित की, स्वतन्त्र उदात्त की अपेक्षा आधी मात्रा उदात्ततर समझनी चाहिये । [शब्द०] श्लोक में 'उदात्तात्' यह 'स्वतन्त्र उदात्त से' इस अर्थवाला है, यह भाव है । [मनो०] 'क्व वोऽश्वाः' इत्यादि ह्रस्व के अभिप्राय से है [अर्थात् यहाँ ह्रस्व स्वरित की आधी मात्रा उदात्त से उदात्ततर होती है ।] 'अथवा आधा' (उदात्ततर होता है) यह दीर्घ स्वरित के अभिप्राय से है (अर्थात् दीर्घ की आधी मात्रा उदात्त से उदात्ततर हो जाती है ।) इसी से अर्थात् 'अर्धं वा' इस कथन से ह्रस्व का भी संग्रह हो जाने से व्यापक होने के कारण इसी कथन का आदर करना चाहिये, इसी तथ्य को सूचित करने के लिए 'एव' का प्रयोग है । [शब्द०] क्योंकि उस शाखा में दीर्घ आदि में भी समांश उदात्तवाले स्वरित का ही पाठ है, यह भाव है । इस प्रकार के अभिप्राय वाले 'एव' के पाठ से ये दोनों पक्ष वैकल्पिक हैं, यह कथन निरस्त

"अनुदात्त" इत्यादिपरिशेषसिद्धार्थकथनम्। सः=शेषः, उदात्तश्रुतिः स्यात्। किमविशेषेण? नेत्याह—न चेदित्यादि। उदात्तस्वरितपरं विहायेत्यर्थः। शाकल्योऽप्याह—

"अप्राकृतस्तु यः स्वारः स्वरितोदात्तपूर्वगः।
उदादायार्द्धमस्याथ शिष्टं निघ्नन्ति कम्पितम॥ इति।

रितस्यैव पाठादिति भावः। एतेनैतौ पक्षौ वैकल्पिकावित्यपास्तम्। 'वा'शब्दस्तु पादपूरणायेति बोद्धव्यम्। अप्राकृत इति। स्वरितविशेष इत्यर्थः। स्वार इति। स्वर एव स्वारः, स्वार्थेऽण्। स्वरितोदात्ताभ्यां

पद्व्यादीनिति। एतेनेति। एवकारस्योक्तार्थसूचनफलकत्वेन इति भावः। एतौ पक्षौ=[१] अर्द्धमात्रा [२] अर्द्धमेव वा इति पक्षौ। ननु यदि नैतौ वैकल्पिकौ तदा 'वा' शब्दस्य वैयर्थ्यमत आह—वा शब्द इति। मूले—अप्राकृतस्त्विति। स्वरितो द्विधा—[१] प्राकृतः [२] अप्राकृतश्च। तत्र प्रकृत्या=स्वभावेन अर्थात् उदात्तानुदात्तयोर्यथाकथञ्चित् सङ्गतिं विना जातो यो जात्यनित्यपदव्यवहार्यः स आद्यः, स च 'उदात्तस्वरितयोर्यणः' (पा०सू० ८।१।४) 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' (पा०सू० ८।२।६)' 'तित्स्वरितम्' (पा०सू० ६।१।१९५) इति सूत्रैर्विहितः। एतद्-भिन्नः, "उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः" (पा०सू० ८।४।५६) इति सूत्रविहितः, सन्धि-

---

हों गया। 'वा' शब्द श्लोक के पाद की पूर्ति के लिये है। [शब्दरत्नकार का तात्पर्य यह है कि दीर्घ आदि में भी आधा भाग ही उदात्त होता है, यह सिद्धान्त मानना चाहिये। अतः श्लोक के 'वा' के कारण इनमें विकल्प मानना ठीक नहीं है। अन्यथा 'एव' का पाठ व्यर्थ हो जाता है।) [मनो०] 'अनुदात्त' इत्यादि परिशेषात् सिद्ध अर्थ का कथन है। वह=शेष=अनुदात्त उदात्त श्रुतिवाला हो जाता है। क्या यह सामान्यरूप से होता है अर्थात् सर्वत्र होता है? नहीं, इसलिए कहते हैं—"न चेत्" आदि। उदात्तपरक और स्वरितपरक स्वरित को छोड़कर शेष का आधा भाग=अनुदात्त उदात्त श्रुतिवाला हो जाता है।

शाकल्य भी कहते हैं—

स्वरित एवम् उदात्त से पूर्ववर्ती वर्ण में रहनेवाला जो अप्राकृत=स्वरित-विशेष, स्वार=स्वर होता है, उसके अर्ध भाग को उदात्त करके शेष को कम्पित निघात=अनुदात्त करते हैं। [कम्प=अनुदात्त-विशेष]

[शब्द०] अप्राकृत=स्वरितविशेष। स्वार—स्वर ही स्वार है क्योंकि स्वार्थ में अण् करने पर स्वर=स्वार है। स्वरित और उदात्त से पूर्ववर्ती वर्ण में रहने-

उदादाय=उदात्तं कृत्वा। 'अर्द्धं ह्रस्वशब्देनार्द्धमात्रा लक्ष्यते' इति हरदत्तादिग्रन्थास्तु मतान्तरपरतया कथंचिन्नेयाः।

पूर्ववर्णंग इत्यर्थः। लक्ष्यते इति। तदुक्तं भाष्ये—"अर्द्धह्रस्वशब्दोऽर्द्धमात्रायां रूढः" इति। हरिरप्याह—

"प्रमाणमेव ह्रस्वादावनुपात्तं प्रतीयते" इति।

अनुपात्तमपि अर्द्धमात्रारूपं प्रमाणमेवोपलक्ष्यते इत्यर्थं तस्य हेलाराज आह। एवं च लोकेऽन्यशाखासु च दीर्घादिष्वप्यर्धमात्रैवोदात्तेति भावः। मतान्तरेति। प्रातिशाख्योक्तमतापेक्षयेतरवेदलोकसाधारणमतान्तरेत्यर्थः। कथञ्चिदिति। लक्ष्यते इत्यंशपरमिदम्। भाष्यतो रूढिशक्तेरेव प्रतीतेरिति

स्वरितः, उदात्तपूर्वस्वरितश्च सर्वोऽप्राकृतस्तदाह—**स्वरितविशेष** इति। ननु 'सौवर्यः सप्तम्य' इतिवद् ऐच्युक्त एवोचित इति चेत्, आर्षत्वात् ऐजभावात्। अत आह—**स्वर एवे**ति। मूले—**अनुपात्तमि**ति। संज्ञासूत्रेणानुक्तमपीत्यर्थः, शब्दशक्त्यप्रतिपाद्यमपीत्यर्थः। **तस्य**=वाक्यपदीयस्य। साम्प्रतं निष्कर्षमाह—**एवञ्चे**ति। अर्द्धह्रस्वशब्दस्यार्द्धमात्राप्रतिपादकत्वसिद्धौ चेत्यर्थः। **अन्यशाखासु**=दीक्षितप्रदर्शितशाखाभिन्नशाखास्वित्यर्थः। **मात्रैवे**ति। एवकारेण 'अर्द्धांशस्योदात्तत्वनिरास इति भावः। **प्रातिशाख्योक्ते**ति। 'अर्द्धमेवेति' प्रागुक्त-ऋक्-प्रातिशाख्योक्तमतापेक्षया तैत्तिरीयप्रातिशाख्यानुरोधेनान्यवेदलोक - साधारण-मुख्य-

---

वाला—यह अर्थ है। **[मनो०]** उदादाय=उदात्त करके। 'अर्धंह्रस्वम्' इस सूत्र-घटक ह्रस्व शब्द से आधी मात्रा लक्षित होती है। इस प्रकार के (पदमञ्जरीकार) हरदत्त आदि के ग्रन्थ=व्याख्यान तो अन्य मतपरक होने से किसी प्रकार समझ लेना चाहिये। [अर्थात् उन्होंने जो आधी मात्रा का उदात्तत्व कहा है वह अन्य किसी ग्रन्थ के आधार पर है] **[शब्द०]** लक्षित होता है—जैसा कि भाष्य में कहा गया है—"अर्धह्रस्व शब्द अर्धमात्रा में रूढ है।" भर्तृहरि ने भी कहा है—

अनुपात्त प्रमाण ही ह्रस्व आदि में प्रतीत हो जाता है। अनुपात्त भी अर्ध मात्रारूप प्रमाण ही उपलक्षित होता है, इस अर्थ को हेलाराज ने कहा है। इस प्रकार [अर्धह्रस्व शब्द के अर्धमात्रा अर्थ में रूढ होने पर] लोक में तथा अन्य शाखाओं में दीर्घादि में भी आधी मात्रा ही उदात्त होती है, यह भाव है। हरदत्त के ग्रन्थों को मतान्तरपरक=प्रातिशाख्योक्त मत से भिन्न वेद एवं लोक उभय-साधारण मुख्य-मतपरक समझना चाहिये, यह अर्थ है। 'कथंचित् नेयाः' यहाँ कथंचित् यह हरदत्तोक्त 'लक्ष्यते' इस अंशपरक है क्योंकि भाष्य से तो रूढिशक्ति की ही प्रतीति

क्वेति । 'किमोऽत्' 'तित् स्वरितम्' । व इति । अनुदात्तं सर्वमपादादौ" (पा. सू. ८।१।१८) इत्यधिकारादनुदात्तम् । अश्वा इति । अशेः क्वनि नित्स्वरेणाद्युदात्तम् । संहितायां तु "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" (पा. सू ८।२।२५) इत्योकार उदात्तः ।

मते इत्यर्थः । अत 'अन्तर' शब्दो मुख्यवाची, अन्यथा 'इतर' इत्यनेन पौनरुक्त्यापत्तेः, मुख्यत्वं च सर्वसाधारण्यादेवेत्यर्थः । यद्वा इतरत्वं बुद्धिस्थप्रागुक्तऋग्वेदापेक्षं वेदान्वयि, तथा चान्तरशब्दोऽन्यार्थ इति भावः । एवञ्च इतरो यो वेदः, लोकश्च एतदुभयसाधारणमतान्तरं तत्परतया व्याख्येय इति भावः ।

स्वरितस्योदाहरणमाह मूले—**क्वेति** । किम् शब्दात् "किमोऽत्" इत्यति, "क्वाति" (पा० सू० ७।२।१०५) इति क्वादेशे, "तित् स्वरितम्" (पा०सू० ६।१।१८५) इति क्वशब्दस्याकारः स्वरितः, तस्याद्यंश उदात्तः, परार्द्धांशोऽनुदात्त इति बोध्यम् । **व** इति । युष्माकमित्यस्य स्थाने 'बहुवचने वस्नसौ'

होती है, यह भाव है । [तात्पर्य यह है कि भाष्यादि-प्रमाणों से जब अर्धह्रस्व शब्द अर्धमात्रा अर्थ में रूढ है तब मनोरमोक्त 'कथंचित्' की संगति कैसे होगी? इस पर शब्दरत्नकार का यह कहना है कि हरदत्त ने जो 'लक्ष्यते' कहा है उसे ही कथंचित् के साथ जोड़ना चाहिये 'कथंचित् लक्ष्यते' वास्तव में शक्त्या ही प्रतीत होता है।]

[मनो०] क्व [वोऽश्वाः] इसमें किम् शब्द से 'किमोऽत्' (पा०सू० ५।३।१२) से अत्=अ प्रत्यय होने पर 'क्वाति' सूत्र से किम् का क्व आदेश होता है । यहाँ त् इत् है अतः ['तित् स्वरितम्' (पा०सू० ६।१।१८५ से अकार) स्वरित होता है । [इस स्वरित का आद्यंश उदात्त है और आधा अंश अनुदात्त है ।]

[वोऽश्वाः] वः (अस्माकम् के स्थान पर 'बहुवचनस्य वस्नसौ' सूत्र से 'वस्' आदेश होता है और वह] 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' पा०सू० ८।१।१८ इस अधिकार सूत्र से अनुदात्त होता है ।

अश्वाः—अश् धातु से क्वन्='व' प्रत्यय होने पर नित् (न् की इत्संज्ञावाला) होने से 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' (पा०सू० ६।१।१९७) से आद्युदात्त है । [वस्+अश्वः, 'ससजुषोः रुः (पा०सू० ८।२।६६) से 'स्' का 'रु', 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (पा०सू० ६।१।१२३) से 'रु' का 'उ' और 'आद्‌गुणः' (पा०सू० ६।१।८७) से गुण करने पर वो+अश्वाः यहाँ 'एङः पदान्तादति' (पा०सू० ६।१।१०९) से पूर्वरूप संहिता कार्य करने पर 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' (पा०सू० ८।२।२५) से [अनुदात्त 'ओ' और आद्युदात्त 'अ' का पूर्वरूप एकादेश] ओकार उदात्त होता है ।

ये अरा इति। द्वयमपि फिट्सूत्रेणान्तोदात्तम्। एकादेशस्तु पक्षे स्वरितः। "स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ" (पा. सू. ८।२।६) इत्युक्तेः।

भावः। इत्युक्तेरिति। "नोदात्तस्वरितोदयम्" (पा.सू. ८।४।६७) इति निषेधस्तु "उदात्तादनुदात्तस्य" (पा. सू. ८।४।६६) इत्यस्यैव, 'अनन्तरस्य' इति न्यायादिति भावः॥

(पा०सू० ८।१।११) इत्यनेन वस् आदेशः, स च 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' (पा०सू० ८।१।१८) इत्यनेनानुदात्तः। अश्वा इति। "ञ्नित्यादिर्नित्यम्" (पा०सू० ६।१।१९७) इत्यनेन आद्युदात्तत्वम्। "क्व वोऽश्वाः क्वाभीषवः कथं शेक कथा यय। पृष्ठे सदो नसोर्यमः।" (ऋ. ५ म. ६१ सू. २) इति सम्पूर्णमन्त्रः।

ये अरा इति। यत् शब्दः फिट्स्वरेणान्तोदात्तः, ततः जसि, श्यादेशे, "त्यदादीनामः" (पा०सू० ७।२।१०२) इत्यनेन दकारस्यात्वे पररूपे गुणरूपैकादेशे च 'ये' शब्दोन्तोदात्तः। अरशब्दः फिट्स्वरेणान्तोदात्तः, ततः जसि, पूर्वसवर्णदीर्घे, एकादेश उदात्तः। एवञ्च अराः शब्दोऽन्तोदात्तः। अकारस्तु शेषनिघातेनानुदात्तः। एवञ्च ये+अराः इत्यत्र पूर्वरूपैकादेशः। स च 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ" (पा०सू० ८।२।६) इत्यनेन पाक्षिकः स्वरितः॥

[रथानां न] ये अराः—यहाँ दोनों शब्द 'फिषोऽन्त उदात्तः' [फिट् सू० १।१] से अन्तोदात्त हैं। दोनों का पूर्वरूप एकादेश तो पक्ष में स्वरित होता है क्योंकि 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' [पा.सू. ८।२।६] पदादि अनुदात्त परे रहते एकादेश स्वरित विकल्प से होता है ऐसा कहा गया है। [**शब्द०**] "नोदात्तस्वरितोदयम्" पा०सू० ८।२।६७ इससे स्वरित का निषेध नहीं होता है क्योंकि 'अव्यवहित का ही निषेध होता है' इस न्याय से 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' पा०सू० ८।२।६६ से विहित स्वरित का ही निषेध करता है।

विमर्श—ये अराः यहाँ यत् प्रातिपदिक 'फिषोऽन्त उदात्तः' [फि.सू. १।१] से अन्तोदात्त है। 'त्यदादीनामः' [पा.सू. ७।२।१०२] से दकार का अनुदात्त अकारादेश होने पर पररूप एकादेश में उदात्त ही रहता है। जस् विभक्ति 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' पा.सू. ३।१।४ से अनुदात्त है उसके स्थान पर 'जसः शी' (पा. सू. ७।१।१७) से शी=ई आदेश और गुणरूप एकादेश करने पर उदात्त ही रहता है। अराः शब्द ऋ धातु से अंच् प्रत्यय करने पर बना है, 'चितः' (पा. सू. ६।१।६३) से अन्तोदात्तं है। और 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' सूत्र से शेषनिघात द्वारा 'अ' अनुदात्त है। ये+अराः यहां 'एङः पदान्तादति' पा. सू. ६।१।१०९

मुखं च नासिका चेति विग्रहे प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावे 'मुखनासिकम्' इति स्यादत आह—मुखसहितेति ॥

मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः [पा० सू० १।१।८] । खन्यते=अवदीर्यते=चर्व्यतेऽन्नादिकमनेनेति मुखम् । 'खनु खनने' इत्यस्मात् करणे 'डित्खनेमुट्चोदात्तः'' [उ० पा० २०] इति अलि अचि वा प्रत्यये धातोर्मुडागमे डित्वात् अनुरूपस्य टेर्लोपे मुखमिति । नासते=प्राणवायोः प्रवेशनिर्गमाभ्यां शब्दं करोतीत्यर्थे 'णासृ शब्दे' इत्यतः पचाद्यचि नासा शब्दः सिध्यति । संज्ञायां कनि नासिकेति रूपम् । उच्यते=उच्चारणजन्यज्ञानविषयीक्रियते वर्णोऽनेनेति करणे ल्युटि वचनमिति । मुखेन सहिता मुखसहिता, मुखसहिता चासौ नासिका च—मुखनासिका इत्यत्र' शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च' इत्यनेन 'सहिता' इत्यस्य लोपे मुखनासिकेति । मुखनासिकावचनमस्य वर्णस्य सोऽनुनासिकसंज्ञः स्यादिति बहुव्रीहिः बोध्यः । मुख-

---

से जो पूर्वरूप एकादेश होता है वह 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ पा. सू. ८।२।६ से पक्ष में स्वरित होता है । यहाँ 'ए' का आदि अंश उदात्त है और परभाग अनुदात्त है क्योंकि 'राः' यहाँ 'आ' उदात्त होने से उदात्तपरक स्वरित है ।

'येऽराः' यहां जो एकादेश स्वरित किया गया है उसमें 'नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्' (पा०सू० ८।४।६७) से स्वरित के निषेध की शंका और 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इस न्याय द्वारा पूर्वसूत्र 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' पा०सू० ८।२।६६ से प्राप्त स्वरित का निषेध होना शब्दरत्नकार ने लिखा है, वह उचित नहीं है क्योंकि ''उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (पा.सू. ८।४।५६) यह अनुदात्त का स्वरित करता है और 'नोदात्तस्वरितोदयम्' (पा.सू. ८।२।६७) उसी का निषेध करता है । किन्तु ''स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' (पा.सू. ८।२।६) यह तो एकादेश का स्वरित-विधान करता है— अतः यहां 'नोदात्तस्वरितोदयम्' सूत्र की प्राप्ति ही नहीं है, उसके वारण का उपायचिन्तन भी अप्रामाणिक है ।।

(मनो०) मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (पा०सू० १।१।८) मुखं च नासिका च—इस विग्रह में प्राणी का अङ्ग होने के कारण (द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् (पा०सू० ८।४।८ से) एकवद्भाव नपुंक करने पर (पाणिपादम् आदि के समान) 'मुखनासिकम्' ऐसा होता—इसलिये (सिद्धान्तकौमुदी में) कहते हैं—मुखसहित (नासिका से उच्चार्यमाण वर्ण अनुनासिक होता है । मुखसहिता नासिका इस विग्रह में 'शाकपार्थिवादीनामुत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्' इस वार्तिक से 'सहिता' का लोप हो जाता है । उच्यतेऽनेन इति वचनम्—मुखनासिकावचनमस्य सः मुखनासिकावचनः वर्ण अनुनासिकसंज्ञक इत्यर्थः ।) शब्दरत्नकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है ।।

तुल्यास्य० (पा. सू. १।१।९)। आस्ये भवमास्यं, "शरीरावयवाद्यत्"—इत्यभिप्रेत्याह—ताल्वादीति। आभ्यन्तरेति। एतच्च प्रशब्दबलाल्लभ्यते।

आस्यशब्देन कथं तदवयवताल्वादिग्रहणमत आह—आस्ये भवमिति। प्रशब्दबलादिति। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नः, प्रकर्षश्च वर्णोत्पत्त्यव्यवहित-प्राक्का-

---

सहितनासिकयोच्चार्यमाणोऽनुनासिकः स्यादिति तु उच्यतेऽसौ—इति वचनः, कर्मणि ल्युटोऽभिप्रायेण फलितार्थकथनपरमिति बोध्यम्, 'मुखनासिकं वचनमस्य' 'मुखोपसहिता वा नासिका वचनमस्य सोऽयं मुखनासिकवचनः' इत्यादिभाष्यात् करणसाधनस्यैव वचनशब्दस्य बहुव्रीहेश्च प्रतीतेः। मुखं च नासिका चेति समाहारद्वन्द्वस्तु न, "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" [पा० सू० २।४।२] इति नियमात् 'स नपुंसकम्' (पा० सू० २।४।१७) इत्यनेन नपुंसकत्वे "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" [पा० सू० १।२।४७] इति ह्रस्वत्वे 'मुखनासिकवचन' इति प्रयोगापत्तेरत आह—परममूले—मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोनुनासिकसंज्ञः स्यादिति। शब्दरत्नकारेण नेदं सूत्रं व्याख्यातमिति बोध्यम्॥

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् [पा० सू० १।१।९] ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यादिति वृत्तिः। आङ्पूर्वात् 'स्यन्दू प्रस्रवणे' इति धातोः आस्यन्दते=अन्नादिकं प्राप्य द्रवीभवतीत्यर्थे 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वार्त्तिकेन कर्तरि 'ड' प्रत्यये, अथवान्नेन द्रवीक्रियते इत्यन्तर्भावितण्यर्थात् स्यन्दधातोः परिखेत्यत्रेव कर्मणि ड प्रत्यये, अस्यन्ति=प्रकाशन्ते वर्णा अनेनेत्यर्थे, अस्यते ग्रासोऽस्मिन्नित्यर्थे वा 'असु क्षेपणे' इत्यतः 'ऋहलोर्ण्यत्' [पा० सू० ३।१।१२४] इति करणेऽधिकरणे वा ल्युटि 'आस्यम्' इति निष्पद्यते। किन्तु सर्वेषां वर्णानां तत्तुल्यमिति तदुपादानवैयर्थ्यप्रसङ्गः, अत आस्यशब्दस्यास्यभव-

---

तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (पा.सू. १।१।९) (शब्द०) आस्य शब्द से आस्य के अवयव ताल्वादि का ग्रहण कैसे होता है—इस लिये कहते हैं—[मनो०] आस्य में होनेवाला आस्य है, क्योंकि 'शरीरावयवाद्यत्' सूत्र से यत् प्रत्यय होता है। इसी आशय से [सिद्धान्तकौमुदी में] कहते है—तालु आदि [स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न ये दोनों जिसके, जिसके साथ तुल्य होते हैं वे दोनों सवर्ण होते हैं।] आभ्यन्तर यह [प्र-यत्न घटक] 'प्र' उपसर्ग के बल से ज्ञात होता है। [शब्द०] क्योंकि प्रकृष्ट यत्न=प्रयत्न है, और प्रकर्ष—वर्णों की उत्पत्ति के अव्यवहित प्राक्कालिकत्वरूप [अर्थात् वर्णों की उत्पत्ति के पहले होना ही इन यत्नों में प्रकर्ष है वह आभ्यन्तरों में ही है। अतः उन्हीं को लिखा गया] यह भाव है।

तुल्यास्यं किम् ? तप्र्ता। अत्र पकारस्य तकारे परे "झरो झरि" (पा.सू. ८।४।६५) इति लोपो मा भूत्। प्रयत्नग्रहणं किम् ? वाक् श्चोतति। शस्य लोपो न। ञमङणनानामिति। **'नासिका च' इति चकारेण स्वस्ववर्गानुकूलं**

लिकत्वरूप इति भावः। **चकारेणेति।** अत्र यथा नासिकायाः स्थानत्वं, तथाऽन्यत्र निरूपितम्।

ताल्वादिस्थानपरत्वमत आह मूले—**आस्ये भवमि**ति। प्रपूर्वाद् 'यत्' धातोः यतन-मित्यर्थे "यजयाचयतपृच्छरक्षो नङ्" [पा० सू० ३।३।९०] इत्यनेन भावे नङि, 'नङन्तः' [लिङ्गानु० ३९] इति पुंस्त्वम्—प्रयत्नः। यत्न इत्येव वक्तव्ये सूत्रे प्रग्रहणात् प्रकृष्टो यत्नः—प्रयत्नः इत्यर्थेन वर्णाभिव्यक्त्यव्यवहित - प्राक्काल-भवत्वरूपप्रकर्षस्याभ्यन्तरे एव सत्त्वात्, तस्यैव ग्रहणमित्यत एवाह—परममूले—**आभ्यन्तरप्रयत्नश्चे**ति। मूले 'तप्र्ता' इत्यत्र पकारतकारयोर्भिन्नस्थानकत्वात् सावर्ण्याभावात् पकारस्य लोपो न भवतीत्येतदर्थं—**तुल्यास्यमि**ति। आभ्यन्तरप्रयत्न-योस्तुल्यत्वाश्रयणेन वाक्+श्चोतति इत्यत्र 'झरो झरि सवर्णे' [पा० सू० ८।४।६५] इति चकारे परे शकारस्य लोपो न भवतीत्याह मूले—**शस्य लोपो ने**ति। **अत्र**=एषु कण्ठादिषु मध्ये इत्यर्थः। **अन्यत्र**=लघुशब्देन्दुशेखरे इत्यर्थः। यद्देशावच्छेदेन वायुसंयोगं विना न यद्वर्णोत्पत्तिस्तद्देशस्य तद्वर्णस्थानत्वम्। वर्णत्वव्याप्य-धर्मावच्छिन्न-जन्यतानिरूपित-जनकतावत्त्वमिति यावत्। नासावच्छेदेन वायुसंयोगं विनापि ङकारादीनामनुत्पत्तेर्नासिकाया ङकारादिनिरूपितं स्थानत्वम्। अनुना-

---

(मनो०) 'आस्य=ताल्वादिस्थान तुल्य हों' यह किसलिये है ? तप्र्ता इसमें तकार परे रहते "झरो झरि सवर्णे" (पा० सू० ८।४।६५) से पकार का लोप [सवर्ण मान-कर] न हो जाय [अर्थात् केवल प्रयत्नों के आधार पर सवर्ण मान लेने पर प् एवं त् दोनों सवर्ण होने लगेंगे। फलस्वरूप सवर्ण झर् 'त्' परे रहते प् का लोप होने लगेगा। इसे रोकने के लिये स्थान की भी तुल्यता मानी गयी, वह इनमें नहीं है।] प्रयत्नग्रहण का प्रयोजन क्या है ? वाक् श्चोतति [यहाँ भी तुल्य स्थान वाले श् एवं च की सवर्ण संज्ञा होने लगेगी। फलस्वरूप सवर्ण झर् 'च' परे रहते 'झरो झरि सवर्णे' पा० सू० ८।४।६५ से] 'श्' का लोप न हो जाय। प्रयत्न की समानता मानने पर भिन्न-भिन्न प्रयत्न होने से श् और च् सवर्ण नहीं होते हैं। अतः श् का लोप नहीं होता है।] ञमङणन इनका—और नासिका स्थान होता है। यहाँ 'च=और' से अपने अपने वर्ग का जनक ताल्वादिस्थान समुच्चित=मिलाया जाता है। **[शब्द०]** यहाँ (कण्ठादि के मध्य में) जिस प्रकार से नासिका स्थान होता है वह अन्यत्र=शब्देन्दुशेखरादि में प्रतिपादित किया गया है।

तात्वादि समुच्चीयते। "अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः" इति तैत्तिरीयाणां प्रातिशाख्यम्। "यमानुस्वारनासिक्यानां नासिका, अनुनासिकाश्चोत्तमाः" इति कात्यायनप्रातिशाख्यम्। "वर्गोत्तमा ञमङणना अनुनासिका भवन्ति चशब्दात्स्वस्थानाद्यपरित्यागेन नासिकास्थानं द्वितीयमेषामित्यर्थः।' इति तद्भाष्यं च। "एदैतोः" इत्यादौ तपरत्वमसंदेहार्थं, न तु तत्कालग्रहणार्थम्। तेन प्लुतस्यापि सङ्ग्रहः॥

न तु तत्कालेति। एषां शिक्षाद्युक्तार्थानुवादत्वेनात्र शास्त्रप्रवृत्त्य भावादिति भावः।

सिककारादिनिरूपितं तु न नासिकायाः स्थानत्वम्, नासावच्छेदेन वायुसंयोगं विनापि अकारस्वरूपोत्पत्तिदर्शनात्। किन्तु तत्र कण्ठावच्छेदेन वायुसंयोगादुत्पन्नाकारे नासावच्छेदेन वायुसंयोगादनुनासिकत्वरूपगुणोत्पत्तिरिति बोध्यम्। मूलस्थे प्रातिशाख्ये उत्तमाः=वर्गाणां पञ्चमा इत्यर्थः। **एषाम्**=वृत्तावुक्तानाम्। **शिक्षाद्युक्तार्थानुवादत्वेनेति**। 'ए ऐ तु कण्ठतालव्यावो औ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ।'

इति पाणिनीयशिक्षेत्यर्थः। अत्रादिना लोकानुभव-सिद्धार्थानुवादत्वेनेत्यस्य परिग्रहः, तस्यापि तत्र स्थानत्वानुभवेन तथैव तात्पर्योन्नयात्। मूले **तेनेति**। तपरस्यासन्देहार्थत्वस्वीकारेणेत्यर्थः।

[**मनो०**] "अनुस्वार और उत्तम=प्रत्येक वर्ग के अन्तिम अक्षर अनुनासिक होते हैं" ऐसा तैत्तिरीयशाखानुयायियों का प्रातिशाख्य है। यम, अनुस्वार और नासिक्य वर्णों का नासिका स्थान है, उत्तम=वर्गों के अन्तिम वर्ण और अनुनासिक होते हैं" ऐसा कात्यायन का प्रातिशाख्य है और वर्गों के उत्तम=अन्तिम वर्ण ञमङणन अनुनासिक होते हैं 'च=और' शब्द के कारण अपने अपने स्थान का परित्याग न करके इनका दूसरा (उच्चारण) स्थान नासिका (भी) है" यह इस (कात्यायन-प्रातिशाख्य) का भाष्य है। एद् ऐद् इनमें तपरकरण सन्देहनिवृत्ति के लिए है न कि तत्काल (उच्चारणसमकाल वाले) का ग्रहण कराने के लिए है। (**शब्द०**) क्योंकि ये वर्ण शिक्षा आदि में प्रतिपादित अर्थ का अनुवाद=पुनः कथन हैं अतः इनमें (तपरस्तत्कालस्य पा० सू० १।१।७०) शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। (**मनो०**) इसी कारण प्लुत भी ए और ऐ का संग्रह हो जाता है। [अन्यथा मात्रा=कालभेद से प्लुत का यह कण्ठतालु स्थान नहीं हो पाता।]

विमर्श—ऊष्म=शषसह वर्णों और स्वरों का विवृत प्रयत्न है। किन्तु ह्रस्व 'अ' का प्रयोग=उच्चारणकाल में संवृत प्रयत्न हो जाता है परन्तु व्याकरण-शास्त्र की प्रक्रिया में अ का विवृत प्रयत्न ही होता है। कारण यह है कि पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में सबसे अन्त में "अ अ" (पा. सू. ८।४।६८) यह सूत्र बनाया है।

"पूर्वत्रासिद्धम्" (पा. सू. ८।२।१)। यद्ययं स्वतन्त्रो विधिः स्यात्, तर्हि त्रिपादी पूर्वं प्रत्यसिद्धा इत्येव लभ्येत, त्रैपादिकं तु पूर्वं प्रति परं नासिद्धं स्यादत आह—अधिकारोऽयमिति।

नासिद्धं स्यादिति। ततश्च गोधुङ्मानित्यादौ घत्वजश्त्वानुनासिकेषु भष्भावो न स्यात्।

पूर्वत्रासिद्धम्। अत्रायं प्रसङ्गः परममूले—वर्णाना माभ्यन्तर प्रयत्ननिर्णयावसरे स्वराणां विवृतं प्रयत्नं निर्दिश्य ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव। एतच्च सूत्रकारेण ज्ञापितम्—तथा हि "अ अ" (पा०सू० ८।४।६८) विवृतमनूद्य संवृतोऽनेन विधीयते। अस्य चाष्टाध्यायीं सम्पूर्णां प्रत्यसिद्धत्वात् शास्त्रदृष्टया विवृतत्वमस्त्येव। तथा च सूत्रं "पूर्वत्रासिद्धम्"।

यह सूत्र विवृत को संवृत करता है। परन्तु प्रस्तुत सूत्र सम्पूर्ण अष्टाध्यायी के पूर्ववर्ती सूत्रों की दृष्टि में असिद्ध रहता है अतः इससे किया गया संवृतत्व भी असिद्ध हो जाता है। फलतः ह्रस्व 'अ' का भी विवृत प्रयत्न होने के कारण छात्र+आवास आदि में सवर्णता बनी रहती है और "अकः सवर्णे दीर्घः" (पा. सू. ६।१।१०६) से दीर्घ होने में बाधा नहीं है। प्रसङ्ग होने के कारण अग्रिम सूत्र पर यहीं विचार किया गया है॥

(मनो०)पूर्वत्रासिद्धम् पा.सू.८।२।१ सपादसप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी असिद्ध होती है और त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति पर असिद्ध रहता है। यह अधिकार सूत्र है। यदि प्रस्तुत सूत्र स्वतन्त्र विधि होता तो 'त्रिपादी पूर्व=सपादसप्ताध्यायी के प्रति असिद्ध होती है' इतना ही अर्थ ज्ञात हो सकता था। त्रैपादिक पूर्व शास्त्र के प्रति त्रैपादिक पर शास्त्र असिद्ध नहीं हो पाता—इसलिये (सिद्धान्त-कौमुदी में) कहते हैं—यह अधिकार (सूत्र) है। [अधिकार सूत्र मान लेने पर सर्वत्र इसका सम्बन्ध होता है। अतः सपादसप्ताध्यायी के प्रति त्रिपादी का असिद्ध होना और त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति पर का असिद्ध होना सम्भव हो जाता है। 'अधिकारोऽयम्'—यहाँ यद्यपि 'अयम्' शब्द से ही सूत्र का परामर्श होने से नपुंसकत्वात् 'इदम्' का प्रयोग होना चाहिये था परन्तु "उद्देश्यविधेययोरैक्यमापादयत् सर्वनाम पर्यायेण तत्तल्लिङ्गभाग् भवति" इस न्याय से 'अधिकार' इस विधेय को मानकर 'अयम्' पुलिङ्ग का प्रयोग किया गया है।]

[शब्द०] त्रैपादिक पूर्व के प्रति पर असिद्ध नहीं हो सकेगा और इस असिद्ध न होने के कारण गोधुङ्मान् इत्यादि में घत्व, जश्त्व एवं अनुनासिक हो जाने पर भष्भाव नहीं हो सकेगा।

पड्विधेषु सूत्रेष्विदं सूत्रं यदि विधायकमेव स्यात् तदा पूर्वत्र=सपादसप्ताध्यायीं प्रति परम्=त्रिपादी असिद्धा स्यादित्येवार्थलाभः स्यात् पूर्वत्रिपादीस्थसूत्र-दृष्ट्या पर-त्रिपादीस्थ-सूत्रं नासिद्धं स्यात्। अस्मादेवाह परममूले--अधिकारोऽयमिति। नन्वन-सिद्धत्वे को दोषः ? न च 'प्रशाम्' 'अनड्वान्' इत्यादौ 'मोनो धातोः' (पा० सू० ८।२।६४) इत्यस्य 'संयोगान्तलोपः' (पा० सू० ८।२।२३) इत्यस्य च सिद्धत्वेन नलोपापत्तिः, नत्वनुम्विध्योः सम्बुद्धौ चरितार्थत्वादिति वाच्यम्, 'न ह्येकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयती'ति न्यायेन सामान्य=शास्त्रवैयर्थ्यापत्त्या तत्रेष्टसिद्धेरत आह—**ततश्चेति**। असिद्धत्वाभावादेवेत्यर्थः। **गोधुङ्मानित्यादाविति**। आदिना 'गुड-लिण्मान्' इत्यादेः संग्रहः। तथाहि—'गोदुह् मत्' इत्यवस्थायां 'दादेर्धातोर्घः' (पा० सू० ८।२।३२) इति हस्य घत्वे "झयः" (पा०सू० ८।२।१०) इति वत्वं स्यात्। किन्तु यदाऽधिकारसूत्रत्वमङ्गीक्रियते तदा उत्तरोत्तरानुवृत्त्या "दादेर्धातोर्घः" इत्यत्रापि सम्बन्धे इदमपि स्वस्मात् पूर्वसूत्रं 'झयः' इत्येतद्-प्रति असिद्धं भवति। एवञ्च घरूपझयोऽभावेन वत्वाप्राप्त्या भष्भावे" प्रत्यये भाषायाम्" इत्यनुनासिकत्वे गोधुङ्मान् इति सिध्यति। इदमेव प्रतिपादयति—**घत्वेति**। अयं भावः—स्वतन्त्र-विधिपक्षे त्रिपाद्यामप्रवृत्तौ गोदुह्मान् इत्यत्र आदौ घत्वजश्त्वयोः प्राप्तौ पदान्ते

विमर्श—यदि इसको अधिकार सूत्र नहीं मानते हैं तो अग्रिम प्रत्येक सूत्र में सम्बन्ध न हो सकने के कारण त्रिपादी में भी पूर्व सूत्र की दृष्टि में पर सूत्र असिद्ध नहीं हो सकेगा। इसके परिणामस्वरूप यह अनुपपत्ति होगी—गां दोग्धि= इस अर्थ में क्विप् आदि कर देने पर 'गोधुक्' रूप होता है। 'गोधुक् अस्ति अस्य' इस अर्थ में मतुप् प्रत्यय कर देने पर गोदुह्+मत् यहाँ "दादेर्धातोर्घः" (पा. सू. ८।२।३२) इससे ह् का घ् होता है, इसका जश्त्व 'ग्' और अनुनासिक ङ् कर दिया जाता है क्योंकि ये कार्य अन्तरङ्ग होने से पहले हो जाते हैं। इस स्थिति में "एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः" (पा. सू. ८।२।३७) इससे भष्भाव=द् का ध् नहीं हो सकेगा क्योंकि यहां धातु झषन्त नहीं है। विधि सूत्र मानने पर यह अनुपपत्ति है।

अधिकार सूत्र मानने पर त्रैपादिक में भी इसकी प्रवृत्ति होगी। फलतः गोदुह्+मत् यहां 'दादेर्धातोर्घः" पा. सू. ८।२।३२ से 'ह्' का 'घ्' करने पर भष्भावविधायक "एकाचो बशो." (पा. सू. ८।२।३७) की दृष्टि में 'झलां जशोऽन्ते' (पा. सू. ८।२।३९) पर है और 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (पा. सू. ८।४।४५) 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' भी पर हैं, असिद्ध हैं। अतः असिद्ध हो जाते हैं। झषन्त मान कर 'एकाचो बशो भष्' (पा. सू. ८।२।३७) से भष्भाव ग=घ् कर देने के बाद जश्त्व और अनुनासिक होते हैं। गोधुङ्मान् बन जाता है।

न चातिदेशान्तरवदस्यापि त्रिपाद्यां प्रवृत्तौ न दोषः। सपादसप्ताध्याय्यामपि पूर्वं प्रति परासिद्धत्वापत्तेः। मध्ये पाठस्य विप्रतिषेधसूत्रस्य च सामर्थ्याश्रयणे तु विनिगमनाविरहात्त्रिपाद्यामप्यप्रवृत्त्यापत्तिरति भावः।

घत्वस्य निरवकाशत्वेन जश्त्वबाधकत्वेनादौ घः, ततः भष्भावापेक्षया परत्वेनानुनासिकापेक्षयान्तरङ्गत्वेन जश्त्वम्, ततोऽनुनासिके कृते झषन्तत्वाभावेन भष्भावो न स्यात्। नन्वत्र 'घत्वजश्त्वानुनासिकेषु' 'एतेषु कृतेषु' 'प्राप्तेषु' इति वा शेषः। नान्त्यः, घत्वनाद्यः, अनुनासिकानन्तरं सर्वथा भष्भावस्याप्राप्त्या ग्रन्थासङ्गतेः। नान्त्यः, घत्वप्रवृत्तेः प्राक् झषन्तत्वाभावेन भष्भावाप्रात्याऽनुनासिकत्वाप्राप्त्या च प्राप्तेष्वित्यस्यासङ्गतेः। तस्माद् निर्धारणसप्तम्या घत्व-जश्त्व-अनुनासिकेषु घत्वे कृते जश्त्वानुनासिकभष्भावेषु प्राप्तेषु जश्त्वापवादत्वाद् प्राप्तस्यापि भष्भावस्य परत्वान्नित्यत्वाच्चानुनासिकत्वे भष्भावो न स्यादिति ग्रन्थाशयात्। अधिकारसूत्रत्वे तु घत्वानन्तरं जश्त्वानुनासिकयोरसिद्धत्वाद् भष्भावेनेष्टरूपसिद्धिरिति दिक्।

इदं विधिसूत्रमेवास्तु तथाप्युक्तप्रयोगस्य सिद्धिर्भविष्यतीति शङ्कां निराकर्तुमाह—**न चेति**। **अतिदेशान्तरवत्**=स्थानिवद्भावातिदेशान्तादिवद्भावातिदेशवत्। **अस्यापि**=पूर्वत्रासिद्धम् इत्यस्यापि। **न दोष इति**। नोक्तदोष इत्यर्थः। 'वाच्यमिति शेषः। **परासिद्धत्वेति**। परस्यासिद्धत्वापत्तेरित्यर्थः। ननु मध्ये पाठसामर्थ्यात् स्वापेक्षपूर्वत्राश्रयशास्त्रेष्वेव प्रवृत्तिरिति चेत्तत्राह—**मध्ये** इति। नन्वशोकवनिकान्यायेन स चरितार्थोऽत्त आह—**विप्रतिषेधेति**। **विनिगमनाविरहादिति**। तत्-सूत्रसार्थक्याय सपादसप्ताध्याय्यामेवाप्रवृत्तिस्वीकारे विनिगमनाविरहाद् त्रिपाद्यामेवाप्रवृत्या तच्चारितार्थ्येन तत्र प्रवृत्तिरस्त्विति वक्तुं शक्यम्, अथ तत्रापि किं विनिगमकमिति चेत्, तर्हि उभयत्राप्यप्रवृत्त्यापत्तिरित्यर्थः। एवञ्चास्य वैयर्थ्यापत्योक्तदोषे स्वतन्त्रविधित्वस्यैव अतिदेशविधित्वमिश्रपरिभाषात्वस्याप्यङ्गीकर्तुमशक्यादधिकारविधित्वमेव पर्यवसितमित्याहुः।

[शब्द०] अन्य [स्थानिवत्त्व, पूर्वान्तवत्त्व आदि] अतिदेशों के समान इस 'पूर्वत्रासिद्धम्' की भी त्रिपादी में प्रवृत्ति कर लेने पर (उक्त] दोष नहीं आता है—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि सपादसप्ताध्यायी में भी पूर्व के प्रति पर असिद्ध होने लगेगा। मध्य में पाठ का और 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' [पा० सू० १।४।२] के सामर्थ्य का आश्रयण करने पर तो विनिगमना न होने के कारण त्रिपादी में भी इसकी अप्रवृत्ति का प्रसङ्ग आने लगेगा, यह भाव है।

विमर्श—जैसे 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' [पा० सू० १।१।५६] और 'अन्तादिवच्च' [पा० सू० ६।१।८५] शास्त्र सर्वत्र प्रवृत्त होते हैं। उसी प्रकार यह भी,

यद्यत्र कार्यासिद्धत्वमिष्येत तर्हि पूर्वत्रासिद्धमिति मनोरथः' इत्यादावुत्वं न स्यात्। परत्वाद् "रो रि" (पा०सू० ८।३।१४) इत्यस्य प्रसङ्गात्।

रो रीत्यस्य प्रसङ्गादिति। सिद्धेऽसिद्धत्वारोपात् सूत्रोदाहरणसम्पत्त्यै

अत्रेदं बोध्यम्– इदं परशास्त्रस्यासिद्धत्वं प्रतिपादयति परशास्त्रविहितकार्यस्य वेति पक्षद्वयम्। तत्र शास्त्रस्यैवासिद्धत्वमनेन बोध्यते इत्युचितः पक्षः, 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्यायात्, परः=परो योगः, पूर्वं पूर्वं योगं प्रति असिद्धो यथा स्यात् इति प्रकृतसूत्रभाष्याच्च। योग इति प्राचां सूत्रस्य संज्ञा। मूले—**प्रसङ्गादिति**। मनस्+रथः इत्यवस्थायां सस्य रुत्वे कृते परत्वात्

सिद्ध में भी असिद्धत्व का आरोप करने से उन्हीं के तुल्य हो जाता है। अतः उन अतिदेश शास्त्रों के समान ही 'पूर्वत्रासिद्धम्' (पा०सू० ८।२।१) इसकी त्रिपादी में भी प्रवृत्ति हो सकती है, अधिकार सूत्र मानने का क्या लाभ है? अतिदेश सूत्र मान लेने पर त्रिपादी के समान सपादसप्ताध्यायी में भी इसकी प्रवृत्ति होने लगेगी और वहाँ भी पूर्व के प्रति पर शास्त्र असिद्ध होने लगेगा। यदि इससे बचने के लिये यह कहें कि 'पूर्वत्रासिद्धम्' (पा०सू० ८।२।१) का अष्टाध्यायी के मध्य में पाठ किया गया है अतः इससे पहले=सपादसप्ताध्यायी में इसकी प्रवृत्ति नहीं होगी। अथवा सपादसप्ताध्यायी में भी इसकी प्रवृत्ति मान लेने पर वहाँ भी पूर्व के प्रति पर असिद्ध हो जायगा। इसके फलस्वरूप परवर्त्ती का कार्य कहीं भी सम्भव नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में "विप्रतिषेधे परं कार्यम्" (पा० सू० १।४।२) यह सूत्र व्यर्थ होने लगेगा, अतः इसके आरम्भसामर्थ्य से यह मान लेगें कि त्रिपादी में पूर्व के प्रति पर असिद्ध नहीं होता है। इस प्रकार इसे अतिदेश मान लेना उचित है।

परन्तु उक्त तर्क मान लेने पर तो त्रिपादी में भी इसकी प्रवृत्ति न होने का प्रसङ्ग आ जायेगा। जब कि यहाँ प्रवृत्ति होना सबको इष्ट है। अतः अधिकार सूत्र मानना ही उचित है।

(मनो०) [पूर्व शास्त्र के प्रति पर शास्त्र असिद्ध होता है] यदि यहाँ कार्य का असिद्ध होना माना जाय तब तो 'पूर्वत्रासिद्धम्' इससे मनोरथः आदि में उत्व नहीं हो सकेगा। क्योंकि पर होने के कारण 'रो रि' [पा० सू० ८।३।१४] इसी का प्रसङ्ग आता है।

(शब्द०) 'रो रि' [पा० सू० ८।३।१४] इसका प्रसङ्ग आता है। कारण यह है कि सिद्ध [कार्य] में असिद्धत्व के आरोप से ['पूर्वत्रासिद्धम्' इस] सूत्र का उदा-

परत्वाल्लक्ष्ये कार्यप्रवृत्तेरावश्यकतया परत्वात् त्रैपादिके कार्ये जाते तत्राभावप्रतियोगित्वारोपेऽपि देवदत्तहन्तृहतन्यायेन स्थानिभूतरोरभावाद् "हशि च" [पा० सू० ६।१।११४] इत्यस्याप्राप्तिरिति भावः। स्पष्टं चेदं प्रकृतसूत्रे "अचः परस्मिन्" [पा० सू० १।१।५७] इत्यत्र "षत्वतुकोः" [पा० सू० ६।१।८६] इत्यत्र च भाष्ये।

"रो रि" [पा. सू. ८।३।१४] इत्यस्य प्रवृत्तिः। कार्यासिद्धत्ववादिमते शास्त्रेऽसिद्धत्वारोपाभावेन तत्र विप्रतिषेधशास्त्रस्य प्रवृत्तिः स्यात्। तथा च तद्विधेयकार्यस्यापि तद्द्वारा प्रवृत्तिर्जायते, कार्यमसिद्धमिति बुद्धिस्त्वधुना न सम्भवति, कार्यस्यासिद्धत्वादिति भावः। **सिद्धे इति**। सिद्धे जाते निरधिष्ठानारोपासम्भवादित्यर्थः। **सूत्रेति**। पूर्वत्रासिद्धमिति सूत्रेत्यर्थः। **कार्येति**। न हि तस्यामवस्थायां 'पूर्वत्र' इत्यस्य प्राप्तिः, पदकार्यस्याभावात्। एवञ्च शास्त्रद्वारा 'मनोरथः' इत्यादौ "रोरि" इति पदशास्त्रविहितकार्यप्रवृत्तेरावश्यकतयेत्यर्थः। **तत्र**=त्रैपादिके रलोपरूपकार्ये इत्यर्थः। **अभावप्रतियोगित्वेति**। 'पूर्वत्र' इत्यनेनाभावारोपेण तदारोपस्य फलितत्वाति भावः। **देवदत्तहन्तृहतन्यायेनेति**—

अयं भावः—यथा देवदत्तस्य हन्तरि हतेऽपि देवदत्तस्य न पुनरुज्जीवनम्, तथैवात्र देवदत्तस्थानीयस्य रोः हननसदृशलोपस्य सम्पादकं "रो रि" [पा. सू. ८।३।१४] इति शास्त्रम्, तस्य प्रवृत्तिरेव हननं बोध्यम्, एवञ्च लोपे कृते रोर्दर्शनं न भवतीति "हशि च" [पा. सू. ६।१।११४] इत्यस्य प्रवृत्तिर्न स्यात्। आरोपितेति कथनं वस्तुतोऽभावो नास्तीति सूचनाय। पूर्वत्वं परत्वं च सावधिकम्। पूर्वत्वस्य सम्पादनाय परसत्ताऽऽवश्यिकी, तस्या अभावे पूर्वत्वमपि न स्यादिति 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यस्य प्रवृत्तिरेव न स्यात्। अतो वस्तुतः परसत्तापेक्षिता। तथा च तत्र न तत्कालिकाभावप्रतियोगित्वम्, किन्तु शास्त्रबलादभावप्रतियोगित्वारोप-

हरण वनने के लिए परवर्त्ती होने से [मनोरथः इस] लक्ष्य में [लोपरूप] कार्य की प्रवृत्ति आवश्यक होती है—इस कारण परवर्त्ती होने से त्रैपादिक [लोपरूप] कार्य हो जाने पर उस [त्रैपादिक रलोप कार्य] में अभाव के प्रतियोगित्व का आरोप होने पर भी [वह कार्य नहीं हुआ है—ऐसा आरोप करने पर भी] देवदत्त-हन्तृ-हत न्याय से स्थानिभूत 'रु' नहीं हो पाता है, अतः 'हशि च' [पा० सू० ६।१।११४] इसकी प्राप्ति नहीं होती है, यह भाव है। यह प्रस्तुत सूत्र में, "अचः परस्मिन्" [पा० सू० १।१।५७] और "षत्वतुकोरसिद्धः" [पा० सू० ६।१।८७] इन सूत्रों के भाष्य में स्पष्ट है।

तथा च "पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य" [म० भा० ८।२।१।१] इति सिद्धान्तो-व्याकुप्येत ।

तथा चेति । शास्त्रस्य तद्बोध्यकार्यस्य च शास्त्रजज्ञानवेलायामसिद्धत्वा-भावे "रो रि" [पा०सू० ८।३।१४] इत्यादेः प्रसङ्गे चेत्यर्थः । **व्याकुप्येतेति** । त्वया विप्रतिषेधशास्त्रप्रवृत्तौ निमित्तस्य त्रैपादिकस्य शास्त्रजबोध-विषयकार्यस्य, शास्त्रस्य वाऽसिद्धता वक्तुमशक्या, किंतु लक्ष्ये जातस्य

एवेति भाव इति भैरवीकाराः । **स्थानिभूतेति** । उत्वविधौ स्थानित्वेन निर्दिष्टस्य रोरित्यर्थः । **अप्राप्तिरिति** । एवञ्च 'मनोरथः' इत्यादीनामसिद्धिः, "पूर्वत्रा-सिद्धम्" इत्यस्य वैयर्थ्यञ्चेति बोध्यम् ।

सिद्धान्त-व्याकोपमुपपादयति—**शास्त्रस्येति** । त्रैपादिकस्येति भावः । अधुना शास्त्रासिद्धत्वपक्षाभावेऽपि शास्त्रेत्यस्य कथनं दृष्टान्तार्थम्, तद्वदेतस्यापीत्यर्थः । **तद्बोध्येति** । त्रैपादिक-शास्त्रबोध्यस्येत्यर्थः । **शास्त्रजज्ञानवेलयाम्**=त्रैपादिक-

---

विमर्श—शब्दरत्नकार का आशय यह है कि यदि कार्य का असिद्ध होना मानते हैं तो मनोरथः यहाँ उत्व सम्भव नहीं है । कारण यह है रेफलोप और उत्व इनमें "पूर्वत्रासिद्धम्" इसका लक्ष्य बनने के लिये परवर्ती लोप की वास्तव में प्रवृत्ति हो जाती है, अब इस रलोप की असिद्धि करना है, अर्थात् रलोप= र के अभाव के प्रतियोगी रुत्व का आरोप करना है परन्तु आरोप कर देने पर भी वास्तव में स्थानिभूत रु उसी प्रकार सम्भव नहीं हो पाता है जिस प्रकार देवदत्त को मार डालने वाले को मार डालने पर भी देवदत्त का पुनरुज्जीवन सम्भव नहीं हो पाता है । अतः कार्य को असिद्ध मान कर दूसरा कार्य करना सम्भव नहीं है । शास्त्रासिद्धत्व पक्ष में तो 'रो रि' यह शास्त्र ही असिद्ध है अतः इससे लोप का अवसर नहीं आता है ।

[मनो०] और इस प्रकार **[शब्द०]**—त्रैपादिक शास्त्र और उससे बोध्य त्रैपादिक कार्य के, त्रैपादिक शास्त्रजन्य वाक्यार्थ-ज्ञान के समय, असिद्ध न होने पर "रो रि" (पा०सू० ८।३।१४) इत्यादि का प्रसङ्ग आ जाने पर **[मनो०]** 'पूर्व-त्रासिद्धम्' के विषय में विप्रतिषेध शास्त्र ('विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र) की प्रवृत्ति नहीं होती है क्योंकि उत्तर शास्त्र का अभाव रहता है" यह सिद्धान्त व्याकुपित= असंगत होने लगेगा । **[शब्द०]** आप (कार्यासिद्धत्ववादी) विप्रतिषेध शास्त्र की प्रवृत्ति में कारणीभूत जो त्रैपादिक शास्त्रजन्य बोध का विषय कार्य है अथवा त्रैपा-दिक शास्त्र है, उसकी असिद्धता नहीं कह सकते, किन्तु लक्ष्य में जात उस कार्य की,

तस्य प्रवर्तमानसपादसप्ताध्यायीस्थकार्यदृष्टचाऽसिद्धत्वं वाच्यम्। एवं च विप्रतिषेधाभावोपपादकहेतोरसिद्धिरिति भावः।

न च ममापि पूर्वपरपदयोः पूर्वपरशास्त्रजन्यबोधविषयकार्यलक्षणया शास्त्रे एव कार्यासिद्धत्वमिति वाच्यम्। लक्षणायां मानाभावात् फलाभावात्, गौरवाच्च।

सूत्रवाक्यार्थज्ञानसमय इत्यर्थः। **असिद्धाभाव** इति। तस्मिन् सतीति शेषः। मूले—**सिद्धान्त** इति। सिद्धान्तोऽपीत्यर्थः। मूले—**व्याकुप्येते**ति। कार्यासिद्ध-त्ववादिमते विप्रतिषेधशास्त्रप्रवृत्तौ त्रैपादिकशास्त्रबोध्यकार्यस्य लक्ष्ये प्रवृत्ति-विघातो निमित्तमिति वक्तव्यम्, तच्च न सम्भवति, तस्या जातत्वादिति 'पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य' इति सिद्धान्तव्याकोपः। एतदुप-पादयति—**त्वये**ति। कार्यासिद्धत्ववादिनेत्यर्थः। **निमित्तस्ये**ति। तुल्यबलवत्तया प्रवृत्तौ निमित्तभूतस्येत्यर्थः। ननु लोकेऽनाहार्यज्ञानस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तप्रयोज-कताया दर्शनेन प्रकृते सिद्धेऽसिद्धत्वारोपस्य च बाधज्ञान-सम-कालिकेच्छाजन्य-ज्ञानरूपाहार्यारोपत्वेन शास्त्र-प्रवृत्ति-निवृत्तिनियामकत्वाभावापत्तिरिति चेन्न, अति-देशशास्त्रारम्भसामर्थ्यादत्र शास्त्रे आहार्यारोपस्यापि शास्त्रप्रवृत्तिनिवृत्ति-नियाम-कत्वाङ्गीकारादिति भावः। **तस्य**=त्रैपादिकशास्त्रबोध्यकार्यस्य।

एवञ्चेति। लक्ष्ये जातकार्यासिद्धत्ववादिमते त्रैपादिकशास्त्रस्य तद्बोध्यकार्यस्य वाऽसिद्धत्वाभावेन त्रिपाद्यां विप्रतिषेधशास्त्रप्रवृत्तौ बाधकाभावात् 'अभावादुत्तरस्य'

प्रवर्तमान सपाद-सप्ताध्यायीस्थ कार्य की दृष्टि से, असिद्धि ही कह सकेंगे। और इस प्रकार विप्रतिषेध के अभाव का उपपादन करने वाला हेतु ही असिद्ध हो जाता है, यह भाव है।

विमर्श—त्रैपादिक शास्त्र से जन्य वाक्यार्थ के समय त्रैपादिक शास्त्र अथवा उससे विहित कार्य को असिद्ध कहना सम्भव नहीं है, उन्हें सिद्ध ही कहना होगा। तब 'अभावादुत्तरस्य' यह हेतु किस प्रकार सम्भव होगा? अतः विप्रतिषेध के अभाव का उपपादन नहीं हो सकेगा। अतः इस सिद्धान्त से विरोध स्पष्ट ही है।

[शब्द०]—पूर्वपक्ष—मेरे (कार्यासिद्धत्ववादी के) मत में भी, पूर्व तथा पर पदों की पूर्व तथा पर शास्त्रों से जन्य बोध के विषय कार्य में लक्षणा के द्वारा शास्त्र में ही कार्यासिद्धत्व [अर्थात् विषयतासम्बन्ध से शास्त्रजन्य ज्ञान-विशिष्ट में ही असिद्धत्व] है?[उत्तरपक्ष]—यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि लक्षणा में कोई प्रमाण नहीं है, फल नहीं है और गौरव है।

अमू, अमी इत्यादि च न सिध्येदत आह—त्रिपादीति। परं शास्त्रमिति

ननु मनोरथे दर्शनाभावरूपे लोपेऽभावारोपस्य दर्शनारोपरूपत्वेन न दोषोऽभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वादित्यत आह—**अमू इत्यादि।**

इति हेतोरसिद्धत्वे इति भावः। ननु पूर्वपरपदयोः लक्षणाऽस्तु, तथा च लक्ष्ये कार्य-प्रवृत्तिर्नापेक्षिता, किन्तु तात्कालिकज्ञान-विषयीभूत-पूर्वशास्त्र-जन्य-ज्ञानविषयकार्य-ज्ञानमपेक्षितम्, तच्चास्त्येवेति 'मनोरथः' इत्यस्य सिद्धिः स्यादेव। भाष्योक्तस्य 'अभावादुत्तरस्य' इत्यस्योत्तरपदमुत्तरशास्त्रबोध्यकार्यपरमिति न सिद्धान्तव्याकोप इत्याशयिकां शंकां निराकर्तुमाह—**न चेति। मध्यापि**—कार्यासिद्धत्ववादिनोऽपि। **पूर्वपरेति।** उपात्तस्य पूर्वस्याक्षिप्तस्य परस्य पदस्येति भावः। **शास्त्रे एवेति।** शास्त्रे इत्यस्य स्वजन्यबोधविषयतासम्बन्धेन कार्येऽन्वयः। एवेन लक्ष्ये कार्यप्रवृत्ति-व्यावृत्तिः। एवञ्च विषयतासम्बन्धेन शास्त्रजन्यज्ञानविशिष्टकार्ये एवासिद्धत्वं फलितम्। ननुप्रकृतसूत्रमेव मानमत आह—**फलाभावादिति।** अन्य-फलाभावा-दित्यर्थः। नन्वेवमप्युक्तरूपं फलमस्त्येवेत्यत आह—**गौरवादिति।** एवञ्च लक्षणा-नाश्रयणेन शास्त्रासिद्धत्वस्येतो लघुत्वेन नैवं कार्यासिद्धत्वमुपपादनीयम्, किन्तूक्त-

---

विमर्श—कार्य को असिद्ध मानने वाले का आशय यह है कि पूर्वपद की पूर्व-शास्त्रजन्यबोध के विषयभूत कार्य में और पर पद की परशास्त्रजन्यबोध के विषयभूत कार्य में लक्षणा करनी चाहिये। इन्हीं का असिद्धत्व मानना चाहिए। इस प्रकार शास्त्र में ही स्वजन्यबोधविषयतासम्बन्धेन कार्यासिद्धत्व कह देना चाहिये। इस प्रकार विप्रतिषेध की उपपत्ति और उसके अभाव का कथन सम्भव हो सकता है। परन्तु लक्षणाश्रयणादि में कोई प्रमाण नहीं है अतः यह असंगत है।

[शब्द०] 'मनोरथः' शब्द में दर्शनाभावरूप रलोप में अभाव का आरोप दर्शनारोपरूप होता है अतः दोष नहीं है क्योंकि अभाव का अभाव प्रतियोगिरूप होता है—[अर्थात् रलोप=रदर्शनाभाव, इसकी असिद्धि=अभाव का ज्ञान "पूर्वत्रासिद्धम्" से होता है—रदर्शनाभाभाव अर्थात् 'र' दर्शनरूप, क्योंकि अभाव का अभाव प्रतियोगिरूप होता है। अतः मनोरथः में रलोप होने पर भी उसका दर्शन मानकर उसका उत्व सम्भव है—] इसलिये कहते हैं—**[मनो०]** 'अमू' और 'अमी' इत्यादि सिद्ध नहीं हो सकते, इसलिये [सिद्धान्तकौमुदी में] कहते हैं—त्रिपादी में भी पूर्वशास्त्र के प्रति पर शास्त्र असिद्ध होता है। पर=शास्त्र, [न कि कार्य]। ऐसा मान लेने के कारण—"त्रिपादी में विहित कार्य असिद्ध होता है-इत्यादि प्राचीनों का ग्रन्थ परास्त हो गया। [व्याख्या के लिए पृष्ठ १०८ देखें।]

अद अ औ, अद अ अस्, इत्यवस्थायां जातस्योत्वस्य सपादसप्ताध्यायी-स्थकार्यदृष्ट्याऽसिद्धत्वेऽपि पूर्वरीत्याऽकाराभावेन पररूपाद्यनापत्तिः। मुत्व-स्यासिद्धत्वनिषेधसामर्थ्यादेतद्विषये उक्तन्यायाप्रवृत्तिरिति चेत्?

रीत्यैवेति मनोरथः इत्यस्यासिद्धिः, सूत्रानर्थक्यम्, सिद्धान्तव्याकोपस्तदसम्भवश्च तदवस्थ एवेति शास्त्रासिद्धत्वमेव वरमिति भावः।

ननु देवदत्तहन्तृहतन्यायेऽभाव-प्रतियोगिकाभाव एव विषयः, देवदत्तेतिपदस्वा-रस्यात्। परन्तु प्रकृते तु नैवम्। अतः एव सूत्रमप्यत्र सार्थकमिति भावेन कार्या-सिद्धत्ववादी शंकते—**नन्विति**। **मनोरथे**=मनोरथ इति शब्दरूपे। **दोष** इति। नाद्यं दोषद्वयमिति भावः। **प्रतियोगिरूपत्वेने**ति। द्वितीयाभावस्य प्रथमाभाव-प्रतियोगिरूपत्वादित्यर्थः। **जातस्य**=निरधिष्ठानारोपासम्भवेनारोपार्थं जातस्येत्यर्थः, उक्तरीत्या 'परत्वान्मुत्वे कृते' इत्यादौ योजनीयम्। **पूर्वरीत्या**=देवदत्तहन्तृहतन्याये-नेत्यर्थः। **अकाराभावे**नेति। उकाराभावस्याकाररूपत्वाभावेनेति भावः। **पर-रूपाद्यनापत्ति**रिति। इष्टस्य पररूपस्यासिद्धिरित्यर्थः, आदिना वृद्ध्यादिपरिग्रहो बोध्यः। दकाराकारेण त्यदाद्यत्वनिष्पन्नाकारस्येष्टं यत्पररूपं तदनापत्तिरिति भावः। एतेन "मुत्वे कृते अमु अ औ इत्यवस्थायां मुत्वस्यासिद्धत्वेनोक्तरीत्योकार-स्थानिनोऽकारस्य लाभाभावेऽपि सरकारस्थानिकमकारमादाय पररूपसिद्ध्येदम-सङ्गतमित्यपास्तम्, तादृश-पररूपे सिद्धेऽपीष्ट-पररूपासिद्धेस्तत्तादवस्थ्यात्। ननु एवं सति नाभावे कर्तव्ये मुत्वासिद्धत्वनिषेधो व्यर्थः स्यात्, आङोऽकारेण व्यवधा-नान्नाभावस्याप्राप्तेरिति 'देवदत्तहन्तृहत' न्यायोऽत्र नाश्रयणीयः, तथासति अकार-वृद्ध्या पररूपं भविष्यतीत्याशयेन शङ्कते—**मुत्वस्येति**। 'न मुने' [पा०सू० ८।२।३]

[शब्द०] अमू इत्यादि। [अदस् शब्द से विभक्ति का योग करने पर 'त्यदादी-नामः' (पा०सू० ७।२।१०२) से स् का अ आदेश करने पर] अद+अ+औ, अद+अ+अस् इस अवस्था में ['अदसोऽसेर्दादुदोमः' पा० सू० ८।२।८० इस से पर होने से] किये गये उत्व के सपादसप्ताध्यायीस्थ ('अतो गुणे' पा० सू० ६।१।९७ से विहित पूर्वरूपरूपी) कार्य की दृष्टि से असिद्ध हो जाने पर भी (देवदत्तहन्तृहतन्यायरूपी) पूर्वरीति से अकार के न होने के कारण (इष्ट) पररूप आदि (और वृद्धि) नहीं हो सकेगें। ('न मुने' पा० सू० ८।२।३ इससे) मुत्व के असिद्धत्व के निषेध-सामर्थ्य से इस मुत्व के विषय में उक्त 'देवदत्तहन्तृहत' न्याय की प्रवृत्ति नहीं होगी।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि "न मुने" पा० सू० ८।२।३ इसका अर्थ है कि नाभाव कर लेने पर अथवा कर्तव्यता में मुभाव असिद्ध नहीं होता है। परन्तु

तेन शास्त्रासिद्धत्वमेव ज्ञापयितु युक्तम्। एवं शीभावात् पूर्वम् 'अदसोसेः' [पा०सू० ८।२।८०] इति मुत्वे दात्परैकाराभावेन "एत ईत्" (पा० सू० ८।२।८१) इति सूत्रमपि व्यर्थं सदत्रैव ज्ञापकमस्तु। न च "तौ सत्"

इति शास्त्रारम्भसामर्थ्यादित्यर्थः। **एतद्विषये**=मुत्वविषये इत्यर्थः। **उक्तन्यायेति**। देवदत्तहन्तृहतेति न्यायाप्रवृत्तिरित्यर्थः। **तेन**='न मुने' इति सूत्रेणेत्यर्थः। **युक्तमिति**। लक्षणानाश्रयणेनापूर्ववचनाकल्पनेन च लाघवादिति भावः। **एवम्**='न मुने' इतिज्ञापकसूत्रवदित्यर्थः। **शीभावादिति**। अमी इत्यादि–रूपप्रक्रियाया-

अदस्+टा=आ 'त्यदादीनामः' (पा० सू० ७।२।१०२) से स् का अ करने पर अद अ+आ हो जाता है तव अमुअ+ आ यहाँ "न मुने" सूत्र से उत्व, मत्व की असिद्धता का निषेध करना व्यर्थ है क्योंकि देवदत्त-हतृहत-न्याय से अकार न हो सकने के कारण (वास्तव में उत्व रहने के कारण) पररूप न होने पर मध्य में 'अ' रहता है अतः उकारान्त प्रातिपदिक न होने से 'ना' की ही प्राप्ति नहीं है—तव मुत्व के असिद्धत्व की प्राप्ति का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः उसका निषेध करना व्यर्थ होता हुआ "न मुने" सूत्र यह ज्ञापित करता है कि मुत्व के विषय में देवदत्त-हन्तृहत न्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः 'अतो गुणे' की दृष्टि में मुत्व असिद्ध हो जाने पर अकारान्त अद का अ के साथ पररूप हो जाता है। इसके बाद "आङो नास्त्रियाम्" पा० सू० ७।३।१२० से जब ना करना चाहते हैं तब भी मुत्व असिद्ध होने लगता है उसे रोकने के लिए 'न मुने' यह सूत्र चरितार्थ है।

(शब्द०) यदि उपर्युक्त कहना चाहते हो तो तब उस ('न मुने' सूत्र) से शास्त्र का असिद्ध होना ही ज्ञापित करना उचित है। (शास्त्रासिद्धत्व पक्ष में लाघव है।) इसी प्रकार (अर्थात् 'न मुने' सूत्र के समान ही अदस्+जस् यहाँ) शीभाव करने के पहले ही "अदसोऽसेर्दादुदोमः" पा० सू० ८।२।८० से मुत्व कर लेने पर 'द' के बाद एकार नहीं मिलता है (अर्थात् अमु+ई मिलता है) अतः "एत ईद् बहुवचने" पा० सू० ८।२।८१ यह सूत्र भी व्यर्थ होता हुआ इसी=शास्त्रासिद्धत्व में ही ज्ञापक हो। (शास्त्रासिद्धत्व पक्ष में शी-विधायक "जसः शी" (पा०सू० ७।१।१७) की दृष्टि में 'अदसोऽसे' (पा० सू० ८।२।८०) उत्व - मत्व - विधायक शास्त्र असिद्ध हो जाता है अतः पहले शी=ई करके गुण करने पर 'अदे' इस अवस्था में 'द्' से परे ए मिलता है, मत्व, ईत्व हो जाता है।)

(तत्+औ यहाँ 'त्यदादीनामः' सूत्र से 'त्' का 'अ' और 'अतो गुणे' सूत्र से पररूप करने पर त+औ यहाँ वृद्धि करके 'तौ' यह रूप बनाया जाता है। परन्तु

[पा०सू० ३।२।२७] इत्यादिनिर्देशैर्देवदत्तहन्तृहतन्यायोऽनित्य इति वाच्यम्, 'हृते देवदत्ते तद्धन्तरि हतेऽपि नोज्जीवनं, हतत्वारोपे तु सुतराम्। हन्तु-मुद्यतस्य हनने तूज्जीवनमस्त्येव' इति न्यायशरीरम्। 'तौ' इत्यादौ वृद्धि-हन्तुः पूर्वसवर्णदीर्घस्य हननोद्यमसजातीयं प्रसङ्गमात्र, न तु हननस्थानीया लक्ष्ये प्रवृत्तिरिति न तत्रास्य न्यायस्य विषय इति तेनास्यानित्यत्वबोधना-

नित्यर्थः। **अत्रैव**=शास्त्रासिद्धत्वे एवेत्यर्थः। ननु देवदत्तहन्तृहतेति न्यायस्या-नित्यत्वमन्यत्र दृष्टं तद्रीत्याऽत्रापि निर्वाहे ज्ञापकानुसरणं व्यर्थमिति शंकां निराकर्तु-माह—**नचेति**। अयं भावः—देवदत्ततुल्यवृद्धेर्हन्तृतुल्यबाधकपूर्वसवर्णदीर्घस्य हन्तृतुल्येन "नादिचि" [पा०सू० ६।१।१०४] इत्यनेन निषेधेऽपि देवदत्तवद् वृद्धे-रुन्मज्जनाभावात् 'तौ' इति निर्देशोऽनुपपन्नः सन् तन्न्यायस्यानित्यत्वे ज्ञापक इति। 'तौ सदि'त्यादि-निर्देशस्य न्यायानित्यत्वज्ञापकत्वं शि यति—**हृत** इति। **नोन्मज्जनमिति**। देवदत्तस्येति शेषः। **हतत्वारोपे** त्विति। देवदत्तहन्तरीति भावः। **सुतरामिति**। नोन्मज्जनं देवदत्तस्येत्यनुपज्यते, घातकस्य सत्त्वादिति

त+औ यहां प्राप्त वृद्धि का बाधक "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" (पा० सू० ६।१।१०२ है और इसका बाधक "नादिचि" पा० ६।१।१०३ है। यहाँ "वृद्धिरेचि" पा० सू० ६।१।८८) की वृद्धि देवदत्ततुल्य है, "प्रथमयोः पूर्वसवर्णः" सूत्र देवदत्त-हन्ता के तुल्य है और "नादिचि" सूत्र उस हन्ता के हन्ता के तुल्य है। अतः यहाँ भी देवदत्ततुल्य वृद्धि का हनन=निषेध हो जाने पर दुबारा उसका उज्जीवन सम्भव नहीं होता है। अतः 'तौ' यह पाणिनीय प्रयोग अनुपपन्न होता हुआ यही ज्ञापित करता है कि देवदत्त-हन्तृहत न्याय अनित्य है—उसी का निराकरण करने के लिए लिखते हैं—(पूर्वपक्ष—) "तौ सत्" (पा० सू० ३।२।२७) इत्यादि (पाणिनीय) निर्देशों से 'देवदत्तहन्तृहत न्याय अनित्य है, (उत्तरपक्ष)—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'देवदत्त के मार डाले जाने पर उस देवदत्त का वध करने वाले को मार देने पर भी देवदत्त का पुनरुज्जीवन नहीं होता है। किन्तु (देवदत्त के वधकर्ता में) हतत्व का आरोप करने पर तो (देवदत्त का पुनरुज्जीवन) सर्वथा असम्भव है [क्योंकि घातक विद्यमान है] परन्तु [देवदत्त को] मार डालने के लिये उद्यत व्यक्ति का वध करने पर तो [देवदत्त का] उज्जीवन रहता ही है, यह न्याय का शरीर है। [न्याय का तात्पर्य है।] 'तौ' इत्यादि में वृद्धि का हन्ता पूर्वसवण—दीर्घ का हनन के उद्यम के सजातीय [समान] केवल प्रसङ्ग है न कि हननस्थानीय हननतुल्य] लक्ष्य में प्रवृत्ति होती है, इसलिये वहाँ ['तौ' आदि में] इस न्याय का

सम्भवात्। स्पष्टं चेदं "स्वादिष्वसर्व०" [पा०सू० ४।१।१७] इति सूत्रे कैयटे। प्रकृते तु निरधिष्ठानारोपासम्भवेन हननसजातीयं प्रयोगे कार्यप्रवर्तनमावश्यकमेवेत्यन्यत्र विस्तरः।

भावः। **हन्तुमिति**। देवदत्तमिति शेषः। **उन्मज्जन**मिति। देवदत्तस्येति शेषः। **न्यायशरीरम्**=न्यायस्यार्थः। **तत्र**='तौ' इत्यादावित्यर्थः। **तेन**='तौ सद्' इत्यादिनिर्देशेनेत्यर्थः। **अस्य**=न्यायस्येति भावः। ननु 'तौ' इत्यादिवदत्रापि न्यायाविषयत्वमत आह–**प्रकृते त्विति**। अमू, अमी इत्यादावित्यर्थः। **कार्यप्रवर्तनमिति**। मुत्वादिविधानमित्यर्थः।

अत्र भैरवीकाराः—ननु कार्यासिद्धत्वपक्षेऽपि न कार्यमसिद्धमनिष्पन्नमिति प्रकृतसूत्रेण प्रतिपाद्यते, जाते कार्ये तन्निष्पत्त्यभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्, परन्तु पूर्वत्र कर्तव्ये परं=परशास्त्रबोध्यं कार्यमसिद्धम्=तत्कालिकाभावप्रतियोगिप्रवृत्ति-कर्तृत्ववदित्यर्थोऽस्तु। एतेन—कार्ये स्वकर्तृक-प्रवृत्यभावकत्वबोधनेन त्रैपादिकशास्त्रस्य पूर्वमप्रवृत्तिरेव कल्प्यते, तथा च नामू इत्याद्यसिद्धिरिति चेत्—? न, राजभ्याम् इत्यत्र राजन्+भ्यामित्यवस्थायां कस्यापि सपादसप्ताध्यायीस्थकार्यस्य प्राप्त्यभावेन त्रैपादिकनलोपस्य प्रवृत्त्यभावबोधनासम्भवेन नलोपे जाते ततो भवदुक्तार्थे पक्षे दीर्घस्य प्रवृत्त्यापत्तेः। एवं 'वृक्ष इह' इत्यादौ यलोपे जाते गुणापत्तेः। न चात्र सूत्रेऽसिद्धमिति न कार्यम्, अविद्यमानवदित्यनुवर्तनीयम्, तावतैवेष्टसिद्धिर्भविष्यति पूर्वत्र कर्तव्ये परम्=पर-शास्त्रबोध्य-मविद्यमानवदित्यर्थोऽस्त्वित्यर्थादिति वाच्यम्, अप्रवृत्तस्याविद्यमानवद्भावविधानासम्भवेन पूर्वं प्रवृत्तेरावश्यकतया मूलोक्तदूषणापत्तेः। न च शास्त्रासिद्धत्वस्वीकारेऽपि 'राजभ्याम्' 'वृक्ष इह' इत्यस्यासिद्धिरेव, शास्त्रस्यासिद्धत्वेऽपि कार्यस्य सिद्धतया दीर्घादेः प्रवृत्त्यापत्तेर्दुर्वारत्वादिति वाच्यम्,

---

विषय नहीं है। इस कारण उन [निर्देशों] से इस न्याय को अनित्य बताना सम्भव नहीं है। यह 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (पा०सू० १।४।१७) इस सूत्रभाष्य में कैयट-प्रदीप में स्पष्ट है। किन्तु प्रस्तुत स्थल 'अमू' आदि में निरधिष्ठान में आरोप सम्भव न होने से [आधार के बिना आरोप करना सम्भव न होने से] हननस-जातीय—प्रयोग में (मुत्वादि) कार्य का प्रवर्तन, आवश्यक ही है इसका अन्यत्र (शब्देन्दुशेखर आदि में) विस्तृत वर्णन है। [तात्पर्य यह है कि कार्यासिद्धत्व-वादी के अनुसार असिद्धत्व का आरोप सिद्ध करने के लिए पहले मुत्व आदि कार्यों का हो जाना आवश्यक है, इन जात कार्यों में असिद्धत्व का आरोप करने पर भी वास्तव में दकार से परे एकार न होने से 'एत ऐ' (पा०सू० ३।४।९३) की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है। यहां देवदत्तहन्तृहतन्याय लागू करना होगा। अतः सूत्र

च। एतेन त्रिपाद्यां विहितं कार्यमसिद्धमित्यादिः प्राचां ग्रन्थः परास्तः।

परास्त इति। विहितं कार्यमित्यध्याहारे गौरवाच्च। किं च, त्रिपादी-शास्त्रं, तद्धि विधाने करणं न त्वधिकरणम्। त्रिपाद्यां विद्यमानेन शास्त्रेण विहितं कार्यमिति व्याख्याने त्वत्यन्तं क्लिष्टतेत्यपि बोद्ध्यम्।

शास्त्रस्यासिद्धत्वप्रतिपादनद्वारा कार्यासिद्धत्वस्य प्रतिपादनात्। एवञ्च यत्र सपाद-सप्ताध्यायीस्थशास्त्रस्य त्रैपादिकस्य च युगपत् प्राप्तिस्तत्र परं शास्त्रमसिद्धमप्रवृत्त-मित्यनेन बोधने सति परशास्त्रेण लक्ष्ये कार्यसंस्कारबुद्धिर्न भवति। यत्र तु न द्वयोर्युगपत् प्राप्तिस्तत्र त्रैपादिके जातेऽपि शास्त्रेऽभावारोपे तन्निष्पाद्यकार्येऽप्रवृत्त-ज्ञानेन प्रसक्तं सपादसप्ताध्यायीस्थं कार्यं भवत्येव, 'अग्नी इतीत्यत्र प्लुतस्थानिक-प्रगृह्यत्ववत्। यत्र तु शास्त्रासिद्धत्वज्ञानद्वारा कार्यानिष्पन्नत्वज्ञानेन सपाद-सप्ताध्यायीस्थशास्त्रोद्देश्यतावच्छेदकाज्ञानं, तत्र तस्याप्रवृत्तिरेव, राजभ्यामि-त्यादौ यथा। तथा च मूलोक्तप्रयोजनस्य प्रथमरीत्या सिद्धिरित्याशयेनाह—**अन्यत्र विस्तर** इति। विस्तरस्तु शब्देन्दुशेखरादौ द्रष्टव्य इति भावः।

मूले—**एतेन**=उक्तरीत्या कार्यासिद्धत्वस्य प्रतिपादनासम्भवेनेत्यर्थः। **चचेति**। चेन मूलोक्तदोषः संग्राह्यः। ननु पूर्वशब्देन पराक्षेपे तस्यैवेदमर्थकथनमत आह—**किञ्चेति**। **अधिकरणमिति**। एवञ्च सप्तम्यनुपपत्तिः॥

[परममूले—एते श्वासानुप्रदाना अघोषाश्च] **विवृण्वते कण्ठमिति**। इमे खयादयो वर्णा कण्ठं विवृण्वते, विवृते कण्ठे एव श्वासस्य जननात्, अतः विवार-श्वास-घोषाख्या बाह्यप्रयत्ना इति भावः। परममूले अयुग्मा वर्गयमगा यणश्चल्पासवः स्मृताः इति। वर्गश्च यमश्च इति वर्गयमौ, तौ गच्छन्तीति वर्गयमगा। वर्गगाः यमगा-श्चेत्यर्थः। अयुग्मा वर्गगाः—प्रथमतृतीयपञ्चमाः। अयुग्मा यमगाश्च—अयुग्म-वर्ग्येभ्यः प्रथमादिभ्यः परे ये यमवर्णास्ते अल्पासवः=अल्पप्राणा इत्यर्थः। ननु

व्यर्थ होकर शास्त्रासिद्धत्व का ही ज्ञापक होता है।] [मनो०] इससे—त्रिपादी में विहित कार्य असिद्ध होता है–इत्यादि प्राचीनों का ग्रन्थ परास्त हो गया। [शब्द०] क्योंकि (उक्त दोष के साथ-साथ निराकाङ्क्ष) 'विहित कार्य' इसका अध्याहार करने में गौरव होता है। और भी, त्रिपादी शास्त्र है, वह विधान में करण है न कि अधिकरण (क्योंकि अधिकरण तो प्रयोग ही होता है। शास्त्र—शब्द तो शास्ति अनेन—इस करण अर्थ में बनता है।) 'त्रिपादी में विद्यमान शास्त्र से विहित कार्य असिद्ध होता है' ऐसा व्याख्यान करने में तो अत्यन्त क्लिष्टता है, यह भी समझना चाहिये॥

विवृण्वते कण्ठमिति । **विवार एषां प्रयत्न इति भावः ।** वर्गयमगा इति । **वर्गगाः, यमगाश्चेत्यर्थः ।** कादय इति । **लोकप्रसिद्धपाठापेक्षमिदम् चतुर्दशसूत्र्यां मावसानत्वायोगात् ।** अर्द्धविसर्गेति । **सादृश्यमुच्चारणे लेखने च बोध्यम् ।** ऋलृवर्णयोरिति । **आ च आ च रलौ, तौ च तौ वर्णौ चेति**

लोकप्रसिद्धेति । "त्रिभिश्च मध्यमैर्वर्गैः" इति भाष्यपर्यालोचनया क—ख—ग—घ—ङेत्यादीनामप्यनादित्वमिति भावः । **उच्चारणेति ।** पादमात्रिकाविमाविति भावः । **लेखनेचेति ।** अर्द्धवृत्तद्वयात्मकल्पित्वादिति भावः ।

चतुर्दशसूत्र्यां कादित्वविशिष्टमावसनत्वाभावात् परममूले 'कादयो मावसानाः' इत्यसङ्गतमत आह मूले—**लोकप्रसिद्धेति ।** ननु लोकप्रसिद्धपाठस्याप्याधुनिकत्वेन तदपेक्षा नोचितेत्यत आह—**त्रिभिरिति ।** यदा त्रयो वर्णा मध्ये तदा एक आदौ अपरश्चान्ते इति पञ्चवर्णानां समुदायो वर्गत्वेन प्रसिद्ध इति भाष्याभिप्रायो बोद्धव्यः । परममूले—⌣क⌣प इति कपाभ्यां प्रागर्धविसर्गसादृशौ जिह्वामूलीयोपध्मानीयाविति । व्यञ्जनत्वेन विसर्गस्योच्चारणेऽर्द्धमात्राकालोप्येक्ष्यतेऽनयोरुच्चारणे तस्याप्यदर्धमात्राकालोऽप्यपेक्ष्यते । एतदेवाह—**पादमात्रिकाविमाविति । अर्द्ध वृत्तेति ।** पूर्णविसर्गस्य वर्तुलद्वयात्मकत्वेन तदर्द्धत्वमस्येति भावः ।

"ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्य" मिति वार्त्तिकं व्याचष्टे—**ऋलृवर्णेति ।**

[मनो०]—कण्ठ को विवृत करते हैं । इन (खय् आदि) का विवार प्रयत्न है, यह भाव है । वर्गयमगाः=वर्गों में रहनेवाले और यमों में रहने वाले—यह अर्थ है । क है आदि में (और म है अवसान में) जिनके वे स्पर्श हैं । यह लोकप्रसिद्ध पाठ को मानकर लिखा गया है, क्योंकि चतुर्दशसूत्री में मावसानत्व (म है अवसान में जिनके ऐसा होने) का योग नहीं है । **(शब्द०)** "तीन मध्यम वर्गों से" इस भाष्य की पर्यालोचना से 'कखगघङ' इत्यादि (क्रम से पठित वर्ग) भी अनादि ही हैं, यह भाव है । (तात्पर्य यह है कि 'अन्तश्च भवेत् पूर्वो ह्यन्तश्च परतो यदि" । इस प्रातिशाख्यवचन की और 'तुल्यास्य' सूत्र पर 'त्रिभिश्च मध्यमैर्वर्गैः' इस भाष्यवचन की पर्यालोचना से यह सिद्ध हो जाता है कि कवर्ग आदि पाँच वर्ग और इनके वर्गों का क्रम दोनों अनादि परम्परा से हैं । **(मनो०)** (⌣क⌣प ये क और प से पहले) आधे विसर्ग (के सदृश जिह्वामूलीय और उपध्मानीय होते हैं ।) यह सादृश्य उच्चारण और लेखन में समझना चाहिये । **(शब्द०)** इन दोनों की चौथाई मात्रा होती है, यह भाव है । आधे दो गोला वाली लिपिरूप में लिखे जाते हैं, यह भाव है ।

(मनो०) 'ऋलृ वर्णों का सावर्ण्य कहना चाहिये ।' आ च आ च-रलौ, तौ

विग्रहः, उश्च उल् च ऋलोः। तयोर्वर्णयोरिति वा। प्रथमान्तेन परिनिष्ठित-विभक्त्या वा विग्रह इति सिद्धान्तात्। "ऋत्यकः" (पा०सू० ६।१।१२८) इति प्रकृतिभावः।

रलाविति। ऋऌ औ इति स्थिते "ऋत्यकः" (पा०सू० ६।१।१२८) इति प्रकृतिभावेन दीर्घाभावे गुणे यणि च रलावित्यस्य सिद्धिः। उश्च उल् च ऋलोरिति पाठः। रलोरिति पाठे आगन्तुनाऽकारेण निर्देश इति बोद्धव्यम्। **तयोर्वर्णयोरिति।** "पूरणगुण" (पा० सू० २।२।११) इति निषेधस्तु षष्ठी-समासस्य न तु कर्मधारयस्य, बहुलग्रहणेन तदभावो भाष्योदाहृतविषय एव

ऋकारस्य ऌकारस्य च प्रथमैकवचने आ, आ इति रूपम्। द्वन्द्वे ऋऌ+औ, इत्यत्र दीर्घबाधकेन 'ऋत्यकः' [पा० सू० ६।१।१२८] इति सूत्रेण ऋकारस्य प्रकृति-भावे ऌकारस्य 'च "ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः" [पा०सू० ७।३।११०] इत्यनेन गुणे लपरे च कृते ऋ अलौ इत्यवस्थायायां "ऋत्यकः" इत्यस्य प्रवृत्त्यभावेन ऋकारस्य यणि 'रलौ' इति सिद्ध्यति। ननु गुणोत्तरमपि "अचः परस्मिन्" [पा० सू० १।१।५७] इत्यनेन स्थानिवद्भावेन 'ऋत्यकः' [पा० सू० ६।१।१२८] इत्यस्य

(=रलौ) च तौ वर्णौ च—यह विग्रह होता है। **(शब्द०)** ऋ+सु, ऌ+सु—इस विग्रह में समास करने पर द्वित्व की विवक्षा में ऋऌ+औ इस स्थिति में "ऋत्यकः" (पा०सू० ६।१।१२८) इससे प्रकृतिभाव के कारण सवर्णदीर्घ न होने पर "ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः (पा०सू० ७।३।११०) इससे ऌ का गुण और (लपर करने पर ऋ अल् औ इसमें "इकोयणचि" (पा०सू० ६।१।७७) से ऋ का यण् र् कर देने पर—'रलौ' इसकी सिद्धि होती है, यह भाव है। **(मनो०)** अथवा उश्च उल्च—इति ऋलोः, तयोः वर्णयोः यह विग्रह है क्योंकि प्रथमान्त से अथवा परिनिष्ठित विभक्ति से विग्रह किया जाता है, यह सिद्धान्त है।" 'ऋत्यकः' सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाता है। **(शब्द०)** उश्च उल् च ऋलोः यही शुद्ध पाठ है। 'रलोः' यह पाठ तो (प्रकृतिभावाभावपक्ष में यण् करने पर और) उच्चारणार्थक अकार-विशिष्ट कर देने पर हो सकता है—ऐसा समझना चाहिए। (अथवा तयो-र्वर्णयोः इस विग्रह में 'ऋऌवर्णयोः' यह होता है) यहां "पूरण-गुण-सुहितार्थस-दव्ययतव्य-समानाधिकरणेन" पा० सू० २।२।११) इससे (समानाधिकरणहेतुक) समास का निषेध तो षष्ठीसमास का ही होता है, न कि कर्मधारय का, क्योंकि (विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (पा०सू० २।१।१४) इस सूत्र में 'बहुल' का ग्रहण करने से, भाष्यादि में उदाहृत विषयों में ही कर्मधारय का अभाव होता है, अन्यत्र नहीं, यह भाव है। (अतः 'ऋऌवर्णयोः' यहाँ कर्मधारय का निषेध नहीं होता

नान्यत्रेति भावः। **प्रथमान्तेनेति।** प्रथमोपस्थितत्वादिति भावः। अयं पक्षः "अनेकमन्यपदार्थे" (पा० सू० २।२।२४) इति सूत्रे भाष्ये। **परिनिष्ठितेनेति।** अत्र च "एकविभक्ति चापूर्वनिपाते" (पा० सू० १।२।४४) इति ज्ञापकम्। अन्यथा मालामतिक्रान्त इति विग्रहेऽतिपदस्यापि नियतविभक्त्यन्तत्वेनैक-विभक्तीत्यस्य व्यावर्त्यालाभः। एकस्यानियतविभक्तित्वे हि तद्वारणाय "एकविभक्ति" इति सार्थकम्। परिनिष्ठतविभक्त्या समासे त्वतिक्रान्तम-तिक्रान्तेनेत्यादिक्रमेण तस्यानियतिविभक्तिकत्वं स्पष्टमेव। अत एव "तत्पुरुषे तुल्यार्थं" (पा० सू० ६।२।२) इति सूत्रे भाष्ये परमे कारके परमेण कारकेणेत्यादावतिप्रसङ्गमाशङ्क्य प्रतिपदोक्तपरिभाषया समाहित-मिति भावः।

है। प्रथमतः उपस्थित होने के कारण प्रथमाविभक्त्यन्त से समास होता है, यह भाव है। यह (प्रथमान्तेन विग्रह करके समास होने वाला) पक्ष 'अनेकमन्यपदार्थे' पा० सू० २।२।२४ इस सूत्र पर भाष्य में है। अथवा परिनिष्ठित विभक्ति से समास होता है। इसमें 'एकविभक्ति चापूर्वनिपाते' पा० सू० १।२।२४ यह ज्ञापक है [इस सूत्र में 'एकविभक्तिग्रहण ज्ञापक है।] अन्यथा [परिनिष्ठित विभक्ति से विग्रह न मानने पर] 'मालाम् अतिक्रान्तः' इस विग्रह में अतिपद भी नियत-विभक्त्यन्त है अतः 'एकविभक्ति' [=नियतविभक्तिक] इसके व्यावर्त्य=व्यावर्तनयोग्य कोई नहीं मिलेगा। कारण यह है कि एक के अनियतविभक्तिक होने पर उस [उसकी उपसर्जन संज्ञा] का वारण करने के लिए 'एकविभक्ति' यह सार्थक है। किन्तु परिनिष्ठित विभक्ति से समास में तो [मालाम्] अतिक्रान्तम्, अतिक्रान्तेन' इत्यादि क्रम से [विग्रह होने पर अतिक्रान्तार्थक] 'अति' का अनियतविभक्तिवाला होना स्पष्ट ही है। [परिनिष्ठित विभक्ति से समास होता है] इसीलिए "तत्पुरुषे तुल्यार्थ० [पा० सू० ६।२।२] इस सूत्र पर भाष्य में—परमे कारके, परमेण कार-केण' इत्यादि (कर्मधारय) में अतिप्रसङ्ग की आशंका करके प्रतिपदोक्त परिभाषा से समाधान किया गया है, यह भाव है।

[तात्पर्य यह है कि परमेण कारकेण, परमे कारके यहाँ समास करने पर "तत्पुरुषे तुल्यार्थ-तृतीया-सप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाः कृत्याः" पा०सू० ६।२।२ से पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होना चाहिये ऐसी शंका की गई। समाधान यह दिया गया कि तृतीया एवं सप्तमी इन पदों का उपादान करके जहां समास किया जाता है, उन्हीं का प्रतिपदोक्तरूप से ग्रहण होता है वहीं प्रकृतिस्वर होता है। प्रस्तुत स्थल में प्रतिपदोक्तसमास न होने से अतिप्रसङ्ग नहीं हैं। यदि परिनिष्ठित विभक्ति से विग्रह करके समास का विधान ही नहीं माना जायगा तो अतिप्रसङ्ग

नाज्झलौ (पा०सू० १।१।१०)। आकारसहित इति। **अत्र च "काल-समयवेलासु" (पा०सू० ३।३।१६७) इत्यादिनिर्देशः प्रश्लेषे लिङ्गम्। न**

प्रवृत्त्यापत्त्या यणादेशो न स्यादिति चेन्न, प्रत्यासत्त्या ऋकाररूपाज्निमित्तककार्यस्यैव प्रकृतिभावेन प्रतिबन्धात्। **पाठ** इति। ऋल्+ओस् इत्यवस्थायाम् ऋकारस्य प्रकृतिभावेन ऌकारस्य यणादेशेन च तादृशरूपसिद्धेरिति भावः। **बोध्यमिति।** एवञ्च सोऽसाम्प्रदायिकः पाठ इति भावः। ननु 'ऋऌवर्णयोरित्यनुपपन्नम्, 'समानाधिकरणेन षष्ठी न समस्यते' इति षष्ठीसमासस्य निषेधात्। कर्मधारय इत्यपि न, तस्यापि प्रकृते षष्ठ्यन्तपदसम्बन्धितया तेन निषेधस्य प्राप्तेः सम्भवादिति शङ्कां निराकरोति—**पूरणेति। न तु कर्मेति।** "अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वेति' न्यायादिति भावः। एवञ्च स सुलभ इति भावः। ननु 'तक्षकस्य सर्पस्य' इत्यादाविव बहुलग्रहणात्तदभावापत्तिरत आह—**बहुलेति। तदभावः**= कर्मधारयस्याभावः। **भाष्योदाहृतेति।** 'यजुषः पीयमानस्य' इत्यादाविति भावः। **नान्यत्रेति।** अत एव 'अन्यस्य पदस्यार्थे' इत्यर्थकान्यपदार्थे इति, 'अस्य वर्णस्येत्यर्थकः 'अवर्णस्ये'ति सूत्रप्रयोगः सङ्गच्छते। मूले **प्रथमान्तेनेति।** प्राथम्येन प्रथमान्तपदानामेवोपस्थितिर्भवतीति तयोरेव विग्रह उचितः। **अयं पक्षः**=प्रथमान्तेन विग्रह इति पक्षः। **भाष्य** इति। तत्र हि उपसर्जनसंज्ञार्थमनेकग्रहणं कर्त्तव्यमि'त्युक्त्वा 'न वैकविभक्तित्वादि'न्यादिना प्रथमान्तेनैव 'चित्रगुश्चित्रगुमित्यादौ विग्रहात् तत्संखण्ड्य 'राजकुमारी राजकुमारीम्' इत्यादावतिप्रसङ्गमाशंक्य एकग्रहणसामर्थ्यात् परिनिष्ठितविभक्त्यापि समास इति तदावश्यकमित्युक्तम्। **अत्र च**=परिनिष्ठित-विभक्त्या समासे चेत्यर्थः। **ज्ञापकमिति।** तत्सूत्रस्थमेकग्रहणं ज्ञापकमित्यर्थः। **अन्यथेति।** तत्पक्षास्वीकारे इत्यर्थः। **एकस्य**—अन्यतरस्येत्यर्थः। **अतिक्रान्तमिति।** मालामिति सम्बन्ध्यते। **तस्य**=अतिक्रान्तार्थकस्यातिशब्दस्येत्यर्थः। **अत एव**=ज्ञापकबलेन परिनिष्ठितविभक्त्या समास इति पक्षस्याङ्गीकारादेवेत्यर्थः। **इत्यादाविति।** कर्मधारय इत्यर्थः। **अतिप्रसङ्गमिति।** तेन सूत्रेण पूर्वपदस्वरप्राप्तिरूपातिप्रसङ्गमित्यर्थः। **प्रतिपदोक्तेति।** तृतीया-सप्तमीति पदोपादानेन विहितसमासयोरेव तया परिभाषया अत्र ग्रहणमित्यर्थः॥

की शंका और प्रतिपदोक्त परिभाषा से वारण करना—ये दोनों ही असंगत हो जायेंगे। अतः परिनिष्ठित विभक्ति से भी समास होना प्रामाणिक है॥]

[मनो०] नाज्झलौ [पा० सू० १।१।१०] आकारसहित अच्—आच्, आच् च् हल् च्—आज्झलौ, न आज्झलौ नाज्झलौ—ये परस्पर सवर्ण नहीं होते हैं। आकार के सहित अच्=आच् इसमें "कालसमयवेलासु तुमुन् (पा० सू० ३।३।१६७)

अत्र[1] चेति। सूत्रे इत्यर्थः। **प्रश्लेषे**=आकारप्रश्लेषे निर्देशा लिङ्गमित्यन्वयः। निर्देशेन आकारहकारयोः सावर्ण्याभावबोधकानुमानिकवचनकल्पनापेक्षया प्रश्लेषे एवं तात्पर्यकल्पनं लघीय इति भावः।

नाज्झलौ (पा०सू० १।१।१०) आकारसहितोऽच् आच्, स च हल् चेत्येतौ मिथः सवर्णौ न स्तः—इति परममूलम्। तदेवाह मूले—**आकारसहित** इति। अत्र आश्च आ३श्च इति औ, दीर्घप्लुतयोर्दीर्घे 'आ' इति प्रातिपदिकाद् 'औ' विभक्तौ इदं रूपम्। आभ्यां सहित इत्यर्थे 'कर्तृकरणे' (पा० सू० २।१।३२) इति समासे 'आसहित' इति। आसहितश्चासौ अच् चेति आच्। आच् च हल् च—इत्याज्झलौ इति। 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' इत्यतः सवर्णमित्यनुवर्तते। तच्च द्विवचनेन पुंलिङ्गत्वेन च विपरिणम्यते। एवञ्च आच् हल् च एतौ मिथः सवर्णौ न स्तः। दीर्घाकारेण प्लुताकारेण वर्णसमाम्नायपठितेन अकारादिस्वरेण च सह हल्वर्णानां सवर्णसंज्ञा न भवतीत्यर्थः। **निर्देशेनेति**। कालसमयवेलास्विति निर्देशेनेत्यर्थः। **प्रश्लेषे** इति। आप्रश्लेषे इति पदच्छेदो बोध्यः। **इति भाव** इति। स्यादेतत्—सर्वत्र हि निषेधस्थले निषेधक-शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन निषेध्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने संकोच इति निषेध्यशास्त्राणामप्रामाण्याप्रसक्तये नियमः स्वीक्रियते। ततश्च 'नाज्झलौ' इत्येतन्निषेधशास्त्रीयोद्देश्यता-

---

इत्यादि निर्देश (आकार के) प्रश्लेष में प्रमाण हैं। [शब्द०] यहाँ=इस सूत्र में—यह अर्थ है। प्रश्लेष में—आकारों के प्रश्लेष में निर्देश प्रमाण है—यह अन्वय है। निर्देश के द्वारा आकार और हकार के सावर्ण्याभाव के बोधक आनुमानिक वचन की कल्पना की अपेक्षा (आकारों के) प्रश्लेष में ही तात्पर्यकल्पना करना लघुभूत है, यह भाव है। (दीर्घ एवं प्लुत अकारों का प्रश्लेष सिद्ध करने के लिए—आ३श्च आ३श्च—इति औ, आभ्यां सहितः—इति आसहितः, आसहितः अच्—इति आच्—यह मध्यमपदलोपी समास है। आच् च हल् च—इति आज्झलौ, न आज्झलौ—इति नाज्झलौ यह पद बना है। यहां दीर्घ 'आ' का प्रश्लेष मानने के कारण ही 'वेलासु' यह निर्देश उपपन्न होता है। अन्यथा 'ह्' से 'आ' का ग्रहण मान लेने पर 'स्' का 'ष्' होने लगेगा। दीर्घ 'आ' का प्रश्लेष मान लेने पर सावर्ण्यनिषेध होने से षत्व नहीं होता है। प्लुत आ३ का भी प्रश्लेष माना जाता है, यह सिद्ध करते हैं—)

---

१. 'अत्र चेति—इत्यारभ्य लघीय इति भावः' इत्यन्तः पाठो बहुषु संस्करणेषु प्रमादात् परित्यक्तः। भावप्रकाशभैरव्यादिसम्मतत्वादत्र संयोजित इति बोध्यम्।

चैवमपि यिया३सो—इत्यादौ "गुरोरनृत" (पा०सू० ८।२।८६) इति प्लुता-दाकारात्परस्य सनः सस्य षत्व स्यादेवेति वाच्यम्। आश्च, आ३श्चेति द्वन्द्वे सवर्णदीर्घेण दीर्घात्परत्र प्लुतोऽपि प्रश्लिष्यत इति व्याख्यानात्।

व्याख्यानादिति। एवं व्याख्याने मानं तु प्रयत्नभेदेन "नाज्झलौ" त्येतत्प्रत्याख्यानपर भाष्यम्। तद् ध्वनयन् वक्ष्यति—सूत्रं माऽस्त्विति भाष्ये स्थितमिति।

वच्छेदकावच्छिन्नमच्त्वं हल्त्वं च, तदवच्छिन्नातिरिक्तत्वेन तुल्यास्य-सूत्रेसङ्कोचे अजामज्भिः हलां हल्भिरपि सवर्णसंज्ञा न स्यात्। सूत्रं तु दीर्घादीनां ग्रहणक-शास्त्रस्य 'नाज्झलौ' इति सूत्रेऽप्रवृत्त्या तत्रत्याच्पदेनाग्रहणात्तत्र चरितार्थमिति चेत्? अत्रोच्यते, अज्भिन्नेन तुल्यास्यप्रयत्नमज्भिन्नं सवर्णम्, हल्भिन्नेन तुल्यास्यप्रयत्नं हल्भिन्नं सवर्णं भवतीति आवृत्त्या 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णमि'ति सूत्रस्यार्थद्वयकरणेनादोषात्। 'नाज्झलौ' इति तात्पर्यग्राहकम्, अत्र प्रथमवाक्यार्थेन हलां द्वितीयेन चाचां सवर्णसंज्ञा बोध्यते इत्यन्यत्र विस्तर इत्याहुः।

मूले—न चैवमपि = निर्देशबलेनाकारप्रश्लेषसिद्धावपि। मूले—षत्वं स्यादेवेति। प्लुताकारस्य सावर्ण्यनिषेधाभावात् हकारग्रहणेन ग्रहणसम्भवादिणः परत्वोपपाद-नादिति भावः। एवं व्याख्यान इति। भेदेन ईषद्विवृत-विवृतावित्येवंरूपेण व्याख्याने इति भावः। भाष्यमिति। प्रयत्नभेदे सति सावर्ण्याभावः सूत्रप्राप्त्य-भावप्रयोज्य एव भवति, यदा तु न प्रयत्नभेदकल्पना तदा चेत् सावर्ण्यम्, तदा फलभेदः स्पष्ट एव। एवञ्च फलभेदे प्रत्याख्यानासम्भवेन भाष्यासङ्गतिः स्पष्टा एवेति बोध्यम्। वक्ष्यतीति। अत्रैवाग्रे मूले इत्यर्थः।

[मनो०] इस सूत्र में 'आ' (दीर्घ) का प्रश्लेष मान लेने पर भी 'यिया३ सो' यहाँ पर "गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्" पा०सू० ८।२।८६ इससे प्लुत आकार से परे सन् के स का षत्व होना ही चाहिए (क्योंकि प्लुत आ के सवर्ण का निषेध नहीं है)—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आ३श्च, आ३श्च यहाँ (दीर्घ और प्लुत आकारों के) द्वन्द्व में सवर्णदीर्घ के द्वारा दीर्घ के बाद प्लुत का भी प्रश्लेष है, ऐसा व्याख्यान किया गया है। (शब्द०) इस प्रकार के (प्रश्लेष-सम्बन्धी) व्याख्यान में (ईषद्विवृत और विवृत इन) प्रयत्नों के भेद से "नाज्झलौ" पा०सू० १।१।१० इस सूत्र का प्रत्याख्यान-सम्बन्धी भाष्य प्रमाण है। इस आशय को ध्वनित करते हुए (आगे प्रौढमनोरमा में) कहेंगे—"नाज्झलौ" यह सूत्र न रहे, ऐसा

यणादिकमिति । शीतलशब्दे सवर्णदीर्घ आदिशब्दार्थः ।

शीतलशब्दे इति । शस्य ईकारे परे, दधीतीकारस्य शकारे परे चेत्यर्थः । न च शीङः शकारोच्चारणेन तच्छकारस्येकारे न दीर्घ इति वाच्यम्, शीतलशब्दे शीङोऽभावात् । किं तु श्याधातोः क्ते "द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः श्यः" (पा० सू० ६।१।२४) इत्यनेन सम्प्रसारणे "श्योऽस्पर्शे" (पा०सू० ८।२।४७) इत्युक्तेर्नत्वाभावे च निष्पन्नाच्छीतशब्दात्सिध्मादित्वाल्लचि शीतलशब्द इत्यदोषात् । शीतशब्दो हि सिध्मादिषु गणरत्ने वृत्तौ च पठचते । किं च, तेनापूर्ववचनकल्पनापेक्षया सूत्रोदाहरणत्वमेव युक्तमिति भावः ।

[परममूले—नाज्झलौ मिथः सवर्णौ न स्तः । तेन दधीत्यस्य हरति, शीतलं षष्ठं सान्द्रमित्येतेषु परेषु] **यणादिकं** न इति । अत्रादिपदेन शकारेकारयोः सवर्णदीर्घो न भवतीति बोध्यम् । दधि+शीतलमित्यत्रापि सवर्णदीर्घो न भवतीत्यपि

भाष्य में स्थित है ।" **(मनो०)** (सवर्णदीर्घ का निषेध हो जाने से दधि के आगे हरति, षष्ठम् और सान्द्रम् शब्दों के रहने पर यण् नहीं होता है और दधि के आगे शीतलम् रहने पर सवर्णदीर्घ नहीं होता है—यही लिखते हैं ।) यण् आदि नहीं होते हैं । यहाँ 'शीतलम्' शब्द परे रहते सवर्णदीर्घ नहीं होता है, यह 'आदि' का अर्थ है । **(शब्द०)** शीतलम् में श् का ई (श्+ईतलम्) परे रहते और दधि इसके इकार का शकार परे रहते (सवर्णदीर्घ नहीं होता है) यह अर्थ है । (पूर्वपक्ष)—शीङ् के शकार का उच्चारण करने से (अर्थात् सवर्णदीर्घ न करने से) इसके शकार का ईकार परे रहते दीर्घ नहीं होता है । (उत्तरपक्ष)—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि शीतल शब्द में 'शीङ्' धातु नहीं है । (अतः शकारोच्चारण-सामर्थ्य से सवर्णदीर्घ नहीं रोका जा सकता ।) किन्तु (गत्यर्थक श्यैङ्=) श्या धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर "द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः" (पा०सू० ६।१।२४) इससे (य् का) सम्प्रसारण और पररूप होने पर "श्योऽस्पर्शे" पा०सू० ८।२।४७ ऐसा सूत्रकथन होने के कारण निष्ठा=त का नत्व न करने पर निष्पन्न 'शीत' शब्द से "सिध्मादिभ्यश्च" पा०सू० ५।२।९७ इस सूत्र से 'लच्' प्रत्यय करने पर 'शीतल' शब्द बनता है, इस प्रकार कोई दोष नहीं है । (यद्यपि सिध्मादिगण में सर्वत्र शीत शब्द का पाठ नहीं मिलता है तथापि) गणरत्न और काशिका वृत्ति में सिध्मादिगण में 'शीत' शब्द पठित है । (अतः लच् होने में बाधा नहीं है ।) और भी, उस निर्देश से (शकार अच्-कार्य का निष्पादक नहीं होता है—इस प्रकार के) अपूर्व वचन की कल्पना करने की अपेक्षा इस शीतल शब्द का "नाज्झलौ" सूत्रसम्बन्धी उदाहरण बनना ही (लाघव के कारण) उचित है, यह भाव है ।

अत्रेति । **अत्रैवेत्यर्थः ।**

अत्रैवेति । ग्राहकसूत्र एवेत्यर्थः । अत्र च "उर्ऋत्" (पा० सू० ७।४।७) इति सूत्रे तपरत्वं मानम् । तद्धि चुरादिण्यन्तात्कृतधातोर्लुङ्यचीकृतदित्यत्र दीर्घर्कारस्य स्थाने ह्रस्व एव यथा स्यादित्यर्थम् । पूर्वेणात्राण्ग्रहणे तूद्देश्येन विधेयेन च ऋकारेणानण्त्वाद्भिन्नकालाग्रहणेन न तस्य स्थानित्वं न वा आदेशत्वं प्रसक्तमिति व्यर्थं तत्स्यात् ।

बोध्यं तदाह—**दधीत्यस्य** । सूत्राभावे ह्रस्वेकार-शकारयोः सावर्ण्याच्छस्याक्त्वेन दीर्घप्राप्तिः, नाज्झलाविति सूत्रसत्त्वे तु तयोः सावर्ण्यनिषेधेन शस्यानक्त्वात् तद-प्राप्तिरिति भावः । **शकारोच्चारणेने**ति । अन्यथा शकारोच्चारणवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति भावः । शीतलशब्दस्य व्युत्पत्ति प्रदर्शयति—**श्याधातो**रिति । **सम्प्रसारण** इति ।

[मनो०] (अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः पा०सू० १।१।६९ अविधीयमान अण् और उदित् सवर्णसंज्ञक होने चाहिए) यहाँ ही = इसी सूत्र में (अण् परवर्ती ण् से लेना चाहियें) यह अर्थ है । **[शब्द०]** इस ग्राहक सूत्र में ही अण् परवर्त्ती ण् से लेना चाहिए, यह अर्थ होता है । और इसमें (अर्थात् परवर्ती ण् से अण् के ग्रहण में) 'उर्ऋत्' पा०सू० ७।४७ इसमें तपर होना प्रमाण है । क्योंकि वह तपरकरण इसलिए किया गया है जिससे चुरादिगणीय णिजन्त कृत् धातु से लुङ् लकार में 'अचीकृतत्' यहाँ दीर्घ ॠकार के स्थान पर ह्रस्व ऋकार ही हो, इसके लिए हैं । "अणुदित्" इस सूत्र में पूर्व 'ण्' से अण् का ग्रहण करने पर तो उद्देश्य और विधेय दोनों ऋकारों के द्वारा, अण् न होने से भिन्नकाल वाले का ग्रहण न होंने से, उस (भिन्नकाल वाले) का न तो स्थानी (उद्देश्य) होना प्रसक्त होता और न आदेश (विधेय) होना प्रसक्त होता, इसलिए वह तपरकरण व्यर्थ हो जाता । [भाव यह है कि चङ्परक णि परे रहने पर उपधाभूत दीर्घ ॠकार के स्थान पर "उर्ऋत्" पा० सू० ७।४।७ यह सूत्र ऋत् = ह्रस्व ऋकार आदेश करता है । यदि अण् प्रत्याहार पूर्व ण् अर्थात् 'अइउण्' तक ही सीमित रहता तो 'ऋ' अण् से बाहर हो जाती । उसमें सवर्णग्राहकता न होने से भिन्नकाल वाले का ग्रहण ही नहीं किया जाता । इसलिए भिन्नकाल वाला ॠ न तो स्थानी बनता और न आदेश । तब उसका निवारण करने के लिए किया गया तपरकरण व्यर्थ होकर यही ज्ञापित करता है कि "अणुदित्" इस सूत्र में पर अर्थात् 'लण्' के 'ण्' से अण् प्रत्याहार बनता है । इस प्रकार ऋ भी सवर्णग्राहक हो जाता है । अतः भिन्नकाल वाले दीर्घ ॠ का ग्रहणवारण करने के लिए तपरकरण चरितार्थ होता है ।]

इदं पूर्वंरूपस्याप्युपलक्षणम्। **अदोषादिति**। शकारोच्चारण-वैयर्थ्यापत्ति-रूपदोषा-भावादित्यर्थः। **सिध्मादिष्विति**। सिध्मादिगणे शीतशब्दस्य पाठात् 'सिध्मा-दिभ्यश्च' (पा०सू० ५।२।९७) इत्यनेन मतुबर्थे लचि प्रत्यये शीतलशब्दस्य व्युत्पादन-मिति भावः। ननु एतादृशक्लेशेन शीतलशब्दसाधनापेक्षया शीङ्धातोरेव रूपमस्तु, एवञ्चोक्तज्ञापकं सुस्थिरमेवेत्यत आह—**किञ्चेति**। **तेनेति**। शीङः शकारोच्चा-रणेनेति भावः। **अपूर्ववचनेति**। 'शकारोऽच्कार्यानिष्पादक' इति वचनान्तर-कल्पनापेक्षयेति भावः। **सूत्रेति**। नाज्झलाविति सूत्रोदाहरणत्वमिति भावः। **तस्य**=शीतशब्दस्येत्यर्थः।

'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (पा०सू० १।१।६९) इति सूत्रं व्याख्यातुमुपक्रमते परममूले—'अन्यथा दीर्घादीनामिव ऌकारादीनामपि ग्रहणकशास्त्रबलादच्त्वं स्यात्। तथाहि अणुदिति।' **अत्रेति**। 'अणुदित् सवर्णस्येति' सूत्रे अण् प्रत्याहारः लण्सूत्र-स्थणकारेणैव ग्राह्यः। **तत् हि**=तपरत्वं हीत्यर्थः। अयं भावः—'उॠत्' (पा०सू० ७।४।७) इति सूत्रमुपधाया ॠवर्णस्य स्थाने 'ॠत्' इत्यादेशविधानं करोति चङ्परे णौ। कृत्धातोः चुरादित्वात् स्वार्थे णिचि लुङि उपधाया दीर्घॠकारस्य स्थाने ह्रस्वॠकारस्य विधानं सङ्गच्छते। **अत्र**=अणुदित् सूत्रे इत्यर्थः। **तस्य**=ॠकार-स्येत्यर्थः। **तत्**=तपरत्वमित्यर्थः। **तस्य**=ऌकारस्येत्यर्थः। **तद्ग्रहणे**=ऌकार-ग्रहणे इत्यर्थः। **एवं ज्ञापितेऽपीति**। परेण णकारेणाण्-ग्रहणमिति ज्ञापितेऽपीत्यर्थः। **भाव्यमानेति**। भाव्यमानोऽण् सवर्णान्न गृह्णातीति परिभाषयेति भावः। **तद्-वैयर्थ्यम्**=तपरकरणवैयर्थ्यं स्वांशे चारितार्थ्याभावात्। तथा च ज्ञापनासम्भव इति भावः। **स्वरूपाभ्यनुज्ञेति**। अभ्यनुज्ञानं प्रतिप्रसवः। यदि अनेन सूत्रेणादेश-विधानं न स्यात् तदा 'अचीकृतत्' 'अवीवृधत्' 'अमीमृजत्' इत्यादिषु इररारा॒म् प्रवृत्तिः स्यादिति दीर्घॠकारस्य स्वरूपोपलम्भो न स्यात्, इराद्यादेशेनापहारात्। सति त्वस्मिन् दीर्घस्वरूपोपलम्भ इति स्वरूपाभ्यनुज्ञेति भावः। **अविधेयत्वादिति**। अयं भावः—ज्ञापकस्थले सर्वत्र चत्वारोंऽशाः—(१) वैयर्थ्यम्, (२) ज्ञापनम्, (३) स्वांशे चारितार्थ्यम्, (४) फलमन्यत्रेति च। प्रकृते 'अणुदित् सवर्णस्ये' ति सूत्रे अण् प्रत्याहारो यदि पूर्वणकारेण गृह्यते तदा ॠकारस्य तेन ग्रहणाभावात् तत्र सवर्णग्राहकसूत्रस्याप्रवृत्त्या 'उॠत्' इति सूत्रे उद्देश्येन सवर्णस्याग्रहणे ह्रस्व-ॠकारस्यैव स्थानिता तत्रान्तरतम्यात् आदेशस्यापि ह्रस्वस्यैव सम्भवेन दीर्घस्य व्यावृत्त्यर्थं कृतं तपरकरणं व्यर्थं भवत् ज्ञापयति—यदस्मिन सूत्रे परणकारेण अण् प्रत्याहारस्य ग्रहणमिति। परणकारेणाण्-प्रत्याहारग्रहणे ॠकारस्यानण्त्वात् तेन सवर्णानां ग्रहणे सति उद्देश्यविधेयाभ्यामुभाभ्यामपि दीर्घादीनां बोधे ह्रस्वस्य ह्रस्वो दीर्घस्य दीर्घ आदेश आन्तरतम्याद् भवतीति आदेशान्तर-व्यावृत्त्यर्थंतत्रमात्रं नत्व-

न च तपरसूत्रेण ऌकारग्रहणार्थं तत्, स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया ॠकारस्थाने तस्य वारणेन तद्ग्रहणे फलाभावात्। न चैवं ज्ञापितेऽपि भाव्यमानत्वात्सवर्णग्रहणाप्रसक्तेस्तद्वैयर्थ्यम्, तपरत्वाभावे आदेशान्तर-निवृत्त्यर्थत्वेन स्वरूपाभ्यनुज्ञानार्थतयाऽपूर्वबोध्यत्वाभावेनाविधेयत्वात्। कृते तु तपरत्वे भाव्यमानताऽपीत्यन्यदेतत्।

पूर्वबोध्यत्वम्, 'इदमो मः' इतिवद् इति विधेयत्वाभावेन 'अप्रत्यय' इति निषेधा-प्रवृत्तौ प्रसक्तदीर्घादि-व्यावृत्त्या तपरकरणस्य चारितार्थ्यम्। अन्यत्र फलन्तु 'सय्यँन्ता' इत्यादौ अनुनासिकमकारस्य स्थानेऽनुनासिको वकार इत्याहुः।

[पूर्वपक्ष]—"तपरस्तत्कालस्य" पा० सू० १।१।७० इस सूत्र से ऌकार का ग्रहण कराने के लिए वह (तपरकरण) है, [क्योंकि इस सूत्र में भी अण् की अनुवृत्ति होती है। पर णकार से अण् के ग्रहण में तो दीर्घ की व्यावृत्ति के द्वारा चरितार्थ होता हुआ ऌकार के ग्रहण के लिए उपपन्न होता है।] [उत्तर-पक्ष]—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि "स्थानेऽन्तरतमः" पा० सू० १।१।५० इस परिभाषा सूत्र के बल से ॠकार के स्थान पर उस ऌकार का वारण हो जाने से उस ऌकार के ग्रहण में कोई फल नहीं है। (अतः ऌकार-ग्रहणार्थं तपर मानना ठीक नहीं है।) [पूर्वपक्ष]—इस प्रकार (परवर्त्ती ण् से अण् के ग्रहण के] ज्ञापित हो जाने पर भी (भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न—इस परिभाषा के कारण भाव्यमान होने से (ॠकार के) सवर्णग्रहण की प्रसक्ति नहीं होती है अतः (अपने विषय में चरितार्थ न होने से) तपरकरण व्यर्थ है। [उत्तरपक्ष] ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि तपरत्व न होने पर अन्य आदेश की निवृत्ति के लिए होने से स्वरूप की अभ्यनुज्ञा के लिए होता है, अतः अपूर्वबोध्य न होने से (वह ॠ) विधेय नहीं होता है। किन्तु तपरत्व कर देने पर वह ॠ भाव्यमान भी होता है; यह अलग विषय है।

विमर्श–तात्पर्य यह है कि तपरत्व के अभाव में "उॠत्" पा० सू० ७।४।७ इस सूत्र से ॠ आदेश का विधान नहीं किया जायगा तो अचीकृतत्, अवीवृधत् अमी-मृजत् आदि में ऋ के स्थान पर क्रमशः इर्, अर् एवम् आर् की प्रवृत्ति होने लग जायगी। इस प्रकार इन आदेशों के द्वारा अपहृत हो जाने से दीर्घ ॠकार के स्वरूप की उपलब्धि नहीं हो सकती। किन्तु 'उॠत्' पा० सू० ७।४।७ इस सूत्र के बनाने पर तो दीर्घ ॠ के स्वरूप की उपलब्धि होगी, अन्य आदेशों की निवृत्ति होगी। इस प्रकार तपरत्व के अभाव में अर्थात् 'उॠः' इत्याकारक सूत्र रहने पर 'ॠ' अपूर्वबोध्य न होने से विधेय नहीं माना जा सकता। इस स्थिति में विधेयता=भाव्यमानता के अभाव में 'ॠ' सवर्णों का ग्राहक होने लगेगा,

यद्यपीति। ग्रहणकशास्त्रस्याद्याप्यनिष्पत्तेरिति भावः।

अनिष्पत्तेरिति। 'वर्णानामुपदेशस्तावत्तदुत्तरकालमित्सञ्ज्ञा तदुत्तरम् "आदिरन्त्येन" [पा० सू० १।१।७१] इति प्रत्याहारस्तदुत्तरकाला सवर्णसंज्ञा, तदुत्तरकालम् "अणुदित्" [पा० सू० १।१।६९] इति, एतेन समुदितेनान्यत्र सवर्णानां ग्रहणम्' इतिवाक्यापरिसमाप्तिन्यायादित्यर्थः।

परममूले—"नाज्झला" विति सावर्ण्यनिषेधो यद्यप्याक्षरसमाम्नायिकानामेव तथापि हकारस्याकारो न सवर्णः, तत्राकारस्यापि प्रश्लिष्टत्वात्। तेन 'विश्वपाभिः' इत्यत्र 'हो ढः' इति ढत्वं न भवतीति।' ननु ग्रहणकशास्त्रस्य पाणिनिना पठितत्वात्तस्यानिष्पत्तिरिति कथनमयुक्तमत आह—**वर्णानामिति**। 'आदिरन्त्येने'

क्योंकि 'अप्रत्ययः' यह निषेध नहीं लागू होगा। इस स्थिति में विधेय ऋ भी सवर्णग्राहक होने लगेगा और ह्रस्व के स्थान पर दीर्घ ॠ आदि भी होने लगेंगे, उनकी व्यावृत्ति के लिए तपरकरण चरितार्थ होता है। यह तभी सम्भव हो जाता है जब अण् परवर्त्ती णकार से लिया जाय। यदि पूर्व णकार से लेंगें, 'ऋ' सवर्ण का ग्राहक नहीं होगा, अतः दीर्घादि की निवृत्ति के लिए किया गया तपरकरण व्यर्थ हो जायगा। व्यर्थ होकर ही यह ज्ञापित करता है कि परवर्त्ती णकार से ही अण् लेना चाहिए। अतः तपरकरण चरितार्थ है।

परन्तु 'उऋ॑त्' सूत्र में जब तपरकरण है तब तो दीर्घादि ॠकारों का ग्रहण न होने पर दीर्घादि के स्थान पर भी ह्रस्व ऋ के विधान से अपूर्वबोध्यता के कारण 'ॠ' भाव्यमान हो जाता है। अतः 'अप्रत्ययः' यह निषेध प्रवृत्त हो जाता है। इस प्रकार से भी दीर्घादि की व्यावृत्ति की जा सकती है। यह दूसरा उपाय भी है। अतः कोई दोष नहीं है।

[मनो०] ('नाज्झलौ' पा०सू० १।१।१० यह निषेध यद्यपि अक्षर-समाम्नायस्थ वर्णों का ही होता है,) क्योंकि इस समय तक (अर्थात् सवर्णसंज्ञा के निषेधकशास्त्र प्रणयन के अवसर तक) ग्रहणक शास्त्र ('अणुदित्' पा० सू० १।१।९) की निष्पत्ति नहीं हो पाती है, यह भाव है। **(शब्द०)** अनिष्पत्ति है क्योंकि सर्वप्रथम (१) वर्णों का उपदेश है, (२) उपदेश=वर्णोच्चारण के बाद इत्संज्ञा, (३) इत्संज्ञा के बाद "आदिरन्त्येन सहेता" पा० सू० १।१।७१ इससे प्रत्याहार, इसके बाद (४) सवर्ण-संज्ञा, (५) सवर्ण-संज्ञा के बाद में "अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः" पा०सू० १।१।७१ (इससे सवर्ण का ग्रहण होता है), इस समुदित वाक्य से भिन्न में सवर्णों का ग्रहण होता है, इस प्रकार के वाक्यापरिसमाप्ति न्याय के अनुसार ग्राहक शास्त्र की निष्पत्ति नहीं हो पाती है, यह अर्थ है।

अयं भावः--"आदिरन्त्येन" इति प्रत्याहारसिद्धौ "नाज्झलौ" [पा०सू० १।१।१०] इत्येतद्वाक्यार्थबोधे सति, निर्णीततद्विषयपरिहारेण सवर्णपदबोध्यत्वनिश्चये "अणुदित्" इत्यनेन तावतां ग्रहणं बोध्रनीयम्। अन्यथा बाधकसम्भावनया तुल्यास्यसूत्रजशक्तिग्रहेऽप्रामाण्यसन्देहेन तच्छास्त्रजबोधानापत्तिः। न चैतद्वाक्यार्थबोधात् प्राक् तन्निश्चय इति।

भाव यह है—"आदिरन्त्येन सहेता" पा०सू० १।१।७१ इससे प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर "नाज्झलौ" (पा०सू० १।१।१०) इस सूत्र का वाक्यार्थ-बोध होने पर निर्णीत जो 'नाज्झलौ' इसका विषय, उसे छोड़कर सवर्णपद से बोध्य है, यह निश्चय हो जाने पर "अणुदित्" इस सवर्णबोधक सूत्र से उनका ग्रहण समझना चाहिए (क्योंकि अपवाद के विषय को छोड़कर ही उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति मानी जाती है।) अन्यथा (अर्थात् यदि 'नाज्झलौ' इस अपवाद वाक्य के अर्थ का पर्यालोचन नहीं करते हैं तो) बाधक की सम्भावना से 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' पा० सू० १।१।९ इस सूत्र से जन्य शक्तिग्रह में अप्रामाण्य के सन्देह के कारण उस ('अणुदित् सवर्णस्य') शास्त्र से जन्य बोध नहीं हो सकेगा। (क्योंकि अप्रामाण्य-ज्ञान से अनास्कन्दित=अनाक्रान्त शक्तिग्रह ही शाब्द-बोध का हेतु माना जाता है।) क्योंकि 'नाज्झलौ' इस अपवाद वाक्यार्थ-बोध के पहले उस (सवर्ण पदार्थ) का निश्चय नहीं हो पाता है।

[यहाँ का तात्पर्य यह है कि 'अणुदित्' सावर्णस्य चाप्रत्ययः इस सूत्रस्थ 'अण्' पदार्थ का ज्ञान करने के लिए यह प्रक्रिया मानी जाती है—(१) सर्व प्रथम 'अइउण्' इत्यादि सूत्रों से वर्णों का ज्ञान हो। (२) इसके बाद "हलन्त्यम्" पा०सू० १।३।३ से "लण्" सूत्र के णकार की इत्संज्ञा का ज्ञान हो। (३) इत्संज्ञा के ज्ञान के बाद "आदिरन्त्येन सहेता" पा०सू० १।१।७१ इससे अण् पद की शक्ति का ज्ञान होता है। (४) इसके बाद "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" पा०सू० १।१।९ और 'नाज्झलौ' पा०सू० १।१।१० इन दोनों से सवर्णसंज्ञा और निषेध का ज्ञान होता है। (५) इस सबके बाद "अणुदित् सवर्णस्य" सूत्रवाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है। "तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्" इस उत्सर्ग सूत्र की प्रवृत्ति में 'नाज्झलौ' पा० सू० १।१।१० इस अपवाद के विषयभूत लक्ष्यों का ज्ञान आवश्यक होता है। इस प्रकार अपवाद के विषयों को छोड़कर ही उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति करनी चाहिए। ऐसा न करने पर तो अपवाद के विषय में भी 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' पा०सू० १।१।९ इस सूत्र की प्रवृत्ति यदि पहले ही हो जाती है तब 'भुक्तवन्तं प्रति मा भुङ्क्थाः' इस न्याय के अनुसार अब 'नाज्झलौ'

यत्तु—निषेधवाक्यार्थबोधात्पूर्वं विधेर्वाक्यार्थबोध एव नेति । तन्न, पदार्थोपस्थितौ वाक्यार्थबोधे बाधकाभावात् । निषेधस्य प्रतियोगिज्ञानोपपादकतया विध्यपेक्षत्वेऽपि विधेस्तदपेक्षत्वे मानाभावाच्च ।

त्येतत्सूत्रव्याख्यानावसरे व्याख्यातमेतत् । नन्वेतादृशक्रमेण वाक्यार्थनिष्पत्तावन्यत्र "अस्य च्वौ" इत्यादौ सवर्णग्रहणवत् 'नाज्झलौ' वित्यत्रापि ग्राहकशास्त्रप्रवृत्तिः कथं न भवतीत्यत आह—**अयं भाव** इति । **एतत्**=नाज्झलावित्येतत् । **परिहारेणे**ति । अपवादविषयपरिहारेणैव उत्सर्गशास्त्रस्य प्रवृत्त्यङ्गीकारादिति भावः । **निश्चय** इति । अनेन ततः प्राक् तस्य सामान्यतो बोधोऽस्त्येवेति सूचितम् । **अन्यथे**ति । 'नाज्झलौ' वित्येतन्निषेधवाक्यार्थापर्यालोचने । **तच्छास्त्रजे**ति । 'अणुदित्' शास्त्रजेत्यर्थः, अप्रामाण्यसन्देहस्य प्रतिबन्धकत्वादिति भावः । **न च**=न हीत्यर्थः । **एतद्वाक्यार्थे**ति । 'नाज्झलावित्येतत्' वाक्यार्थेत्यर्थः । **तन्निश्चयः**=सवर्णपदबोध्यनिश्चय इत्यर्थः । तदानीं तु स भवति विषयभेदेन बाधकासम्भावनया प्रतिबन्धकाप्रामाण्यसन्देहाभावादिति भावः । तथा च तुल्यास्य-सूत्रार्थबोधस्य निषेधबोधात् प्रागावश्यकत्वेपि तन्निश्चयाभावात्तत्र तदप्रवृत्तिरिति तत्त्वमिति प्राहुः । **विध्यपेक्षत्वेऽपी**ति । अभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्य कारणत्वस्य सर्वलोकतन्त्रप्रसिद्धत्वादिति भावः । **तदपेक्षत्वे**=निषेधापेक्षत्वे इत्यर्थः । **षत्वमि**ति । अत्र षत्वस्या-

---

की कोई उपयोगिता नहीं रह पाती है। इसलिए यही मानना आवश्यक है कि अपवाद के विषयभूत लक्ष्यों को छोड़कर ही उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। 'नाज्झलौ' इस सूत्र वाक्यार्थज्ञान के पहले सवर्णपदार्थ का निश्चय नहीं होता है। इस प्रकार सवर्णग्रहण नहीं होता है।]

जो यह कहते हैं—(नाज्झलौ पा०सू० १।१।१० इस) निषेधवाक्य के अर्थज्ञान के पहले (तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् पा० सू० १।१।९ इस) उत्सर्गविधि का वाक्यार्थबोध ही नहीं होता है—वह ठीक नहीं है क्योंकि पदार्थों की उपस्थिति=बोध हो जाने पर वाक्यार्थबोध में बाधक नहीं होता है (अर्थात् प्रतिबन्धकबाध-बुद्धि न रहने पर वाक्यार्थबोध न मानने में कोई प्रमाण नहीं है।) और निषेध को प्रतियोगिज्ञान के अपवादकत्वेन विधि की अपेक्षा होने पर भी विधि को निषेध की अपेक्षा होने में कोई प्रमाण नहीं है। (अभावज्ञान में प्रतियोगी का ज्ञान कारण होता है यह तो सर्वत्र मान्य है परन्तु विधि को निषेध की अपेक्षा करके ही बोध होता है, ऐसा नहीं देखा जाता है। अतः विधिवाक्यार्थ-बोध न मानना ठीक नहीं है।)

"हो ढः" (पा० सू० ८।२।३१) इत्युपलक्षणं, रमास्वित्यत्र षत्वं, वागाशीरित्यत्र "झयो हः" (पा० सू० ८।४।६२) इत्याकारस्य घकारः, दासीष्टेत्यादौ "दादेः" (पा. सू. ८।२।३२) इति घत्वं च नेति बोध्यम्।

यदि तु विवृतमूष्मणामित्यत्र ईषदित्यनुवर्त्य, स्वाराणां चेत्यत्र निवर्त्य, प्रयत्नभेदो व्याख्यायते, तदा "नाज्झलौ" इति सूत्रं माऽस्त्विति भाष्ये स्थितम् ॥

रमास्वित्यत्र षत्वमिति। सर्वस्याप्येकया युक्त्या वारणेनापाद्यमानेऽर्थे न्यायानादरादेवमुक्तम् ॥

भाष्ये स्थितमिति। अनेनाकारप्रश्लेषे मानं दर्शितम्।

सिद्धत्वादादौ ढत्वम्, ततः 'षढोः कः सि' इति कत्वम्, ततः षत्वस्य प्राप्तिरिति प्रक्रिया बोध्या। वस्तुतस्तु ढत्वादीमसिद्धत्वात् संयोगान्तलोप सर्वत्र प्राप्नोतीति वक्तुचितम्। **एकया युक्त्येति।** आकार-प्रश्लेषरूपया युक्त्येत्यर्थः। **न्यायानादरादिति।** न्यायस्य=पूर्वत्रासिद्धमिति युक्तेः प्रवृत्तिविषयेऽनादरादित्यर्थः।

[मनो०] [हकार का आकार सवर्ण नहीं होता है क्योंकि 'नाज्झलौ' पा० सू० १।१।१० इसमें आकार का भी प्रश्लेष है। इसलिए "हो ढः" पा०सू० ८।२।३१ यहाँ ह पद से बोध्य का विधीयमान ढत्व 'विश्वपाभिः' यहाँ आकार का नहीं होता है क्योंकि 'ह' के अण् होने पर भी आकार के साथ इसकी सवर्णता न होने के कारण आकार ह-पद-बोध्य नहीं होता है।] 'हो ढः' (पा०सू० ८।२।३१) यह उपलक्षण (अर्थात् अन्य का भी सूचक) है—रमासु यहाँ (आ से ह का ग्रहण न होने से "आदेशप्रत्यययोः" पा०सू० ८।३।५९ इससे) षत्व, वागाशीः यहाँ (आ को ह् मानकर) "झयो होऽन्यतरस्याम्" (पा०सू० ८।४।६२) इससे 'आ' कार का घकार और 'दासीष्ट' इत्यादि में 'दादेर्धातोर्घः' (पा०सू० ८।२।३२) इससे (आ को ह मानकर आकार का) घत्व नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिये। **(शब्द०)** रमासु यहाँ षत्व नहीं होता है—आदि जो कहा है वहाँ सभी दोषों का आकार-प्रश्लेषरूपी एक ही युक्ति से वारण हो जाने से आपद्यमान अर्थ में न्याय का अनादर करने से ऐसा कहा है। [अर्थात् ये सभी दोष त्रैपादिक होने से 'पूर्वत्रासिद्धम्' पा० सू० ८।२।१ से असिद्ध हो जाते हैं किन्तु इस युक्ति को आदर न देते हुए ही मनोरमाकार ने इतने दोष प्रस्तुत किये हैं। वास्तव से इन ढत्वादि के असिद्ध हो जाने पर केवल संयोगान्तलोप-प्राप्तिरूप दोष ही रहता है।]

(मनो०) किन्तु यदि ऊष्मों का विवृत यत्न होता है यहाँ 'ईषद्' इसकी अनुवृत्ति करके और और, स्वरों का विवृत होता है' इसमें 'ईषद्' की निवृत्ति करके (स्वरों

"वृद्धिरादैच्" (पा. सू. १।१।१) ।। ऐजिह द्विमात्र एव, तात्परत्वात्, तेन कृष्णैकत्वमित्यत्र त्रिमात्रो न । एवमुत्तरसूत्रेऽपि । तेन गङ्गोदकमित्यादौ त्रिमात्रो न ।।

मूले—**यदि त्विति** । ऊष्मणामीषद्विवृत्तं स्वराणां विवृतं प्रयत्नं स्वीकृत्येत्यर्थः । **आकारेति** । प्लुताकारेत्यर्थः । **मानं दर्शितमिति** । आरम्भपक्षे दीर्घकारस्य हकारेण सावर्ण्यं प्रसज्यते, प्रत्याख्यानपक्षे च प्रयत्नभेदेन न तयोस्तदिति फलभेदेन

तथा ऊष्मों के) प्रयत्नभेद की व्याख्या कर ली जाती है (अर्थात् ऊष्म=शषसह का ईषद्विवृत और स्वरों का विवृत यह अलग-अलग प्रयत्न मान लिया जाता है,) तब 'नाज्झलौ' पा० सू० १।१।१० यह सूत्र न रहें, ऐसा भाष्य में स्थित है। (अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रयत्नवाला होने के कारण अच् प्रत्याहार से बोध्य वर्णो की हल् प्रत्याहार से बोध्य वर्णों के साथ सवर्ण संज्ञा प्राप्त ही नहीं होती है। उसके निषेध के लिए 'नाज्झलौ' यह सूत्र अनावश्यक है।) [शब्द०] इससे प्लुत आकार के प्रश्लेष में प्रमाण दिखाया है। (यहाँ शब्दरत्न का रहस्य यह है कि 'नाज्झलौ' इस सूत्र के आरम्भपक्ष में वर्णसमाम्नाय से बहिर्भूत दीर्घ आकार का हकार के साथ सावर्ण्य प्रसक्त होता है और 'नाज्झलौ' इस सूत्र के प्रत्याख्यानपक्ष में दोनों के प्रयत्नभेद के कारण इन दोनों का सावर्ण्य नहीं होता है। इस स्थिति में आरम्भपक्ष एवं प्रत्याख्यान-पक्ष में फलभेद होने से प्रत्याख्यान असङ्गत होने के कारण इस भाष्य-प्रामाण्य से आरम्भपक्ष में 'आकार' का प्रश्लेप मानना आवश्यक है। इसी प्रकार प्लुत आकार का भी प्रश्लेप करना चाहिये। प्रश्लेष मानने पर ही फलभेद न हो सकने से प्रत्याख्यान की संगति सम्भव है।)

[मनो०] वृद्धिरादैच् (पा०सू० १।१।१) [आत् तथा ऐच् की वृद्धि संज्ञा होती है।] [इस सूत्र में ऐच् (ऐ औ) दो मात्राओं वाला ही (लिया जाता है), क्योंकि 'त्' अर्थात् 'आत्' के 'त्' के बाद है (क्योंकि 'तपरस्तत्कालस्य' पा०सू० १।१।७० में तः परो यस्मात् सः, तात्परश्च—तपरः ये दोनों विग्रह किये जाते हैं।) इस कारण 'कृष्णैकत्वम्' यहाँ (एकमात्रिक अ+द्विमात्रिक ऐ=) तीन मात्राओं वाला 'ऐ' वृद्धि आदेश नहीं होता है। इसी प्रकार उत्तर सूत्र (अदेङ् गुणः पा०सू० १।१।२ में भी 'त्'=अत् से पर होने के कारण एङ् (द्विमात्रिक ही लिया जाता है) इसी कारण गङ्गा+उदकम् यहाँ (द्विमात्रिक आ+एकमात्रिक उ=) तीन मात्राओं वाला 'ओ' गुण नहीं होता है।

"भूवादयो धातवः" (पा. सू. १।३।१) ।। भूश्च वाश्चेति द्वन्द्वः। आदि-शब्दयोर्व्यवस्थाप्रकारवाचिनोरेकशेषः। भूवौ आदी येषामिति बहुव्रीहिः। भूप्रभृतयो वासदृशाः। सादृश्यं च क्रियावाचकत्वेनेत्यभिप्रेत्याह—क्रियावाचिन इति।

प्रत्याख्यानासङ्गत्या तद्भाष्यप्रामाण्येनारम्भपक्षे आकारः प्रश्लेपणीय इति। एवं प्लुताकारोऽपि प्रश्लेपणीयः एतद्भाष्य-प्रामाण्यादिति भावः।

[मनो०] भूवादयो धातवः (पा०सू० १।३।१) (क्रियावाचक भ्वादिगणों में पठित भू आदि शब्दों की धातुसंज्ञा होती है।) भूश्च वाश्च यह [भूवौ] द्वन्द्व है। व्यवस्थावाची 'आदि' शब्द का और प्रकारवाची 'आदि' शब्द का एकशेष है। [अर्थात् आदिश्च आदिश्च इति आदी—इसमें प्रथम 'आदि' का अर्थ व्यवस्था= आद्यवयव है और द्वितीय 'आदि का' अर्थ प्रकार=सादृश्य है। भूवौ आदी येषां ते भूवादयः—यह बहुव्रीहि है। भूप्रभृति वासदृश (शब्दों की धातु संज्ञा होती है) यहाँ सादृश्य—क्रियावाचकत्वरूप से लिया जाता है। इसी आशय से (सिद्धान्त-कौमुदी में) लिखा है—क्रियावाचक भ्वादि शब्दों की धातु संज्ञा होती है।

[यहाँ तात्पर्य यह है कि भूश्च वाश्च इति भूवौ, आदिश्च आदिश्च यहाँ एकशेष करने पर—आदी। भूवौ आदी येषां ते—भूवादयः धातवः। एकशेष में जो प्रथम 'आदि' शब्द है वह व्यवस्था=आद्यवयव का वाचक है और इसका 'भू' के साथ अन्वय होता है। इसलिए 'भूप्रभृतयः' यह अर्थ होता है। द्वितीय 'आदि' शब्द प्रकार=सदृश का वाचक है और उसका 'वा' के साथ अन्वय होता है। अतः 'वासदृशाः' यह अर्थ होता है।

यहाँ विचारणीय यह है कि एकधर्मावच्छिन्न का एकधर्मावच्छिन्नमें एक-धर्मावच्छिन्न संसर्ग से अन्वय होना सहविवक्षा है। सहविवक्षा में ही द्वन्द्व होता है। परन्तु प्रस्तुत स्थल में 'भू' शब्द का आद्यावयवार्थक 'आदि' शब्द में निष्ठत्व सम्बन्ध से और 'वा' शब्द का सादृश्यार्थक 'आदि' शब्द में प्रतियोगित्व-सम्बन्ध से अन्वय होता है। इस प्रकार एकधर्मावच्छिन्न संसर्ग से अन्वय न होने से सहविवक्षा नहीं है अतः द्वन्द्व नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रथम 'आदि' शब्द का अर्थ व्यवस्था है और द्वितीय आदि शब्द का अर्थ 'सादृश्य' है इसमें विपरीत क्रम से भी अन्वय हो सकता है—'भू' का सादृश्यार्थक में और 'वा' का आद्यार्थक में।

इस शंका का समाधान यह है कि "आद्यन्तौ टकितौ" पा०सू० १।१।४६ के समान ही यहाँ भी समुदाय में अन्वय करके "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" पा०सू० १।३।१०) के आधार पर बाद में अलग-अलग अन्वय करना चाहिये। यहाँ 'भूवा' इस

मूले—**उत्तरसूत्रेऽपीति**। 'अदेङ् गुणः' इति सूत्रेऽपीत्यर्थः, तत्रापि तात्परत्वेन द्विमात्रिकस्यैवैङो ग्रहणमिति भावः।

'भूवादयो धातवः' (पा०सू० १।३।१) क्रियावाचिनो भ्वादयो धातुसंज्ञाः स्युः—इति वृत्तिः। मूले—**व्यवस्थेति**। व्यवस्थावाची=अवयववाचीत्यर्थः, प्रकार-वाची=सदृशवाचीत्यर्थः। उभयार्थकयोरादिशब्दयोरेकशेषः। तत्र भू शब्देन सम्बद्धः आदिशब्दो व्यवस्थावाची वाशब्देन च सम्बद्धः प्रकारवाची। तत्र भू-शब्दो द्विविधः—भूम्यर्थकः, सत्तार्थकश्चेति। एवं वा-शब्दोऽपि विकल्पार्थको गत्याद्यर्थकश्च। तत्र द्विविधस्यापि वा-शब्दस्य लिङ्ग-सङ्ख्यानन्वय्यर्थबोधकतया असत्त्ववाचित्वेन तत्सा-हचर्याद् भूशब्दोऽसत्ववाची सत्ताद्यर्थक एव गृह्यते। स च क्रियावाची। एतत्साह-चर्यात् वाशब्दोऽपि गत्याद्यर्थक एव गृह्यते। तत्सादृश्यं च क्रियावाचकत्वेनैव बोध्यम्। एतदेवाभिप्रेत्य मूले उक्तम्—**सादृश्यं च क्रियावाचकत्वेनेति**। नन्वेवं सादृश्यस्य 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वमिति' लक्षणेन वाभिन्नत्वं वाधातौ न स्यात्। एवञ्च वा शब्दस्य धातुसंज्ञा न स्यादत आह—**वाधाताविति**। **प्रयोग-भेदेनेति**। 'वाति, वातः' इत्यादिषु वातीत्येतद्घटकवाशब्दस्य यथा क्रियावाचकत्वं

समुदाय का 'आदि' समुदाय में स्वविशिष्टत्व-सम्बन्ध से अन्वय होता है। सम्बन्ध-घटक वैशिष्ट्य स्वघकाभिन्नघटितत्व—स्वघटक-प्रतियोगिक-सादृश्यवद्घटित्व—इन दो सम्बन्धों से समझना चाहिए। समन्वय—स्वम्=भूवा समुदाय, तद्घटक से अभिन्न 'आदि' है, उससे घटित है और स्वघटक=वा शब्द, तत्प्रतियोगिक सादृश्य-वान् आदि है, तद्घटितत्व भी आदिसमुदाय में मिल जाता है। इस प्रकार साहित्य सम्भव होने से द्वन्द्व में बाधा नहीं है।

अथवा 'भूवादयः' इसमें तन्त्रेण उच्चारण मानकर दोनों भूवा शब्दों का व्यवस्थारूपार्थक 'आदि' में अन्वय होता है और दोनों का प्रकाररूपार्थक 'आदि' में अन्वय होता है। इस प्रकार समुदाय का समुदाय में अन्वय हो जाने से दोष नहीं है।

भू शब्द दो प्रकार का है (१) भूमि अर्थवाला और सत्ता अर्थवाला। वा शब्द भी दो अर्थों वाला है (१) विकल्प अर्थवाला और (२) गति अर्थवाला। यह दोनों प्रकार का 'वा' शब्द लिङ्ग एवं संख्यादि के अनन्वयी अर्थ का बोधक है अतः असत्त्ववाची है। इसके साहचर्य से 'भू' शब्द भी असत्त्ववाची सत्तार्थक ही लिया जाता है और ऐसा वह क्रियावाचक ही है। इस 'भू' के साहचर्य से 'वा' शब्द भी क्रियावाची ही लिया जाता है। इसी आशय से मनोरमा में लिखा गया

क्रियावाचिनः किम् ? 'याः पश्यसि' इत्यादौ धातुत्वं मा भूत् । सति हि तस्मिन्, "आतो धातोः" (पा. सू. ६।४।१४०) इति स्यात् ।

सादृश्यं चेति । वाधातौ वासादृश्यं च प्रयोगभेदेन वोध्यम् ।

तथा 'वातः' इत्येतद्घटक-वाशब्दस्यापि 'प्रत्युच्चारणं शब्दो भिद्यते' इति सिद्धान्तादिति भावः ।

अत्रेदं बोध्यम्—ननु एकधर्मावच्छिन्नस्य एकधर्मावच्छिन्नसंसर्गेण एकधर्मावच्छिन्नेऽन्वयः सहविवक्षा=साहित्यम्, सहविवक्षायामेव द्वन्द्वः । प्रकृते च भूशब्दस्य आद्यार्थक-आदिशब्दे निष्ठत्व-सम्बन्धेन, वा-शब्दस्य सादृश्यार्थक-आदिशब्दे प्रतियोगित्व-सम्बन्धेन चान्वयेन उक्तरीत्याऽन्वयाभावेन सहविवक्षाया अभावान् द्वन्द्वोऽनुपपन्नः । किञ्चैकपदोपस्थापितार्थद्वयस्य परस्परमभेदान्वयस्याव्युत्पन्नतया भू प्रभृतयो वा-सदृशाः इत्येवमभेदान्वयोऽपि दुर्लभ इति चेन्न, 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यत्रेव भूवा-समुदायस्य आदि-समुदायेऽन्वयं स्वविशिष्टत्व-सम्बन्धेन कृत्वा समासे पुनर्यथासङ्ख्यसूत्र-सामर्थ्येन यथासङ्ख्यमन्वयः । प्रकृते सम्बन्ध-घटक-वैशिष्टयञ्च—स्वघटकाभिन्न-घटितत्व-स्वघटक - प्रतियोगिक-सादृश्यवद्घटितत्वोभयसम्बन्धेन । स्वम्=भूवासमुदायः, तद्घटकाभिन्न आदिस्तद्घटितत्वम्, स्वघटको वाशब्दस्तत्-प्रयोगिक-सादृश्यवानादिस्तद्घटितत्वमपि आदिसमुदाये सुलभम् । एवञ्चोक्त-व्युत्पत्तिप्रवृत्त्या द्वन्द्व-साधुत्वमिति दिक् ।

मूले—**याः पश्यसीति ।** क्रियावाचित्वस्याभावे 'याः' इत्यत्रापि धातुत्वापत्त्याऽऽलोपापत्तेरिति भावः । **निषेधादिति ।** अजनिष्ठान्यनिरूपित-व्यवधानाभावनिमित्तके कार्ये कर्त्तव्ये वहिरङ्ग-परिभाषा न प्रवर्तते इति तदर्थात् । **ततोऽ-**

है--सादृश्यं च क्रियावाचकत्वेन] **(शब्द०)** 'वा' धातु में 'वा' का सादृश्य प्रयोग-भेद से मान लेना चाहिये । (तात्पर्य यह है कि 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् सादृश्यं' है । इसलिए 'वा' धातु में 'वा' भिन्नता किस प्रकार होगी ? अतः 'वा' की धातुसंज्ञा नहीं होनी चाहिये । इस शंका का उत्तर यह है कि वाति में जैसे 'वा' शब्द क्रियावाचक है वैसे ही 'वातः' का 'वा' शब्द भी क्रियावाचक है क्योंकि 'प्रत्युच्चारणं शब्दाः भिद्यन्ते' यह न्याय है । अतः 'वा' में वा शब्द का सादृश्य सम्भव है । **(मनो०)** क्रियावाची की धातुसंज्ञा होती है—इसे मानने का क्या फल है ? 'याः पश्यसि' आदि में (या) धातु न होने लग जाय (इसके लिए क्रियावाचित्व कहा गया है । यहाँ 'या' शब्द क्रियावाची नहीं हैं अतः धातुसंज्ञा नहीं होती है ।) धातु संज्ञा हो जाने पर "आतो धातो" (पा०सू० ६।४।१४०) यह सूत्र

आतो धातोरिति। न च स्त्र्यर्थनिमित्तकटापो बहिरङ्गासिद्धत्वम्। "नाजानन्तर्ये" (परि० ५१) इति निषेधात्। ततोऽपि बहिर्भूतसंख्यानिमित्तकविभक्तिनिमित्तकभसञ्ज्ञानिमित्तकत्वेन लोपस्य बहिरङ्गत्वाच्च, अर्थनिमित्तकबहिरङ्गत्वस्याभावाच्च।

प्रवृत्त होगा (और फलस्वरूप 'आ' का लोप होने लगेगा।) (**शब्द०**) (पूर्वपक्ष) स्त्री अर्थ में होने वाला टाप् (लोप की अपेक्षा) बहिरंग होने से असिद्ध हो जाता है—(उत्तरपक्ष) ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः' इस परिभाषा से निषेध हो जाता है। (इस परिभाषा का भावार्थ यह है कि अच् निष्ठ—अन्यनिरूपित व्यवधानाभाव को मानकर होने वाले कार्य की कर्तव्यता में 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'आतो धातोः' पा०सू० ६।४।१४० में 'भस्य' पा०सू० ६।४।१२९ का अधिकार है। यकारादि अजादि प्रत्यय का आक्षेप होता है। लोप में सप्तम्यन्त निमित्त है अस् प्रत्यय, उससे अव्यवहित पूर्ववर्त्ती अच् है आ, इसे उद्देश्य मानने वाला अन्तरङ्ग 'आतो धातोः' से विहित लोप है। इसके करने में बहिरङ्ग टाप् असिद्ध नहीं होता है। अतः लोपप्राप्ति सम्भव है। इसे वारण करने के लिए क्रियावाचकत्व विशेषण आवश्यक है।] और उस टाप् से भी लोप बहिरंग होता है क्योंकि वह लोप बहिर्भूत संख्यानिमित्तक, विभक्तिनिमित्तक एवं भसंज्ञानिमित्तक है (क्योंकि पहले लिङ्गबोध हो जाने के बाद ही संख्यादिबोध के लिए विभक्ति आती है और उस में भ संज्ञा का ज्ञान होता है। इसको निमित्त मानकर होने वाला लोप बहिरंग है।) और अर्थनिमितक बहिरङ्गत्व नहीं होता है। (तात्पर्य यह है कि शब्दशास्त्र में शब्द की प्रधानता रहती है। अतः 'बहिरंग' और 'अन्तरंग' शब्दों में अंग से शब्दरूप निमित ही लिया जाता है। इसीलिए "स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" इस सूत्र पर लिखित "त्रयादेशे स्रन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः" यह वार्त्तिक संगत होता है। यह वार्त्तिक 'त्रि+आम्' इस स्थिति में त्रयादेश और तिस्रादेश इन दोनों के प्राप्त होने पर परवर्त्ती होने से तिसृ आदेश में स्थानविद्भाव से त्रिशब्दत्व लेकर त्रय आदेश का वारण करने के लिए है। परन्तु यदि अर्थनिमित्तक बहिरङ्गत्व का भी आश्रयण लिया जायगा तब तो तिस्र आदेश स्त्रीत्वनिमित्तक होने से बहिरङ्ग होता है अतः अन्तरङ्ग होने से पहले त्रय आदेश करने पर उसके बाद तिसृ आदेश की प्रवृत्ति होने पर 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते' इस न्याय से पुनः 'त्रय' आदेश प्राप्त ही नहीं होता है। अतः स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध करना व्यर्थ हो जाता है।अतः अर्थकृत बहिरङ्गत्व नहीं लिया जाता है। शब्दशास्त्र में शब्द

नाप्ययं लाक्षणिकः ।

पीति । टापोऽपीत्यर्थः । लिङ्गबोधोत्तरमेव सङ्ख्योपस्थितेस्तस्यास्तत्त्वमिति भावः । अयं भावः—टापो लिङ्गापेक्षा, तच्च लिङ्गं प्रथमत उपस्थितं भवति सङ्ख्या तु तदुत्तरं प्रतीता भवतीति टाप एवान्तरङ्गत्वमिति भाव । ननु भत्वावच्छिन्नं प्रति विभक्तित्वेन कारणतेत्येवं कार्यकारणभावो न सम्भवति, 'वृषण्वसुः' 'वृषणश्वः' इत्यत्र व्यभिचारात् । यदि भसंज्ञा-सामान्यं प्रति विभक्तेर्निमित्तत्वाभावेऽपि लोपविधायक-शास्त्र-प्रवृत्ति-हेतु-भसंज्ञा-विभक्ति-निमित्तिकैवेति विभाव्यते, तदा 'याः पश्यसी' त्यादौ भसंज्ञानिमित्त-विभक्तिनिमित्तकाच्-पररूपनिमित्तकत्वेन टापो लोपाद् बहिरङ्गत्वमपि सम्भाव्यत इत्यत आह—**अर्थनिमित्तकेति** । अयं भावः—शब्दशास्त्रे शब्दस्य प्राधान्याद् 'असिद्धं बहिरङ्गम्' इति परिभाषा-घटकनिमित्तबोधकाङ्ग-शब्देन शब्दरूपं तद् गृह्यते इति नियमः । अत एव 'त्रयादेशे स्रन्तस्य प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति स्थानिवत्-सूत्र-वार्तिकं सङ्गच्छते । तद्धि त्रि आम् इति स्थिते त्रयादेशतिस्रादेशयोः प्राप्तयोः परत्वात् तिस्रादेशे स्थानिवद्भावेन त्रिशब्दत्वमादाय त्रयादेशवारणायास्ति । अर्थनिमित्तक - बहिरङ्गत्वाश्रयणे तु तिस्रादेशस्य स्त्रीत्वनिमित्तकत्वेन बहिरङ्गतया अन्तरङ्गत्वात् पूर्वं त्रयादेशे ततस्तिस्रादेशप्रवृत्तौ 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' इतिन्यायेन पुनस्त्रयादेशाप्राप्त्या तद्व्यर्थत्वात् । एवञ्च अन्तरङ्गपरिभाषायामङ्ग-शब्देन शब्दरूपं निमित्तमेव गृह्यते, शब्दशास्त्रे तस्यैव प्राधान्यात् । तेनार्थ-निमित्तकस्य न बहिरङ्गत्वमिति सिध्यति । अत एव 'न तिसृचतसृ' इति निषेधश्चरितार्थः । अन्यथा स्त्रीत्वरूपार्थ-निमित्तक-तिस्रादेशापेक्षयाऽन्तरङ्गत्वात् पूर्वं दीर्घे ततस्तिस्रादेशे लक्ष्ये लक्षण - न्यायेन पुनर्दीर्घाप्रवृत्तौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्याहुः ।

लाक्षणिक इति । लक्षणम्=लक्षण-प्रतिपदोक्त-परिभाषा । तत्रत्यैकदेशानु-

---

की प्रधानता के कारण 'अङ्ग' शब्द से शब्दरूपी निमित्त लेना उचित है । ऐसा मानने के कारण ही "न तिसृचतसृ" पा० सू० ६।४।४ यह निषेध भी सार्थक होता है । क्योंकि यहाँ भी स्त्रीत्वरूप अर्थनिमित्तक 'तिसृ' आदेश की अपेक्षा अन्तरंग होने से पहले दीर्घ कर लेने पर उसके बाद तिसृ आदेश करने पर 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' इस न्याय से दूसरी बार दीर्घ की प्राप्ति नहीं होती है, अतः "न तिसृचतसृ" पा० सू० ६।४।४ से दीर्घ का निषेध करना व्यर्थ हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि शब्दनिमित्तक ही बहिरङ्गत्वादि लिया जाता है।]

और 'याः पश्यसि' का 'या' शब्द लाक्षणिक='लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा का विषय भी नहीं है, क्योंकि—

नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु।
सकारजः शकारश्चे षाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥ १ ॥

इत्यभियुक्तोक्तेर्भ्वादिषु लाक्षणिकानामपि दर्शनेन तद्विषये तत्परिभाषाया अप्रवृत्तेः। "आतो धातोः" [पा० सू० ६।४।१४०] इत्यत्र प्रतिपदोक्त आकारो गृह्यत इति तु वक्तुमप्यशक्यम्, 'पशुषः' इत्यसिद्ध्यापत्तेः। पशुं सनोतीति विट् "विड्वनोः" [पा० सू० ६।४।४१] इत्यात्वम्।

करणात् सत्या भामेत्यादिवत् वा, वार्त्तिकादिवत् परिभाषाया अपि लक्षणत्वाद् वा। 'तत् अर्हतीत्यर्थे तदर्हति' इति ठञ्, तस्य न्यायस्याविषय इत्यर्थः। यथाश्रुतं सर्वथा न युक्तम्, ब्रह्मणा वचनशतेनापि 'या' शब्दस्य लाक्षणिकत्वस्यानिवार्यत्वादिति भावः। कारिकार्थः—धातुषु झल्परौ अनुस्वारपञ्चमौ नकारजौ=नकारस्थाने आदेशतया उत्पन्नौ—यथा स्रन्सु अञ्चु इत्यादौ। चे=चकारे परे शकारः

धातुओं में (१) झल् परे रहते जो अनुस्वार पञ्चम वर्ण हो जाते हैं वे नकार के स्थान पर होने वाले हैं। (२) चकारपरक शकार सकार के स्थान पर होने वाला है। (३) रेफ तथा षकार के बाद वाला टवर्ग तवर्ग के स्थान पर होने वाला है। [इनके क्रमशः उदाहरण—[१] स्रंसु, अञ्चु [२] व्रश्च्, [३] उर्णुञ्, ष्ठा] इस प्रकार का आचार्यों का कथन होने से भू आदि शब्दों में लाक्षणिक=लक्षण से निष्पन्न शब्दों का भी दर्शन होने से उस धातुसंज्ञा के विषय में "लक्षण और प्रतिपदोक्त में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण करना चाहिये" इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। "आतो धातोः" पा० सू० ६।४।१४० इस सूत्र में प्रतिपदोक्त आकार ही लिया जाता है, यह तो कहना भी सम्भव नहीं है क्योंकि ["अद्भिवदत्राभावात्" पा० सू० ६।४।२२ सूत्रभाष्य में प्रयुक्त] 'पशुषः' इसकी सिद्धि नहीं हो सकेगी। पशु सनोति—[पशु का दान करता है—√षणु दाने का प्रयोग है] इसमे [पशुम् उपपद षणु=सन् धातु से 'जनसनखनक्रमगमो विट्' पा० सू० ३।२।६७ से] विट् प्रत्यय होता है और "विड्वनोरनुनासिकस्यात्" पा० सू० ६।४।४१ से अनुनासिक=न् का 'आ' होता है। [इस प्रकार पशुसा में मूर्धन्यादेश करने पर पशुषा यह रूप होता है। द्वितीया-बहुवचन में पशुषा+शस्=अस् में "आतो धातोः" सूत्र से आलोप और विसर्गादि कार्य करने पर 'पशुषः' यह रूप होता है। यहाँ लोप के पूर्व 'पशुषा' इसमें प्रतिपदोक्त 'आ' नहीं अपितु लक्षणवश बनाया हुआ है। तब भी लोप करके भाष्यकार ने प्रयोग किया है। अतः प्रतिपदोक्त परिभाषा की प्रवृत्ति यहाँ नहीं माननी चाहिए।]

भ्वादयः किम् ? हिरुक्, पृथगित्याद्यव्ययानां, शिश्ये इति भावार्थ-

---

"आतोऽनापः" इति वार्त्तिकमते तु विकल्पार्थकनिपातवाशब्दस्य धातुत्वे प्रातिपदिकत्वाभावात्सुबभावे पदत्वानापत्तिर्दोषः । क्रियात्वं—साध्यत्वेन प्रतीयमानत्वम् । साध्यत्वं चोत्पाद्यमानत्वमेवेत्यन्यत्र विस्तरः ।

सकारजः=दन्त्यसकारस्थाने आदेशतया जातः, यथा व्रश्चेत्यादौ । षात्=रेफष-काराभ्यां परः टवर्गः तवर्गजः=तवर्गस्य स्थाने आदेशतया जात इत्यर्थः । **लाक्षणि-कानामपीति** । अपिना प्रतिपदोक्तानां समुच्चयः । **तद्विषये**=धातुसंज्ञाविषये । **तत्परिभाषायाः**=लक्षण-प्रतिपदोक्त-परिभाषाया इत्यर्थः । **पशुष** इति । 'असिद-वदत्राभावात्' इति सूत्रभाष्यस्थोऽयं प्रयोगः । द्वितीया बहुवचने षष्ठ्येकवचने वा रूपमिति बोध्यम् । 'पशुषा' इत्यत्राकारः लाक्षणिकः, सस्य स्थाने षकारादेश-विधानादिति भावः । अत्र धातुसंज्ञासत्वादेव 'आतो धातोः' इत्यनेनाकारलोप-सम्भवः । वार्त्तिकमते मूलोक्त-दोषाभावादाह—**आतोऽनाप** इति । **पदत्वानापत्ति-रि**ति । देवदत्तः पचति वा गच्छति वेत्यत्र निघातानापत्तिः । किञ्च पदत्वाभावेऽ-साधुत्वेनाप्रयोगापत्तिरिति भावः । ननु क्रियावाचिन इत्युक्तावपि वातीत्यत्र विकल्प-यतीत्यत्रेव च निपातवाशब्दादपि विकल्परूपा क्रिया प्रतीयत एवेत्यत आह— **क्रियात्वञ्चे**ति । **उत्पाद्यमानत्वमेवे**ति । तद्रूपेणैव बोधात्, प्रकृते तु न तथा प्रतीतिः, शब्दशक्तिस्वभावात् । **अन्यत्रे**ति । लघुमञ्जूषायां धात्वर्थवादे उपसर्ग-

---

[क्त्वः श्नः आदि शब्दरूपों की सिद्धि के लिए "आतो धातोः" इस सूत्र के स्थान पर] "आतोऽनापः" [आप् से भिन्न आकार का लोप होता है] इस वार्त्तिक के मत में तो विकल्प अर्थवाले निपात 'वा' शब्द की धातुसंज्ञा होने पर प्रातिपदिक न होने से सुप् न होने पर पदसंज्ञा न होना दोष आता है । [इसके फलस्वरुप 'वा गच्छति' आदि प्रयोगों में "तिङ्ङतिङः" (पा० सू० ८।१।२८) इस सूत्र से अतिङन्त से परे न होने से तिङन्त का निघात नहीं हो सकेगा । यद्यपि 'विकल्पयति' शब्द से जैसे विकल्परूप क्रिया अर्थ प्रतीत हो जाता है उसी प्रकार 'वा' शब्द से भी प्रतीति होती है । अतः क्रिया की प्रतीति होती है अतः धातुसंज्ञा की प्रसक्ति होती है तथापि] क्रियात्व साध्यत्वरूप से प्रतीयमान होना है। और साध्यत्व उत्पाद्यमानत्व ही है यह अन्यत्र [मञ्जूषादिग्रन्थों में] विस्तृत रूप से [प्रतिपादित] है ।

[मनो०] भ्वादिग्रहण का क्या फल है ? 'हिरुक्' आदि अव्ययों और 'शिश्ये'

तिङन्तस्य च मा भूत् ।

हिरुगित्यादि । एषां क्रियासमानाधिकरणत्वाल्लिङ्गाद्यनन्वयित्वाच्च तदर्थस्य क्रियात्वमित्यभिमानः । एषामव्ययेषु पाठस्तु अप्रातिपदिकत्वेऽप्यकजर्थः स्यात् । एतेन—तेषु पाठसामर्थ्याद्धातुत्वाभाव—इत्यपास्तम् । नन्वेषां क्रियाकाङ्क्षादर्शनेन न क्रियावाचकत्वमत आह—**शिश्ये इति ।**

कालोऽपि धात्वर्थ एवेति न क्रियावाचकत्वहानिः । तस्य च धातुत्वे

वादे चेति बोध्यम् । ननूक्तरीत्या हिरुगाद्यर्थस्य क्रियात्वाभावादेव धातुसंज्ञा नैव भविष्यतीत्यत आह—**एषामिति । तदर्थस्य**=एतद्द्योत्यस्य वर्जनाद्यर्थस्येत्यर्थः ।

नन्वेषां धातुत्वे प्रातिपदिकत्वाभावादेव सुबभावे सिद्धेऽव्ययेषु पाठवैयर्थ्यापत्तिरत आह—**एषामिति । सामर्थ्या**दिति । एवञ्च नेदं प्रत्युदाहरणं युक्तमिति तद्भावः । **अपास्तमि**ति । प्रधानबाधकल्पनापेक्षयाऽधिकृत-विशेषणबाधकल्पनस्यैव न्याय्यत्वादिति भावः । ननु तिङन्तात् कालस्यापि प्रतीत्या क्रियामात्रवाचकत्वाभावेन न दोषः, तत्त्वं च 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायेन लब्धमत आह—**कालोऽपी**ति । **तस्य**=शिश्ये इति तिङन्तस्य । ननु 'अशिति' इति पर्युदासेनात्वादेशस्य

इस भावार्थक तिङन्त की धातु संज्ञा न होने लग जाय [इसको रोकने के लिए भ्वादि का ग्रहण है । अतः 'भू आदि के सदृश' ऐसा अर्थ मान लेने पर इनका ग्रहण नहीं होता है ।]

[शब्द०] ये हिरुक् आदि शब्द क्रिया-समानाधिकरण [क्रिया के समानार्थक] हैं और लिङ्ग आदि के अन्वय वाले नहीं हैं इसलिये इनके [द्योत्य वर्जनादि] अर्थ क्रिया होते हैं, यह [मनोरमाकार का] अभिमान है । अव्ययों के मध्य में इन हिरुक् आदि का पाठ तो इनके प्रातिपदिक न होने पर भी 'अकच्' करने के लिये होगा । [क्योंकि "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः" [पा० सू० ५।३।७१] से अकच् करने के लिये अव्यय होना आवश्यक है ।] इस प्रकार के कथन से—"उन अव्ययों में पाठ के सामर्थ्य से [इन हिरुक् आदि की] धातुसंज्ञा नहीं होती है—यह कथन परास्त हो गया । [क्योंकि अव्ययों में पाठ अकच् करने के लिए है, व्यर्थ नहीं है ।] हिरुक् आदि को अन्य क्रिया की आकाङ्क्षा होते देखी जाती है इस कारण इनकी क्रिया-वाचकता नहीं है—इसलिये [मनोरमा में] कहते हैं—शिश्ये [इस भावार्थक तिङन्त की धातुसंज्ञा न होने लगे, इसलिये भ्वादि का गहण है ।]

काल भी धात्वर्थ ही होता है इसलिये क्रियावाचकता की हानि नहीं है । [भाव यह है कि 'पञ्चकं प्रातिपदिकार्थः' इससे जैसे स्वार्थ, द्रव्य, लिङ्ग, संख्या एवं कारक

"आदेच उपदेश" [पा० सू० ६।१।४५] इत्यात्वं स्यात्। तद्धि अनैमित्तिकं धातुत्वनिमित्तकं चेति स्पष्टमेव। अत्र च प्रत्ययस्यैव धातुत्वापत्तिर्बोध्या, तिङन्तस्य तूपदेशाभावान्नात्वप्रसक्तिरित्याहुः।

ननु षष्ठे प्रकृतसूत्रे धातुग्रहणासम्बन्ध उक्तो भाष्ये इति न तद् धातुत्वनिमित्तकम्, किं चाशितीति प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि शित्परत्वयोग्यस्यैवात्वविधानान्नात्रात्वप्रसक्तिः। अपि च 'वा' सादृश्यमन्यानभिहितक्रियावाचक-

---

को माना जाता है। इसी प्रकार 'पञ्चकं धात्वर्थः' भी है इससे फल, व्यापार, काल, संख्या एवं कारक—ये पाँच धातु के ही अर्थ होते हैं। तिङ् तो केवल द्योतक होते हैं अतः धात्वर्थ काल आदि का वाचक होने से इसकी क्रियावाचकता, एवं धातुसंज्ञा सम्भव ही है।] और 'शिश्ये' इसकी धातुसंज्ञा होने पर "आदेच उपदेशेऽशिति" पा० सू० ६।१४५ इससे 'ए' का 'आ' होने लगेगा। क्योंकि वह आत्व अनैमित्तिक और धातुत्वनिमित्तक है, यह स्पष्ट ही है। [भाव यह है कि "आदेच उपदेशेऽशिति" इसमें "अशिति" यह प्रसज्य-प्रतिषेध है, शित् परे रहते आत्व नहीं होता है—यह अर्थ है, अतः इसमें किसी पर-निमित्त की आवश्यकता नहीं है। और 'गोभ्याम्' आदि में भी आत्व न होने लगे, इसलिए धातुत्व को निमित्त मानना आवश्यक है। इसके लिए "लिटि धातोरनभ्यासस्य" पा० सू० ६।१।८ सूत्र से 'धातोः' की अनुवृत्ति मानी जाती है। अतः 'शिश्ये' में आत्व की प्रसक्ति अवश्यम्भावी है।] और यहाँ 'शिश्ये' में प्रत्यय का ही धातुत्व होने का प्रसङ्ग समझना चाहिये क्योंकि तिङन्त-समुदाय का उपदेश होता नहीं है अतः आत्व की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा कहते हैं। [शब्दरत्नकार का रहस्य यह है कि 'शिश्ये' इस तिङन्त-समुदाय की धातुसंज्ञा करने पर कोई दोष नहीं है क्योंकि तिङ् प्रत्यय एक बार हो चुका है अतः दूसरी बार होना सम्भव नहीं है। और आत्व की आपत्ति भी सम्भव नहीं है क्योंकि यहाँ समुदाय उपदेशावस्था का नहीं है। इसलिये 'यहाँ त=एश् प्रत्यय की ही धातु संज्ञा होने लगेगी, वह न हो सके, इसी के लिये 'भ्वादि' का ग्रहण है।]

षष्ठ अध्यायस्थ "आदेच उपदेशेऽशिति" इस सूत्र में धातुग्रहण का असम्बन्ध भाष्य में कहा गया है अतः वह आत्व धातुत्व-निमित्तक नहीं है। और भी, 'अशिति' इसके प्रसज्यप्रतिषेध रहने पर भी शित्परत्वयोग्य [=जिसके बाद में शित् प्रत्यय आने की योग्यता रहती है उस] का ही आत्वविधान किया गया है [और 'शिश्ये' में शित्प्रत्ययपरत्वयोग्यता नहीं है।] अतः इसमें आत्व की प्रसक्ति नहीं है। और भी, अन्य के द्वारा अनभिहित क्रियावाचकत्वरूप

स्तम्भ्वादीनामुदित्करणेन सौत्राणां धातुत्वं ज्ञाप्यते। चुलुम्पादीनां तु "बहुलमेतन्निदर्शनम्" [धा० पा०] इति गणसूत्रेण सङ्ग्रहः।

त्वेनेति न दोषोऽत आह—**चेति**।

सूत्रशेषभाष्योक्तेष्वाणवयति, वट्टयतीत्यादिषु च धातुत्वे शास्त्रविषयतया साधुत्वापत्तिरिति तद्व्यावृत्तये तदिति भावः।

सनैमित्तिकत्वादत्राप्राप्तिरत आह—**तद्धीति**। **अनैमित्तिकमिति**। परनिमित्ताभाववदित्यर्थः। 'अशिति' इति प्रसज्यप्रतिषेधः—शिति आत्वं न भवतीत्यर्थः। **अत्र** च=शिश्ये इत्यत्र चेत्यर्थः। **षष्ठे**=अध्याये। **प्रक्सूत्रे**=आदेच-सूत्रे, **तद्**=आत्वादेशविधानमित्यर्थः। **नात्र**=न शिश्ये इत्यत्रेत्यर्थः। वस्तुतः क्रियावाचकत्वमेव नेत्याह—**अपि** चेति। **वासादृश्यमिति**। भ्वादीनामिति शेषः। **वाचकत्वेनेति**। स्वीक्रियते इति शेषः। **न दोषः**। शिश्ये इत्यादौ धातुत्वापत्तिरूपदोषो नेति भावः। **सूत्रशेषेति**। भूवादिसूत्रेत्यर्थः। **साधुत्वापत्तिरिति**। गर्ग्यादीनां प्रातिपदिकत्ववारणाय 'यत् किञ्चिच्छास्त्र—बोधितसाधुत्ववत्येव लक्ष्ये लक्षणप्रवृत्तिः' इति नियमात् लाघवात् धातुसंज्ञाविधायकस्य 'भूवादयो धातवः' इत्यस्यैवावृत्त्या 'भूवादयः साधवः' 'ते च धातुसंज्ञकाः' इत्येवंरूपेणोभयविधायकत्वस्वीकारेण धातुसंज्ञाप्रवृत्तौ साधुत्वं स्यात्, एवञ्च यज्ञादावपि तेषां प्रयोगापत्तिरिति भावः। **तद्व्या-**

से 'वा' का सादृश्य [भ्वादि का] है, इसलिए [शिश्ये यहाँ] धातुत्वापत्तिरूप दोष नहीं है इसलिए [मनोरमा में] कहते हैं—"और" [भावार्थ तिङन्त की]।

"भूवादयो धातवः" पा० सू० १।३।१ इस सूत्र पर अन्तिम भाष्य में कहे गये [आज्ञापयति इस अर्थ वाले] 'आणवयति' और [वर्तयति इस अर्थ वाले] 'वट्टयति' आदि में, धातुत्व होने पर शास्त्र का विषय बन जाने से साधुत्व की आपत्ति आती है [इसके फलस्वरूप यागादि कार्यों में भी इन शब्दों के प्रयोग का प्रसङ्ग आने लगेगा[अतः इसको रोकने के लिए 'भ्वादि' यह है, यह भाव है। [चूँकि ये आणवयति आदि भ्वादिगण के अन्तर्गत नहीं हैं अतः इनकी धातुसंज्ञा नहीं होती है इसी के लिए भ्वादि का ग्रहण है।]

[मनो०] स्तम्भु आदि सौत्र शब्दों का उदित्करण होने से धातुत्व ज्ञापित होता है। [अर्थात् "स्तम्भुस्तुम्भु० पा०सू० ३।१।८२ आदि सूत्र में पठित शब्दों में उकार की इत्संज्ञा करने के फलस्वरूप इनकी धातुसंज्ञा ज्ञापित होती है।] चुलुम्प आदि शब्दों का तो 'बहुलम् एतन्निदर्शनम्' इस गणसूत्र से [धातु के अन्तर्गत] संग्रह हो जाता है।

"चादयः" (पा.सू. १।४।५७)।। **अद्रव्यार्थाः किम्? पशुः। लिङ्गसंख्या-**

उदित्करणेनेति। इदमुपलक्षणम्। तत्प्रकृतिकच्ल्यनुवादेनाङ् विधानेन सार्वधातुके परे विकरणविधानेन च धातुत्वम्। "जुचङ्क्रम्य" (पा० सू० ३।२।१५०) इत्यत्र पठितजोः "जपजभ" (पा० सू० ७।४।६८) इत्यत्र पठितपसः, ऋतिप्रभृतीनां च केषाञ्चिद्धात्वधिकारविहितकार्योद्देश्यत्वात् वोध्यम्। एतैश्च स्थितस्य तेषां पाठस्य भ्रंशोऽनुमीयते इति भावः। मैत्रेया-द्यन्यसंमतं समाधिमाह—**बहुलमिति**।

वृत्तये इति। तेषां साधुत्वव्यावृत्तये इत्यर्थः। ननु स्तम्भ्वादीनामुदित्करणं धातु-त्वानुमापकमित्यसङ्गतम्, तेषां धातुत्वाभावे प्रातिपदिकसंज्ञायां ततः सर्वनामस्थाने 'उगिदचां सर्वनामस्थाने' इति सूत्रेण नुम्सम्पादकत्वेनोदित्करणस्य चारितार्थ्यादत आह—**इदमुपलक्षणेति**। **तत्प्रकृति**केति। स्तम्भ्वादिप्रकृतिकेत्यर्थः। **अङ्विधा-नेनेति**। 'जृस्तम्भुम्रुचुम्लुचु-ग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च' इति सूत्रेण च्लेः स्थानेऽङ्वि-धानेनेत्यर्थः। **विकरणविधानेन चेति**। स्तन्भुस्तुन्भुस्कन्भुस्कुन्भु स्कुञ्भ्यः श्नुश्चे' ति सूत्रेण श्नोः, श्नश्च विधानेनेत्यर्थः। **कार्येति**। प्रत्ययविधानादीत्यर्थः। **एतैश्च**=ज्ञापकैश्चेत्यर्थः। **मैत्रेयाद्यन्येति**। एतेन न स भाष्यादिसिद्धान्त इति भावः।

[**शब्द०**] उदित्=उकार की इत्संज्ञा वाला करने से—यह उपलक्षण है। स्तम्भु-रूपप्रकृतिवाले 'च्लि' प्रत्यय को उद्देश्य मानकर [जृस्तम्भु-म्रुचु-म्लुचु-ग्रुचु-ग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च पा० सू० ३।१।५८ से] अङ् का विधान करने से और सार्व-धातुक प्रत्यय परे रहते [स्तन्भु-स्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च' पा० सू० ३।१।८२ से श्नु तथा श्ना इन दो] विकरणों का विधान करने से [स्तम्भु आदि का] धातुत्व है। "जु-चङ्क्रम्य०" पा० सू० ३।२।१५ इस सूत्र में पठित 'जु', "जप-जभदहदशभञ्जपसांश्च" पा०सू० ७।४।८६ में पठित 'पस' का और ऋति आदि कुछ [सूत्रों एवं वार्त्तिकों में पठित शब्दों] का, "धातोः" पा० सू० ३।१।९१ इस अधिकार में विहित कार्यों का उद्देश्य होने से धातुत्व समझना चाहिये। और इन ज्ञापकों से यह अनुमान किया जाता है कि पहले पाठ रहा था वह भ्रष्ट हो गया होगा, यह भाव है। [इस प्रकार का अनुमान करने में ही लाघव है।] मैत्रेय आदि अन्यों के सम्मत समाधान को प्रस्तुत करते हैं—"बहुल"—। [चुरादिगण के अन्त में "बहुलमेतन्निदर्शनम्" यह धातुगण-सूत्र है।]।।

["चादयोऽसत्त्वे" [पा०सू० १।४।५७] अद्रव्य अर्थ में विद्यमान 'च' आदि निपात-संज्ञक होते हैं।] [**मनो०**] अद्रव्य अर्थवाले इसका क्या प्रयोजन है? 'पशुः' [इसकी

न्वितं द्रव्यम् । इह तु स्यादेव 'लोधं नयन्ति पशु मन्यमाना ।' 'पशु' इति सम्यगर्थे ॥

"उपसर्गाः" (पा. सू. १।४।५९) ॥ निस् दुस् इति सान्तौ ॥ "निसस्तपतौ" (पा० सू० ८।३।१०२) इति निर्देशात् । अयोगवाहानामविशेषेणेति प्रकरणे निष्कृतं दुष्कृतमित्युदाहृत्य "इदुदुपधस्य सकारस्य यो विसर्ज-

---

सम्यगर्थे इति । न च "लुब्धमृषिं नयन्ति पशुं मन्यमाना" इति निरुक्ते पशुमिति सानुस्वारपाठात् तत्र पश्विति लुप्तविभक्तिकं सत्त्ववाचीति वाच्यम्, लोधमित्यनवगतमिति तद्भाष्योक्त्या तन्मात्रनिर्णायके निरुक्ते पशुशब्दांशेऽन्यथापाठे मानाभावात् । स्पष्टं चेदं प्रकृतसूत्रे हरदत्तग्रन्थे, दृशधातौ माधवग्रन्थे चेति दिक् ।

सानुस्वारेति । क्वचित् पुस्तके तथा दृश्यमानादित्यर्थः । **तद्भाष्येति** । वेदभाष्योक्त्येत्यर्थः । **तन्मात्रनिर्णायके**ति । लोधशब्दार्थमात्रनिर्णायकेत्यर्थः । **अन्यथा पाठ** इति । निरनुस्वारवेदपाठादन्यथा सानुस्वारपाठे इत्यर्थः ।

निपातसंज्ञा न हो—इसके लिये अद्रव्य अर्थ वाले का ग्रहण है ।] लिङ्ग एवं सङ्ख्या से अन्वित द्रव्य होता है । [पशुः शब्द इसी प्रकार का है अतः निपात नहीं होता है] किन्तु यहाँ तो निपात होता ही है—"लोध=लोभी को पशु=सम्यग्रूप से जानते हुए प्राप्त करते हैं ।" यहाँ 'पशु' यह 'सम्यक्' [—अच्छे प्रकार से] इस अर्थ में हैं । [यहाँ लिङ्ग एवं संख्या का अन्वय न होने से निपात है ।]

[शब्द०] सम्यक् अर्थ में । "लुब्धमृषिं नयन्ति पशुं मन्यमानाः" इस निरुक्त में 'पशुम्', इस अनुस्वारयुक्त पाठ से उक्त [मनोरमोक्त मन्त्र] में 'पशु' यह लुप्तविभक्ति वाला सत्त्ववाचक है—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि "लोधम् इति अनवगतम्" ऐसा उस निरुक्त-भाष्य के कथन से केवल लोध शब्द के अर्थ का निर्णय कराने वाले निरुक्त में 'पशु' शब्दांश में अन्य प्रकार के [अनुस्वाररहित पाठ से भिन्न अनुस्वारयुक्त] पाठ में कोई प्रमाण नहीं है । प्रस्तुत सूत्र में हरदत्त के पदमञ्जरी ग्रन्थ में और दृश धातु पर माधवीयधातुवृत्ति में यह विषय स्पष्ट है ।

['उपसर्गाः क्रियायोगे' [पा०सू० १।४।५९] क्रियावाचक शब्दों के योग में प्र आदि शब्दों की उपसर्ग संज्ञा होती है ।] [मनो.] निस् एवं दुस ये सकारान्त हैं, क्योंकि "निसस्तपतावनासेवने" [पा० सू० ८।३।११०] ऐसा सूत्र-निर्देश है और "अयोगवाहों का अविशेषरूप=प्रयोजनविशेष की अपेक्षा के बिना जहाँ आवश्यकता हो, ग्रहण करना चाहिये" इस प्रकरण में [भाष्य में] 'निष्कृतम्, दुष्कृतम्' ये उदाहरण

नीयः" इति भाष्यकारोक्तेश्च। "उपसर्गस्यायतौ" (पा० सू० ८।२।१९) इतिसूत्रे वामनोऽप्येवम्। "निरः कुषः" (पा० सू० ७।२।४६) "सुदुरोरधिकरणे" इति निर्देशाद्रेफान्तावपीति तत्रैव सूत्रे हरदत्तः।

॥ इति संज्ञाप्रकरणम् ॥

—*—

वामनोऽप्येवमिति। तत्र हि 'दुस् सान्त' इति तेनोक्तम्।

[संज्ञाप्रकरणं समाप्तम्।]

—*—

तत्र हीति। उपसर्गसूत्र इत्यर्थः। **इति संज्ञेति।** अष्टाध्यायी-प्रथमाध्यायस्थसूत्रविहितानां सन्धिकार्योपयोगिनीनां संज्ञानां प्रकरणं समाप्तमित्यर्थः। तेनाम्रेडित-प्रगृह्यभलोप-संज्ञाद्यनुक्तावपि न क्षतिः। तथा च संज्ञानामेवेदं प्रकरणं न तु संज्ञानामिदमेव प्रकरणमिति तात्पर्यं बोध्यम्। 'अ अ' 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यादिसूत्रार्थकथनं तु प्रसङ्गादेवेति भावः। एवञ्च न कश्चिद्दोष इति दिक्।

॥ इति जयशङ्करलालत्रिपाठिविरचितायां भावप्रकाशिकायां संज्ञाप्रकरणं समाप्तम् ॥

—*—

देकर "इकारोपध और उकारोपध सकार का जो विसर्ग उस का ष होता है" ऐसा भाष्यकार ने कहा है। "उपसर्गस्यायतौ" पा० सू० ८।२।१९ इस सूत्र पर [काशिकावृत्ति में] वामन ने भी इसी प्रकार सकारान्त लिखा है। **[शब्द०]** उस सूत्र-वृत्ति में 'दुस्' यह सकारान्त है—ऐसा वामन ने कहा है। **[मनो०]** "निर कुषः" [पा० सू० ७।२।४६] "सुदुरोरधिकरणे" इस प्रकार के निर्देशों से रेफान्त भी ये दोनों हैं, ऐसा वहीं पर हरदत्त ने कहा है।

[मनो.] ॥ इस प्रकार प्रौढमनोरमा में संज्ञाप्रकरण समाप्त हुआ ॥

[शब्द.] ॥ इस प्रकार शब्दरत्न में संज्ञाप्रकरण समाप्त हुआ ॥

विमर्श—अष्टाध्यायी में स्थित सूत्रों से विहित सन्धिकार्य की उपयोगिनी संज्ञाओं का प्रकरण समाप्त होता है। अन्य संज्ञायें अन्यत्र भी प्रदर्शित हैं। तात्पर्य यह है कि संज्ञाओं का ही प्रकरण समाप्त हुआ है न कि संज्ञाओं का यही प्रकरण है जो समाप्त होता है। अतः प्रसङ्गतः "पूर्वत्रासिद्धम्" [पा० सू० ८।२।१] आदि का उल्लेख भी असङ्गत नहीं है।

॥ जयशङ्करलाल-त्रिपाठि-विरचित प्रौढमनोरमा की भावबोधिनी-हिन्दी-व्याख्या में संज्ञाप्रकरण समाप्त हुआ ॥

—*—

अथ परिभाषाप्रकरणम्

"इको गुणवृद्धी" [पा. सू. १।१।३] गुणवृद्धिशब्दाभ्यामिति। एतच्च पूर्वसूत्राभ्यां गुणवृद्धी पदे अनुवर्त्य गुणो वृद्धिरिति ये गुणवृद्धी इति योजनया लभ्यते।

इको गुणवृद्धी [पा०सू० १।१।३]—गुणवृद्धिशब्दाभ्यां यत्र गुणवृद्धी विधीयेते तत्र 'इक'—इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते-इति वृत्तिः। परिभाषासूत्रमिदम्। ननु वृत्तौ गुणवृद्धयोर्द्विधा प्रयोगोऽनुपपन्न अत आह मूले—**एतच्चेति**। **पूर्वसूत्राभ्यामिति**। 'वृद्धिरादैच्' 'अदेङ्गुणः' इति सूत्राभ्यामित्यर्थः। अत्र 'पूर्वसूत्राभ्यां गुणवृद्धिपदे अनुवर्त्य योजनयोक्तार्थलाभ' इति मूलीयव्याख्यानं 'गुणवृद्धिग्रहण-सामर्थ्यादि'ति भाष्याक्षरविरुद्धमत आह—**यद्यपीति**। **तदनुवृत्त्यैव**=गुणवृद्धिपदानुवृत्त्यैव सूत्र-बोध्यार्थसम्भवे इति भावः। एवेन सूत्रस्थ-तत्पदव्यवच्छेदः। **सामर्थ्यात्**=पुनरत्र

विमर्श—जब किसी सूत्रादि का अर्थ करते समय कोई सन्देह अथवा अस्पष्टता रहती है तब उसे दूर करने के लिए कुछ नियमों की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें परिभाषा कहा जाता है। परिभाषा के कई रूप होते हैं। स्वयं पाणिनि ने अनेक परिभाषा सूत्र बनाये हैं जो अष्टाध्यायी में हैं। इसके अतिरिक्त वाचनिक, ज्ञापकसिद्ध एवं न्यायसिद्ध परिभाषायें भी लक्ष्यसिद्धि के लिए मानी जाती हैं। यहाँ कौमुदीकार ने कुछ सूत्रों के अतिरिक्त भी परिभाषावचन प्रस्तुत किये हैं। परिभाषाओं का सम्यक् ज्ञान करने के लिए नागेश-भट्ट का परिभाषेन्दु-शेखर अतीव उपयोगी गन्थ है। इसमें सूत्रों से भिन्न, व्यवहारोपयोगी परिभाषाओं की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। यहाँ प्रौढमनोरमाकार सर्वप्रथम गुण एवं वृद्धि से सम्बद्ध परिभाषा सूत्र की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं।

['इको गुणवृद्धी' पा० सू० १।१।३ गुण शब्द से गुण का और वृद्धि शब्द से वृद्धि का विधान जहाँ किया जाता है वहाँ 'इकः' [अर्थात् इक्=इ उ ऋ ऌ का] यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित होता है—यह सूत्रार्थ है। इसी का संकेत करते हैं—] [**मनो.** गुण अथवा वृद्धि शब्दों के द्वारा। यह [अर्थ] पूर्ववर्ती ['वृद्धिरादैच्' पा०सू० १।१।१ तथा 'अदेङ् गुणः' पा० सू० १।१।२] सूत्रों से गुण और वृद्धि पदों की अनु-वृत्ति करके 'गुण' इस रूप से गुण और 'वृद्धि' इस रूप से वृद्धि—इस प्रकार की योजना से ज्ञात होता है।

योजनयेति। यद्यपि तदनुवृत्त्यैव सिद्धे सामर्थ्याच्छब्दव्यापाराश्रयणेन लभ्यते मूलोक्तार्थः, तथापि मन्दबुद्धिसाधारण्येन स्फुटत्वायैवमेवोक्तम्।

सूत्रे तद्ग्रहणसामर्थ्यादित्यर्थः। **शब्दव्यापाराश्रयेणे**ति। इह सूत्रस्थं गुणवृद्धि-ग्रहणं शब्दविहितगुणवृद्धिलाक्षणिकम्। एवञ्चानुवृत्तिर्नैवेति तद्भाष्यतात्पर्यमिति भावः। **एवमि**ति। योजनया लभ्यत इत्यादीति भावः।

अत्रेदं बोध्यम्—प्राचीनास्तु संज्ञाशास्त्रादन्यत्र सूत्रेऽनुवर्तमानानि संज्ञापदानि स्वरूपपराण्येव, यथा 'सुप्तिङन्तं पदम्' इत्यत्र पदपदं स्वरूपपरं न तु संज्ञिपरम्, असम्भवात् तथा 'स्वादिष्वसर्वनाम'—इत्यत्रानुवृत्तमपि पदपदं स्वरूपपरमेव, अर्था-धिकारानुरोधात्। न चैवं 'बहुगणवतु' इति सूत्रात् 'ष्णान्ताः षड्' इति सूत्रेऽनुवृत्तस्य संख्यापदस्यापि स्वरूपपरता स्यादिति वाच्यम्, तत्र स्वरूपपरकत्वे संख्याशब्दस्य ष्णान्तत्वासम्भवात् 'ष्णान्ताः' इति विशेषणानुपपत्त्या संज्ञिपरकत्वस्यैव लाभात्। एवञ्च 'इको गुणवृद्धी' इति सूत्रघटकगुणवृद्धि-पदयोरर्थपरत्वेन, अनुवृत्तयोश्च तयोः स्वरूप-परकत्वेनान्वयानुपपत्त्या 'इति' 'उच्चार्य' 'विधीयते' इति पदत्रयमध्याहृत्य—गुण इति, वृद्धिरिति वोच्चार्य यत्र गुणो विधीयते वृद्धिर्वा विधीयते तत्रः 'इकः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते इत्यर्थः।

यद्वा पदत्रयाध्याहारे गौरवात्, संज्ञाशास्त्रे स्वरूपपरस्यापि प्रत्ययपदस्य 'आद्यु-दात्तश्च' इत्यत्रानुवृत्या संज्ञितव्यादि-प्रत्ययपरकत्वस्य दर्शनाच्च प्रकृते अनुवर्तमाने अपि गुणवृद्धिपदे संज्ञिपरके एव। तथा च सूत्रस्थयोरनुवृत्तयोश्चैकार्थतया यत्र विशेष्यतावच्छेदक-प्रकारतावच्छेदक-धर्मयोर्भेदस्तत्रैवाभेदान्वयस्य नियमात् 'घटो घट' इति वत् 'अदेङ् अदेङ्' 'आदैच् आदैच्' इत्यन्वयस्य बाधात् अनुवृत्त-गुण-वृद्धिपदयोः स्वावच्छिन्न-विधेयता-प्रयोजक-पदे लक्षणायां तात्पर्यग्राहकतया यत्र गुणपदावच्छिन्न-विधेयता-प्रयोजकं गुणपदम् वृद्धिपदावच्छिन्न-विधेयता-प्रयोजकं वृद्धिपदं वा तत्र 'इकः' इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते इत्यर्थो बोध्य इत्याहुः।

नवीनास्तु—सूत्रघटक-गुणवृद्धिपदयोः संज्ञिमात्रपरत्वे अनुवर्तमानस्य संज्ञिपर-कत्वमाश्रित्य गुणवृद्धिपदानुवृत्यैवाभीष्टसिद्धे पुनः सूत्रे गुणवृद्धिग्रहणसामर्थ्यात्

[शब्द०] यद्यपि उन गुण एवं वृद्धि पदों की अनुवृत्ति से ही [प्रयोजन के] सिद्ध रहने पर [पुनः इस सूत्र में गुण एवं वृद्धि इन दोनों के पाठ के सामर्थ्य से शब्दव्यापार का आश्रयण करने से [लक्षणा द्वारा] मूल [सिद्धान्तकौमुदी] में उक्त अर्थ का लाभ हो जाता है तथापि मन्दबुद्धि वालों को भी स्फुटरूप से बोध कराने के लिए ही ऐसा [अर्थात् योजना से प्राप्त होता है—ऐसा] कहा है।।

तेनेह न—"दिव औत्" [पा. सू: ७।१।८४] द्यौः। "त्यदादीनामः" [पा. सू. ७।२।१०२] सः, इमम्।

सूत्रघटक-गुणवृद्धिपदयोरेवोक्तार्थे लक्षणया तदर्थलाभादनुवृत्ति-योजनादिविषयकः प्रयासो विफल एवेत्याहुः।

मूले—**तेनेति**। प्रागुक्तरीत्या सूत्रार्थकरणेनेत्यर्थः। नन्वेवं व्याख्यानस्य 'दिव औत्' इत्यादिष्वपि अव्याप्त्यतिव्याप्त्युभयजनकाति-व्याप्तेर्निरासस्य फलस्य मूलोक्तत्वेऽपि तल्लक्ष्येषु 'स' इत्यनुचितम्, तत्रैकोऽभावादत आह—**अत्रेति**। तथा चातिव्याप्तिवदव्याप्तिनिरासोऽप्येवं व्याख्यानस्य तस्य फलमिति ध्वनितम्। ननु 'इयम्' इत्यत्र पुनरतिव्याप्ति-प्रदर्शनं सन्दर्भ-विरुद्धम्, द्यौः इत्यस्यति-व्याप्त्यधिक-रणस्याग्रे एतदुपन्यासस्यौचित्यात्, अतो भावमाह—**अत्रेति**। तथा चान्त्यादेशस्य विषये दोषमुद्भाव्यानन्त्यादेश - प्रसक्त्यातिव्याप्तिप्रदर्शनाय पुनरेवं लेख इति

विमर्श—यहाँ तात्पर्य यह है कि 'इको गुणवृद्धी' [पा० सू० १।१।३] इस सूत्र से पूर्ववर्त्ती सूत्र 'वृद्धिरादैच्' [पा० सू० १।१।१] और 'अदेङ्गुणः' [पा० सू० १।१।२] हैं, इनमें पठित गुण और वृद्धि शब्दों की अनुवृत्ति से उनका ज्ञान सम्भव था और प्रयोजन सिद्ध हो सकता था तो भी इसमें इन दोनों पदों का पुनः पाठ करने से लाक्षणिक अर्थ का ज्ञान होता है—इस सूत्र में गुण-वृद्धि शब्द गुण एवं वृद्धि शब्दों से विहित गुण एवं वृद्धि में लाक्षणिक हैं। इसलिए सिद्धान्तकौमुदी एवं प्रौढमनोरमा में अनुवृत्ति का आश्रयण जो किया गया है वह साधारणबुद्धिवाले सरलतया अर्थज्ञान कर सकें, इसीलिए है, क्योंकि भाष्यकार ने अनुवृत्ति-पक्ष नहीं दिखाया है।

[मनो०] उक्त रीति मानी गयी है इसीलिये यहाँ [इकः] उपस्थित नहीं होता है—"दिव औत्" [पा०सू० ७।१।८४] द्यौः, "त्यदादीनामः" [पा० सू० ७।२।१०२] सः, इमम्।

विमर्श—'दिव औत्' [पा० सू० १।७।८४] इस सूत्र से 'औ' का विधान होता है और 'औ' वृद्धिसंज्ञक है किन्तु यहाँ वृद्धि शब्द के द्वारा 'औ' का विधान नहीं किया गया है अतः 'इकः' की उपस्थिति नहीं होती है और 'व्' का 'औ' आदेश हो जाता है। इसी प्रकार 'त्यदादीनामः' [पा० सू० ७।२।१०२] सूत्र से 'तद' के 'द्' का 'अ' होता है और 'अ' भी गुणसंज्ञक है परन्तु गुण शब्द से इसका विधान नहीं होता है अतः यहाँ भी 'इकः' की उपस्थिति नहीं होती है। 'इमम्' शब्द में इदम्+अम् इस अवस्था में 'त्यदादीनामः' इस सूत्र से अन्त्य 'म्' का का 'अ' होता है। यदि प्रस्तुत परिभाषा की प्रवृत्ति होती तो 'इकः' की उप-

षष्ठचन्तमिति । **सूत्रे षष्ठचन्तस्यानुकरणाच्छब्दस्वरूपपरतया नपुंसकात्सोर्लुगिति भावः ।**

स इति । अत्र नैव स्यादिति भावः । **इममिति** । अत्रेकारस्यैव स्यान्नत्वन्त्यस्येति भावः ।

सोर्लुगिति । अत एव दीर्घो नेति भावः ।

बोध्यम् । **अत एवेति** । "स्वमोर्नपुंसकात्" इत्यनेन सोर्लुकः सत्त्वादेवेत्यर्थः । **दीर्घ इति** । असन्तत्वात् "अत्वसन्तस्य चाधातोः" इत्यनेनेत्यर्थः । अयं भावः—षष्ठ्यन्तस्य "इको यणचि" इत्यादि-सूत्रस्थस्यानुकरणतया तस्यानुकार्यार्थवाचकत्वेन शब्दस्वरूपार्थकत्वमाश्रित्य नपुंसकलिङ्ग-बोधकतया तत उत्पन्नाया विभक्तेः प्रथमैकवचनस्य लुकि असन्तत्वेऽपि "अत्वसन्तस्य चाधातोः" इत्यनेन न दीर्घः, सुपरकत्वाभावात्, "न लुमते" ति निषेधादिति बोध्यम् ।

ननु मूलस्थेन 'तच्च' इत्यनेन सूत्रपरामर्शे तस्य विधिपु तथानन्वयात् 'सम्भवति' इत्याद्युत्तर-गून्थासङ्गतिः । सूत्रानुपात्तत्वात् पदशब्दपरामर्शोऽपि न युक्त इत्यत आह—**'इक'** इति । **अनेनेति** । इक इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते इति व्याख्यानेनेत्यर्थः । **पदोपस्थितिपक्ष** इति । तच्छेष-तदपवाद-पदोपस्थिति-पक्षाणां मध्ये पदोपस्थिति-पक्ष इति भावः । ननु विधेयसमपर्कगुणवृद्धि-पदोपादानं यत्र तत्रास्योपस्थापनञ्चेत् 'अचो ञ्णिति' इति सूत्रे 'ओर्गुणः' इत्यत्र च तथा सत्त्वादत्रापि 'इक' इत्यस्योपस्थानं स्यात्, एवञ्च सूत्रोपात्तयोः स्थानिनोर्वैयर्थ्यमत आह—**अचो ञ्णितीति** । **लिङ्गस्येति** । वृद्धयादि-पद-निष्ठस्य लिङ्गस्य इक्-पदोपस्थितिद्वारा तदर्थप्रकाशनसामर्थ्यरूपस्येत्यर्थः । **श्रुत्यपेक्षयेति** । सूत्रे 'अचः' इत्यादि-श्रुत्यपेक्षयेत्यर्थः । **दुर्बलत्वेनेति** । 'श्रुतिलिङ्गवाक्य-प्रकरणस्थान-समाख्यानां पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' [जै० सू० ३।३।१३] इति जैमिनि-सूत्रोक्तरीत्येति भावः । प्रकृते "अचो ञ्णिति" [पा०सू० ७।२।११५] इति सूत्रस्थ-आदैच्

स्थिति होने पर 'इ' का ही 'अ' आदेश होने लगता, अन्त्य का नहीं हो पाता । यही बात शब्दरत्न में कही गई है ।

[शब्द०] 'सः' यहाँ [किसी का 'अ'] नहीं होता, यह भाव है । और 'इमम्' यहाँ आदि 'इकार' का अकार होने लगता अन्त्य मकार का नहीं हो पाता, यह भाव है ।

[मनो०] 'इकः' यह षष्ठ्यन्त का अनुकरण होने से शब्दस्वरूपपरक है अतः नपुंसक [इकः इस] से सुविभक्ति का लोप हो जाता है, यह भाव है । **[शब्द०]** सु का लुक् हो जाता है इसीलिये ['अत्वसन्तस्य चाधातोः' पा० सू० ६।४।४१]

पदमिति। **तच्च सम्भवति सामानाधिकरण्ये इगन्तस्याङ्गस्येत्यादिक्रमेण सम्बध्यते। "मिदेर्गुणः" [पा. सू. ७।२।११४] "मृजेर्वृद्धिः" [पा० सू० ७।२।११४] इत्यादौ तु सामानाधिकरण्यासम्भवान्मिदिमृज्योरवयवस्येक इति सम्बध्यते।**

तच्चेति। इक इति पदं चेत्यर्थः। अनेनात्र सूत्रे पदोपस्थितिपक्ष इति सूचयति। "अचो ञ्णिति" [पा० सू० ७।२।११५] "ओर्गुणः" [पा० सू० ६।४।१४६] इत्यादौ तु नास्याः प्रवृत्तिः। लिङ्गस्य श्रुत्यपेक्षया दुर्बलत्वेन प्रथमतः श्रौताच्पदार्थादिघटितवाक्यार्थबोधे वृत्ते निर्दिष्टस्थानिकत्वेनोपस्थितस्यापीक्पदस्य वाक्यार्थेऽनन्वयात्। "सार्वधातुक" [पा० सू० ७।३।८४] इत्यादौ तु तदुपस्थितिं विना स्थान्याकाङ्क्षाशान्त्यभावेन बोध

विधायकानुवृत्त-वृद्धिपद-घटित-लिङ्गेन यावत् 'इको गुणवृद्धी' इति शास्त्रेण इक्-पदोपस्थान तावदेव श्रौतेन अच्पदार्थेन स्थानिन आकाङ्क्षाया निवृत्तत्वेन उपस्थि-

---

इस सूत्र से] दीर्घ नहीं होता है, यह भाव है।

[मनो०] और 'इकः' यह पद, सामानाधिकरण्य सम्भव रहने पर 'इगन्तस्य अङ्गस्य' अर्थात् इगन्त अंग का गुण अथवा वृद्धि होती है—इत्यादिक्रम से सम्बद्ध होता है। [भाव यह है कि 'इगन्त' इसे 'अङ्गस्य' का विशेषण बनाकर 'इगन्तस्य अङ्गस्य गुणो वृद्धिर्वा स्यात्' यह अर्थ उपपन्न होता है।] किन्तु "मिदेर्गुणः" [पा० सू० ७।३।८२] 'मृजेर्वृद्धिः' [पा० सू०७।२।११४] इत्यादि में तो सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है अतः मिद् और मृज् धातु के अवयव इक् का [गुण और वृद्धि हो—] इत्यादि क्रम से 'इकः' का सम्बन्ध होता है।

[शब्द०] और 'इकः' यह पद सामानाधिकरण्येन सम्बद्ध होता है। 'इकः' इस पद के उपादान के कारण इस सूत्र में पदोपस्थिति-पक्ष है, यह सूचित करते हैं। "अचो ञ्णिति" [पा० सू० ७।२।११५] "ओर्गुणः" [पा० सू० ६।४।१४६] इत्यादि सूत्रों में तो इस परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है। कारण यह है कि श्रुति की अपेक्षा लिङ्ग दुर्बल होता है अतः पहले से श्रौत [श्रुत्या उपस्थित] अच् पदार्थादि से घटित वाक्य का अर्थबोध हो जाने पर निर्दिष्ट [ज्ञात] स्थानी वाला होने से उपस्थित भी इक् पद का वाक्यार्थ में अन्वय नहीं होता है। [तात्पर्य यह है कि "अचो ञ्णिति" आदि में वृद्धि का स्थानी अच् श्रौत है अतः श्रौत अच् पदार्थ को अन्तरङ्ग मानकर वाक्यार्थबोध हो जाने के बाद अन्य सूत्र के द्वारा उपस्थापित भी बहिरङ्ग इक् पदार्थ की आकाङ्क्षा न होने से वाक्यार्थ में अन्वय नहीं होता है।] परन्तु "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" [पा० सू० ७।३।८४] इत्यादि में इस 'इकः' की उपस्थिति के बिना स्थानी की आकाङ्क्षा की शान्ति नहीं हो पाती है अतः इनका

एव नेति विशेषः। एवं च पदश्रुतिनिमित्तैषा पदैकवाक्यतयाऽन्वयवत्यन्तरङ्गा। स्थानषष्ठीत्वनिर्णये उपस्थिताऽलोन्त्यपरिभाषाया अनन्त्यस्य गुणव्यावृत्तये वाक्यैकवाक्यतयाऽन्वय इति बहिरङ्गा सा, तदाह—**इगन्ताङ्गस्येत्यादि**। **मिदि-मृज्योरवयवस्येति**। एवं च स्थानषष्ठीत्वाभावनिर्णयेन "अलोन्त्यस्य" (पा० सू० १।१।५२) इत्यस्य प्रवृत्तिरेव नेति भावः।

तस्यापि इक्-पदस्याकाङ्क्षाया अभावात् शाब्दवोधेऽनन्वय इति। 'सार्वधातुक' इत्यादौ तु श्रौताङ्ग-पदार्थ-द्वारा अङ्गस्य गुणो भवतीति वाक्यार्थे वृत्तेऽपि स्थान्याङ्क्षाशान्त्यभावेन तत्रोक्तलिङ्गादुपस्थितस्येक्पदस्य शाब्दवोधेऽन्वय इति भावः। **तदुपस्थितिमिति**। एतत्सूत्रस्थ 'इकः' इति पदोपस्थितिमित्यर्थः। **अभावेनेति**। गुणादेरनेकाल्त्वाभावेन 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' इत्यस्यानुपस्थितेरङ्गस्येति षष्ठ्या अर्थस्य समीपादिपदाध्याहारेण 'अस्तेर्भूः' इत्यत्रेवानेकस्य सम्भवेन स्थानषष्ठीत्वनिर्णयाभावात् "अलोऽन्त्यस्य" इत्यस्याप्यनुपस्थितिरन्यस्य तु निर्णायकस्य स्वरूपत एवाभावादिति भावः। **बोध एव नेति**। लक्ष्यसंस्कारको बोध एव नेत्यर्थः। **एवञ्चेति**। लक्ष्यासंस्कारबोधे सामान्यतो बोधे चेत्यर्थः। **पदश्रुतिनिमित्ते**ति। विधेयता-प्रयोजकस्य गुणपदस्य वृद्धिपदस्य वा अस्या लिङ्गत्वात् तादृशपद-श्रवण-

---

वाक्यार्थबोध ही नहीं हो सकता, [यही दोनों में] अन्तर है। इस प्रकार [लक्ष्य के असंस्कारक वाक्यार्थबोध के होने पर, अर्थात् सामान्यरूप से ही बोध होने पर] पदश्रवण को निमित्त मानने वाली (अर्थात् विधेयबोधकता के ज्ञान के विषय गुण आदि पदों के श्रवण को निमित्त मानने वाली) यह (इको गुणवृद्धी) परिभाषा पदैकवाक्यता से अन्वयवाली है (अतः) अन्तरंग है। स्थानषष्ठी है इसका निर्णय होने पर उपस्थित होने वाली 'अलोऽन्त्यस्य' (अन्त्य अल् के स्थान पर ही आदेश हो—इत्यर्थक) परिभाषा का अनन्त्य=अन्त्यभिन्न गुण को रोकने के लिये वाक्यैकवाक्यता से अन्वय होता है, अतः वह वहिरङ्ग है (अर्थात् इगन्ताङ्गस्य गुणो भवति—यह एक वाक्य है—तच्च अन्त्यस्यैव भवति—यह दूसरा वाक्य है। इन दो वाक्यों का परस्पर अन्वय होने से प्रस्तुत परिभाषा की अपेक्षा अलोऽन्त्यपरिभाषा वहिरङ्ग हो जाती है। इसी को [प्रौढमनोरमा में] कहा है—इगन्त अङ्ग (का गुण या वृद्धि होती है)। मिद एवं मृज् के अवयव=इक्—इत्यादि। इस प्रकार (मिदेर्गुणः, मृजेर्वृद्धिः आदि की षष्ठी) स्थानषष्ठी नहीं (अपितु अवयव अर्थवाली षष्ठी है)—यह निर्णय हो जाने से 'अलोऽन्त्य' इस परिभाषा की प्रवृत्ति ही नहीं होती है, यह भाव है। (जहाँ स्थानषष्ठी होती है वहीं अलोऽन्त्य० इसकी प्रवृत्ति होती है। इन दोनों सूत्रों में अवयवषष्ठी है। अतः इनमें अलोऽन्त्य-परिभाषा का क्षेत्र नहीं है।

यत्तु—इक एव स्थाने स्त—इति प्राचा व्याख्यातम्, यच्च तट्टीकाकृतोक्त-मनियमप्रसङ्गे नियमार्थमिदमित्यादि, तत्सर्वं भाष्यविरोधादुपेक्ष्यम्।

नियमार्थमिदमिति। तत्तद्विधायकैर्विहितयोर्गुणवृद्ध्योः "अलोऽन्त्यस्य" [पा० सू० १।१।५२] इतिवदिदमपि स्थानिनियमार्थमिति तदाशयः।

मात्रे एवानया इक्पदस्योपस्थितेः पदैकवाक्यतया तदन्वय इति। **एषा**=इको गुणवृद्धीति परिभाषा। अन्तरङ्गतयास्याः प्रथमं प्रवृत्तिमाह—**पदैकेति**। 'अलो-ऽन्त्यस्य' 'आदेः परस्य' 'अनेकाल्' इत्यस्य च यथान्यत्र व्यवस्थापकत्वम्, तदाह—**स्थानषष्ठीति**। 'पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः' इत्यादौ यथा। **सा**=अलोऽन्त्यस्येति परिभाषा। तस्याः परिभाषायाः यत्र स्थानषष्ठी तत्रालोऽन्त्ये' त्युपतिष्ठते इत्यर्थेन वाक्यैकवाक्यतेत्यर्थः। **तदाहेति**। तदेतद् हृदि निधायोक्तक्रमेणान्वयमाहेत्यर्थः। मूले—**सामानाधिकरण्यासम्भवादिति**। मिदिमृज्योरिगन्तत्वाभावात् सामाना-धिकरण्यस्यासम्भवादित्यर्थः। **एवञ्चेति**। 'मिदेः' इत्यादेस्तथान्वयेनावयव-षष्ठीत्वनिर्णये चेत्यर्थः। **स्थानषष्ठीति**। 'इक' इत्यस्य तथात्वेऽपि परिभाषाया 'अनियमे नियमकारकत्वस्वभावाद्' इक इत्यस्य पदस्यैकवर्णोपस्थापकतयाऽल्समु-दायत्रोधकत्वाभावेन "अलोऽन्त्यस्य" इत्यस्य तत्रोपस्थितिर्न भवतीति भावः। **निर्णयेनेति**। आर्थिकेनेति भावः।

ननु 'इको गुणवृद्धी' इति सूत्रस्य परिभाषात्व-कथनेन विधिसूत्रत्वमेव नास्ति, नियमसूत्रत्वं कुत इत्याकाङ्क्षानुत्थापनायाह—**तत्तदिति**। "सार्वधातुकार्द्धधातु-

---

[मनो०] 'इक्' के ही स्थान पर [गुण-वृद्धि] होते हैं—यह जो किसी प्राचीन ने व्याख्या की है और उसकी टीका करने वाले जो यह कहा है—अनियम के प्रसङ्ग में नियम के लिए यह सूत्र है।'

[शब्द०] उन उन [गुण एवं वृद्धि) के विधान करने वाले सूत्रों के द्वारा विहित गुण एवं वृद्धि में 'अलोऽन्त्य' परिभाषा के समान यह (इकोगुणवृद्धी) परिभाषा भी स्थानी का नियम करने के लिए है—यह उस (प्राचीन व्याख्याकार) का आशय है। [आशय यह है कि जैसे अन्य सूत्रों से होने वाला गुण अथवा वृद्धि अन्त्य तथा अनन्त्य दोनों अलों को प्राप्त होता है उसमें अलोऽन्त्य परिभाषा—केवल अन्त्य अल् का ही हो—यह स्थानी का नियम जिस प्रकार करती है, उसी प्रकार इक् एवम् अनिक् दोनों के लिए प्राप्त होने पर केवल इक् के स्थान पर ही गुण या वृद्धि हो—इस प्रकार का स्थानी का नियम करने के लिए 'इको गुणवृद्धी०' परिभाषा है।] **[मनो०]** वह प्राचीनोक्त सभी भाष्य-विरुद्ध होने के कारण उपेक्षणीय है।

तच्छेषपक्षं दूषयित्वा पदोपस्थितिपक्षस्यैव भाष्ये समर्थितत्वादित्याहुः ।

तत्सर्वं भाष्येति । द्वयोर्नियमयोः "सार्वधातुक—" [पा० सू० ७।३।८४) इत्यादावविरोधेनेग्रूपस्यान्त्यस्येत्यर्थो वाच्यः । अन्त्यस्येक इति वा । उभयथाऽपि द्वयोर्विशेष्यविशेषणभावसत्त्वात्तच्छेषपक्षे पर्यवसानम् । सः="अलोऽन्त्यस्य" [प्रा० सू० १।१।५२] इति नियमः शेषो=विशेषणमस्येति तदर्थः । तस्य="अलोऽन्त्यस्य" (पा०सू० १।१।५२] इत्यस्य विशेषणमिति वा । एवं च "मिदेर्गुणः" [पा० सू० ७।३।८२] इत्यादौ परस्परविरोधादनयोस्त्यागे सर्वादेशगुणापत्त्या तद्विरोध इति भावस्तदाह—**तच्छेषपक्षमिति ।**

कयोः इत्यादिभिरित्यर्थः । **इदमपि**=इको गुणवृद्धीति सूत्रमपीत्यर्थः । **स्थानिनियमेति ।** अन्त्यानन्त्ययोः प्राप्तावन्त्यस्यैव इति नियमवद् इगनिकोः प्राप्ताविक एवेति तन्नियम इत्यर्थः । तथा च नायं प्रसिद्धनियमविधिः, किन्तु परिभाषाणामनियमे नियमकारिणीत्वादस्याः स्थानिनियामकतया नियमार्थत्व-व्यवहार इति इति भावः । **तदाशय** इति । प्रक्रियाकारस्य तट्टीकाकारस्य चाशय इत्यर्थः ।

[**शब्द०** तत्सर्वं भाष्येति] 'इको गुणवृद्धी' तथा 'अलोऽन्त्यस्य' इन दोनों नियमों का 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (पा० सू० ७।३।८४) इत्यादि में कोई विरोध नहीं है अतः—इक् रूप अन्त्य (का गुण होता है)—यह अर्थ कहना होगा। अथवा अन्त्य इक् का गुण होता है)—यह (अर्थ कहना होगा) । इन दोनों प्रकारों में इन दोनों परिभाषाओं में परस्पर विशेष्यविशेषणभाव होने से तच्छेपपक्ष में पर्यवसान होता है। [१] (तच्छेप—शब्द का यह विग्रह है—) सः (वह)=अलोन्त्यस्य यह नियम, शेषः=विशेषण (विशेषणार्थका प्रतिपादक) है इस (इको गुणवृद्धी) का—यह तच्छेष शब्द का अर्थ है, अर्थात् बहुव्रीहि है। (२) अथवा—तस्य=उस 'अलोऽन्त्यस्य' का (शेप:=) विशेषणम् (इको गुणवृद्धी यह) है। (तात्पर्य यह है कि इन दोनों में परस्पर किसी को विशेपण अथवा विशेष्य मानने में कोई अन्तर नहीं आता है।) और इस प्रकार (इन दोनों का ऐक्य रहने पर) 'मिदेर्गुणः' इत्यादि में परस्पर विरोध है (अर्थात् अन्त्य जो इक् अथवा इक्रूप जो अन्त्य—इसके अनुसार दोनों अर्थों में यहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती है) इसलिये इन दोनों परिभाषाओं का परित्याग कर देने पर (मिदेर्गुणः—यहाँ षष्ठी होने से) सर्वादेश [सम्पूर्ण मिद् का गुण आदेश प्रसक्त होने के कारण उस भाष्य का विरोध है यह (कृष्णपण्डित का) भाव है। इसके लिए (**मनो०** में) कहते हैं—क्योंकि तच्छेपपक्ष को दूषित करके पदोपस्थितिपक्ष का ही समर्थन भाष्य में किया गया है—ऐसा विद्वान कहते हैं।

तच्छेषपक्षेऽपि दूषणोद्धारस्तु शब्दकौस्तुभे स्पष्टीकृतोऽस्माभिः ।

दूषणोद्धारस्त्विति । "मिदेः"—इत्यत्र मिद ईर्मिदिस्तस्येति व्याख्यानान्न दोषः । "पुगन्त" (पा० सू० ६।३।८६) इत्यत्र पुक्यन्तो लघ्वी उपधेति व्याख्येयमित्यादिभाष्योक्तदूषणोद्धारस्त्वित्यर्थः ।

न च यापयति, क्ष्मापयतीत्यादौ दोषः, गुणे कृते वृद्ध्या रूपसिद्धेः । अत

द्वयोरिति । इको गुणालोऽन्त्यस्येत्यनयोरित्यर्थः । **तच्छेष**पदार्थमाह—**स इति** । **इति वा** । **तदर्थः**=तच्छेषशब्दार्थ इति भावः । **एवञ्चेति** । तयोरैक्ये चेत्यर्थः । **विरोधादिति** । तत्त्वयोस्तत्रैकत्रासम्भवादिति भावः । **अनयोः**=परिभाषयोरित्यर्थः । **सर्वादेश** इति । मिदेरिति सूत्रसामर्थ्यात् सर्वादेश इत्यर्थः । **तद्विरोध** इति । भाष्यविरोध इत्यर्थः । इति **भाव इति** । कृष्णपण्डितानामिति शेषः ।

आहुरित्यनेन गुरुमते सूचितामरुचिं मूलकृदाह—**तच्छेषपक्षेपीति** । दूषणोद्धारप्रकारं दर्शयति—**मिदेरित्यादिना** । **न दोष** इति । 'मृजेर्वृद्धिः' इत्यत्र 'मृजेर्वृद्धिः' 'अचो ञ्णिति' इति योगद्वयस्थाने "मृजेर्वृद्धिरचः" ञ्णिति" इति योगद्वयकरणेन

[मनो०] तच्छेषपक्ष में भी दोषों का उद्धार (समाधान) हमने (दीक्षित ने) शब्दकौस्तुभ में स्पष्ट किया है । (**शब्द०** दूषणोद्धारतो—) मिदेर्गुणः—इसमें मिद् का (अवयव) जो इकार उसका गुण होता है—इस प्रकार के व्याख्यान से कोई दोष नहीं रहता है । 'पुगन्तलघूपधस्य च'—इसमें—पुकि अन्तः अर्थात् पुक् परे रहते जो अन्त, लघ्वी चासौ उपधा=लघु जो उपधा—यह व्याख्या करनी चाहिये—इत्यादि भाष्योक्त दोषों का उद्धार तो (शब्दकौस्तुभ में किया गया है) यह अर्थ है । (आशय यह है कि—पुकि अन्तः—पुगन्तः, लघ्वी चासौ उपधा च—इस प्रकार सप्तमी तत्पुरुष और कर्मधारय करके—पुगन्तश्च लघूपधा च-यह दोनों का समाहार-द्वन्द्व करना चाहिये—पुगन्तलघूपधम्, तस्य पुगन्तलघूपधस्य । सार्वधातुक और आर्धधातुक प्रत्यय बाद में परे रहने पर पुक् से अव्यवहित पूर्व जो अन्त उसका तथा उपधाभूत लघु वर्ण का गुण होता है—ऐसा अर्थ कर देने पर 'भिनत्ति' आदि में कहीं भी अतिप्रसक्ति नहीं होती है ।

[पुक् परे रहते अव्यवहित पूर्ववर्ती का गुण होता है—ऐसा मान लेने पर—] यापयति क्ष्मापयति आदि में ['क्ष्मा' तथा 'या' के 'आ' का गुण 'अ' प्राप्ति रूप) दोष प्रसक्त होता है—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि गुण करके [ह्रस्व हो जाने पर पुनः 'अत उपधायाः' पा० सू० ७।२।११६ से] वृद्धि कर देने से रूप सिद्ध हो जाता है । [तात्पर्य है 'आ' का गुण करने पर 'अ' आदेश होता है इसकी वृद्धि करने पर

एव "समयाच्च यापनायाम्" (पा० सू० ५।४।६०) इति निर्देशः सङ्गच्छते, तदाह—**कौस्तुभे स्पष्टीकृत इति ।**

नन्वेवं तर्हि किमर्थं प्राचां पक्ष उपेक्षित इति चेच्छृणु—लघूपधांशे इक्-परिभाषानुपस्थितावनिग्लक्षणत्वाद्भिन्नमित्यादौ गुणनिषेधानापत्तिभिया स उपेक्षित इति । क्नोः कित्त्वस्यानिग्लक्षणत्वेऽपि गुणनिषेधप्रवृत्तिज्ञापकत्वाश्रयणे तु तस्य पदोपस्थितिपक्षज्ञापकत्वमेवोचितमिति दिक् ।

मृजधातोरवयवस्याचो वृद्धिर्भवतीति तदर्थान्न दोष इति बोध्यम् । **व्याख्येय**मिति । पुकि अन्तः पुगन्तः, लघ्वी उपधा, पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधम्, तस्य—इति विग्रहेण

पुनः 'आ' यह हो सकता है ।] [गुण करने के वाद वृद्धि होती है—यह माना जाता है—) इसीलिये 'समयाच्च यापनायाम् पा० सू० ५।४।६० सूत्र में 'यापनायाम् यह निर्देश संगत होता है—इसीलिये (मनोरमा में) लिखते हैं—शब्दकौस्तुभ में हमने स्पष्ट किया है ।

(पूर्वपक्ष) ऐसा होने पर (अर्थात् पुकि अन्तः आदि पूर्वोक्त रीति से व्याख्या करने पर दोष दूर हो जाने पर) तो प्राचीनों का (नियमपक्ष) किस लिये उपेक्षित कर दिया ? ऐसा यदि प्रश्न करते हो तो (समाधान) सुनो—लघूपध अंश में इक् परिभाषा की उपस्थिति न होने पर (इस गुण के) इग्लक्षण न होने के कारण 'भिन्नम्' आदि में ['क्ङिति च' पा० सू० १।१।५] से गुण का निषेध नहीं प्राप्त हो सकेगा इस भय से उस (प्राचीनोक्त पक्ष) की उपेक्षा कर दी गई । [तात्पर्य यह है कि यदि पुगन्त-लघूपध० इस गुण में 'इकः' इसकी उपस्थिति नहीं मानते हैं तो यह गुण इक्-लक्षण नहीं हो सकेगा और इस स्थिति में 'क्ङिति च' से गुण का निषेध न हो सकने के कारण 'भिन्नम्' आदि में उपधागुण रोक पाना सम्भव नहीं होगा । इसी को ध्यान में रखकर प्राचीनोक्त नियमपक्ष का खण्डन कर दिया गया ।] 'त्रसि-गृधि-धृषि-क्षिपेः क्नुः' [पा० सू० ३।२।१०४] इस सूत्र से विहित क्नु प्रत्यय का कित्त्व, अनिग्लक्षण होने पर भी गुणनिषेध की प्रवृत्ति का ज्ञापक होता है, इसका आश्रयण कर लेने पर उस कित्त्व को पदोपस्थितिपक्ष का ज्ञापक होना ही उचित है । [तात्पर्य यह है कि क्नु प्रत्यय इसी लिये कित् किया गया है कि उससे इग्लक्षण गुण का निषेध हो । परन्तु 'त्रस्' आदि में इग्लक्षण गुण की प्राप्ति ही नहीं है । अतः उसके लिये कित् करना व्यर्थ है । वह कित्त्व व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि इग्लक्षण और अनिग्लक्षण सभी प्रकार के गुणों का निषेध होता है । परन्तु इस प्रकार की ज्ञापकता का आश्रयण करने की अपेक्षा तो पदोपस्थितिपक्ष का ज्ञापक होना ही उचित है । क्योंकि इससे समझने में सरलता रहती है ।]

अङ्गावयवस्य पुगव्यवहितपूर्वान्त्यस्य उपधाभूत-लघुवर्णस्य च गुणो भवतीत्यर्थ-करणाद् भिनत्तीत्यादौ न दोष इति भावः। **दोष** इति। आकारस्य पुगन्तेति गुणा-पत्तिरिति भावः। **वृद्धचेति**। 'अत उपधायाः' इत्यनेनेति भावः। **रूपसिद्धेरिति**। आदन्ताङ्गं निमित्तीकृत्य जायमानः पुक् आदन्ताङ्ग-विघातक-गुण-प्रवृत्तिं प्रति निमित्तं न भवन्तीत्यर्थक-सन्निपातपरिभाषया गुणस्याप्रवृत्तेश्च। **अत** एवेति। गुणोत्तरं वृद्धिस्वीकारादेवेत्यर्थः। **तदाहेति**। तदेन्मनसि निधायाहेत्यर्थः। **एव-**मिति। पुक्यन्त इत्यादिरीत्या तच्छेषपक्षस्य निर्दुष्टत्वे चेत्यर्थः। **पक्ष इति**। प्राचां नियमपक्ष इत्यर्थः। **लघूपधेति**। तत्रैव दोषसत्त्वात् तन्मात्रोक्तिः।

गुणनिषेधानापेति। "क्ङिति च" इत्यनेन इक्लक्षणस्यैव निषेधादिति भावः। **स** इति। प्राचोक्तपक्ष इत्यर्थः। **क्नोरिति**। "त्रसिगृधि" इत्यादिसूत्र-विहितक्नो-रित्यर्थः। **तस्येति**। क्नोः किंत्वस्येत्यर्थः। **उचितमिति**। ज्ञापकमूलक-वाक्यान्तर-कल्पनापेक्षयाऽस्मिन् पक्षे प्रतिपत्तिलाघवादौचित्यम्।

अत्र केचित्—एवस्तु 'अमार्ट' इत्यस्य सिद्धये तदावश्यकतां सूचयितुम्। न चानन्त्यविकार इत्यत्रत्यभाष्योक्तयुक्त्या निर्वाहः, अन्यार्थं कृतेन 'इको गुण' इति पृथग् योगेनापि व्यावृत्तिसिद्धौ सा नैतदर्थेति "ष्यङः सम्प्रसारणम्" इति सूत्रस्थ-भाष्यविरोधापत्तेः। एवञ्च सपदोपस्थितिपक्षकम् "इको गुण" इति पृथग् योगकरण-कल्पनमेवोचितम्। अत एव 'एधिता' इत्यादौ व्यञ्जनस्य गुणो न। नन्वत एवारु-चेरडागमात् पूर्वं परत्वाद् वृद्धौ पश्चादटि 'लक्ष्ये लक्षणम्' इति न्यायेन पुनर्वृद्ध्य-भावे 'अमार्ट' इति सिध्यति। भाष्यं तु विप्रतिषेधानपेक्षयैवेति कैयटोक्तमेवास्त्विति वाच्यम्, विकारानुपूर्व्या अभेदेऽप्यागमान्यानुपूर्व्या भेदेन लक्ष्यभेदादटो वृद्ध्यापत्ते-र्वृद्ध्यटोर्यौगपद्यसम्भवेन विप्रतिषेधाभावाच्च कैयटोक्तप्रकारस्यैव चिन्त्यत्वात्। न चात एव "मृजेर्वृद्धि" रित्यत्र अङ्गाक्षिप्तेन प्रत्ययेनाज् विशिष्यते। एवञ्च 'येन नाव्यवधान-न्यायेन 'अमार्ट' सिध्यतीति कौस्तुभोक्तमेवास्त्विति वाच्यम्, अङ्गांशे प्रत्ययस्योत्थिताकाङ्क्षत्वेनाक्षिप्तस्याक्षेपकान्वयस्यैवौचित्येन च तद्रीतेरेवायुक्तत्वात्। अत एव तच्छेषपक्षदूषणोद्धारप्रसङ्गे "नैवं विज्ञायते—बहुव्रीहिगर्भः समाहारद्वन्द्वः किन्तर्हि ? तत्पुरुषगर्भः। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्, अङ्गविशेषणे सतीह प्रसज्येत' भिनत्ति छिनत्ति' इत्यवश्यपदयुक्तभाष्योक्तिः संगच्छते। अन्यथा बहुव्रीहिद्वन्द्वगर्भेऽप प्रत्ययेनेको विशेष्यीकरणेन 'भनक्ति' इत्यादावदोषेण तथोक्तेरयुक्तत्वं स्पष्टमेव। तस्मात् 'एधिता' इत्यादौ व्यञ्जनागुणायास्य स्थानिनिर्देशार्थत्वेन पदोपस्थिति-पक्षेऽप्यावश्यकत्वमिवाटोऽत्र व्यावृत्तये यङन्तस्य 'मरीमृजक' इत्यादेरनभिधानम्। अन्यथेग्लक्षणेऽपि तत्र रीगादेः 'कित्यजादौ' इति वार्त्तिकोक्तगुणाभावयोतकप्रक-रान्यतमावश्यकत्वेनात्रत्यभाष्यासङ्गतिः स्पष्टैवेति बोध्यमित्याहुः।

अचां मध्य इति। **यत्तु—प्राचोक्तमन्त्यादचः पर इति। तन्न। "शे मुचादीनाम्" (पा० सू० ७।१।५९) इत्यादावन्त्यास्याचोऽसम्भवात्। तस्यैवान्तावयव इति। तेन त्रपूणीत्यादौ** अंगस्य नान्तत्वेन दीर्घः सिद्धः।

इत्यादाविति। आदिना झलन्तलक्षणो नुम्, इदितो नुमित्यादि च। **अचोऽसम्भवादिति।** नुमो मित्त्वं तु ज्ञानानीत्यादौ चरितार्थमिति मुचादाव-

---

वस्तुतः स्थानिनिर्देशार्थमप्यावश्यकमिदम्। एवञ्च 'मृष्टः' 'मृष्टवान्' 'भिन्नम्' 'न्यनुवीत्' इत्यादौ योगविभांगादिप्रयुक्तगुणनिषेधसिद्धिरपीति तत्त्वम्। अत एवकारस्तच्छेषपक्षे "ऋदृशोऽङि" इत्यादौ योगविभागादिप्रयुक्तगौरवनिरासाय।

ननु तदर्थं तस्य भाष्योक्तया परिभाषयैव सिद्धिः। तस्याश्च 'अदमुयङ्' इत्यादिसिद्ध्यर्थमावश्यकत्वस्य भाष्यारूढस्यान्यत्र सिद्धान्तितत्वात्। यद्यपि "ष्यङः सम्प्रसा-

---

[मिदचोऽन्त्यात्परः· पा० सू० १।१।४७] अचों के मध्य में जो अन्त्य अच्, उससे परे उसी का अन्तावयव मित् होता है—] [**मनो०**] प्राचीन ने जो यह कहा—अन्त्य अच् से परवर्ती [मित् होता है]— वह ठीक नहीं है क्योंकि 'शे मुचादीनाम्' [पा० सू० ७।१।५९] इत्यादि में अन्त्य अच् सम्भव नहीं [क्योंकि मुच् आदि धातुओं के अन्त में व्यञ्जन = हल् है, अच् नहीं) [**शब्द०** 'इत्यादि' में] 'आदि' शब्द से 'नपुंसकस्य झलचः' [पा० सू० ७।१।७२] झलन्त मानकर होनेवाला नुम्, और 'इदितो नुम् धातोः' [पा० सू० ७।१।५८] से होनेवाला नुम् भी लेना चाहिये [अर्थात् मुच् आदि का नुम्, झलन्तलक्षण नुम् और इदित् का नुम् नहीं हो सकेगा क्योंकि इनके अन्त में भी अच् सम्भव नहीं है।] [**शब्द०** अच् असम्भव है] नुम् का मित्करना तो 'ज्ञानानि' आदि में चरितार्थ है। अतः मुच् आदि में अन्त्य अच् को ही नुम् आगम होने लगेगा। [तात्पर्य यह है कि अन्त्य अच् से परे मित् होता है—इसके समर्थक के मत में अन्त्य वर्ण को ही नुम् होने लगेगा क्योंकि 'अलोऽन्त्यस्य' से यही व्यवस्था होती है। मित् किया गया है अतः वह व्यर्थ न हो इसलिये इन में अन्त्य वर्ण को नहीं होगा—यह तर्क ठीक नहीं है क्योंकि 'ज्ञानानि' आदि शब्दों में अन्त्य अच् के बाद मित् होता है। अतः मित्करण व्यर्थ नहीं है, वह ज्ञापक नहीं बन सकता) [सि कौ० उसी का अन्तावयव होता है—मनो०] इसे मानने से 'त्रपूणि' आदि में अङ्ग नान्त होता है और उसका दीर्घ सिद्ध होता है। [त्रपु + जस् = शि = इ यहाँ नुम् = न् आगम होता है वह मित् है और पूरे समुदाय का अवयव बनता है इस लिये 'त्रपुन् + इ' यह नकारान्त अंग हो जाने के कारण 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'

न्त्यस्यैव स्यादिति भावः। दीर्घः सिद्ध इति। तच्छब्देन यस्य विहितः स समुदायः परामृश्यते इति भावः। यद्यपि 'तस्यान्त्याच्च' इति व्याख्यानेऽपि भवितेत्यादौ तासवयवेटो लघूपधाङ्गावयवत्वेन प्राप्तस्य गुणस्य "दीधीवेवीटाम्" (पा० सू० १।१।६) इति निषेधारम्भेण लोकव्यवहारेण चावयवा-

रणम्" इत्यत्र 'अमार्ट्' इत्यस्य सिद्धिः सपदोपस्थितिपक्षकेन 'इको गुण' इति सूत्रेणेति साऽत्र न तदर्थेत्युक्तं तथापि अन्यार्थं सावश्यिकीति तत्रैव तदग्रे प्रतिपादितम्। इदमेवाभिप्रेत्य प्रकृतसूत्रे एतया 'अमार्ट्' इत्यस्य सिद्धिरिति तच्छेषपक्षेऽजपकर्षे न दोष इति सूचिकेको गुणेत्यत्र वृद्धिग्रहणखण्डकखाष्यकृत उक्तिः। मृज इत्यादौ 'न धात्विति प्रत्याख्याने मिमार्जिषति इत्यादौ ष्यङ इति मूत्रभाष्यप्रयोगे च दोषतादवस्थ्यम्, न त्वेषामनमिधानं वक्तुं शक्यम्। तस्मादुक्तहेतोर्न तच्छेषपक्षः, किन्तु पदोपस्थितिपक्ष इति वोध्यम्। इग्लक्षण-वृद्धिरेषितव्येत्यादिभाष्यीयं वाक्यमपि निराबाधमेवेति भावः। तदाह—**इतिदिगिति** भावप्रकाशकाराः प्राहुः।

मिदचोऽन्त्यात्परः [पा० सू० १।१।४७] 'अचः' इति षष्ठ्यन्तम्। अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यादिति–वृत्तिः। मूले–**अन्त्याच्च** इति। प्राचा 'अचः' इति पञ्चम्यन्तं स्वीकृत्य 'अन्त्याद्' इत्यस्य विशेषणता स्वीक्रियते तन्न सम्यक्, एवं स्वीकारे यत्रान्त्यभूतोऽच् तत्रैवास्याः प्रवृत्तिः स्यात्, यथा 'कुण्डानि,' 'वनानि' इत्यादौ ; 'यशांसि' इत्यादौ तु अन्त्याचोऽभावादेतदप्रवृत्तौ 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनान्त्यस्य स्थाने नुम् स्यात्। तथा च 'इदितो नुम् धातोः' शे मुचादीनाम्' इत्यादि सूत्रैः इदिद्धातूनां मुचादीनां च हलन्तत्वेन 'मिदचोन्त्यात्परः' इत्यास्याप्रवृत्त्या "अलोऽन्त्यस्य" इत्यनेनान्त्यस्य नुमादेशापत्त्या "नन्दिग्रहि" "अनुपसर्गाल्लिम्पविन्द" इत्यादि-सौत्रनिर्देशासङ्गतिः। उक्त-निर्देशैर्लक्ष्यानुरोधेन

[पा० सू० ६।४।८] से नकारान्त अङ्ग की उपधा का दीर्घ होता है।] [**शब्द०** दीर्घ सिद्ध है] त्रपूणि आदि में उपधा का दीर्घ सिद्ध होता है। [अचः इति षष्ठ्यन्तम्। अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात् परः तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्—यह सिद्धान्तकौमुदी की वृत्ति है इसमें 'तस्य' के] 'तत्' शब्द से उस समुदाय का ही परामर्श होता है जिस (समुदाय) को मित् आगम किया गया है, यह भाव है। [अतः उपधा का दीर्घ होता है।] यद्यपि तस्य=अन्त्य अच् का (अवयव होता है) इस व्याख्यान में भी भविता इत्यादि में तास् का अवयव इट् लघूपध धातु का अंग हो जाता है। इस लिये प्राप्त होने वाले गुण का निषेध करने के लिये 'दीधीवेवीटाम्' (पा० सू० १।१।६) इस निषेध शास्त्र को बनाया जाने के कारण और लोकव्यवहार से—

वयवस्य समुदायावयवत्वाङ्गीकारादत्र न दोषः, तथाऽपि तथा न व्याख्यातम्, पञ्चारत्नीनीत्यादौ पदस्य विभज्यान्वाख्याने उत्तरपदस्यापि नान्तत्वापत्तौ "इगन्त-" (पा० सू० ६।२।२९) इति स्वरानापत्तेरिति स्पष्टं भाष्यादौ। त्रपूणीत्युपलक्षणम् 'ता ता पिण्डानाम्' इति नलोपसिद्धेः। तानि तानीत्यर्थे "शेश्छन्दसि-" (पा० सू० ६।१।७०) इति शेर्लोपे तदुदाहरणम्।

च निर्धारणषष्ठी एव कल्प्यते। अत एवाह-परममूले—**अचां मध्ये**इत्यादि। **झलन्तलक्षणेति**। झल् अन्तश्चरमावयवो यस्य निमित्तभूतस्य तन्निमित्तक इत्यर्थकः, झलन्तावधिक इति यावत्। तेन "मस्जि" इत्यादिसङ्ग्रहः इति भावः। मूले आदि शब्दो न प्रभृत्यर्थकः अपि तु प्रकारार्थकः, अन्यत्रापि दोषसत्वात्। तदाह—**इदितो नुमिति**। **अन्त्यस्यैवेति**। 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनेति भावः। मूले **सइति**। दीर्घं इत्यर्थः। नुमः प्रत्ययावयवत्वेन अङ्गावयवत्वाभावेन नान्ताङ्गत्वाभावाद् दीर्घो न सिध्येत् इति भावः। **तच्छब्देनेति**। व्याख्यायां 'तस्यान्तावयवः' इत्यत्र 'तत्शब्द-नेत्यर्थः। **यस्येति**।। तत्तद्विधि सूत्रोद्देश्यरूपस्येत्यर्थः। **समुदाय** इति। अत एव "समुदायभक्तोऽसौ नोत्सहतेऽवयवस्येगन्ततां विहन्तुम्" इति भाष्यं संगच्छते इति

अवयव का अवयव भी (उसके) समुदाय का अवयव स्वीकार किया जाता है, इसलिये यहाँ [त्रपूणि आदि में] दोष नहीं आता है, तथापि वैसी (तस्य=अन्त्यस्य अचः, अवयवः—यह] व्याख्या नहीं की गई है क्योंकि 'पञ्चारत्नीनि' आदि में [प्रमाण अर्थ में होनेवाले मात्रच् का लुक् है) पदविभज्य अन्वाख्यानपक्ष में [पञ्च और अरत्नि इन दोनों पदों का विभाग करके प्रक्रिया कार्य करने पर) उत्तर पद [अरत्नि न्+ इ] भी नकारान्त होने लगेगा इस स्थिति में 'इगन्तकालकपालभगाल-शरावेषु' [पा० सू० ६।२।२९] इस सूत्र से पूर्वपद का प्रकृति स्वर नहीं हो सकेगा—यह भाष्यादि में स्पष्ट है। [क्योंकि द्विगु समास में इगन्त उत्तर पद परे रहते संख्यावाची पूर्वपद का प्रकृति स्वर होता है—यह उस उक्त सूत्र का अर्थ है जब नुम्=मित् उत्तरपद का भी अवयव हो सकता है वह इगन्त=इकारान्त न होकर अरत्निन्= नकारान्त होने लगेगा, फलतः स्वरप्राप्ति नहीं है।] 'त्रपूणि' यह (अन्यों का) उपलक्षण है क्योंकि [समुदाय=प्रातिपदिक आदि का ही अन्तावयव मानने से] 'ता ता पिण्डानाम्' यहाँ 'नलोपः प्रातिपादिकान्तस्य' [पा० सू० ८।२।७] से नलोप सिद्ध होता है। 'तानि तानि' इस अर्थ में 'शेश्छन्दसि' [पा० सू० ६।१।७०] इस सूत्र से शि प्रत्यय का लोप हो जाने पर उस [प्रातिपदिक के अन्त्य नकार के लोप] का उदाहरण बनता है।

भावः। **अत्रेति**। 'त्रपूणि' इत्यादौ। **न दोष** इति। त्रपूणीत्यत्र नुमागमस्यान्त्यावयवत्वेऽपि अवयवावयवः समुदायावयवो भवतीति न्यायेन समुदायावयव उकारः तदवयवस्य नुमागमस्य समुदायावयवत्वेनाङ्गस्य नान्तत्वेन "सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ" पा० सू० ६।४।८ इति दीर्घसिद्ध्या न दोष इति भावः। **तथा**='तस्यान्त्याचः' इतिरूपेणेत्यर्थः। **पञ्चारत्नीति**। पञ्च अरत्नयः प्रमाणमेषामित्यर्थे प्रमाणे मात्रचो लुक्। **विभज्येति**। अस्मिन् पक्षे नित्यत्वेन पूर्वमेव नुम् तेनोत्तरपदस्य रत्नीनीत्यस्यापि नान्तत्वं प्रसज्येत तेन इगन्त्वाभावात् द्विगु समासे इगन्तादिषु परेषु संख्यावाचि पूर्वपदं प्रकृत्येत्यर्थकेन "इगन्तकाल" [पा० सू० ६।२।२९] इति सूत्रेण विहितद्विगुस्वरस्याप्राप्तेरिति भावः। **नलोपेति**। 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' [पा० सू० ८।२।७] इत्यनेन प्रातिपदिकान्त्यावयवस्यैव नलोपस्य विधानादिति भावः। **अर्थे** इति। तानि तानि इत्यर्थक सद्वित्वतादृशशब्दप्रयोगे इत्यर्थः। **तदुदाहरण-**

विमर्श—यहाँ तात्पर्य यह है कि 'मिदचोऽन्त्यात्परः'—इस सूत्र की वृत्ति यह है—अचां मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात् परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्।' यहाँ 'तस्य= 'उसका' उस सर्वनाम शब्द से किसका ग्रहण किया जाय? 'तस्य' शब्द से 'अचः' (अच् का) इसका ग्रहण करना चाहिये। चूंकि समुदाय का अवयव है अच् और अच् का अवयव है मित्=नुम्, यह अवयवावयव अपने समुदाय का भी अवयव बन सकता है। इस व्याख्यान को मानने पर 'त्रपूणि' आदि में (दीर्घ न होना आदि) दोष नहीं रहता है। दीर्घ हो जाता है क्योंकि 'उ' का अवयव 'न्' है। यह अपने समुदाय 'त्रपु' का भी अवयव बनता है। इस प्रकार यह 'न्' समुदाय 'त्रपुन्' का अवयव हो जाने से नकारान्त अंग की उपधा का दीर्घ उपपन्न हो जाता है। लोकव्यवहार में भी यही देखा जाता है कि शरीर (समुदाय) का अवयव हाथ है और हाथ (अवयव) की अवयव अंगुली है, अंगुली शरीर का भी अवयव होती है। इसके अतिरिक्त और भी प्रमाण है—भविता—भव्+इ तास्+आ' आदि में इट् तास् प्रत्यय (अवयव) का अवयव है और तास् 'भू' धातु (अंग) का अवयव है, यहाँ इट् को भी अंग=धातु का अवयव मान लिया जाता है। इसी लिये 'भवित्+आ' में इट् लघूपध धातु का अंग बनने के फलस्वरूप 'पुगन्तलघूपधस्य च' सूत्र से लघूपध गुण प्राप्त होता है और इसका निषेध करने के लिये 'दीधीवेवीटाम्' इस सूत्र में इट् का ग्रहण सफल है। इस प्रकार सर्वत्र कार्य उपपन्न हो जाते हैं।

परन्तु पदविभाज्यान्वाख्यान पक्ष [इसमें पदों का विभाजन करके अन्वाख्यान करके समुदाय का संस्कार माना जाता है]—में पञ्च अरत्नीनि प्रमाणम् येषां तानि—इस अर्थ से प्रमाण अर्थ में होनेवाले मात्रच् प्रत्यय का लुक् कर देने पर 'पञ्च+

परादित्वे स न सिध्येत्। अभक्तत्वे तु वहंलिह इत्यत्र "वहाभ्रे लिहः" (पा० सू० ३।२।३२) इति खशि "अरुर्द्विषद्–" (पा० सू० ६।३।६७) इति मुमोऽनुस्वारो न स्यात्, अपदान्तत्वात्।

मिति। नलोपस्य उदाहरणमित्यर्थः। मूले—**अभक्तत्वे** इति। समुदायावयवत्वाभावे इत्यर्थः। **अरुर्द्विषदिति**। "अरुर्द्विषदजन्तस्य" पा० सू० ६।३।६७ इति सूत्रेण विहितस्य मुमः 'मोऽनुस्वारः' [पा० सू० ८।३।२३] इति सूत्रेणानुस्वारो न स्यादिति भावः। **दूषितप्रायमिति**। अयं भावः— अङ्ग-संज्ञा-विधायके "यस्मात् प्रत्यय-विधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' [पा० सू० १।४।१३] इति सूत्रे तदादिग्रहणस्य फलं प्रदर्शयन्नाह वार्त्तिककारः "तदादिग्रहणं स्यादिनुमर्थम्" इति। एवञ्च अनवयवत्व-पक्षेऽपि नुमि सति अङ्गसंज्ञासम्भवात् दीर्घविधाने बाधकाभावः।

अरत्नि+शि=इ' में नुम्=न् आगम करने के बाद 'पञ्च+अरत्निन्+इ' यहाँ अकेला उत्तरपद भी नकारान्त हो जायगा। इसके फलस्वरूप इकारान्त (इगन्त) नहीं रह सकेगा। जिसके कारण 'इगन्तकालकपाल-भगाल-शरावेषु द्विगौ [पा० सू० ६।२। २९] सूत्र से पूर्व पद का प्रकृतिस्वर नहीं हो सकेगा। इसलिये 'अवयवावयवः समुदायावयवः' यह सिद्धान्त मानकर यहाँ कार्य उपपन्न नहीं हो सकता है। इस प्रकार समुदाय का ही अवयव मानना उचित है। इससे पञ्चारत्नीनि में नुम् अरत्नि इस उत्तरपद का अवयव न होकर समुदाय का ही अवयव होता है, जिससे उत्तरपद का इगन्तत्व सुरक्षित है पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होने में बाधा नहीं है।

[मनो०] परवर्त्ती का आदि अवयव मानने पर वह [दीर्घ] सिद्ध नहीं हो सकता [क्योंकि प्रत्यय का अवयव होगा न कि अंग का अवयव। अतः नान्त अंग न होने से दीर्घ नहीं हो सकता।] और [किसी का] अवयव न मानने पर तो 'वहंलिहः' इसमें 'वहाभ्रे लिहः' [पा० सू० ३।२।३२] इस सूत्र से खश् (अ) प्रत्यय करने पर 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' [पा० सू० ६।३।६७] इस सूत्र से विहित मुम् का अनुस्वार ही नहीं हो सकेगा, क्योंकि 'म्' पदान्त नहीं हो पाता है।

[तात्पर्य यह है कि 'वहं लेढि'–इस अर्थ में वहम् उपपद लिह् धातु से 'वहाभ्रे लिहः' [पा० सू० ३।२।३२] सूत्र से खश्=अ प्रत्यय होता है। उपपद समास और विभक्त्यादि लोप के वाद 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' [पा० सू० ६।३।६७] सूत्र से मुम् =म् आगम होता है। यदि इसे आगमी पद का अवयव नहीं माना जायगा तो पद के अन्त में भी नहीं माना जा सकेगा। फलतः पदान्त मकार न होने से 'मोऽनु-स्वारः' [पा० सू० ८।३।८३] से उसका अनुस्वार नहीं हो सकेगा। अतः 'म्' को अवयव मानना अत्यावश्यक है।]

यत्तु—अभक्तत्वे त्रपूणीति दीर्घो न स्यादिति, तत्तु "तदादिग्रहणं स्यादि-नुमर्थम्" इत्यङ्गसंज्ञासूत्रस्थवार्तिकेनैव दूषितप्रायम् ।

स्थानेयोगेति । **स्थानेन योगोऽस्या इति विग्रहः । निपातनादेत्वम् ।**

स्थानेनेति । स्थानशब्दार्थेनेत्यर्थः । तन्निरूपितसम्बन्धः षष्ठ्यर्थो न तु तद्रूपः सम्बन्धस्तदर्थं इति अनेन ध्वनयति । **एत्वमिति ।** व्यधिकरणबहुव्रीहिरप्यत एवेति बोध्यम् ।

(अनु०) जो यह [कहते हैं]—अभक्त=अनवयव होने पर 'त्रपूणि' यहाँ दीर्घ नहीं हो सकेगा—वह [कथन] तो 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' (पा० सू० १।३।१३) इस अंग-संज्ञाविधायक सूत्र में 'अङ्गसंज्ञायां तदादिग्रहणं स्यादिनुमर्थम्' इस वार्तिक से दूषित ही कर दिया गया है।

[तात्पर्य यह है कि 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' [पा०सू० १।३।१३] इस अंग संज्ञा-विधायक सूत्र में 'तदादि' ग्रहण की क्या आवश्यकता? उत्तर यह है कि स्य आदि विकरण या प्रत्यय तथा नुम् के उद्देश्य से, अर्थात् इन्हें भी अंग में सम्मिलित करने के लिये, 'तदादि' शब्द का उल्लेख है। तदादि—तत्=प्रकृतिरूप है, आदि=आद्यवयव जिसका, वह, अंग होता है। अतः 'भू+इ+स्य' इसमें 'भू' आदि में है जिसके ऐसा 'स्य' (भू+इस्य) अंग होता है। इस लिये भविष्य+मि में 'भविष्य' इतना अंग है और 'अतो दीर्घो यञि' (पा० सू० ७।३।१०१) से अङ्गावयव अकार का दीर्घ होकर 'भविष्यामि यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'त्रपुन्+इ' में त्रपुन् यह नुम्विशिष्ट अंग होता है, अतः नकारान्त का दीर्घ होने से त्रपूणि बन जाता है। इस प्रकार वार्तिक से ही निर्वाह हो जाता है। प्रस्तुत कल्पना अनावश्यक है।)

षष्ठी स्थाने योगा। पा० सू० १।१।४९—अनिर्धारित-सम्बन्ध विशेषा षष्ठी स्थानेयोगा बोध्या—वृत्तिः । [**मनो०**] स्थानेयोगा—इसका विग्रह है—स्थानेन योगः अस्याः। [समास के बाद विभक्ति का लोप कर देने पर स्थानयोगा बनता है इसमें] निपातन द्वारा 'अ' का 'ए' करने पर-स्थानेयोगा—यह रूप हुआ है। [बहुव्रीहि समास है।]

(**शब्द०** स्थानेनेति—) स्थानेन=स्थान शब्द के अर्थ के साथ—यह अर्थ है। (योगः=सम्बन्ध) स्थान-निरूपित-सम्बन्ध (=निवर्त्यनिवर्तकभाव) षष्ठ्यर्थ है न कि स्थानरूप सम्बन्ध (षष्ठ्यर्थ है) यह इस (व्यधिकरण बहुव्रीहि) के द्वारा ध्वनित करते हैं। [**शब्द०**] निपातन के कारण से ही व्यधिकरण बहुव्रीहि भी है, ऐसा समझना चाहिये।

अनेकविधमिति। स्थानार्थगुणप्रमाणकृतमित्यर्थः।

गुणप्रमाणेति। प्रमाणस्य ह्रस्वत्वादेर्गुणत्वेऽपि ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन

षष्ठी स्थाने योगा। [पा०सू० १।१।४९] अनिर्धारितसम्बन्धविशेषा षष्ठी स्थाने योगा बोध्या। स्थानं च प्रसङ्ग इति—वृत्तिः। ननु स्थानशब्दस्य योगत्वाभावेन षष्ठ्यास्तदर्थयोगेऽपि तच्छब्देन सह योगाभावेन स्थानार्थविशिष्ट-सम्बन्धस्य षष्ठ्यर्थत्वाभावेन च मूलमयुक्तमत आह—**स्थनाशब्देति**। ननु 'स्थानं योगोऽस्याः' इति समानाधिकरण-पदक-बहुव्रीहिणैव सामञ्जस्ये 'स्थानेन=स्थानशब्दार्थेन योगोऽस्या' इतिव्यधिकरणपदक-बहुव्रीहिप्रदर्शन-मनुचितमत आह—**तन्निरूपितेति**। निरूपितत्वं तृतीयार्थः, स्थाननिरूपितसम्बन्धः षष्ठीवाच्य इति भावः। **सम्बन्धः**= निवर्त्यनिवर्तकभावादिः। **अनेनेति**। व्यधिकरणपदकबहुव्रीहिप्रदर्शनेनेत्यर्थः। समानाधिकरणबहुव्रीहौ तु स्थानं योगो यस्या इति विग्रहे स्थानस्यैव सम्बन्धत्वं स्यात्तच्च नेष्यते। एवञ्चानिर्धारित-सम्बन्ध-विशेषषष्ठ्यन्त-प[illegible]-घटिते सूत्रे 'स्थाने' पदमुपतिष्ठते' इति प्रकृतसूत्रस्यार्थः फलति। एवञ्च 'इको यणचि' (पा० सू० ६।१।७७) इत्यादौ इक इति श्रुत्या स्थाने पदमुपस्थाय 'इकः स्थाने यण् स्यादचि' इत्या-

---

विमर्श—जिस स्थल पर किसी सम्बन्धविशेष का निर्णय नहीं रहता है वहीं पर व्यवस्था के लिये प्रस्तुत सूत्र है। इसमें 'स्थानं योगः अस्याः' यह समानाधिकरण बहुव्रीहि करना सम्भव था परन्तु ऐसा स्वीकार न करके 'स्थानेन योगः अस्याः' यह व्यधिकरण बहुव्रीहि किया गया है। इसके कारण स्थान-निरूपित सम्बन्ध की प्रतीति होती है स्थान रूप सम्बन्ध की नहीं, क्योंकि तृतीया का अर्थ निरूपितत्व है। इस प्रकार स्थान शब्दार्थ से जिसकी प्रतीति होती है उससे निरूपित—निवर्त्यनिवर्त्तकभाव सम्बन्ध—षष्ठी का अर्थ है। जहाँ पर कोई विशेष-सम्बन्ध निश्चित नहीं रहता है वहाँ 'स्थाने' की उपस्थिति' होती है। जैसे—'इको यणचि (पा०सू० ६।१।७७) आदि में 'इकः' की षष्ठी का अर्थ निर्णीत नहीं है इस लिये इस परिभाषा सूत्र के बल से 'स्थाने' की उपस्थिति होती है और 'इकः स्थाने यण् स्यात्' यह अर्थ उपपन्न हो जाता है।

स्थानेऽन्तरतमः पा० सू० १।१।५०=प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। यत्र अनेकविधम् आन्तर्यम्, तत्र स्थानतः आन्तर्यं बलीयः'—इति वृत्तिः। **[मनो०]** अनेक प्रकार=का आन्तर्य=सादृश्य (१) स्थानकृत, (२) अर्थकृत, (३) गुणकृत, (४) प्रमाणकृत—यह अर्थ है (अर्थात् चार प्रकार का आन्तर्य=सादृश्य होता है।) **[शब्द०]** यद्यपि ह्रस्वत्व दीर्घत्व आदि प्रमाण भी गुण हैं (अतः

पृथगुक्तिः। गुणशब्देनोक्तत्रितयातिरिक्तधर्ममात्रम्। तेन "अनान्तर्यमेवैतयो-रान्तर्यम्" इत्यादिस्थानेन्तरतमसूत्रस्थभाष्येण न विरोधः। अन्तरतमाभाव एव गुणविधौ ऋकाराकारयोः सादृश्यमिति तदर्थः। वाह्यानां विवारादीनां साक्षाद्वर्णावृत्तित्वेऽप्यौपचारिकं गुणत्वं वोध्यम्।

दिरर्थः फलति। **अत एवेति**। निपातनादेवेत्यर्थः। एवञ्च मूले मध्यपठितनिपात-नादित्यस्य देहलीदीपकन्यायेन उभयत्रान्वयः इति भावः।

स्थानेऽन्तरतमः (पा० सू० १।१।५०) प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। 'यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तर्यं बलीयः'—इति वृत्तिः। अत्र 'स्थान' शब्दः प्रसङ्गार्थकः। एवञ्चैकस्य स्थाने अनेकेषामादेशानां प्रसङ्गे=प्राप्तौ अन्तरतमः= प्राप्तानां मध्ये यः सदृशतमः=अतिशयेन सदृशः स एवादेशो भवति नान्य इति। अत्र सादृश्यञ्च—स्थानार्थ-गुण-प्रमाण-कृतं ग्राह्यम् (१) स्थानम्, (२) अर्थः, (३) प्रमाणम्=मात्रा, (४) गुणः=वाह्य-प्रयत्नः। अतिशयेन सदृशः—इत्यस्याय-माशयः—न्यूनधर्मेण सदृशापेक्षया अधिकधर्मेण सदृशोऽतिशयेन सदृश इति स एवादेशः। मूले **तेनेति**। स्थानतः आन्तर्यस्य वलीयस्त्वादेवेत्यर्थः। **गुणत्वेऽपीति**।

इन ह्रस्वत्वादि का भी यहाँ गुण से ही ग्रहण होना सम्भव है), तो भी ब्राह्मण-वसिष्ठ—न्याय से अलग से कहा गया है।

विमर्श—जैसे—'सर्वे ब्राह्मणाः समागताः, वसिष्ठोऽपि समागतः' यह व्यवहार होता है। चूँकि वसिष्ठ भी ब्राह्मण हैं अतः 'सर्वे' पद से उनका भी ग्रहण हो जाता है—सभी ब्राह्मणों के आ जाने पर वसिष्ठ का आ जाना स्वतः सिद्ध है। पुनः स्वतन्त्रतया पृथक्कथन वसिष्ठ की प्रधानता या विशेषता सूचित करने के लिये है। इसी प्रकार प्रस्तुत स्थल में भी 'गुण' का ग्रहण समझना चाहिये।

[शब्द०] उक्त तीन—(१) स्थान, (२) अर्थ, (३) प्रमाण—इनसे भिन्न धर्म-मात्र का ग्रहण 'गुण' शब्द से होता है। इस कारण इन=ऋकार और अकार का अनान्तर्य=असादृश्य ही आन्तर्य=सादृश्य है—इस 'स्थानेऽन्तरतमः' (पा० सू० १।१।५०) सूत्र पर स्थित भाष्य के साथ विरोध नहीं होता है (क्योंकि स्थान, अर्थ, और प्रमाण इन तीनों से भिन्न सभी धर्म गुण के अन्तर्गत माने जाते हैं। अतः यह अनान्तर्य ही यहाँ गुण मान लेना चाहिये।) अन्तरतम=सदृशतम का अभाव (= स्थानकृत अतिशयित आन्तर्यवान् का अभाव) ही, गुणविधि में, ऋकार और अकार का सादृश्य है—यह उस भाष्य का अर्थ है। यद्यपि विवार आदि बाह्य प्रयत्न तो साक्षाद् वर्णों में नहीं रहते हैं फिर भी इनमें आरोपित गुणत्व समझ लेना चाहिये।

एवञ्च तेनैव सिद्धे पुनः प्रमाणग्रहणं व्यर्थमिति भावः। एतेन 'प्रमाणे द्वयसज्" (पा० सू० ५।२।३७) इति सूत्रप्रसिद्धस्य नैयायिकमते प्रसिद्धानां चानुपयोगान्न ग्रहणमिति ध्वनितम्। **ब्राह्मणेति**। 'ब्राह्मणसहितवसिष्ठस्य न्यायः' इति मध्यमपदलोपि—समासगर्भसमासः। 'सर्वे ब्राह्मणा आयाताः, वसिष्ठोऽप्यायातः' इति वाक्यं प्रयुज्यते, इति वसिष्ठस्य ब्राह्मणत्वेऽपि यथा पृथगुक्तिस्तथैवात्रापि बोध्यम्। अत्र शब्दस्याभिप्रेतमर्थं दर्शयति—**गुणशब्देनेति**। तेन=तादृशधर्ममात्रस्य गुणशब्दाद् बोधनेनेत्यर्थः। **स्थानेऽन्तरतम** इति। तत्तत्सूत्रोपलक्षणमित्यर्थः। **न विरोध** इति। तत्र हि ऋकारस्य स्थाने गुणवृद्धिप्रसङ्गे इदं समाहितम्—"अथवाऽनान्तर्यमेवैतयोरान्तर्यम्—एकस्यान्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति, अपरस्यान्तरतम आदेशो नास्ति। एतदेवैतयोरान्तर्यम्।" अत्रान्तर्यम्=सादृश्यम्। **तदर्थः**=उक्तभाष्यार्थः। ननु 'झयो होऽन्यतरस्याम्' इत्येतदुदाहरणविवेचनसमये बाह्यप्रयत्नस्य गुणपदव्यवहार्यस्य सादृश्यप्रयोजकत्वं सर्वैः स्वीकृतं तच्च नोपपद्यते बाह्यप्रयत्नस्य वर्णावृत्तित्वात्। ते हि काकलकात् कण्ठविवरनिष्ठविकासादि - कार्यजनकाः। अत एव तेषां बाह्यत्वमत आह—**बाह्यानामिति**। ओष्ठप्रभृतिकाकलक - पर्यन्तरूपास्यवहिर्भूतदेशे कार्यकर - यत्नानामित्यर्थः। न तु कार्याणामत आह—**विवारादीनामिति**। **साक्षादिति**। संयोग-समवायादिनेत्यर्थः। **औपचारिकमिति**। वर्णाभिव्यक्त्यनन्तरभावित्वात् वर्णजनकात्मवृत्तित्वाच्च वर्णवृत्तित्वारोपादिति भावः। **गुणत्वम्**=वर्णगुणत्वमित्यर्थः।

अत्राभिनवचन्द्रिकाकाराः—स्थानपदार्थश्च— 'वृत्ति-विशेष्यता-वच्छेदकतावच्छेदकताकेष्ट - साधनत्व - प्रकारक-भ्रमविषयत्वप्रकारक - ज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकावच्छिन्न-विशेष्यताकेष्ट-साधनत्व-प्रकारक - प्रमाविषयत्व - प्रकारक-ज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता।' स्थान-पदार्थतावच्छेदकवृत्तित्वान्वयि-निरूप्य-निरूपकभावः षष्ठ्यर्थः। तथा च 'दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्' इत्यादौ दर्भनिरूपितवृत्तित्ववती या विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता तादृशावच्छेदकताकं यत्—'दर्भकरणकं प्रस्तरणमिष्टसाधनत्वप्रकारकभ्रमविषयः' इत्याकारकं ज्ञानम् तादृशज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकं यत्—प्रस्तरणत्वम्, तदवच्छिन्न-विशेष्यताकम् इष्टसाधनत्वप्रकारक-प्रमाविषयत्वप्रकारकं यज्ज्ञानम्—शरकरणक-प्रस्तरणमिष्टसाधनत्व-प्रकारकप्रमा - विषयः' इत्याकारकं ज्ञानम् तादृशज्ञानीय-विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता शरेष्विति लक्षणसमन्वयः।

एवम् "इको यणचि" इत्यादावपि इग्निरूपितवृत्तित्ववती या विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता—इक्कर्मकोच्चारणम् इष्टसाधनत्व-प्रकारक-भ्रमविषय' इत्याकारकज्ञानीया,

तादृशज्ञानीय-विशेष्यतावच्छेदकं यदुच्चारणत्वम्, तदवच्छिन्नविशेष्यताकं यदिष्टसाधनत्व-प्रकारकप्रमाविषयत्वप्रकारकं ज्ञानं—यण् कर्मकमुच्चारणमिष्टसाधनत्वप्रकारक-प्रमाविषयः' इत्याकारकं ज्ञानम्, तादृशज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकं यदुच्चारणत्वं तद-वच्छिन्नविशेष्यताकं यत् 'यण् - कर्मकोच्चारणमिष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमा - विषयः' इत्याकारकमिष्टसाधनत्वप्रकारक - प्रमाविषयत्व - प्रकारक - ज्ञानम्, तादृशज्ञानीय-विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावान् यण् इत्यादिबोधः।

न च "जरायाः" (पा० सू० ७।२।१०१) इत्यादिविकल्पस्थले स्थानपदार्थ-त्वानुपपत्तिः, विकल्पस्थले स्थानिनोऽपि साधुत्वेन 'जरा-कर्मकोच्चारणमिष्टसाध-साधनत्वप्रकारक-भ्रमविषयः' इत्याकारक - ज्ञानस्याभावादिति वाच्यम्,स्थान-पदस्य वृत्तिविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकताकेष्ट-साधनत्व - प्रकारक - प्रमाविषयत्व-प्रकारकज्ञानीय - विशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतायाम्, इष्टसाधनत्वप्रकारकत्वे च खण्डशक्तिस्वीकारेण च विकल्पस्थले चेष्टसाधनत्वप्रकारकभ्रमविषयत्वप्रकारत्व-रूपखण्डस्य मोपणात्। अतएव 'अनेन महामूर्खेण यण्स्थाने इक् प्रयुक्तः' 'शराणां स्थाने दर्भाः प्रस्तरिताः' इत्यादावपि स्थानपदार्थोपपत्तिरिति दिक्।

अन्ये तु—अभाव एव स्थानपदार्थः, प्रतियोगितयाऽभावान्वयि प्रयोज्यत्वं षष्ठ्यर्थः अभावस्य च 'स्यादि' ति लिङर्थेष्ट-साधनत्वेऽन्वयः। तथा च "इको यणचि" इत्यादौ इक्प्रयोज्यत्वाभाववदिष्ट-साधनत्ववान् यण् इति बोधः। विकल्प-स्थले स्थानपदार्थाभावस्य विकल्पपदार्थाभावेऽन्वयः। तथा च "जरायाः जरस्" इत्यादौ

विमर्श—शब्दरत्नकार का तात्पर्य यह है कि अ+ऋ दोनों के स्थान पर 'आद् गुणः (पा० सू० ६।७।८७) से गुण करना है। यहाँ ऋ का किसी गुण के साथ आन्त रतम्य नहीं होने से अ, ए, ओ—ये तीनों ही गुण प्राप्त होते हैं, इसी प्रकार वृद्धि के प्रसङ्ग में आ, ऐ, औ—ये तीनों वृद्धि प्राप्त होते हैं। क्योंकि ऋ का इन में से कोइ भी सदृशतम नहीं है। इस समस्या का समाधान करते हुए भाष्यकार का यह कहना है "अनान्तर्यमेव एतयोरान्तर्यम्। एकस्यान्तरतमा प्रकृतिर्नास्ति, अपरस्यान्त-रतम आदेशो नास्ति, एतदेव एतयोरान्तर्यम्"। यहाँ स्थानकृत अन्तरतम न होना ही अ+ऋ का आन्तर्य है। अतः अ+ऋ के स्थान पर 'अ' ही गुण और 'आ' ही वृद्धि होती है। और 'उरण् रपरः' (पा० सू० १।१।५१) से रपर होने पर क्रमशः अर्, गुण और आर् वृद्धि होते हैं।

विवार आदि जो बाह्य प्रयत्न हैं वे वर्णों की अभिव्यक्ति के जनक कण्ठ विवर आदि स्थानों में या वायु में रहते हैं। इनकी वर्णवृत्तिता का आरोप मानकर गुणत्व=वर्णनिष्ठधर्मत्व मान लेना चाहिये।

बलीय इति । तेन चेता स्तोता इत्यत्र प्रमाणत आन्तर्यंवानकारो नेति भावः ।। तस्मिन्निति सप्तम्यन्तानामनुकरणम् ।

अनुकरणमिति । अचीत्यादिसप्तम्यन्तार्थंकस्य स्वतन्त्र-तच्छब्दस्य निर्देशो न स्वरूपपरम्; व्याख्यानाद्, बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोधाच्च । सप्तमी तु सप्तम्यन्तानामेव तच्छब्दार्थत्वमिति बोधनाय, तद्बोध्यार्थंस्य निर्दिष्टे इत्यनेन सामाधिकरण्याय चेति भावः । शब्दार्थंकत्वेन त्वनुकरणत्वव्यवहार इति बोध्यम् ।

जरा-प्रयोज्यत्वाभाववदिष्टसाधनत्ववान् जरस् इति बोधः । तथा च अभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वेन विकल्पस्थले स्थान्यपीष्ट - साधनमादेशोऽपीष्टसाधनमित्युभयोरपि साधुत्वं सिध्यतीत्याहुः ।

तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (पा० सू० १।१।६६) । सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यमिति-वृत्तिः । तच्छब्दस्य सर्वनामत्वेन बुद्धिस्थपरामर्शकत्वात् 'तस्मिन्' इत्येतत् सप्तम्यन्त-पदानामनुकरणमिति बोध्यम् । ननु वर्णात्मकशब्दानुकरणस्यानुकार्यसमानानुपूर्वीकत्वस्य 'गो' इत्यादौ "तस्यस्थमिपाम्

[**मनो०**] [पूर्वोक्त सभी चार प्रकार के सादृश्यों में स्थान को मान कर होने वाला सादृश्य सबसे प्रधान होता है । इसी लिये—चेता, स्तोता—यहाँ पर (एकमात्रिक 'इ' कार के) प्रमाण को मानकर सादृश्यवान् एकमात्रिक 'अ' गुण नहीं होता है, (अपितु तालुस्थानिक 'इ' के स्थान पर कण्ठतालुस्थानवाला 'ए' ही गुण होता है)—यह भाव है ।

(तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (पा० सू० १।१।६६) सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम्—वृत्तिः । [**मनो०**] तस्मिन्—यह सप्तम्यन्त पदों का अनुकरण है (अतः अर्थवाचक नहीं है) ।

[**शब्द०** अनुकरण है ।] 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदरूपी अर्थवाले स्वतन्त्र 'तत्' शब्द का निर्देश है (अर्थात् भिन्न भिन्न सूत्रघटक—अचि इत्यादीनि सप्तम्यन्त-पदानि अर्थः = वाच्यः यस्य तादृशस्य—इस प्रकार सूत्रघटक सप्तम्यन्त पदों का बोधक यह 'तत्' शब्द है) न कि स्वरूप (तस्मिन्—इस आनुपूर्वी) का बोधक; क्योंकि ऐसी ही व्याख्या (की गयी) है और बहुत से लक्ष्यों का अनुरोध है । सप्तमी विभक्ति तो केवल सप्तम्यन्त पद ही 'तत्' शब्द के अर्थ होते हैं—इसका ज्ञान कराने के लिये है और उस (तत् पद) से बोध्य (अचि इत्यादि) के अर्थ के सामानाधिकरण्य (परस्पर विशेष्य = विशेषणभावादि रूप से अन्वय) के लिये है, इसका बोध कराने के लिये है । (तस्मिन् यह) शब्दरूपी (=आनुपूर्वीरूपी) अर्थवाला है (वाच्य अर्थ वाला नहीं है) इसलिये अनुकरणत्व का व्यवहार होता है, ऐसा समझना चाहिये ।

(पा० सू० ३।४।१०१) इत्यादौ च दृष्टत्वेन "तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ" (पा० सू० ४।३।२) इत्यादावेवास्य प्रवृत्तिः स्यात्, न तु 'अचि' इत्यादौ स्यादिति महदनिष्टम्, मूले लिखितस्य 'सप्तम्यन्तानामनुकरणमि' त्यस्य बहुवचनस्यासङ्गतिश्च स्यात्, न 'ह्येकारम्भं योगं प्रयोजयती' तिन्यायेन वैयर्थ्यापत्तिश्च स्यादत आह— **अचीत्या**दिति । अचीत्यादीनि सप्तम्यन्तानि पदानि अर्थो=वाच्यो यस्य तस्येत्यर्थः । स्वतन्त्रेति कथनेनानुकरणत्वस्य निरासः उक्तः । **व्याख्यानादिति** । "तस्मिन्नणि" इति सूत्रबोध्ययोः खञणोः प्रत्ययत्वात् ताभ्यां यस्मादविहितौ तदादेरित्युपस्थित्या "तस्मिन्नणि च पूर्वयोर्युष्माकास्माकौ" इति न्यासेनैवष्टसिद्धेऽस्य स्वतन्त्रस्य सामान्यसूत्रकरणस्य वैयर्थ्यापत्तिरित्येतन्मूलक-व्याख्यानादित्यर्थः । नन्वेवं सप्तमी व्यर्था, साधुत्वार्थं तु सुरेवोचित इत्यत आह—**सप्तमीति** । तेषामेव पाणिनिबुद्धिस्थत्वमित्यत्र तात्पर्यग्राहकत्वेन अनुवादिकेयं सप्तमीति भावः । यत्र सप्तम्यर्थबोधस्तत्रैव तदुपस्थितिरिति बोधनायापि सा ।' तस्मिन्' इति पदोत्तरम् 'इतेः' सत्त्वात् । अत एव "नेड् वशि" (पा० सू० ७।२।८) "तस्मान्नुडचि" (पा० सू० ६।३।७४) "ङः सि" [पा० सू० ८।३।२९] इत्यादौ नोपस्थितिः, एषु सप्तम्याः षष्ठ्यर्थत्वात् । अत एवाह—**तद्बोध्येति** । अन्यथा भिन्नविभक्तिकत्वात् तन्न स्यात् । एवञ्च 'निर्दिष्टे' इति विशेषणे इवात्रापि विशेष्येऽधिकरणत्वबोधार्थं सावश्यिकीति भावः । ननु मूले स्पष्टार्थं तथैव कुतो नाभिहितमत आह—**शब्दार्थेति** । अनुकार्यमात्रबोध-

---

विमर्श—यहाँ तात्पर्य यह है कि 'तस्मिन्' इसके स्वरूप=आनुपूर्वी का ग्रहण नहीं हो सकता क्योंकि 'स्वरूप का ग्रहण मान लेने पर तो जहाँ 'तस्मिन्' रहेगा वहीं इसकी उपस्थिति होगी । इसलिये 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' (पा० सू० ४।३।२) आदि सूत्रों में ही इस परिभाषा की उपस्थिति हो सकेगी और इस सूत्र से बोध्य तो खञ् तथा अण् ये दो प्रत्यय हैं । ये दोनों प्रत्यय जिससे विहित हैं तदादि की उपस्थिति होने से 'निर्दिष्टेऽणि च पूर्वयोर्युष्माकास्माकौ' इस प्रकार के न्यास से ही कार्य सम्भव था तब इस 'तस्मिन्नणि च० आदि स्वतन्त्र सूत्र को बनाने का क्या प्रयोजन ? व्यर्थ होकर यही ज्ञापित करता है कि यहाँ 'तस्मिन्' स्वरूपवाची नहीं है अपि तु–सूत्रघटक सप्तम्यन्त जो 'अचि' आदि पद उनसे बोध्य जो अर्थ=प्रत्याहार-घटक वर्ण—उनका प्रतिपादक है । वहाँ अव्यवहितत्व और पूर्वत्व का नियम करता है । यद्यपि इस स्थिति में साधुत्व के लिये 'सु' विभक्ति का प्रयोग किया जा सकता था । परन्तु सप्तमी का प्रयोग दो उद्देश्यों से है—(१) सप्तम्यन्त 'अचि' आदि ही 'तत्' शब्द के अर्थ हैं इसका बोध कराना और (२) उस सप्तम्यन्त से बोध्य अर्थ का 'निर्दिष्टे' इस सप्तम्यन्त के साथ सामानाधिकरण्य का ज्ञान कराना।

निःशब्दो नैरन्तर्यपरः। दिशिरुच्चारणक्रियः। अचि यणित्युक्ते व्यवहिते ऽव्यवहिते च सति प्राप्तमव्यवहिते एवेति, पूर्वस्य परस्य च प्राप्तं पूर्वस्यैवेति च नियम्यते। अव्यवहितस्येति तु फलितार्थकथनम्।

दिशिरुच्चारणेति। अत एव "जनपदे लुप्" (पा० सू० ४।२।८१) इत्यादौ न दोषः। नह्यर्थ उच्चारितो नापि शब्दस्य निरन्तर इति भावः। **अचि**

कत्वेनेत्यर्थः। अनुकार्यवृत्त्यानुपूर्वीसमानानुपूर्वीमत्त्वाभावेऽपि भागत्याग-लक्षणयाऽनुकरणत्व-व्यवहार इत्यर्थः। मूले **दिशिरिति**। एवञ्च सप्तम्यन्तार्थेऽव्यवहितोच्चारिते पूर्वस्य कार्यमिति वाच्योऽर्थः। एवञ्चास्यां 'आदेः परस्य" (पा० सू० १।१।५४) इत्यस्यां च परिभाषायां सप्तम्यन्तपञ्चम्यन्त-पदयोरर्थोपस्थितिर्लिङ्गम्। **अत एवेति।** सप्तम्यर्थतात्पर्यघटितेऽस्या उपस्थितेरेवेत्यर्थः। **न दोष** इति। तत्र चेदस्या उपस्थितिः स्यात्तदा जनपदरूपे अर्थे देशे लक्षणया तद्वाचिनि वा 'पूर्वस्य' इत्यर्थेऽनया परिभाषया ऽव्याप्त्यतिव्याप्तिरूपमनिष्टम् तन्न भवतीति भावः। एतदेव दर्शयति—**नहीति**। **अर्थः**=देशरूपः। **उच्चारितः**। असम्भवादिति भावः। **शब्दस्य**=प्रकृतेः। **निरन्तर** इति। तत्त्वञ्चाव्यवहितपूर्वपरान्यतरस्थत्वम्। नियमस्वरूपं प्रदर्शयति मूले—**अचि यणित्यादिना**। अत्रौपश्लेषिकाधिकारे सप्तमीति स्पष्टयति—**अचि उपश्लिष्टस्येति। इदमिति।** 'इको यणचि' इत्यत्रौपश्लेषिकमधिकरणमित्येयत्। नन्वव्यवहितार्थक-निर्दिष्ट-पदसत्त्वेन कथं फलितत्वमत आह—**सप्तम्यन्तार्थेति**। तथा चाव्यवहिते इत्युक्त्याजादेरिगाद्यव्यवहितत्वग्रहणेन तुल्यवित्तिवेद्यतया तेषामपि स तथैवेति ग्रहेण षष्ठ्यन्तार्थः फलित इति भावः।

[**मनो०** निर्दिष्टे—इस में] निर् शब्द नैरन्तर्य=व्यवधानाभाव का प्रतिपादक है। दिश् धातु का अर्थ उच्चारण क्रिया है। सूत्र की नियमार्थता सिद्ध करते हैं—इको यण् अचि (पा० सू० ६।१।७७) में अचि यण्=अच् में यण् होता है—यह कहने पर व्यवहित और अव्यवहित (दोनों प्रकार के अच्) में प्राप्त होने वाला (यण्) केवल अव्यवहित (व्यवधान से रहित अच्) में ही (होना चाहिये) और 'पूर्व (इक) का अथवा पर (इक्) का प्राप्त होने वाला (यण्) पूर्व (इक्) का अर्थात् अच् से पूर्ववर्त्ती इक् का ही यण् होना चाहिये—यह नियम किया जाता है। अव्यवहित इक् का—(यण् हो) यह तो फलितार्थ-कथन है। (अर्थात् अव्यवहित अच् परे रहते पूर्ववर्त्ती इक् का अव्यवहित होना स्वतः सिद्ध है।) [शब्द०] दिश् धातु का अर्थ उच्चारण क्रिया है—इसीलिये 'जनपदे लुप्' (पा० सू० ४।२।८१) आदि सूत्रों में दोष नहीं है क्योंकि जनपद=देशरूपी अर्थ उच्चारित नहीं है और न (प्रकृतिरूप) शब्द का निरन्तर=अव्यवहित अर्थ है।

परस्य यदिति । "तस्मादित्युत्तरस्यादेः" इति तु न सूत्रितम् । आदे-रित्यंशस्य सर्वादेशबाधकत्वापत्तेः । सिद्धान्ते तु परत्वात् सर्वादेशत्वं बाधक-

---

यणित्युक्ते इति । अचि उपश्लिष्टस्य यणित्युक्ते इत्यर्थः । इदं "संहितायाम्" (पा० सू० ६।१।७२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । फलितेति । सप्तम्यन्तार्थेऽव्य-वहिते षष्ठ्यन्तार्थोऽप्यव्यवहित एवेति भावः ।

'आदेः परस्य' (पा० सू० १।१५४) परस्य यद् विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम् । 'अलोऽन्त्यस्य' (पा० सू० १।१।५२) इत्यस्यापवादः—इति वृत्तिः । न सूत्रितमिति ।

विमर्श—प्रस्तुत सूत्र में 'निर्दिष्टे' इसके ग्रहण का फल यह है कि जहाँ लक्षणा आदि के विना शक्ति से ही शब्दतात्पर्यक निर्देश रहता है वहीं पर 'तस्मिन्निति०' इस परिभाषा की उपस्थिति होती है । अतः 'जनपदे लुप्' (पा० सू० ४।२।८१) और 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' (पा० सू० २।४।६३) आदि सूत्रों में सप्तमी का निर्देश रहने पर भी प्रस्तुत परिभाषा की उपस्थिति नहीं होती है क्योंकि इनमें सप्तमी का अर्थ शब्द नहीं अपितु भिन्न है अर्थात् देश और गोत्र आदि है । उनका उच्चारण सम्भव नहीं है क्योंकि उच्चारणकर्मता शब्द में ही रहती है, अर्थ में नहीं । लक्षणा का आश्रयण किया जाय, इसमें कोइ प्रमाण नहीं है । अतः मनोरमोक्त तात्पर्य ठीक है ।

(**शब्द०** अचि यण् इत्युक्ते इति) अच् में यण् हो—यह कहा जाने पर=अच् में उपश्लिष्ट=समीप में सम्बद्ध इक् का यण्—यह अर्थ है अर्थात् व्यवहितेऽव्य-वहिते,त्र अचि उपश्लिष्टस्य इकः प्राप्त यण्—इत्युक्ते—अव्यवहिते अचि एव यण्—इस नियम के लिये यह सूत्र है (इस प्रकार 'अचि' यहाँ औपश्लेषिक अधिकरण में सप्तमी है) यह 'संहितायाम्' (पा० सू० ६।१।७२) इस सूत्र पर भाष्य में स्पष्ट है । (अव्यवहित इक् का यण् होता है यह तो फलितार्थ कथन है—**शब्द०** फलितेति) सप्तम्यन्त के अर्थ=अच् आदि के अव्यवहित रहने पर (पूर्ववर्त्ती) षष्ठ्यन्त (इकः आदि का) अर्थ अव्यवहित ही रहता है (क्योंकि व्यवधान दो के बीच में ही होता है । एक जब व्यवधानरहित है तो दूसरे का व्यवधानरहित होना स्वतः सिद्ध है)—यह भाव है ।

[आदेः परस्य पा० सू० १।१।५४-परस्य यद्विहितं तत्तस्यादेर्बोध्यम्—इति वृत्तिः] [**मनो०**] परवर्ती के स्थान पर जिस कार्य का विधान किया जाता है, वह केवल उसके आदि वर्ण के स्थान पर ही, न कि सम्पूर्ण के स्थान पर, होता है । (तस्मादित्युत्तरस्य पा० सू० १।१।६७ और 'आदेः परस्य' पा० सू० १।१।५४ इन दोनों सूत्रों के स्थान पर) 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' ऐसा एक सूत्र नहीं बनाया गया, क्योंकि 'आदेः' यह अंश [अनेकाल् शित् सर्वस्य पा० सू० १।१।५५

मित्यनुपदमेव वक्ष्यति ॥

न सूत्रितमिति। "स्वं रूपम्" (पा०सू० १।१।६८) इत्यतः प्रागिति शेषः। तत्र "आदेः" (पा० सू० १।१।५४) इति पृथग्वाक्यं, तत्र' उत्तरस्य" इत्यनुवर्तते, स्थानषष्ठी चेयं, पञ्चमीनिर्देशेन यत्कार्यं तदुत्तरसम्बन्धि, उत्तरस्य

अत्र केचित् 'अनेकाल्' इति सूत्रात् पूर्वमिति शेष इति वदन्ति तन्न, एवं सति 'अनेकाल्' इति सूत्रस्य 'आदेः परस्य' इत्येतदपेक्षया परत्वं निर्बाधमिति वक्ष्यमाणस्य 'आदेः' इति उत्तरमूलग्रन्थविरोधापत्तेः। अतः उत्तर - ग्रंथसङ्गमनायाह—**स्वं रूपमिति।** अयं भावः—"तस्मादित्युत्तरस्य" "आदेः परस्य" इति सूत्रद्वयस्थाने एकमेव 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' इति सूत्रमस्तु। अत्र च सूत्रे वाक्यद्वयं बोध्यम्। एतदुपपादयति—**तत्रेति।** एकसूत्रे इत्यर्थः। **पृथगिति।** 'उत्तरस्य' इति व्यस्तपाठकल्पनया एतत्सम्भवात्। **तत्र**='आदेः' इत्यंशे इत्यर्थः। **इयमिति।** पृथग् भूते 'आदेः' इत्यंशेऽनुवर्तमानं यद् 'उत्तरस्य' इति पदं तत्र विद्यमाना षष्ठीत्यर्थः। एवमेव

से विहित] सर्वादेश का बाधक होने लगेगा। सिद्धान्ततः तो (अनेकाल् शित् पा०सू० १।१।५७ से विहित) सर्वादेश परवर्त्ती होने के कारण आदि के स्थान पर होने वाले इस आदेश का) बाधक है—यह अभी आगे कहा जायेगा।

विमर्श—अष्टाध्यायी-क्रम में–'आदेः परस्य' पा.सू. १।१।५४ है और 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' पा० सू० १।१।५५ है। इस प्रकार सर्वादेश परवर्त्ती होने के कारण 'आदि' आदेश का बाधक होता है। यदि 'तस्मादित्युत्तरस्य' के साथ इसे मिलाते हैं तो 'तस्मादित्युत्तरस्य' पा० सू० १।१।६७ के साथ 'आदेः' भी मिल जायगा और सर्वादेश-विधायक सूत्र से परवर्त्ती हो जायेगा। फलतः सर्वादेश का बाधक होने लगेगा। जबकि सिद्धान्तरूप में आद्यादेश की अपेक्षा सर्वादेश पर है, बाधक है। इस बाध्य-बाधक-भाव की व्यवस्था करने के लिये ही अलग-२ दो सूत्र बनाये गये हैं, एक सूत्र नहीं बनाया गया है।

[शब्द० न सूत्रितमिति—]'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' (पा० सू० १।१।६८) इससे पहले (तस्मादित्युत्तरस्यादेः पा० सू० १।१।६६ नहीं बनाया—यह) शेष है। ('तस्मादित्युत्तरस्य' पा० सू० १।१।६४ और 'आदेः परस्य' पा० सू० १।१।५४—इन दोनों सूत्रों के स्थान पर बनाये गये—'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' इसमें 'आदेः' यह पृथक् वाक्य है, इसमें 'उत्तरस्य' इसकी अनुवृत्ति होती है (क्योंकि अंशद्वय की कल्पना करने पर पूर्वांश से परांश में अनुवृत्ति और उसका कुछ भिन्न अर्थ मानना शास्त्रसम्मत है) और 'उत्तरस्य' यह स्थानषष्ठी है—(१) पञ्चमी विभक्ति के निर्देश से (विधीयमान) जो कार्य, वह उत्तरवर्ती से सम्बद्ध होता है; (२) किन्तु उत्तरवर्ती

स्थाने विधीयमानं चादेर्बोध्यमिति वाक्यार्थद्वयं, वाक्यभेदसामर्थ्याच्च "आदेः" इत्यंशं विनापि क्वचिदंशान्तरप्रवृत्तिः। "आदेः" इत्यंशस्त्वनुवृत्तोत्तरस्येत्यस्यावृत्त्या परत्वबोधकशब्देन यत्र विधानं तत्रैवेति "नित्यं ङितः" (पा० सू०

'आदेः' इत्यत्रापि स्थानषष्ठीति बोध्यम्.। क्रमेण वाक्यद्वयस्यार्थमाह—**पञ्चमीति**। यत्कार्यं विधीयमानमित्यादिः। **सम्बन्धीति**। स च स्थान्यादेशभावोऽव्यवहितपूर्वापरस्थत्वञ्चेति भावः। **द्वयमिति**। यथा सिद्धान्ते तथैवेति भावः। **चः**—त्वर्थे बोध्यः। **वाक्यभेदेति**। वाक्यभेदबोधकासमस्तन्यासकरण-सामर्थ्यादिति भावः। **अंशान्तरेति**। षष्ठ्यर्थांशरहितस्य 'तस्मादि' त्यंशस्य प्रवृत्तिरिति भावः। तेन 'गाङ्कुटादिभ्यः' 'अष्टाभ्य औश्' इत्यादौ नानुपपत्तिः। ननु यथा 'आदेः 'इत्यंशस्याप्रवृत्तावपि 'तस्मादि' त्यंशस्य क्वचित् प्रवृत्तिः स्वीक्रियते तथैव 'तस्मादि' त्यंशं विहाय 'आदेः' इत्यंस्यापि क्वचित् प्रवृत्त्यापत्त्या 'नित्यं ङितः' इत्यादौ दोष अत आह—**आदेरित्यंशस्त्विति**। **विधानमिति**। परस्य स्थाने इत्यादिः। **प्रवर्तते** इति। तत्र सूत्रे 'धातोः' इति विहित-पञ्चम्याश्रयणादिति भावः।

मूले—**सर्वादेशबाधकत्वापत्तेरिति**। अयं भावः—'तस्मादित्युत्तरस्य' (पा० सू० १।१।६७) इत्यनेन सह 'आदेः परस्य' (पा० सू० १।१।५४) इति योजयित्वा "तस्मादित्युत्तरस्यादेः" इति योगे स्वीकृते सति 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' [पा० सू० १।१।५५] इति सूत्रं पूर्ववर्त्ति जायते। एवञ्च तद्विहितं सर्वादेशं परत्वात् बाधित्वा 'आदेः' स्थाने एवादेशापत्तिरिति भावः। अतो न तादृशसूत्रस्वीकार उचित इति बोध्यम्।

के स्थान पर विधीयमान कार्य आदि के स्थान पर ही होता है—ये दो वाक्यार्थ बनते हैं। और वाक्यभेद (के बोधक असमस्त=समासरहित न्यास) करने के कारण 'आदेः' इस अंश को छोड़कर भी कहीं-कहीं 'तस्मात्' इस दूसरे अंश की प्रवृत्ति हो जाती है। (जैसे "गाङ्कुटादिभ्यः" पा० सू० १।२।१) इस सूत्र में केवल 'तस्मात्' इस अंश की प्रवृत्ति होती है 'आदेः' इस अंश की प्रवृत्ति नहीं होती है। परन्तु जिस प्रकार केवल 'तस्मात्' इस अंश की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार केवल 'आदेः' इस अंश की प्रवृत्ति नहीं होती है। इस लिये "नित्यं ङितः" आदि में कोई दोप नहीं आता है—इसी का प्रतिपादन किया जा रहा है—) [आदेः' इस अंश में] अनुवृत्त होने वाले "उत्तरस्य' इस अंश की आवृत्ति करने ने कारण—परत्वबोधक शब्द से [पर के स्थान में] जहाँ किसी कार्य का विधान होता है वहीं पर 'आदेः' यह अंश प्रवृत्त होता है। अतः 'नित्यं ङितः' (पा० सू० ३।४।९९) इत्यादि में 'आदेः' (यह

३।४।९९) इत्यादौ न प्रवर्त्तेत इति भावः। वक्ष्यतीति। न च "अनेकाल्" (पा० सू० १।१।५५) इत्यतः पूर्वमेव "तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य" (पा० सू० १।१।६६) "तस्मादित्युत्तरस्यादेः" इति सूत्रे कुतो न पठिते इति वाच्यम्, "आदेः" इत्यंशे "षष्ठी स्थाने" इत्यस्यासम्बन्धे "आज्जसेरसुक् (पा० सू० ७।१।५०) इत्यादावपि तस्य प्रवृत्त्यापत्तेः। सम्बन्धे, मध्ये "तस्मिन्निति"—"तस्मादिति" अनयोरपि तत्सम्बन्धे तयोरप्यागमविषयेऽप्रवृत्त्यापत्तेरिति दिक् ॥

ननु मूलोक्तदोषोऽपि स्थानभेदेन सूत्रपाठाद् वारयितु शक्य इत्याशयेन शङ्कां प्रदर्शयन्निराकरोति—**न चेत्यादिना**। **पठित** इति। तेन सर्वादेशविधायकस्य परत्वाद् बाधकत्वमुपपन्नं स्यादिति भावः। 'षष्ठी स्थाने' इत्यस्य सम्बन्धासम्बंधाभ्यां समाधत्ते—**आदेरिति। असम्बन्धे** इति। आदेरित्यत्र स्थानषष्ठ्या अस्वीकारे अति भावः। **तस्य**='आदेरित्यंशस्य। **प्रवृत्त्यापत्तेरिति** 'तस्मादित्युत्तरस्य आदेः' इति एकयोगे 'आदेः' इत्यंशे यदा 'स्थाने' इत्यस्य सम्बन्धो न स्वीक्रियते तदा 'आदेः स्थाने' इत्यर्थो न लभ्यते। तेन 'आज्जसेरसुक्' इत्यत्र आगमविषयेऽपि 'आदेः' इत्यंशस्य प्रवृत्त्यापत्तिः। तथा चादेर्जसवयवाकारस्यासुगागमः, अन्त्यसकारात् पूर्वमसुगागमापत्ति-

अंश) नहीं प्रवृ॰ होता है। (अतः धातु से परे ङित्-लकार-स्थानिक उत्तम पुरुष के वस् मस् के आदि का लोप नहीं होता है।) (**शब्द॰** वक्ष्यतीति—) [सिद्धान्त में तो पर होने से सर्वादेश इस आद्यादेश का वाधक है।] पूर्वपक्ष—'अनेकाल् शित् सर्वस्य' पा० सू० १।१।५५ इससे पहले ही 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' [पा० सू० १।१।६६] 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' [कल्पित पा० सू० १।१।५४] ये दो सूत्र क्यों नहीं बना दिये गये ? (समाधान)—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि 'आदेः' इस अंश में 'षष्ठी स्थाने योगा' पा० सू० १।१।४९ इसके 'स्थाने' इस अंश का सम्बन्ध नहीं हो सकने पर 'आज्जसेरसुक्' [पा० सू० ७।१।५०] इत्यादि में भी उस [आदेः अंश] की प्रवृत्ति होने लगेगी। [अर्थात् 'उत्तरस्य' में स्थानषष्ठी नहीं है, अपि तु अवयवावयविभाव आदि अर्थ में है। अतः 'स्थाने' इसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। तब तो 'आज्जसेरसुक्॰' आदि आगम-विधान में भी 'आदेः' अंश की प्रवृत्ति होना अपरिहार्य होगा] यदि 'आदेः' इस अंश में 'षष्ठी स्थाने' इसका सम्बन्ध स्वीकार करते हैं तो 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (पा० सू० १।१।६६) और 'तस्मादित्युत्तरस्य॰ इनमें भी 'षष्ठी स्थाने' का सम्बन्ध मानना होगा, इस स्थिति में आगम के विषय में इन दोनों की भी प्रवृत्ति न होने का प्रसङ्ग आयेगा।

रिति यावत्; आगमेऽकारोच्चारणसामर्थ्यात् "अतो गुणे" इति पररूपाभावे सकारोच्चारणसामर्थ्यात् संयोगान्तलोपाभावे चानिष्टरूपापत्तिः स्पष्टैव ।

सम्बन्धे इति। षष्ठी स्थाने इत्यस्य सम्बन्धे इत्यर्थः। **मध्ये** इति। पठितयोरिति शेषः ।**तत्सम्बन्धे** इति। षष्ठी स्थाने इत्यस्य सम्बन्धे इत्यर्थः। **तयोर**पीति। परिभाषयोरपीत्यर्थः। **आगम**विषय इति। "आने मुक्" "छे च" इति सूत्रविहितागमविषय इत्यर्थः। एवं विपरीतरूपापत्तिर्दुर्वारैवेति स्पष्टमेव। एतादृशन्यासपक्षे 'आदे' रित्यस्य 'यत्र स्थानषष्ठीनिर्दिष्टादेशस्य 'तस्माद्' इत्यनेन नियमस्तत्रैव प्रवृत्तिः स्यात्। एवञ्च "ज्यादादीयसः" इत्यत्र 'ज्याद्' इति पञ्चम्याः परस्येत्यध्याहारेणोपपत्त्या तत्र नियमाप्रवृत्तेः 'तस्मादि' त्यस्य तत्राप्रवृत्तौ 'आदेः' इत्यस्याप्यप्रवृत्त्यापत्तौ 'अलोऽन्त्यस्य' प्रवृत्तावनिष्टापत्तिरित्यपि बोध्यम्। सिद्धान्ते तु 'परस्य' इत्यध्याहारेऽपि परत्वविशिष्टबोधकशब्देन परस्यादेशविधानमस्त्येवेति 'आदेः' इत्यस्य प्रवृत्त्या न दोषोऽत एवाह —**दिगिति** भैरवीकाराः ।

विमर्श—शब्दरत्नकार का आशय यह है कि 'तस्मादित्युत्तरस्य-आदेः' इसमें 'उत्तरस्य' और 'आदेः' के साथ 'षष्ठी स्थानेयोगा' का सम्बन्ध नहीं होने पर अर्थात् इनकी षष्ठी को स्थानषष्ठी न मानने पर आवयवावयविभाव मानने पर 'आज्जसेरसुक्' (पा० सू० ७।१।५०) इसमें भी 'आदेः' इसका सम्बन्ध होने लगेगा क्योंकि अवर्ण अंग से उत्तर जस् को असुक् आगम होता है—यहाँ उत्तरवर्ती जस्=अस् के अकार को असुक् होने लगेगा। फलतः—ब्राह्मण+जस्=अस्, अ को असुक् करने पर ब्राह्मण+अ+अस्+स्—यह अनिष्ट रूप होने लगेगा। यहाँ अकारोच्चारणसामर्थ्य से 'अतो गुणे' (पा० सू० ६।१।९७) से 'अ' का न तो पररूप होगा और न 'संयोगान्तस्य लोपः' (पा० सू० ८।२।२३) से स् का लोप। इसलिये अनिष्टरूप दुर्वार होगा। इस दोष को दूर करने के लिये यदि 'आदेः' में स्थानषष्ठी मानकर 'आदि के स्थान में' आगम होता है और कित् होने से 'अ के बाद होगा ऐसा कहें तब तो इस कल्प्यमान सूत्र के मध्य (पहले) पठित 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (पा० सू० १।२।६६) और 'तस्मादित्युत्तरस्य' (पा० सू० इनमें भी 'षष्ठी स्थानेयोगा' का सम्बन्ध करना पड़ेगा। इससे—पूर्वस्य स्थाने, उत्तरस्य स्थाने—यह अर्थ होने लगेगा। दोनों की ही आगम के विषय में प्रवृत्ति नही हो सकेगी। इसका फल यह होगा कि 'छे च' (पा० सू० ६।१।७३) और 'ङः सिः धुट्' (पा० सू० ८।२।२९) आदि से विहित आगमों के विषय में इन परिभाषाओं की प्रवृत्ति न होने से पूर्व का तुक् और पर का धुट् आगम होता है, ऐसी व्यवस्था नहीं बन पायेगी और विपरीत रूप प्रसक्त होने लगेंगे। अतः पाणिनि द्वारा प्रस्तुत क्रम और सूत्रस्वरूप मानना ही दोषरहित है।

"अनेकाल्" (पा० सू० १।१।५५)।। शित उदाहरणम् "इदम इश्" [पा० सू० ६।३।३] इतः।

यत्तु—वृत्तिकृता "जश्शसोः शिः" (पा० सू० ७।१।२०) इत्युदाहृतं, तन्न। सर्वादेशतायाः प्राक् शित्त्वस्यैवालाभात्। तत्र हि डाणलोरिवानुपूर्व्या-दनेकाल्त्वेनैव सर्वादेशत्वमिति सिद्धान्तः।

डाणलोरिवेति। आदेशानां प्रत्ययाधिकारे पाठेऽपि वाक्यार्थबोधोत्तरमेव प्रत्ययत्वज्ञानेनोपदेशे णकारे इत्त्वाप्रवृत्तेस्तदुत्तरं लक्ष्ये प्रवृत्तिकाले इत्त्वेऽप्यने-काल्त्वाक्षतेरिति भावः।

अनेकाल्शित् सर्वस्य [पा० सू० १।१।५५] स्पष्टम्। अलोऽन्त्यसूत्रापवादः। "अष्टाभ्य औश्" (पा० सू० ७।१।२१) इत्यादौ "आदेः परस्य" (पा० सू० १।१।४५) इत्येतदपि परत्वादनेन बाध्यते—इति वृत्तिः। मूले आदिशब्देनेति।

(अनेकाल् शित् सर्वस्य पा० सू० १।१।२५) अनेक अल्वाला और शित्= शकार की इत्संज्ञावाला आदेश सम्पूर्ण के स्थान पर होता है। [मनो०, शित् का उदाहरण—'इदम इश्' (पा० सू० ५।३।३ से होने वाला इदम् का इश् आदेश है।) इतः [—इदम् शब्द से 'पञ्चम्यास्तसिल्' पा० सू० ५।३।७ सूत्र से तसिल्= तस् प्रत्यय करने पर 'इदम इश्' पा० सू० ५।३।३ से इदम् का इश् आदेश होता है। इसमें श् इत् है अतः यह सम्पूर्ण इदम् के स्थान पर होता है और इ+तस्= 'इतः' यह रूप बनता है।]

[काशिका] वृत्तिकार ने जो यह उदाहरण दिया है—'जश्शशोः शिः' [पा० ७।१।२०] वह ठीक नहीं है क्योंकि सर्वादेश होने के पहले वह शित् ही नहीं बनता है। [भाव यह है कि जब जस् और शस् के स्थान पर 'शि' आदेश हो जाता है तभी 'श' की इत्संज्ञा करने पर वह शित् माना जाता है। आदेश के पहले वह शित् नहीं होता है। क्योंकि उस 'शि' में डा तथा णल् के समान आनुपूर्वी [श् इ] से ही अनेकाल्त्व है, इसी से सर्वादेश होता है, यही सिद्धान्त है। [शित् होने से नहीं।]

[शब्द० डाणलोरिवेति—] आदेशों का पाठ भी, यद्यपि 'प्रत्ययः' (पा० सू० ३।१।१) इस अधिकार के अन्तर्गत ही है तो भी (षष्ठी स्थानेयोगा पा० सू० १।१।४९ इस शास्त्र की एकवाक्यता से) वाक्यार्थ का बोध हो जाने के बाद ही (आदेश में) प्रत्ययत्व का ज्ञान हो पाता है इस लिये [पाणिनिकर्तृक) उपदेशा-वस्था में णकार में इत्संज्ञा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिये प्रत्ययत्वज्ञान के अनन्तर इत्संज्ञा के सम्भव रहने पर भी लक्ष्य (भू+णल् आदि) में प्रवृत्ति के समय (अर्थात् उस प्रकार के वाक्यार्थबोधरूपी उसकी प्रवृत्ति के पहले) अने-काल्त्व रहता ही है, यह भाव है।

इत्यादाविति । आदिशब्देन "अतो भिस ऐस्" (पा० सू० ७।१।९) इति गृह्यते । परत्वादिति । अत एव "आदेः परस्य" (पा० सू० १।१।५४) इति पृथक् क्रियते इत्युक्तम् । "उत्तरस्य" इत्यंशस्तु औशैसोरपि प्रवर्तत एव ।

अष्टाभ्य औश्" (पा० सू० ७।१।२१) इत्यादाविति मूलस्थेन 'आदि' शब्देनेत्यर्थः । मूले अत एवेति । प्रकृतसूत्रेण 'आदेः परस्य' इत्यस्य बाधादेवेत्यर्थः ।

विमर्श— तात्पर्य यह है कि बभूव आदि में मूल प्रत्यय लिट्=तिप् है । इसके स्थान ही में 'परस्मैपदानाम्०'' (पा० सू० ३।४।८२) से णल् आदेश होता है । ये आदेश भी प्रत्ययः' (पा० सू० ३।१।१) इसी के अधिकार के अन्तर्गत पठित हैं तथापि 'षष्ठी स्थानेयोगा' (पा० सू० १।१।४९) इस शास्त्र की जब 'परस्मैपदानां णल०' आदि शास्त्रों के साथ वाक्यैकवाक्यता होती है तभी इनमें प्रत्ययत्व का ज्ञान होता है । इसलिये उपदेशकालिक णल् में ण् आदि की इत्संज्ञा नहीं होती है । इस लिये 'बभूव' आदि लक्ष्यों में संस्कार के समय जो वाक्यार्थ-बोध होता है, इसके पहले अनेकाल्त्व रहता है । इस लिये सर्वादेश में कोई बाधा नहीं है । 'डा' के विषय में भी यही स्थिति है । ठीक यही अवस्था 'शि' आदेश की है । यहां भी अनेकाल् मान कर ही सर्वादेश करना उचित है शित् मान कर नहीं । शित् का उदाहरण 'इश्' यह प्रत्यय ही है । इसमें 'श्' की इत्संज्ञा के कारण पूरे इदम् का 'इश्' आदेश होता है ।

[सि० कौ० अलोऽन्त्यसूत्रापवादः । 'अष्टाभ्यः औश्' [पा० सू० ७।१।२१ इत्यादौ 'आदेः परस्य' [पा० सू० १।१।५४] इत्येतदपि परत्वादनेन बाध्यते ।] [**मनो०** इत्यादाविति] । [आशय यह है कि 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' [पा० सू० १।१।५५] यह सूत्र 'अष्टाभ्यः औश्' से होने वाले औश् आदेश के प्रसंग में परवर्त्ती होने के कारण 'आदेः परस्य' (पा० सू० १।१।५४) इस का भी बाध कर लेता है । अतः सम्पूर्ण जस् का औश् आदेश होता है । सिद्धान्त-कौमुदी वृत्ति में जो] 'आदि' शब्द है उससे 'अतो भिस ऐस्' [पा० सू० ७।१।९] इसका ज्ञान करना चाहिए । [यहाँ भी भिस् के आदि के स्थान पर ऐस् आदेश न होकर सम्पूर्ण के स्थान पर ही होता है ।]

[**मनो०** परत्वादिति ।] पर होने के कारण प्रस्तुत सूत्र 'आदेः परस्य' का अपवाद है । इसीलिये 'आदेः परस्य' (पा०सू० १।१।५५) यह सूत्र अलग बनाया गया ['तस्मादित्युत्तरस्यादेः' यह एक सूत्र नहीं बनाया गया ।] 'तस्मादित्युत्तरस्य' इसका 'उत्तरस्य' यह अंश [अर्थात् उत्तरवर्त्ती के स्थान पर आदेश हो यह] तो [जस् के स्थान पर होने वाले] औश् तथा [भिस् के स्थान पर होने वाले] ऐस् के विषय में भी प्रवृत्त होता ही है ।

यत्तु—प्राचा "आदेः" इति सूत्रं विवृण्वता पञ्चमीनिर्देशेनेत्याद्युक्तं, तदसम्बद्धमिति स्पष्टमेव।

प्रवर्तत एवेति। उपपादितमेतत्।

वाक्यार्थबोधोत्तरमिति। 'षष्ठी स्थाने' इति शास्त्रैकवाक्यतया वाक्यार्थबोधोत्तरमित्यर्थः। **उपदेशे इति।** अज्ञातानुबन्धरहितणलादिस्वरूपज्ञापक-पाणिन्याद्युच्चारणाभिव्यक्त्यव्यवहितकाले तादृशवाक्यार्थबोधसमये इत्यर्थः। **इत्त्वाप्रवृत्तेरिति।** वाक्यार्थबोधात् प्राक् प्रत्ययत्वज्ञानाभावादित्यर्थः। **तदुत्तरम्**=प्रत्ययत्वज्ञानोत्तरमित्यर्थः। **लक्ष्ये प्रवृत्तिकाले इति।** 'बभूव' इत्यादि लक्ष्यसंस्कारकाले यो वाक्यार्थबोधस्तस्योत्पत्तिकाले इत्यर्थः। **इत्त्वेऽपीति।** अपिना लोपस्य संग्रहः। एतच्च दीक्षिताभिप्रायवर्णनम्। वस्तुतस्तु नानुबन्धकृतमसारूप्यमित्यत्र क-प्रत्यय-अण्-प्रत्यययोरसारूप्यप्रयुक्त-विकल्पवारणायानुबन्धपदस्य इत्संज्ञायोग्यार्थकत्वस्वीकारेण 'नानुबन्धकृतमनेकालत्वमि' त्यत्रापि अनुबन्धपदस्य "अन्यायश्चानेकार्थत्वम्' इति न्यायेन तदर्थकत्वस्वीकारावश्यकतया तया परिभाषयाऽनेकाल्त्वनिषेधात् वृत्तिकृतोक्तं "जश्शसोः शिः" इत्युदाहरणमपि सम्यगेव। सूत्रे शित् पदमपि इत्संज्ञायोग्य-शकारवत्परमेव। डाणलोरिवानुपूर्व्यात् इति तु डा आ ण अ इति आकार-आकारोत्तरमाकार-अकारयोः प्रश्लेषेणानुपूर्व्यादित्यर्थपरमिति न तद्विरोध इति दिक्। **उपपादितमेतदिति।** 'आदेः परस्य' इति सूत्रस्य व्याख्यानावसरे 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' इति तु न सूत्रितमिति' इति मनोरमाग्रन्थस्य व्याख्यायां शब्दरत्ने उपपादितमिति तत्रैव द्रष्टव्यमिति भावः।

[शब्द० प्रवर्तत एव—] इसका उपपादन किया जा चुका है। [अभी पूर्व सूत्र में 'तस्मादित्युत्तरस्यादेः' इति तु न सूत्रितम्' इस मनोरमा के शब्दरत्न में "तत्र— आदेः' इति पृथक् वाक्यम्, । तत्र 'उत्तरस्य' इत्यनुवर्तते । स्थानषष्ठी चेयम्'—आदि की व्याख्या देखनी चाहिये।]

(मनो०) किसी प्राचीन आचार्य ने—'आदेः' इसकी व्याख्या करते हुए 'पञ्चमी-निर्देश से किया जाने वाला कार्य पर के स्थान में होता है—इत्यादि जो कहा है, वह [यहां] असम्बद्ध है, यह स्पष्ट ही है। (तात्पर्य यह है कि 'आदेः परस्य' पा० सू० १।१।५४) यह परिभाषा सूत्र है और 'तस्मादित्युत्तरस्य' [पा०सू० १।१।६७] यह भी परिभाषा सूत्र है। इनका परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि ये सभी विधिसूत्र के ही उपकारक होते हैं। परस्पर उपकार्योपकारकभाव की कल्पना प्रमादग्रस्त है।)

(सि० कौ० परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः—परिभाषा है। [१] पर, [२] नित्य, [३] अन्तरङ्ग, [४] अपवाद—इनमें उत्तरोतर नियम पूर्व-पूर्व नियम से बलवत्तर होते हैं—]

परनित्येति। परान्नित्यं यथा—तुदति, रुणद्धि। परमपि लघूपधगुणं बाधित्वा शश्नमौ। तथा रन्धेर्णिच् रन्धयति, परामप्युपधावृद्धिं बाधित्वा "रधिजभोः" (पा० सू० ७।१।६१) इति नुम्। न च सोऽपि शब्दान्तर-प्राप्त्याऽनित्य इति वाच्यम्,

---

'परनित्यान्तरङ्गापवादनामुत्तरोत्तरं बलीयः' इति परिभाषां व्याख्यातुमुप-क्रमते—परादिति। अयं भावः—पर-नित्य-अन्तरङ्ग-अपवाद-शास्त्राणां मध्ये पूर्व-पूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरं शास्त्रं बलीयः=बलवत्तरं भवतीति परिभाषार्थः। एतदुदा-हरणमुखेन विवृणोति—'तुदति' इति लक्ष्ये 'पुगन्तलघूपधस्य च' (पा० सू० ७।३।८६) इति सूत्रेण विधीयमानं परमपि गुणं बाधित्वा 'तुदादिभ्यः शः' (पा० सू० ३।१।७७) इति नित्यत्वात् शः विकरण एव विधीयते। विरोधिनि गुणे कृतेऽकृते च शस्य प्राप्तिरिति शो विकरणो नित्यः, गुणस्तु न नित्यः, शे कृते 'क्ङिति च' इति निषेधात्। कृताकृतप्रसङ्गित्वं नित्यलक्षणमिति बोध्यम्। एवमेव रुणद्धि-इत्यत्रापि लघूपधगुणं परमपि बाधित्वा नित्यत्वात् 'रुधादिभ्यः श्नम्' (पा० सू० ३।१।७८) इति श्नमेव भवति। तथा 'रध हिंसासंराद्ध्योः' इति रध धातोर्णिचि कृते 'अत उपधायाः' (पा० सू० ७।२।११६) इति प्राप्तां परामपि वृद्धिं बाधित्वा 'रधिजभोरचि' (पा० सू० ७।१।६१) इति सूत्रविहितो नित्यो नुम् भवति। तेन रन्धयति इति सिद्ध्यति। मूले—**सोऽपीति**। अपिना 'तुदति' इत्यस्य समुच्चयः।

[**मनो०** परनित्येति] परशास्त्र से नित्य शास्त्र बलवत्तर होता है—इसका उदाहरण है, जैसे—तुदति, रुणद्धि। (तुद्+श्=अ+ति, रुध्+ति=रु+श्नम्=न्+ध्+ति—इनमें श तथा श्नम् इन विकरणों के विधायक सूत्रों की अपेक्षा) 'पुगन्तलघूपधस्य च' [पा० सू० ७।३।८६] यह शास्त्र पर है तो भी इस गुण की प्रवृत्ति न हो कर इसका बाध करके पहले विकरण ही होते हैं, क्योंकि ये कृताकृतप्रसङ्गी होने से नित्य हैं। अतः बाद में उपधा-गुण सम्भव न होने से नहीं होता है।) तथा रध् धातु से णिच्=इ प्रत्यय करने पर 'रन्धयति' यह बनता है। इसमें 'अत उपधायाः' (पा० सू० ७।२।११६ से होने वाली परवर्त्ती भी उपधावृद्धि का बाध करके 'रधिजभोरचि' [पा० सू० ७।१।६१] सूत्र से नुम् ही पहले होता है [क्योंकि वृद्धि न करने पर और कर देने पर दोनों ही स्थितियों में नुम् की प्राप्ति होने से यह नित्य है। किन्तु नुम्=न् आगम कर देने पर उपधा में अ नहीं मिल पाता है। अतः वृद्धि सम्भव नहीं है।]

[पूर्वपक्ष—] वह [श, श्नम्] भी (नुम् के समान) अनित्य है क्योंकि शब्दा-न्तर से प्राप्त होता है। [भाव यह है कि पहले तुद् तथा रुध् से श और श्नम् प्राप्त होते हैं बाद में उपधागुण कर देने पर तोद् रोध् से प्राप्त होने लगते हैं। यही स्थिति

कृताकृतप्रसङ्गमात्रेणापि क्वचिन्नित्यताभ्युपगमात् ।

शब्दान्तरप्राप्त्येति । यद्व्यक्तिसम्बन्धितया पूर्वं प्रवृत्तिस्तद्व्यक्तिसम्बन्धितयैव पुनः प्रवृत्तौ कृताकृतप्रसङ्गित्वं प्रसिद्धमिति भावः । **कृताकृतेति** । व्यक्तिविशेषानाश्रयणेनेत्यर्थः । "वृद्ध्यौत्त्वतृज्वद्भाव" इत्यस्य त्वत्र न प्राप्तिः । साहचर्येण विभक्तिनिमित्तानामेव वृद्ध्यादीनां तत्र ग्रहणात् ।

प्रवृत्तिरिति । शास्त्रस्य कार्यस्य वेति शेषः । **क्वचिदिति** । तुदतीत्यादावित्यर्थः, न सर्वत्रेति भावः । अक्लृप्ताभावकस्याभावकल्पनापेक्षया क्लृप्ताभावकस्यैव तत्कल्पनमुचितमिति नित्यस्य बलवत्त्वे बीजमिति भावः । ननु व्यक्तिविशेषचिन्तायामप्यत्र न बाधकम्, वार्तिकेन निर्वाहादित्याशङ्क्यां निराकरोति—**वृद्ध्यौत्त्वेति** । **अत्र** = रन्धयतीत्यादौ । **साहचर्येणेति** । औत्वादिभिर्मिथः साहचर्येणेत्यर्थः । **तत्र** =वार्तिके । अत्र तु न तथेति भावः । ननु साहचर्यस्यानित्यत्वेन वार्तिकेन र॰ [illegible]तीत्यस्य सिद्धावत्र नित्यत्वाश्रयणवैयर्थ्यमत आह—**नित्यत्वनेति** । उक्तरीत्येति भावः । वार्तिककृदुक्तत्वाद् वाचनिकत्वम् । **आश्रयणे** इति । रन्धयतीत्यादावित्यर्थः । **दिगिति** । दिगर्थस्तु क्वचिदिष्टानुरोधेन पूर्वशास्त्रे स्वरितत्वप्रतिज्ञया स्वरितेनाधिकं कार्य-

---

रध्+णिच् में है । पहले वृद्धि करते हैं तो राध्+से नुम् प्राप्त होता है । अतः भिन्न भिन्न शब्द रूपों से प्राप्त होने के कारण श, श्नम्, नुम् भी अनित्य हैं । यह शब्दरत्नकार भी कह रहे हैं ।] [**शब्द०** शब्दान्तरप्राप्त्येति] जिस शब्दरूपी [व्यक्ति] को मान कर पहले प्रवृत्ति होती है उसी शब्दरूप [व्यक्ति] को ही मान कर पुनः प्रवृत्ति होने में कृताकृतप्रसङ्गी होना प्रसिद्ध है [यहां ऐसा नहीं है शब्दरूप का भेद हो जाता है,] यह भाव है । —[**मनो०**] ऐसा नहीं कहना चाहिये, कारण यह है कि कहीं कहीं कृताकृत-प्रसङ्ग-मात्र से भी नित्यता मान ली जाती है । [अर्थात् उपधागुण और उपधावृद्धि कर देने पर भी श, श्नम्, नुम् का प्रसङ्ग रहता ही है अतः इन्हें नित्य ही मानना चाहिये ।] [**शब्द०** कृताकृतेति—] शब्दरूपी व्यक्तिविशेष का आश्रयण किये बिना [भी जिस शास्त्र की प्रवृत्ति हो सकती है । उसे भी नित्य मानना चाहिये । अतः श, श्नम् और नुम् की नित्यता में बाधा नहीं है, यद्यपि यहां ऐसी नित्यता मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि पूर्व-विप्रतिषेध से ही वृद्धिवारण सम्भव है । अतः यह नित्य का उदाहरण नहीं मानना चाहिए तथापि] यहां 'वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन' (वृद्धि आदि की अपेक्षा नुम् बलवान् है—इस नियम की यहां 'रन्धयति' में प्राप्ति नहीं है क्योंकि औत्व आदि के साहचर्य के कारण सुप्-विभक्ति निमित्तक ही वृद्धि आदि कार्यों का ग्रहण इस

अन्तरङ्गं यथा—उभये देवमनुष्याः। इह "प्रथमचरम" (पा० सू० १।१।३३) इति परमपि विकल्पं बाधित्वा "सर्वादीनि" (पा० सू० १।१।२७) इति सर्वनामसञ्ज्ञा, विभक्तिनिरपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात्।

नित्यत्वेनैव सिद्धे वाचनिकपूर्वविप्रतिषेधाश्रयणे फलाभावाच्चेति दिक्।

अन्तरङ्गत्वादिति। भाष्ये त्वयच् प्रत्ययान्तरं न तु तयबादेशः, उभयी-

---

मित्यर्थाङ्गीकारेण - विप्रतिषेधसूत्रस्थ परशब्दस्येष्टवाचितया वा सकलेष्टनिर्वाहे पूर्वेण तेनैव प्रकृतेऽनित्यत्वेऽपीष्टसिद्धेरिति न तदस्योदाहरणम्, किन्तु 'तुदती' त्येवेत्याहुः। मूले—**अन्तरङ्ग**मिति। परादन्तरङ्गं बलवदित्यस्योदाहृणमित्यर्थः। मूलस्थम् **'अन्तरङ्गत्वादि'** ति कथनं तु 'तयपः स्थानेऽयजादेशः' इति मतेनान्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलीयः' इति परिभाषान्तरमिति पक्षे च बोध्यम्। वस्तुतस्तु भाष्यकारीयरीत्या न तस्य प्राप्तिरित्याशयेनाह—**भाष्ये त्वयजिति। मात्रजिति** 'टिड्ढाणञिति' सूत्रे मात्रजिति न प्रत्ययः, अपि तु 'प्रमाणे द्वयसज् - दघ्नञ्मात्रचः' (पा० सू० ५।२।३७) इति सूत्रे मात्रशब्दादारभ्य "द्वित्रिभ्यां तयस्यायज् वा" (पा० सू०

वार्त्तिक में है। साथ ही (नुम् के) नित्य होने से ही 'रन्धयति' रूप की सिद्धि सम्भव रहने पर वाचनिक (वार्त्तिकार द्वारा कल्पित) पूर्वविप्रतिषेध का आश्रयण करने में कोई फल नहीं है।

विमर्श—शब्दरत्नकार का आशय यह है कि रध्+णिच् इस अवस्था में नुम् और उपधावृद्धि दोनों की प्राप्ति है। परन्तु साहचर्य के कारण सुप्-विभक्ति-सम्बन्धी वृद्धि में ही उस वार्त्तिक की प्रवृत्ति माननी चाहिये। यदि इसे भी न माना जाय तो भी वार्त्तिक-कल्पित पूर्वविप्रतिषेध को मानने की अपेक्षा नित्यत्व के बल पर ही नुम् पहले करना तर्कसंगत है।

[**मनो० पर से**] अन्तरङ्ग (बलवत्तर होता है,) जैसे—उभये देवमनुष्याः—यहाँ उभय शब्द से 'प्रथम-चरम-तयाल्पार्ध - कतिपय - नेमाश्च' [पा० सू० १।१।३३] इससे प्राप्त होने वाले परवर्त्ती भी विकल्प [वैकल्पिक सर्वनाम संज्ञा] का बाध करके 'सर्वादीनि सर्वनामानि' [पा० सू० १।१।२७] से सर्वनाम संज्ञा होती है क्योंकि इस सूत्र से की जाने वाली सर्वनाम संज्ञा किसी विभक्तिविशेष की अपेक्षा नहीं करती है, अतः अन्तरङ्ग है। (**शब्द०**) निरपेक्षत्वरूप अन्तरङ्ग मान कर नित्य सर्वनाम संज्ञा होती है, वैकल्पिक नहीं। भाष्य में तो (यह सिद्ध किया गया है कि यह) अयच् एक स्वतन्त्र प्रत्यय है न कि तयप् के स्थान पर अयच् आदेश हुआ है। अतः 'उभय' शब्द में विकल्प की प्राप्ति नहीं है। (अयच् को स्वतन्त्र प्रत्यय मान लेने पर तयप् मानकर "टिड्ढाणञ्० पा० सू० ४।१।१५ से

अपवादोऽपि यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण बाध्यत एव ।

त्यत्र ङीप्तु मात्रजिति प्रत्याहाराश्रयणेन साधितः। एवंचोभयशब्दे विकल्पस्य प्राप्तिरेव नेति उक्तम्। अन्तरङ्गस्य बलवत्त्वे ज्ञापकमन्यत्र प्रपञ्चितम्।

५।२।४३) इति अयचश्चकारमादाय मात्रजिति प्रत्याहारो बोध्यः, "न लोकाव्यय०" (पा० सू० २।३।६९) इत्यत्र तृन्नितिवदिति भावः। **एवञ्चेति**। अन्यथेष्टसिद्ध्या प्रत्ययान्तरत्वे चेत्यर्थः। **उक्तमिति**। पूर्वोक्तेन 'भाष्ये इत्यनेनान्वितं बोध्यम्। एवञ्चैकैव परिभाषाऽस्तीत्याह—**अन्तरङ्गस्येति**। द्विविधस्याप्यन्तरङ्गस्येत्यर्थः। **ज्ञापकमिति**। युगपत्प्राप्तिविषयकस्य 'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोरन्तरङ्गं बलीयः' इति वचनस्य बोधकमित्यर्थः। **अन्यत्रेति**। परिभाषेन्दुशेखरादावित्यर्थः। **प्रपञ्चितमिति**। तत्र स्पष्टतरत्वादत्राकथनमिति भावः। समानकाले प्राप्तयोर्द्वयोर्मध्ये बहिरङ्गस्यासिद्धत्वे भाष्योक्तलौकिकन्याय एव मूलम्। तत्र हि—"प्रत्यङ्गवर्ती लोको दृश्यते—मनुष्योऽयं प्रातरुत्थाय प्रथमं शरीरकार्याणि करोति ततः सुहृदाम्, ततः सम्बन्धिनाम् "इति अचः परस्मिन्"० [भ० गा० १।१।५७] इति भाष्ये उक्तम्। एतेन प्रथमोपस्थितनिमित्तकानां प्रथमोपस्थितत्वरूपान्तरङ्गस्य बलवत्त्वमुक्तम्। अत्रैव 'ओमाङोश्च" (पा० सू० ६।१।९५) इति आङ्ग्रहणं मानम्। यत्र बहिरङ्गं प्रवृत्तं ततोऽन्तरङ्गे कर्त्तव्ये बहिरङ्गस्यासिद्धत्वे मानन्तु "वाह ऊठ्" (पा० सू० ६।४।१३२) इति सूत्रे ऊठ्ग्रहणम्। नन्वपवादस्य अन्तरङ्गापेक्षया सर्वदा बलवत्वेऽनिष्टापत्तिरत आह मूले—**अपवादोऽपीति**। अयं भावः—अपवादस्य बलवत्वे निरवकाशत्वं बीजम्। अन्यत्र लक्ष्ये चरितार्थे सति बलवत्वबीजस्याभावान्नापवादस्य

जो ङीप् होता था वह अब नहीं हो सकेगा, ऐसी शंका का समाधान यह है कि) 'उभयी' यहाँ पर ङीप् तो 'मात्रच्' इसे (प्रत्यय नहीं अपितु) प्रत्याहार मान कर भाष्य में सिद्ध किया गया है। [भाव यह है कि 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः [पा० सू० ५।२।२७] इस सूत्र के 'मात्र' से लेकर 'द्वित्रिभ्यां तयास्याज् वा' (पा० सू० ५।२।४३) के 'च्' तक मात्रच् प्रत्याहार होता है। इनके मध्यवर्त्ती सभी प्रत्यय इसी से गृहीत हो जाते हैं। अयच् भी इसके अन्तर्गत है। अतः 'टिड्ढाणञ्०' सूत्र से ङीप् होंने में कोई बाधा नहीं है।] इस प्रकार [अयच् को स्वतन्त्र मानकर सभी कार्य सिद्ध हो जाने पर] 'उभय' शब्द में 'प्रथम-चरम०' (पा० सू० १।१।२७) से विकल्प की प्राप्ति ही नहीं है—ऐसा [भाष्य में] कहा गया है। अन्तरङ्ग बलवान होता है--इसमें ज्ञापक [ऊठ् ग्रहण, लोकन्याय और 'ओमाङोश्च' पा० सू० ५।१।९५ में आङ्ग्रहण) अन्यत्र (परिभाषेन्दुशेखर में) प्रपञ्चित= विस्तरेण वर्णित किया गया है। [मनो० अपवादोऽपीति—] अपवाद शास्त्र भी यदि किसी अन्य लक्ष्य में चरितार्थ हो चुका रहता है [उसकी प्रवृत्ति हो चुकी रहती

तद्यथा—"अयजे इन्द्रं, ग्रामे इह, सर्वे इत्थम्" अत्रान्तरङ्गेन गुणेन सवर्णदीर्घो बाध्यते। स च यद्यपि यण्गुणयोरपवादस्तथाऽपि समानाश्रये चरितार्थः। तथा च वार्तिकम् "इण्ङिशीनामाद्गुणः सवर्णदीर्घत्वात्" इति॥

बाध्यत एवेति। निरवकाशत्वरूपस्य बलवत्त्वबीजस्याभावात्।

बाधकत्वम्। यथा—अयज+इ+इन्द्रमित्यादौ वाक्यसंस्कारपक्षे एकपदघटकवर्णद्वयनिमित्तकमन्तरङ्गम् "आद्गुणः" (पा० सू० ६।१।८७) इति शास्त्रम्, पदद्वयघटकवर्णद्वयनिमित्तकं बहिरङ्गम् "अकः सवर्णे दीर्घः" (पा० सू० ६।१।१०१) इत्यपवादशास्त्रम्। अत्रान्तरङ्गो गुणोऽपवादमपि सवर्णदीर्घं बाधते, निरवकाशतया उत्सर्गस्य बाधेन चरितार्थेऽपवादेऽन्तरङ्गपरिभाषाबाधे मानाभावेनाऽन्तरङ्गतया उत्सर्ग एवापवादं बाधते इति बोध्यम्। **सवर्णदीर्घत्वादिति।** सवर्णदीर्घं प्रबाध्य

है] तो अन्तरङ्ग शास्त्रद्वारा उसका बाध होता ही है। [**शब्द०** बाध्यत एवेति] क्योंकि [अपवाद का] निरवकाश=व्यर्थ होना रूपी बलवत्त्वबीज ही नहीं रहता है। (अर्थात् अपवाद शास्त्र इसीलिये बलवान् होता है चूँकि वह निरवकाश=कहीं भी प्रवृत्त न होने वाला रहता है। यदि किसी भी अन्य लक्ष्य में अपवाद की प्रवृत्ति हो चुकी रहती है तो वह चरितार्थ हो जाता है, निरवकाश नहीं रहता है। अतः अन्तरंग शास्त्र ही अपवाद का बाध करता है।) [**मनो०—**] जैसे—अयज+इ+इन्द्रम्, ग्राम+इ+इह, सर्व+इ+इत्थम्—इनमें (एक-पदघटक दो वर्णों अर्थात् अ+इ को मान कर होने वाले] अन्तरंग (आद् गुणः पा० सू० ६।१।८७ से विहित) गुण के द्वारा (अकः सवर्णे दीर्घः पा० सू० ६।१।१०१ से विहित) सवर्णदीर्घ का बाध कर दिया जाता है। (क्योंकि इनसे भिन्न लक्ष्यों में सवर्णदीर्घ चरितार्थ हो चुका है। अतः अपवाद भी सवर्णदीर्घ गुण का बाध नहीं करता है। इसके विपरीत गुण ही होता है। क्योंकि गुण के लिये एक ही पद के दो वर्णों अ+इ की अपेक्षा होने से अन्तरंगत्व है और सवर्णदीर्घ को दो पदों के दो सवर्ण अक्षरों की अपेक्षा होने से दीर्घ वहिरंग है।) वह सवर्णदीर्घ यद्यपि यण् और गुण दोनों का अपवाद है तथापि समान आश्रय [सवर्ण अक्] में चरितार्थ हो चुका है। [निरवकाश नहीं है अतः सवर्णदीर्घ का ही बाध होता है] जैसा कि वार्तिक है—'इट्, ङि, और शि का 'आद् गुणः' से गुण होता है, सवर्णदीर्घ होने से प्रयोजन है।'

विमर्श—'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' [पा० सू० १।४।२] सूत्र भाष्य में 'इट् ङिशीनामाद्गुणः सवर्णदीर्घत्वात्' यह वार्तिक है। इसका अर्थ यह है कि 'आत्मनेपद उत्तम पुरुष एकवचन का इट् प्रत्यय, सप्तमी एकवचन का ङि प्रत्यय और जस् के स्थान पर होने वाला शी आदेश—इन्हें करने पर वाक्यसंस्कारपक्ष में [१] अयज

असिद्धमिति । **तेन पचावेदमित्यादावेत ऐत्वं न ।**

तेनेति । पूर्वा तु अन्तरङ्गबहिरङ्गयोर्युगपत्प्राप्तावेवेति भावः ।

गुणः प्रवर्त्तत इति भावः ।

'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषायाः फलमाह—**तेनेति** । अन्तरङ्गे कर्तव्ये जातमपि बहिरङ्गमसिद्धमित्यर्थक-परिभाषान्तराश्रयेणेनेत्यर्थः । अत एव पचधातोर्लोटि उत्तमपुरुषद्विवचने 'पचाव' इत्यस्य 'इदम्' इत्यनेन गुणरूपैकादेशे 'पचावेदम्' इत्यत्र "एत ऐ" (पा० सू० ३।४।९३) इत्यनेन एकारस्यैकारो न भवति, 'पदद्वयवर्ण-निमित्तकत्वेन बहिरङ्गस्य गुणस्यासिद्धत्वात् । **पूर्वा त्विति** । परनित्यान्तरङ्गेति मूलोक्ता परिभाषा त्वित्यर्थः । अयं भावः—यदा अन्तरंगबहिरंगयोरेककालावच्छेदेन प्राप्तिस्तदा पूर्वोक्ता परिभाषा प्रवर्तते । यदा तु जातस्य बहिरंगस्यासिद्धत्वं कर्त्तव्यं तदेयं प्रवर्तत इति बोध्यम् ।

+इ+इन्द्रम्, [२] ग्राम+इ+इह [३] सर्व+इ+इत्थम् इनमें गुण और सवर्णदीर्घ दोनों प्राप्त होते हैं परन्तु परवर्त्ती होने से सवर्णदीर्घ होना चाहिये। इसका निराकरण करते हुये यह कहा गया है कि गुण एक ही पद के दो वर्णों (अ+इ) को मानकर होता है अतः अन्तरंग है। और सवर्णदीर्घ के लिये दूसरे पद के सवर्ण अक् (इ) की आवश्यकता है अतः वह दीर्घ बहिरंग हो जाता है, इस लिये अन्तरंग गुण की कर्त्तव्यता में सवर्णदीर्घ असिद्ध हो जाता है गुण ही होता है। इस प्रकार अपवाद की बाध्यता स्पष्टतया स्वीकृत है।

[सि० कौ० परिभाषा का अर्थ—अन्तरंग शास्त्र की कर्तव्यता में बहिरंग शास्त्र असिद्ध होता है। **मनो०** असिद्धमिति] इसी कारण 'पचावेदम्' इत्यादि में 'एत ऐ' (पा० सू० ३।४।९३) सूत्र से 'ए' का 'ऐ' नहीं होता है। [**शब्द०** तेनेति। इससे पहले वाली परिभाषा—'परनित्यान्तरङ्ग' तो वहीं प्रवृत्त होती है जहाँ अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग दोनों शास्त्रों की एक ही साथ प्राप्ति रहती है, यह भाव है।

विमर्श—यहाँ तात्पर्य यह है कि पच् धातु के परस्मैपद उत्तमपुरुष द्विवचन लोट् लकार में 'पचाव' यह होता है इसके साथ इदम् की सन्धि करने पर पचाव+इदम्=पचावेदम् यह रूप होता है। अब लोट् के उत्तमपुरुष का 'ए' मिल जाता है 'एत ऐ' (पा० सू० ३।४।९३) इस सूत्र से ए का ऐ होना चाहिये? समाधान यह है कि पचाव+इदम् यहाँ दो पदों के दो दो अक्षरों को मानकर गुण हुआ है, अतः बहिरङ्ग है। एक पद के 'ए' का 'ऐ' आदेश अन्तरङ्ग है। इस अन्तरङ्ग 'ऐ' आदेश की कर्तव्यता में बहिरङ्ग गुण आदेश असिद्ध हो जाता है। अतः 'ए' समाप्त हो जाने से 'ऐ' आदेश नहीं हो पाता है।

अकृतव्यूहा इति। यद्यपि "कृतमपि कार्यं निवर्त्तयन्ति" इति परिभाषान्तरं पठ्यते फलं च तुल्यम्, तथाऽपि "अकृत"—इत्येव लघु। "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" इति न्यायादिति भावः।

न कुर्वन्तीति। यथा "निषेदुषीम" इत्यादौ क्वसोरिटमन्तरङ्गत्वात्प्राप्तमपि भाविना संप्रसारणेन वलादित्वं नङ्क्ष्यतीत्यालोच्य न कुर्वन्तीत्यर्थः॥

न कुर्वन्तीत्यर्थ इति। यदि तु 'सेदुषः' इत्यादौ पदावधिकेऽन्वाख्याने सेद्वस् अस् इति स्थिते इट्सम्प्रसारणयोः प्राप्तौ प्रतिपदविधित्वेन शीघ्रोपस्थितिकत्वात्पूर्वं सम्प्रसारणे वलादित्वाभावादिटः प्राप्तिरेव न,

---

(सि० कौ० अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः—निमित्तविनाश के सम्भावित रहने पर नहीं किया है व्यूह=शास्त्र-प्रवृत्ति-विषयक विशिष्ट निश्चय जिन्होंने वे अकृतव्यूह हैं। ऐसे पाणिनीयाः=पाणिनि के व्याकरण के अध्येता होते हैं।) (मनो०)—यद्यपि "किये गये कार्य का भी निवर्तन=समाप्ति कर देते हैं' इस प्रकार की एक अन्य परिभाषा भी पढ़ी जाती है और (दोनों का) फल भी समान ही है, तथापि 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' यही लघुभूत है। कारण यह है कि (पैर आदि में पहले कीचड़ लगाना और फिर उसे) धोने की अपेक्षा दूर से उसे न छूना ही अच्छा है–यह न्याय है (अर्थात् कीचड़ लगाने के समान बहिरङ्ग कार्य की पहले प्रवृत्ति करके बाद में उसे समाप्त करना कीचड़ धोने के समान गौरवग्रस्त है।) (सि०कौ० निमित्तविनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः अर्थात् विनाशोन्मुख निमित्त को देखकर उसे मानकर होने वाला कार्य नहीं करते हैं। इसका उदाहरण) (मनो०) जैसे–निषेदुषीम् आदि में अन्तरङ्ग होने से क्वसु=(वस्) के लिये प्राप्त होने वाले भी इट् आगम को इस लिये नहीं किया जाता है कि भावी सम्प्रसारण द्वारा वलादित्व का विनाश हो जायगा। (अर्थात् इट् आगम का निमित्त है वलादित्व। यहाँ 'व' का सम्प्रसारण 'उ' होने वाला है जिसके फलस्वरूप 'व'=वलादित्व का विनाश सम्भावित हैं। अतः पहले से ही 'इट्' आगम नहीं करते हैं--यह अर्थ है। (शब्द०) इट् का आगम नहीं करते हैं। यदि यहाँ 'सेदुषः' आदि में पदावधिक अन्वाख्यान (सम्पूर्ण पद का एक साथ एक काल में संस्कार करना) पक्ष में सेद्+वस्+अस् इस अवस्था में ('वस्वेकाजाद्धसाम्' पा० सू० ७।२।६७ सूत्र से) इट् आगम और (वसोः सम्प्रसारणम् पा० सू० ६।४।१३१ से) सम्प्रसारण—इन दोनों के प्राप्त रहने पर प्रतिपद-विधि होने से शीघ्र उपस्थित होने के कारण पहले सम्प्रसारण ही होता है तब वलादित्व नहीं रहता है, समाप्त हो जाता है इस कारण इट् की प्राप्ति ही नहीं है। (तात्पर्य यह है कि 'वसोः सम्प्रसारणम्' (पा० सू०

लक्ष्यानुरोधाच्चात्र पदावधिकमेवान्वाख्यानमिति तत्सिद्धिरित्युच्यते, तदैषा परिभाषा निष्फलेति बोध्यम्। अत एव एषा भाष्ये न क्वापि व्यवहृतेत्यन्यत्र विस्तरेण निरूपितम्।

'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' इति परिभाषां व्याख्यातुमुपक्रमते परममूले-"निमित्त विनाशोन्मुखं दृष्ट्वा तत्प्रयुक्तं कार्यं न कुर्वन्तीत्यर्थः। परिभाषार्थः—ऊह्यते=तर्क्यते इति ऊहः, विशिष्ट ऊहः=व्यूहः=शास्त्रप्रवृत्तिविषयकविशिष्टनिश्चयो न कृतो यैस्ते-ऽकृतव्यूहाः=पाणिनीयाः=पाणिनि-प्रोक्तशास्त्रवेत्तारः बहिरङ्गेण अन्तरङ्गशास्त्र-निमित्त-विनाशे सम्भाविते ऽन्तरङ्गं न प्रवर्तयन्तीति परिभाषार्थः। परिभाषान्तर-स्वीकारे गौरवमाह मूले—**प्रक्षालनाद्धोति**। अयं भावः—इयं परिभाषा अन्तरङ्ग शास्त्र-निमित्त-विनाशसम्भावनायामेव बहिरङ्गं न प्रवर्तयति किन्तु 'कृतमपि कार्यं निवर्तयति' इयं तु पूर्वतः कृतं कार्यं निवर्त्य अन्यत् कार्यं सम्पादयतीति गौरवं स्पष्टमेवेति बोध्यम्। मूले परिभाषाफलमाह—**निषदुषीमिति**। नि सेद्+वस्—अस्यामवस्थायां वलादित्वं मत्वान्तरङ्गस्य प्राप्तिर्भवति किन्तु सम्प्रसारणेन सम्भाविते वलादित्वविनाशे अन्तरङ्गस्यापीटः प्रवृत्तिर्न भवति। एवञ्च निषेदुषीमित्यादि सिद्ध्यति।

ननु प्राचीन-सम्मताया 'अकृते'ति परिभाषाया लक्ष्यसाधकत्वेनावश्यकतया भाष्यकृतैषा कुतो नोक्तेत्याशङ्कायां तदभिप्रायमाह—**यदि त्विति**। क्रमेणा-न्वाख्याने ऽकृत-परिभाषां विना न निर्वाह इति बोध्यम्। अन्वाख्यानं नाम शब्द-संस्कारः तच्च क्रमिकान्वाख्यानं पदावधिकान्वाख्यानं वाक्यावधिकान्वाख्यानं चेति त्रिविधम्। प्रयोगस्थोच्चारणक्रमेण संस्कारे कृते सति क्रमिकान्वाख्या-नम्। पदपर्यन्तं प्रकृति प्रत्ययांश्च संस्थाप्य ततः संस्काररूपं द्वितीयम्। वाक्य-

---

६।४।१३१) इसमें वसु का उच्चारण करके सम्प्रसारण किया गया है। अतः प्रतिपद-विधि होने से पहले सम्प्रसारण ही किया जाता है जिससे 'व' समाप्त होकर 'उ' बच जाता है वलादि न रहने से 'वस्वेकाजाद्धसाम्' सूत्र से इट् की प्राप्ति नहीं होती है। अतः परिभाषा का लक्ष्य यह नहीं है।) और लक्ष्य के अनुरोध से 'सेदुषः' आदि में पदावधिक (सम्पूर्ण पद का एक साथ) अन्वाख्यान माना जाता है इसलिये 'सेदुषः' इसकी सिद्धि हो जाती है (अतः परिभाषा का फल यह लक्ष्य सिद्ध करना नहीं हो सकता)—ऐसा यदि कहा जाय, तब तो यह परिभाषा निष्फल हैं, ऐसा समझना चाहिये। (इससे साध्य फल अन्य प्रकार से सिद्ध हो जाते हैं—) इसीलिये भाष्य में इसका कहीं भी व्यवहार नहीं किया गया है, ऐसा अन्यत्र (परि-भाषेन्दु-शेखर आदि में) विस्तृतरूप से प्रतिपादित किया गया है।

पर्यन्तं प्रकृतीः प्रत्ययांश्च संस्थाप्य ततः संस्काररूपं तृतीयम् । तत्र 'सेदुषः' इत्यादि-लक्ष्यानुरोधात् पदावधिकमेवान्वाख्यानं स्वीक्रियते । एवञ्च सद्+वस्+अस् इति प्रकृति-प्रत्ययसंस्थापनानन्तरं श्रुतवर्णक्रमेण संस्कारे क्रियमाणे वसु प्रत्ययस्य लिट् स्थानिकत्वेन धातोर्द्वित्वे अभ्यासादिकार्ये सेद्+वस्+अस् इत्यवस्थायाम् 'आर्द्धधातु-कस्येड्वलादेः' (पा० सू० ७।२।३५) इति इडागमे 'वसोः सम्प्रसारणम्' (पा० सू० ६।४।१३१) इति सम्प्रसारणे च प्राप्ते वसु-शब्दमुच्चार्य विहितत्वेन प्रतिपदोक्ततया शीघ्रोपस्थितिकत्वात् पूर्वं सम्प्रसारेणमेव विधीयते । एवञ्च वलदित्वाभावेन इटोऽ-प्राप्त्या लक्ष्यस्य 'सेदुषः' इत्यादेः सिद्धौ परिभाषायाः किमपि फलं नास्ति । नन्वे-वमपि पक्षान्तरे दोषः स्थित एवात आह—**लक्ष्येति**। **तदा**=पदावधिकान्वाख्यान-पक्षस्वीकारकाले । **एषा**='अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः इति परिभाषा । **अत एव**= एवं रीत्या फलान्तराणामप्यन्यथासिद्ध्या निष्फलत्वादेवेत्यर्थः **अन्यत्रेति**। परिभा-षेन्दुशेखर इत्यर्थः ।

अत्र केचित्—ननु वसोः सम्प्रसारणवत् इटोपि 'वस्वेकाजाद्घसाम्' (पा० सू० ७।२।६७) इत्यनेनैव विधानेन प्रतिपदोक्तत्वं, वसुशब्दमुच्चार्य विहितत्वात्, नियम-शास्त्राणां च विधिमुखेन प्रवृत्तिर्लाघवात् । एवञ्च परत्वात् पूर्वमिट एव प्रवृत्तिः स्यादिति परिभाषा तन्निवारणाय सफलेति चेन्न, सद् वस् अस् इति स्थिते द्वित्व-प्रवृत्ति - समकालमेव सम्प्रसारणस्य - प्राप्तौ तदानीं कृतद्विर्वचनैकाच्त्वाभावेन 'वस्वेकाजाद्घसाम्' [पा० सू० ७।२।६७] इति प्रतिपदोक्तस्येटश्चाप्राप्तौ द्वित्वापेक्षया प्रतिपदविधित्वेन शीघ्रोपस्थितिकत्वात् पूर्वं सम्प्रसारणे ततो द्वित्वे वलादित्वा-भावादिटोऽप्राप्त्या परिभाषाया निष्फलत्वादिति दिक् ।

इति परिभाषाप्रकरणमिति । ननु "उरण् रपरः" [पा० सू० १।१।५१] 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' [पा० सू० १।३।१०] इत्यादि-परिभाषाणामनुक्त्या न्यूनता, तासामपि प्रथमाध्ययस्थत्वात् सन्धिकार्योपयोगित्वाच्च । किञ्च ज्ञापकन्याय-सिद्धानां वाचनिकानां च कासाञ्चित् परित्यागः कासाञ्चिच्चोपादानमित्यर्धजरतीयम्, 'इको गुणवृद्धी' [पा० सू० १।१।३] इत्यादीनां सन्धिकार्यानुपयुक्तानां चात्र कथनं व्यर्थमिति चेन्न, प्रथमाध्यायस्थानां प्रायेण सन्धिकार्योगिनीनामकाङ्क्षितानाञ्च संज्ञानां प्रायेण कथनस्य प्रक्रान्तत्वे तथाभूतानां परिभाषाणामपि प्रायेण कथनं कर्त्तव्य-मिति अभिप्रायेण तासां कथनस्य कृतत्वात् । प्रायेण सन्धिकार्येति निवेशात् सन्धि-कार्यानुपयोगिनीनाम् "इको गुणवृद्धी" "अचश्च" [पा० सू० १।२।२८] इत्यादीना-मुपन्यासेऽपि न क्षतिरिति बोध्यम् । आकाङ्क्षितानाञ्चेत्युक्त्या 'परनित्यान्तरङ्गेति' कथनं न विरुद्धम्, 'परत्वादनेन बाध्यते' इत्युक्तौ बीजप्रदर्शनाय तदुपादानात् ।

इति परिभाषाप्रकरणम् ।

—*—

इति परिभाषाप्रकरणम् ॥

—*—

परिभाषात्वञ्च—सङ्केतग्राहकभिन्नत्वे सति विधिशास्त्रविशिष्टत्वम् । वैशिष्ट्यञ्च अननुवृत्त्या स्वजन्यप्रमात्मकबोधोपकारकारकत्व---स्वप्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरप्रयोजकत्वविशिष्ट - पाणिनिप्रयत्नन्यायान्यतरसिद्धत्वान्तरसम्बन्धेन । अननुवृत्त्येति निवेशानाधिकारव्यवच्छेदः । आद्यसम्बन्धेनाष्टाध्यायीस्थ-परिभाषाणां सङ्ग्रहः । द्वितीयेन न्यायज्ञापकसिद्धानाम् 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' [पा० सू० ६।१।१५८] इत्यादेश्च सङ्ग्रहः ।

॥ इति जयशङ्करलालत्रिपाठिविरचितायां भावप्रकाशिकाव्याख्यायां परिभाषाप्रकरणम् ॥

—*—

विमर्श—अन्वाख्यान = लक्ष्यसंकार तीन प्रकार का है–(१) क्रमिक (२) पदावधिक और (३) वाक्यावधिक। जहां प्रयोग के उच्चारण-क्रम के अनुसार संस्कार किया जाता है, वहां (१) क्रमिक संस्कार (अन्वाख्यान) और जहां उच्चार्यमाण पदघटक समस्त वर्णों का एक साथ ही अन्वाख्यान किया जाता है वहां (२) पदावधिक तथा जहां उच्चार्यमाण वाक्यघटक समस्त वर्णक्रम का एक साथ संस्कार किया जाता है वहां (३) वाक्यावधिक संस्कार होता है। लक्ष्यानुरोध से इनमें से किसी एक का आश्रयण किया जाता है। 'निषेदुषीम्' या 'सेदुषः' आदि में पूरे पद का एक साथ संस्कार करते समय पहले सम्प्रसारण ही होता है, 'व' का 'उ' हो जाने से वलादि प्रत्यय परे नहीं रह पाता है इसलिये इट् की प्राप्ति नहीं है।

इस प्रकार इस परिभाषा का कोई भी फल नहीं होने से इसे मानने की आवश्यकता नहीं है, यही शब्दरत्नकार का रहस्य है।

[मनो०] इस प्रकार परिभाषा प्रकरण समाप्त हुआ।

[शब्द०] इस प्रकार परिभाषा प्रकरण समाप्त हुआ।

॥ जयशङ्करलाल-त्रिपाठि-विरचित भावबोधिनी-हिन्दी-व्याख्या में प्रौढमनोरमा का परिभाषाप्रकरण समाप्त हुआ ॥

—*—

अथ–अच्सन्धिप्रकरणम्

"इको यणचि" (पा० सू० ६।१।७७)। प्रत्याहारग्रहणेषु तद्वाच्यवाच्ये निरूढा लक्षणा, "दीर्घाज्जसि च" (पा० सू० ६।१।१०५) इति ज्ञापकात् "ल्वादिभ्यः" (पा० सू० ८।२।४४) इति निर्देशाच्च।

ननु व्यक्तिपक्षे इक्पदोपस्थाप्योकारदिभिर्दीर्घादिग्रहणं न स्यात्, "उच्चारित एव शब्दः प्रत्यायको नानुच्चारित" इति "अणुदित्" (पा०सू० १।१।६९) सूत्रे भाष्योक्तेः। न चोच्चारितस्यैव प्रत्यायकत्वे रहसि पुस्तकमीक्षमाणस्य बोधानापत्तिरिति वाच्यम्, तत्रापि पुस्तकद्रष्टुः स्वीयसूक्ष्मोच्चारणसत्त्वादित्यत आह—**प्रत्याहारग्रहणेष्विति**।

वर्णानां प्राथम्येनोपस्थितत्वात् अचामज्भिः संहितायां जायमानं कार्यं निरूपयितुमाह—**अथाच्सन्धिरिति**। संहिता सन्धिरिति नामान्तरं बोध्यम्।

मूले—**प्रत्याहारेति**। गृह्यते=बोध्यते यैः तानि ग्रहणानि=बोधकानि, प्रत्याहारा एव ग्रहणानि—प्रत्याहार - ग्रहणानि—तेषु, प्रत्याहारपदेषु इत्यर्थः। **वाच्यवाच्येति**। तस्य=इक् प्रत्याहारस्य, वाच्याः इउऋलृवर्णाः, तेषां वाच्याः षट्षष्टिभेदाः-इकारस्य अष्टादश, उकारस्य अष्टादश, ऋलृवर्णयोः त्रिंशत् एषां

इको यणचि [पा० सू० ६।१।७७] [**शब्द०**] व्यक्तिपक्ष में इक् पद से उपस्थाप्य (बोध्य) उकार आदि से दीर्घ ऊकार आदि का ग्रहण नहीं होना चाहिये क्योंकि 'उच्चारित शब्द ही प्रत्यायक=बोधक होता है, अनुच्चारित नहीं'—ऐसा 'अणुदित्' [पा० सू० १।१।६९] सूत्र के भाष्य में कहा गया है। [भाव यह है कि प्रत्याहारों में आदि अक्षर ही उच्चारित होता है जैसे इक् में इकार। इसी के सभी भेदों का ग्रहण होगा, न कि उ, ऋ, ऌ के, क्योंकि इनका उच्चारण नहीं है।]

यदि केवल उच्चारित शब्द को ही बोधक माना जायगा तो एकान्त में पुस्तक का अवलोकन [मूक अध्ययन] करने वाले का भी बोध नहीं हो सकेगा—ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि वहाँ [एकान्त में मूक अध्ययन काल में] भी पुस्तक देखने वाले का अपना सूक्ष्म उच्चारण रहता ही है। [इसलिए अनुच्चारित उकारादि से उनके दीर्घादि भेदों का ग्रहण नहीं होना चाहिये—] इसके [समाधान] के लिये [मनोरमा में] कहते हैं—[**मनो०**] प्रत्याहारयुक्त स्थलों में तद्वाच्य में निरूढा [अनादितात्पर्यवती] लक्षणा है, क्योंकि 'दीर्घाज्जसि च' [पा० सू० ६।१।१०५] यह ज्ञापक है और 'ल्वादिभ्य' [पा० सू० ८।२।४४] यह [यणूघटित] निर्देश है।

एतेन दीर्घेकारादेर्ग्राहकशास्त्रबलेन इकारादिभिर्बोधेऽपि तेषामिक्पद-वृत्त्याऽनुपस्थितत्वेन तदुत्तरप्रत्ययार्थानन्वयापत्तिरित्यपास्तम्। वृत्तिप्रयोज्योपस्थितिसत्त्वेनादोषाच्च।

भेदानां सम्मेलने षट्षष्टिर्भेदाः सम्पद्यन्ते। अग्रेऽनुपदमेवैतत् स्पष्टीभविष्यति। **ननु व्यक्तिपक्षे**—इति। अयं भावः—पदानां व्यक्तिर्वाच्या जातिर्वेति पक्षद्वयम्। तत्र व्यक्तिपक्षे एकेन पदेन एकस्या एव व्यक्तेरुपस्थितिरिति सिद्धान्तः। एवञ्च इक्-पदोपस्थाप्योकारादिभिः इक् प्रत्याहारेण उपस्थाप्याः=बोध्याः ये उकारादयः चत्वारो वर्णा ह्रस्वमात्राः तैः, न दीर्घादिग्रहणम्=आदिना प्लुतानामपि समुच्चयः, यतो माहेश्वरसूत्रे ह्रस्वानामेवैतेषामुल्लेख इति भावः। इकारविषये तु शङ्का न कृता

विमर्श—यहाँ रहस्य यह है कि 'आदिरन्त्येन सहेता' [पा०सू०] इस सूत्र से इक् पद की शक्ति वर्णसमाम्नाय में पठित इ उ ऋ ऌ में बोधित होती है। परन्तु इनमें उच्चारण केवल 'इ' का ही होता है। वर्णसमाम्नाय में 'अणुदित् सवर्णस्य' [पा०सू० १।६।६९] सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतः अन्य वर्णों के भेदों का ग्रहण सम्भव नहीं है। अतः यहाँ निरुढा लक्षणा माननी पड़ती है। इसमें ज्ञापक है—दीर्घाज्जसि च' [पा.सू. ६।१।१०५] यह सूत्र।'अकः सवर्णेदीर्घः' [पा.सू. ६।१।१०२] इस सूत्र के 'अकः' इसकी अनुवृत्ति 'प्रथमयोः' 'पूर्वसवर्णः' [पा० सू०] सूत्र में होती है। यहाँ भी 'अणुदित्' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। इस स्थिति में 'गौरी+औ=गौर्यौ आदि में पूर्वसवर्ण दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं होती है, पुनः इसके निषेध के लिये कोई आवश्यकता नहीं होने पर भी 'दीर्घाज्जसि च' इस सूत्र का प्रणयन किया गया। यह व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि यहाँ लक्षणा माननी चाहिये जिससे दीर्घ प्राप्त हो और उसका निषेध करने के लिये यह सूत्र चरितार्थ हो। और 'त्वादिभ्यः' इसमें दीर्घ ऊ का यण् प्रमाण है।

[शब्द०] इससे [पूर्वोक्तरीति से लक्षणा द्वारा सभी भेदों का ग्रहण हो जाने से] ग्राहकशास्त्र [अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः पा०सू० १।१।६९] के द्वारा इकारादि से दीर्घ ईकार आदि का बोध हो जाने पर भी इन दीर्घ ईकारादि की उपस्थिति इक् पद की शक्ति से नहीं हैं, अतः इन दीर्घ आदि में उत्तरवर्ती प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं हो सकता [क्योंकि प्रत्ययार्थ अपने प्रकृत्यर्थ में ही अन्वित होता है और उक्तरीति सें प्रकृत्यर्थ दीर्घ ईकारादि नहीं हैं]—ऐसा कथन भी निरस्त हो गया। [इसके निरास में दूसरा कारण यह है—] और [दीर्घ ईकारादि की] उपस्थिति वृत्तिप्रयोज्य हैं अतः कोई दोष नहीं है। [भाव यह है कि प्रयोज्यता का अर्थ है—जन्यजन्यता: प्रकृतिभूत इक् की वृत्ति से जन्य है—इ उ ऋ ऌ और इनसे जन्य है इनके पूर्वोक्त ६६ भेद। अतः प्रत्ययार्थ के अन्वय में कोई बाधा नहीं है।]

ननु अणुदित् सूत्रं व्यर्थम्। न च प्रत्याहाराणामाद्यवर्णेषु चरितार्थम्। अन्यसवर्णानामिव तत्सवर्णानामपि लक्षणयैव ग्रहणसिद्धेः। न च "अस्य च्वौ" (पा० सू० ७।४।३२) इत्यादौ चारितार्थ्यम्, व्यक्तिपक्षेऽस्य प्रत्याहारसूत्रस्थतो भेदेनाण्त्वाभावादिति स्पष्टम् "अणुदित्"—(पा० सू० १।१।६९) सूत्रे भाष्ये इति चेन्न, लक्ष्यतावच्छेदकज्ञानार्थमेव तच्चारितार्थ्यात्।

तस्योच्चारितत्वेन तत्र "अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः" [पा० सू० १।१।६९] इति सूत्र-प्रवृत्तिसम्भवादष्टादशभेदानां ग्रहणात्। ननु दीर्घादीनां ग्रहणे किं बाधकमत आह—**उच्चारित** एवेति। उच्चारितः=उच्चारितत्वेन गृहीतः, अन्यथा पाणिन्युच्चारणस्य साम्प्रतमभावात्तदसङ्गतिः स्पष्टैव। **प्रत्यायकः**=स्वार्थबोधनसमर्थः। **बोधानापत्तिः**=अनुच्चारणेन उच्चारितत्वेन ज्ञानाभावात्। **तत्रापि**=पुस्तकाद्यध्ययनस्थलेपीत्यर्थः। **पुस्तकद्रष्टुः**=पुस्तकाध्येतुः। अतएव जपादावपि स्वर-निर्णयार्थं सूक्ष्ममुच्चारणमावश्यकमिति बोध्यम्। कस्यचिदुक्तिं खण्डयति—**एतेनेति**। उक्तरीत्या निरूढलक्षणया तैः सर्वभेदग्रहणर्द्धिनेत्यर्थः। **ग्राहकशास्त्रबलेन**=अणुदिति शास्त्रसामर्थ्येन। **तेषाम्**=दीर्घकारादीनाम्, **इक्पदवृत्त्या**=इक्पदशक्त्या, उच्चार्यमाणेक्पदनिष्ठवृत्त्येति भावः, **अनुपस्थितत्वेन**=उपस्थित्यभावेन, **तदुत्तर-प्रत्ययार्थान्वयानापत्तिः**=इगुत्तरप्रत्ययार्थे इग्रूपप्रकृत्यर्थस्यान्वयो न स्यात्, प्रत्ययानां प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वमिति नियमात्। **अपास्तमिति**। निरूढलक्ष-

---

[प्रत्याहारग्रहण वाले सूत्रों में लक्षणा मान लेने पर] 'अणुदित् सवर्णस्य' व्यर्थ हो जायगा। [क्योंकि पूर्वोक्त रीति से लक्षणा द्वारा ही सभी का ज्ञान हो जाता है।] यह अणुदित् सूत्र प्रत्याहार के आद्यवर्ण में चरितार्थ हो जाता है (क्योंकि आद्यवर्ण उच्चारित रहता है, उसी के भेदों का बोधक हो जायगा]—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि अन्य वर्णों के सवर्णों के समान इस आदि वर्ण के सवर्णों [भेदों] का भी निरूढलक्षणा से ज्ञान होना सम्भव है। [यह 'अणुदित्' सूत्र] "अस्य च्वौ" पा० सू० ७।४।३२ इत्यादि में चरितार्थ है, [क्योंकि इन में एक वर्ण का ही ग्रहण है, प्रत्याहार का नहीं, अतः लक्षणा नहीं होगी]—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि व्यक्तिपक्ष [मानने] में इस ['अस्य च्वौ'] के अकार का प्रत्याहारसूत्रस्थ अकार से भेद है इसलिये यह अकार अण् नहीं हो सकता—ऐसा अणुदित् सूत्र पर भाष्य में स्पष्ट कहा है; [इस प्रकार 'अणुदित्' सूत्रघटक अण् व्यर्थ है। यह पूर्वपक्ष स्थिर हो गया। उत्तर पक्ष]—ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि [लक्ष्यों में तद्वाच्यवाच्यस्वरूप] लक्ष्यतावच्छेदक का ज्ञान करने के लिये ही वह [अणुदित् सूत्र] चरितार्थ है।

प्रत्याहारेत्युपलक्षणं तद्वाच्यवाच्येति च, "अस्य च्वौ" (पा० सू० ७।४।३२) इत्यादावपि स्वसदृशवाच्येषु लक्षणावश्यकत्वात्। अणुदित्सूत्र-गृहीतलक्ष्यतावच्छेदकिका लक्षणा विधीयमानातिरिक्तविषये एव, "अप्रत्ययः" इत्युक्तेः। अत एव "त्यदादीनामः" (पा० सू० ७।२।१०२) इत्यादौ न स्वसदृशवाच्येषु लक्षणा। "नाज्झलौ" (पा० सू० १।१।१०) "अणुदित्" (पा० सू० १।१।६९) इत्यत्र तु न लक्षणा, तद्बोधकाले लक्ष्यतावच्छेदकाग्रहादिति भावः।

णायां स्वीकृतायां दीर्घादौ इक्पदस्य लक्षणारूपा या वृत्तिस्तदाश्रितत्वात् तन्मतं निरस्तम्। **वृत्तिप्रयोज्येति**। प्रकृति-वृत्तिप्रयोज्योपस्थितिसत्त्वेन दोषाभावा-च्चेति बोध्यम्।

ननु जातिपक्ष इव व्यक्तिपक्षेऽपि अण् - ग्रहणं व्यर्थम्, लक्षणयैव निर्वाहादत

विमर्श—यहाँ आशय यह है कि शक्य का सम्बन्ध लक्षणा मानी जाती है। इक् पद के शक्य हैं वर्णसमाम्नायस्थ चार वर्ण—इउऋऌ। लक्ष्य में इनका सम्बन्ध है—स्ववृत्तिजातिमत्त्व। इस प्रकार इक् पद स्ववृत्तिजातिमत्त्व-सम्बन्ध से स्ववाच्यवाच्य में लाक्षणिक है। लक्ष्यतावच्छेदकरूपेण ज्ञात पदार्थ का ही बोध लक्षणा से होता है। अतः लक्ष्यतावच्छेदकीभूत- प्रत्याहारवाच्यवाच्यत्वज्ञान 'अणुदित्' सूत्र के बिना सम्भव नहीं है क्योंकि दीर्घ ईकारादि में इकारादिवाच्यता का ज्ञान यही सूत्र कराता है। इसी ज्ञान के उपपादनार्थ यह सूत्र आवश्यक है।

[शब्द०] [प्रत्याहार-बोधकों में लक्षणा होती है—यहाँ] प्रत्याहार यह उपलक्षण है और तद्वाच्यवाच्य—यह भी उपलक्षण है। [अतः अन्यत्र भी और दूसरे अर्थ में भी लक्षणा होती है] क्योंकि 'अस्य च्वौ' पा० सू० ७।४।४२ इत्यादि सूत्रों में भी स्वसदृश-वाच्य में लक्षणा माननी आवश्यक है। [स्व='अस्य च्वौ'— इस सूत्र का अकार, इसके सदृश है 'अइउण्' का अकार, इसके वाच्य हैं अठारह प्रकार के अकार]—'अणुदित्' यह सूत्र है जिसके लक्ष्यतावच्छेदक का ज्ञान होता है वह लक्षणा विधीयमान से अतिरिक्त के विषय में ही प्रवृत होती है क्योंकि उस सूत्र में 'अप्रत्यय = अविधीयमान' ऐसा कहा गया है। [विधीयमान के विषय में लक्षणा नहीं होती है।] इसीलिये 'त्यदादीनामः' (पा० सू० ७।२।१०२) आदि में [विधीयमान अकार में] स्वसदृशवाच्य में लक्षणा नहीं होती है [अविधीय-मान भी] 'नाज्झलौ' तथा 'अणुदित्' सूत्रों में तो लक्षणा नहीं होती है क्योंकि इन दोनों सूत्रों के बोधकाल में लक्ष्यतावच्छेदक का ज्ञान नहीं हो पाता है, यह भाव है।

तत्र प्रमाणमाह—**दीर्घादिति**। अक्पदीयाकारेण स्वसवर्णग्रहणेपि तत्र "नादिचि" इत्येव सिद्धमिति भावः।

आह—**नन्विति**। **अणुदिति**=अण्-पदविशिष्टं सूत्रमित्यर्थः। **आद्येति**। तेषामुच्चारितत्वेन प्रत्यायकत्वसम्भवादिति भावः। **अन्यसवर्णानामिव**=द्वितीयादिवर्णसवर्णानामिव, **तत्सवर्णानामपि**=अकारादिसवर्णानामपि, प्रत्याहारवाच्यत्वस्यादिवर्णेपि तुल्यरूपेणैव सत्त्वादिति भावः। **चारितार्थ्यम्**=सार्थकम्, अत एव शुक्लीभवतीतिवद् मालीभवतीत्यादौ दीर्घेपि ईत्वसिद्धिः; **अस्य**="अस्य च्वौ" [पा० सू० ७।४।३२] इत्यादिसूत्रघटकाकारादिवर्णस्य, **प्रत्याहारसूत्रस्थतः**=प्रत्याहार प्रतिपादक "अ इ उण्" [मा० सू० १] इत्यादिसूत्रस्थाकारादितः, **भेदेन**=भेदस्य निश्चितत्वेन, अनुवन्धसमभिव्याहाराद्यभावे प्रत्यभिज्ञाया असम्भवेन भेदज्ञाने बाधकाभावात्। **लक्ष्यतावच्छेदकज्ञानार्थम्** = लक्ष्येषु तद्वाच्यवाच्यत्वरूपस्य लक्ष्यतावच्छेदकधर्मस्य ज्ञानार्थम्। **तच्चारितार्थ्यात्**=अणुदितिसूत्रस्य सार्थक्यात्। "आदिरन्त्येन सहेता" [पा० सू० १।१।७१] इति सूत्रात् अक्षरसमाम्नायपठितेषु प्रत्याहारवाच्यत्वस्य ज्ञानस्य सम्भवेऽपि, तद्वाच्यत्वस्य दीर्घादिषु बोधनन्तु 'अणुदि'ति सूत्रद्वारैवेति बोध्यम्। **तद्वाच्यवाच्येति** उपलक्षणमिति शेषः। उपलक्ष्यतेऽनेनेत्युपलक्षणम्। **लक्षणावश्यकत्वादिति**। अन्यथोक्तरीत्याऽनुपपत्तिपरिहाराभावादिति भावः। **अणुदित्सूत्रेति**। अणुदित् सूत्रेण गृहीतम्=अणुदित्सूत्रग्रहीतम्, अणुदित्सूत्रगृहीतं लक्ष्यतावच्छेदकं यस्याः सा—अणुदित्सूत्रगृहीतलक्ष्यतावच्छेदकिका लक्षणा (समासान्तः कप्प्रत्ययः,)। **अप्रत्यय** इति। प्रतीयते=विधीयते इति प्रत्ययः, न प्रत्ययः, अप्रत्ययः=विधीयमानातिरिक्त इति भावः। एवञ्च 'उ' प्रत्ययादिविषये नैषा लक्षणेति बोध्यम्। **अत एव**=

[भाष्य में प्रदर्शित —'वाक्यानामुपदेशस्तावत्'— आदि वाक्यापरिसमाप्तिसूचक न्याय से इन सूत्रों के प्रत्याहारों में स्वशक्यतावच्छेदक-धर्मावच्छिन्न की ही बोधकता सम्भव हो पाती है।] लक्षणा में प्रमाण कहते हैं—'दीर्घाज्जसि च।' ['दीर्घाज्जसि च' यह सूत्र लक्षणा में प्रमाण है। 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इस सूत्र में अनुवृत्त जो 'अकः' पद उसमें अकार का उच्चारण है अतः वह अण् है, इसमें 'अणुदित्' सूत्र की प्रवृत्ति होने के कारण 'विश्वपाः' आदि में प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध करने के लिये 'दीर्घाज्जसि च' यह सूत्र चरितार्थ है। अतः इसको ज्ञापक नहीं माना जा सकता। इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं—] अक् पद के अकार से स्व-सवर्ण का ग्रहण होने पर भी उसके विषय 'विश्वपौ' आदि में 'नादिचि' इसी से [पूर्वसवर्ण की निवृत्ति] सिद्धि सम्भव है।

तेनेक्शब्देन षट्षष्टिर्गृह्यन्ते, यण्शब्देन सप्त, भाव्यमानत्वेन सवर्णाग्राहकत्वेऽपि गुणानामभेदकत्वेनानुनासिकानामपि यवलानां ग्रहणात् ।

तेन = लक्षणाङ्गीकारेण । **भाव्यमानत्वेनेति** । विधीयमानविषये लक्षणाऽभावस्यानुपदमुक्तत्वादिति भावः । **अभेदकत्वेनेति** । शास्त्रे उच्चारितगुणानां भेदकत्वाभावेऽपि स्वरूपकृतभेदमादाय सप्तत्वसंख्या न विरुध्यते । यदि तु अणुदित्सूत्रेऽग् ग्रहणाद्यण्विषये गुणानां भेदकतैवोचितेति विभाव्यते, तदाऽपि चत्वारो यणं इति यथासंख्यमसङ्गतमेव । तत् ध्वनयन्नाह—**अतो नास्तीति ।**

विधीयमानातिरिक्तविषया एव लक्षणा इति स्वीकारादेव । **तद्बोधकाले** = तत्सूत्रवाक्यार्थनिष्पादनकाले, **लक्ष्यतावच्छेदकाग्रहात्** = लक्ष्यतावच्छेदकस्य = तद्वाच्यत्वस्य अग्रहात् = वाक्यापरिसमाप्तिन्यायेन [अणुदिति सूत्रे शब्दरत्ने प्रतिपादितेन] "नाज्झलौ" [पा० सू० १।१।१०] इत्यादिघटक - प्रत्याहारस्य स्वशक्यतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नबोधकत्वस्यैव सम्भवादिति बोध्यम् ।

मूले—**ज्ञापकादिति**—अयं भावः—'आदिरन्त्येन सहेता' इत्यनेन इक् पदादेः वर्ण-समाम्नाय-पठितेपु ह्रस्वेष्वेव इकारादिषु शक्तिर्बोध्यते । अनिष्पन्नत्वात् "अणुदित्" (पा० सू० १।१।६९) इति सूत्रं वर्णसमाम्नाये न प्रवर्तते । एवञ्च 'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा० सू० ६।१।१०२) इति सूत्रात् 'अकः' इति पदं 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (पा० सू० ६।१।१०२) इति सूत्रे अनुवृत्तं सत् ह्रस्वानामेवाकारादीनां बोधकं भवति । एवञ्च गौरी+औ इत्यादौ दीर्घेकारसत्त्वात् पूर्वसवर्णदीर्घस्य प्राप्त्यभावात् तस्य

इससे = लक्षणा मानने से । [मनो०] इक् शब्द से छाछठ भेदों का ग्रहण होता है । [इकार और उकार के १८+१८=३६ भेद और सवर्णसंज्ञा होने से ऋकार = १८+ ऌकार १२=३० भेद मिलकर ६६ हो जाते हैं ।] और यण् शब्द से सात का ज्ञान होता है । [अनुनासिक और अननुनासिक य व ल दो दो प्रकार के मिलाकर ६ प्रकार और 'र' एक प्रकार ।] विधीयमान होने के कारण सवर्णों का ग्राहक = बोधक न होने पर भी 'गुण अभेदक होते हैं' इसलिये अनुनासिक भी य व ल का ग्रहण होता है । [शब्द०] विधीयमान के विषय में लक्षणा का न होना अभी ही कहा गया है, यह भाव है । शास्त्र में उच्चारित गुणों की भेदकता न होने पर भी स्वरूपकृत भेद को मान कर [यणों की] सप्तत्व संख्या का विरोध नहीं है । लेकिन यदि 'अणुदित्' इस सूत्र में ['अजुदित्' ऐसा न कह कर] अण् का ग्रहण करने से यण् के विषय में गुणों का भेदक होना ही उचित है, ऐसा यदि समझते हैं तब भी तो यण् चार ही हैं, इसलिये यथासंख्य [मानना]

अतो नास्ति यथासङ्ख्यम् । न च लक्ष्यार्थबोधात्पूर्वभाविनं शक्यार्थबोध-

---

तत्खण्डने एवाग्रहो न तु सप्तत्वसंख्यायामिति भावः। **शक्यार्थबोधमादायेति ।** "ल्वादिभ्यः" (पा० सू० ८।२।४४) इत्यादिनिर्देशोहिततात्पर्यानुपपत्ति-ग्रहस्य तत्सत्त्वे एव सम्भवेन स बोध आवश्यकः। तत्र च यथासंख्यसहायेन वाक्यार्थे निष्पन्ने "ल्वादिभ्य" इत्यादिनिर्देशाल्लक्षणया जायमाने पुनर्वाक्या-

---

वरणार्थं 'दीर्घाज्जसि च' (पा० सू० ६।१।१०५) इति समारब्धं सूत्रं व्यर्थं सत् ज्ञापयति—प्रत्याहारग्रहणेषु=प्रत्याहारबोधकपदेषु तद्वाच्ये लक्षणा । एवञ्च दीर्घेऽपि पूर्वसवर्णदीर्घप्राप्तिस्तद्वारणाय "दीर्घाज्जसि च" इति सार्थकम् । एवमेव—'ल्वादिभ्यः' (पा० सू० ८।२।४४) इत्यत्र लू+आदिभ्यः इति स्थितौ यण्-साधनार्थं लक्षणावश्यिकी बोध्यम् । **तत्र**=लक्षणायाम् । 'ननु प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति सूत्रेऽनुवृत्ते 'अकः' इति पदे अकारस्योच्चारितत्वेन तस्याण्त्वात् तत्र 'अणुदिति' सूत्रप्रवृत्त्या 'विश्वपौ' इत्यादौ प्राप्तस्य पूर्वसवर्णदीर्घस्य वारणार्थं दीर्घाज्जसि च' इति सूत्रं स्यात् । एवञ्च वैयर्थ्याभावात् कथं तस्य ज्ञापकत्वेनोपन्यासः इत्यत आह— **अक्पदीयेति** । **तत्र**=तद्विषये विश्वपावित्यादावित्यर्थः । **सिद्धमिति** । अयं भावः—विश्वपा=औ इत्यादौ 'नादिचि' इत्येननैव पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधः—अवर्णा-दिचि परे न पूर्वसवर्णदीर्घः—इति सूत्रार्थात् । एतदर्थम्—दीर्घात् जसि इचि च परे प्रथमयोः पूर्वसवर्णदीर्घो न स्यादित्यर्थकं 'दीर्घाज्जसि च' (पा० सू० ६।१।१०५) इति सूत्रं नावश्यकम् । एवञ्च व्यर्थस्यैतस्य ज्ञापकत्वमेवोचितमिति तत्त्वम् । **मूले—शक्यार्थबोधेति** । अयं भावः—'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' इत्येदनुसारं प्रथमं जायमानेन शक्यार्थबोधेन समसंख्यात्वं दृष्ट्वा यथासंख्यत्वमस्त्विति भावः । **स्वरूप-कृतेति** । वास्तवतद्धर्मवैशिष्ट्यादिना तत्तद्व्यक्तिभेदस्य प्रत्यक्षसिद्धस्य ब्रह्मणापि दुर्निवारत्वादिति भावः। **चत्वार** इति । निरनुनासिकानामेव यादीनां यण् शब्दबोध्य-

---

असंगत ही है। इसी को ध्वनित करते हुए कहते हैं—**[मनो०]** इसलिये यथासंख्य नहीं है। **[शब्द०]** यहाँ [प्राचीनों द्वारा प्रतिपादित] यथासंख्यत्व के खण्डन में ही आग्रह है न कि सप्तत्वसंख्या के विषय में—यह भाव है। **[मनो०]** शक्यार्थ का बोध पहले होता है, लक्ष्यार्थ का बाद में। इस पूर्ववर्ती शक्यार्थबोध को ही मानकर यथासंख्य हो जाय, **[शब्द०]** 'ल्वादिभ्यः' पा०सू० ८।२।४४ इत्यादि निर्देशों से ऊहित तात्पर्यानुपपत्तिग्रह शक्यार्थबोध होने पर ही सम्भव होता है, अतः उस शक्यार्थ का बोध आवश्यक है। इस शक्यार्थबोध में यथासंख्य की सहायता से वाक्यार्थ निष्पन्न हो जाने पर 'ल्वादिभ्यः' इत्यादि निर्देशों से लक्षणा द्वारा पुनः वाक्यार्थबोध हो

मादाय यथासंख्यमस्त्विति वाच्यम्, एवमपि तृतीयचतुर्थाभ्याम् ऋकार-लृकाराभ्यां प्रत्येकं त्रिंशदुपस्थितौ लृवर्णानां रेफादेशस्य ऋवर्णानां लादेशस्य च प्रसङ्गात्। तस्मादिह "स्थानेऽन्तरमः" (पा० सू० १।१।५०) सूत्रेणै-वेष्टसिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—स्थानत आन्तर्यादिति।

र्थबोधे लक्षितदीर्घादीनां स्ववाचकान्वयिन्येवान्वय इति भावः। स्थानेऽन्त-रतमसूत्रेणैवेति। व्यक्तिपक्षे व्यक्तीनामानन्त्येन संख्याज्ञानाभावाद्यथासंख्या-सम्भवाल्लक्ष्यासिद्धेश्चेति भावः।

परे तु—व्यक्तिपक्षे झलादिप्रत्याहारसूत्रेषु सर्वझकारादीना ग्रहणं दुरुप-पादम्। न हि तत्र लक्षणा वक्तुं शक्या, लक्ष्यतावच्छेदकाग्रहात्। एवं च तत्र प्रत्याहारसूत्रेषु जातिनिर्देशेनैव निर्वाहो नान्यथा। एवं च "अइउण्"

त्वादित्यर्थः। तत्खण्डने इति। यथासंख्यखण्डन एवेत्यर्थः। ल्वादिभ्य इति। 'ल्वादिभ्यः' इति निर्देशेनोहितः=कल्पितः यस्तात्पर्यानुप ह:, तस्य। तत्स-त्त्वे=शक्यार्थबोधसत्त्वे। सः=शक्यार्थबोधः। तत्र च=आवश्यकशक्यार्थस्मृतौ। स्ववाचकान्वयिनि= स्वस्य दीर्घादेर्वाचको यस्तत्रत्यः=इकारादिर्ह्रस्वस्तस्योक्त-रीत्या क्लृप्तान्वियवति यकारादावित्यर्थः। भाव इति। मनोरमाकाराशय इत्यर्थः।

मनोरमाकाराशयं प्रतिपाद्य साम्प्रतं स्वमतं प्रदर्शयितुमाह—परे त्विति। भाष्यतत्त्वविदस्त्वित्यर्थः। झलादीति। झलादिप्रत्याहारघटितेषु 'झलो झलि'

जाने पर लक्षित दीर्घ [ईकारादि] का स्व=दीर्घ के वाचक [ह्रस्व] के अन्वय [यकारादि] में ही अन्वय होता है [क्योंकि उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित में अन्वय मानने में कोई प्रमाण नहीं है] यह भाव है। [मनो०] इन कारणों से 'स्थानेऽन्तरतमः' पा० सू० १।१।५० इस सूत्र से ही इष्ट की सिद्धि होती है इस आशय से [सिद्धान्तकौमुदी में] लिखते हैं—स्थान से सादृश्य लिया जाता है। [शब्द०] और व्यक्तिपक्ष में व्यक्तियों के अनन्त होने के कारण उनकी संख्ता का ज्ञान नहीं हो सकने से यथासंख्य सम्भव ही न होने से लक्ष्यों की सिद्धि नहीं हो सकती—यह भाव है।

[शब्दरत्नकार का अपना मत]—अन्य आचार्य तो यह कहते हैं—व्यक्तिपक्ष में झलादि-प्रत्याहारों से घटित सूत्रों [झलो झलि' आदि] में समस्त अकार आदि वर्णों का ग्रहण उपपादित करना कठिन है क्योंकि उनमें लक्षणा कहना सम्भव नहीं है क्योंकि [अण् न होने से 'अणुदित्' की प्रवृति न हो सकने से] लक्ष्यतावच्छेदक का ज्ञान सम्भव नहीं है। लक्षणा कहना सम्भव न होने पर उन प्रत्याहार-घटित सूत्रों में जाति के निर्देश से ही कार्य का निर्वाह करना होगा, अन्य किसी प्रकार नहीं। इस प्रकार (जातिपक्ष का आश्रयण लेना आवश्यक होने

(मा० सू० १) इत्यादावपि जातिनिर्देश एवोचितः, अर्द्धजरतीयस्यानौचित्यात्। अत एव "अणुदित्—" (पा० सू० १।१।६९) सूत्रे भाष्ये प्रत्याहारेषु, "अस्य च्वौ" (पा० सू० ७।४।३२) इत्यादौ च उक्तामनुपपत्तिमाशङ्क्य जात्याश्रयणमेव कृतम्। यथासंख्यसूत्रं च व्यक्तिसाम्य इव धर्मसाम्येऽपि प्रवर्तते। "स्यतासी ऌलुटोः" (पा० सू० ४।१।३३) इत्यादौ यथा। नाप्यत्र पक्षे ऋकारादौ लकाराद्यापत्तिः। ऌत्वादिजातेर्ऋकारादावभावात्।

न च जातिपक्षे अणुदित्सूत्रेऽण्ग्रहणप्रत्याख्याने "उपसर्गादृति—" (पा० सू० ६।१।९१) इत्यादौ ऋकारेण ऌकारग्रहणाय सावर्ण्य-

---

प्रभृतिसूत्रेषु। **दुरुपपादमिति**। एकव्यक्तेरेव तत्र पाठादिति भावः। **लक्ष्यतावच्छेदकाग्रहादिति**। यथा अकारादीनामष्टादशविधात्वादिषु लक्ष्यतावच्छेदकत्वस्य ग्राहकम् 'अणुदिति सूत्रम्, तथा झलादौ तत्त्वग्राहकस्य कस्यचिदभावेन लक्ष्यतावच्छेदकत्वस्य ज्ञातुमशक्यतया सर्वझकारादिव्यक्तिषु झकारादीनां लक्षणा वक्तुमशक्येति बोध्यम्। **जातिनिर्देशेन**=जातितात्पर्यकनिर्देशेन। **एवञ्च**=तत्पक्षाश्रयणस्यावश्यकत्वे चेत्यर्थः। **अर्धजरतीयस्यानौचित्यादिति**। अणंशे लक्षणा, हलंशे जातिपक्ष इत्येवंरूपस्य कल्पनस्यानौचित्यादिति भावः। **अत एव**=अर्धजरतीयस्यानौचित्यादेवेत्यर्थः। **उक्ताम्**='प्रत्याहारे सवर्णाग्रहणमनुपदेशात्' इत्यादिरूपां प्रागुक्ताम्। **एवेति**। एवकारेण लक्षणाश्रयणस्य निरास इति भावः। **धर्मसाम्येऽपीति**। स्यतासी ऌलुटोः' इति सूत्रस्य ऌट्त्वं लुटत्वं चादाय स्यतास्योर्यथासंख्येन प्रवृत्तिर्भवति। अन्यथा ऌशब्देन ऌङ्ऌटोर्द्वयोर्व्यक्त्योर्ग्रहणेन लुट्शब्देन चैकस्य लुट्लकारस्यैव ग्रहणेन

पर) 'अइउण्' आदि सूत्रों में भी जातिनिर्देश मानना ही उचित है क्योंकि अर्धजरतीय उचित नहीं है, अर्थात् अणंश में लक्षणा और हलंश में जातिपक्ष—ऐसा भेद मानना ठीक नहीं है।] इस अनौचित्य के कारण ही 'अणुदित्' सूत्र पर भाष्य में प्रत्याहारों में तथा 'अस्य च्वौ' पा० सू० ७।४।३२ आदि में पूर्वोक्त अनुपपत्ति की आशंका करके जातिपक्ष का ही आश्रयण किया है। [अणंश में भी लक्षणा नहीं मानी है।] और यथासंख्य सूत्र जिस प्रकार व्यक्ति की समानता में प्रवृत्त होता है इसी प्रकार धर्म (जात्यादि) की भी समानता में प्रवृत्त होता है, जैसा कि 'स्यतासी ऌलुटोः' में देखा जाता है [इस सूत्र में ऌट् और ऌङ् दोनों में विद्यमान ऌत्व को एक मान कर 'स्य' के साथ यथासंख्य है।] इस जातिपक्ष में ऋकारादि में ऌकारादि की आपत्ति नहीं है क्योंकि ऋकारादि में ऌत्वादि जाति नहीं है।

जातिपक्ष में 'अणुदित्' इस सूत्र में अण् ग्रहण का प्रत्याख्यान हो जाने पर 'उपसर्गादृति धातौ' (पा० सू० ६।१।९१) इत्यादि में ऋकार द्वारा ऌकार के गृहण

वचनस्थाने ऌवर्णस्य ऋवदतिदेशाद् ऌकारे रेफापत्तिरिति वाच्यम्। क्लृप्तशिखार्थं तस्यातिदेशस्यानित्यत्वावश्यकत्वात् । तत्पक्षेऽण्ग्रहण-प्रत्याख्यानेऽपि "अप्रत्ययः" (पा० सू० १।१।६९) इत्यंशो वाक्यभेदेन विधीयमाने जातिग्रहणप्राप्तसवर्णग्रहणनिषेधकस्तपरसूत्रवदिति "त्यदा-दीनामः" (पा० सू० ७।२।१०२) इत्यादौ न दोषः। एवं चात्र यण्पदेन जात्याश्रयणेनापि न सवर्णबोधनमिति "स्वौजस्–" पा.सू. ४।१।२) इत्यादा-

स्यतास्योर्यथासंख्यं प्रवृत्तिर्न स्यादिति यथासंख्यसूत्रस्य व्यक्तिपक्षेऽपि धर्मसाम्यमादाय प्रवृत्तिरवश्यं स्वीकार्येति तदाशयो बोध्यः। **अतिदेशस्येति**। ऌकारः ऋवद् भव-तीति वचनबोधितस्य। **आवश्यकत्वादिति**। धात्वादिषु ज्ञानकृतलाघवानुरोधेन सर्वत्र ऋकारे ऌकारे वा सरूपे एकरूपे एवानुबन्धे कर्त्तव्ये पृथक् पृथक् अनुबन्धकरण-मतिदेशस्यानित्यत्वे ज्ञापकमिति भावः। **तत्पक्षे**=जातिपक्षे। **विधीयमाने**। अणि इति भावः। **एवञ्चेति**। अप्रत्यय—इत्यङ्गीकारे चेत्यर्थः। **अत्र**=इको यणचीति सूत्रे। **अस्य**=इको यणित्यस्य। **तदुदाहरणत्वम्**=स्थानेऽन्ततम—इति सूत्र-विषयत्वम्। **तयोः**— द्वयोः परिभाषासूत्रयोरित्यर्थः। **नव्यानाम्**=दीक्षितप्रभृती-

के लिये सावर्ण्यबोधक ['ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यम्' इस] वचन के स्थान पर 'ऌवर्ण का ऋवत्=ऋ के समान अतिदेश' करने से ऌकार के स्थान पर रेफ आदेश का अतिप्रसङ्ग होने लगेगा—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि क्लृ३प्त-शिख में [प्लुत करने के लिये] इस अतिदेश (ऌकार का ऋवद्भाव) का अनित्य होना आवश्यक है। (भाव यह है कि 'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' यह सूत्र ऋकारभिन्न का प्लुत करता है। यदि अतिदेश नित्य माना जायगा तो क्लृप्तशिख में प्लुत करना सम्भव नहीं होगा। अतः उक्त अतिदेश को अनित्य मानना आवश्यक है।] जातिपक्ष में अण्ग्रहण के प्रत्याख्यानपक्ष में भी 'अप्रत्ययः' यह अंश वाक्यभेद (योगविभाग) से—विधीयमान में जातिग्रहण से प्राप्त सवर्णग्रहण का निषेध करने वाला है जिस प्रकार 'तपरस्तत्कालस्य' यह सूत्र करता है अतः 'त्यदादीनामः' (पा० सू० ७।२।१०२) इत्यादि में कोई दोष नहीं है। [जातिपक्ष में जैसे तपर सूत्र सभी का निषेध करने के लिए है। उसी प्रकार 'अप्रत्यय' भी समस्त प्रत्यय=विधीयमान का निषेध करता है। इसीलिये इदम् के मकार का अकार अनुनासिक नहीं होता है क्योंकि वह विधीयमान है।] इस प्रकार ['अप्रत्ययः' इस योगविभाग से निषेध करने पर] यहाँ ['इको यणचि' इस सूत्र में] यण् पद से जाति का आश्रयण करने से भी सवर्ण का बोध नहीं होता है, इस कारण 'स्वौजसमौट्' (पा० सू० ४।१।२)

वनुनासिकस्थानेऽपि निरनुनासिक एव। अत एव स्थानेऽन्तरतमसूत्रे भाष्येऽस्य तदुदाहरणत्वमाशङ्क्य "यथासंख्यम्" [पा. सू. १।१।१०] इत्यनेनापि सिद्धमित्युक्तम्। तेनात्र तयोः फलाविशेष उक्तः। "उञः" [पा.सू. १।१।१७] इति सूत्रे नव्यानां प्रमाद एव। न च झलादिषु झकारादिभी रूपसादृश्येन सर्वझकारादिप्रतीतिरिति वाच्यम्। अगादिष्वपि किञ्चित्सादृश्यमाश्रित्य दीर्घादीनामपि ग्रहणोपपत्तौ। "अणुदित्" [पा० सू० १।१।६९] सूत्रस्य, तद्वाच्येत्यस्य च वैयर्थ्यापत्तेः। "ल्वादिभ्यः" [पा० सू० ८।२।४४] इति निर्देशानामीषत्सादृश्येनापि ग्रहणमित्यर्थज्ञापकताया युक्तत्वात्। तदप्युक्तम्

नाम्। तत्रहि 'किंविति' सानुनासिकवकारं रूपं तैरुक्तम्। तच्चोक्तसकलभाष्यादिग्रन्थानवधानप्रयुक्तमिति भावः। **तदपि**=रूपसादृश्येन सिद्धमित्यपि। अपिना जातिपक्षसमुच्चयो बोध्यः। **अयम्**=अणादिप्रत्याहारघटकोऽकारादिः। **इदमेव**=न्यूनतारूपं दोषमेवेत्यर्थः। **भाष्ये** इति। यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिति समाश्रित्य जाति-

---

इत्यादि में अनुनासिक [सु के] उकार के स्थान पर भी निरनुनासिक ही 'व्' [यण्] होता है। [भाव यह है कि जहाँ जहाँ विधेयता रहती है वहाँ वहाँ सर्वत्र 'अप्रत्ययः' इस से निषेध हो जाने के कारण सवर्णग्रहण नही होता है।] [भाष्यकार को जातिपक्ष ही इष्ट है] इसीलिये 'स्थानेऽन्तरतमः' पा० सू० इस सूत्र पर भाष्य में इस [इको यणचि पा० सू०] सूत्र को इस ['स्थानेऽन्तरतमः' पा ०सू० के उदाहरण रूप से प्रस्तुत करके 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' (पा० सू० १।३।१०) इससे भी सिद्ध है [निर्वाह सम्भव है]— ऐसा कहा है। उक्त भाष्य से इस [इको यणचि पा० सू० में दोनों परिभाषा सूत्रों में कोई फलभेद नहीं कहा है अर्थात् किसी से भी कार्यसिद्धि हो सकती है 'उञः' पा० सू० १।१।१७ सूत्र पर [भट्टोजिदीक्षितादि] नव्यवैयाकरणों का प्रमाद ही है। [इन्होंने 'उञः' पा० सू० १।१।१७ इस सूत्र के उदाहरणभूत किमु+इति=किम्विति में अनुनासिक अकारादेश लिखा है जो सर्वथा अप्रामाणिक है।] [जातिपक्ष न मानकर भी झकार आदि में निर्वाह सम्भव है—इस आशय से पूर्वपक्ष कर रहे हैं—] झल् आदि में झकार आदि के द्वारा रूप की सदृशता=समानता से सभी झकार आदि की प्रतीति हो जायगी— ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि अक् आदि में भी कुछ सादृश्य [समान ध्वनि वाला होना] मानकर दीर्घ आकारादि का भी ग्रहण उपपन्न हो जाने पर 'अणुदित्' पा० सू० १।१।६९ यह सूत्र और तद्वाच्यवाच्य— यह लक्षणा व्यर्थ होने लगेगी। 'ल्वादिभ्यः' [पा० सू० ८।२।४४] आदि निर्देशों को भी—कुछ सादृश्य से भी ग्रहण होता है—इस अर्थ में—ज्ञापक होना उचित है। [रूप के

"अनचि च" (पा० सू० ८।४।४७) द्वे वेति । "यरोऽनुनासिक" (पा० सू० ८।४।४५) इति सूत्राद् वाग्रहणमनुवर्तते इति "नाज्झलौ" (पा० सू० १।१।१०) इति सूत्रे कैयटः। एवं च "सर्वत्र शाकल्यस्य" (पा० सू० ८।४।५१) इति सूत्रं तत्प्रपञ्चभूतं पूर्वोत्तरसूत्रद्वयं च नारम्भणीयमिति भावः ।

'अइउण्' सूत्रे भाष्ये "रूपसामान्याद्वा सिद्धम्" इति । अणुदित्सूत्रेऽण्ग्रहणं तु प्रत्याहाराद्यवर्णेषु णकारादिभिश्चिह्नैः प्रत्याहारसूत्रस्थोऽयमिति प्रत्यभिज्ञासत्त्वादुपायान्तरपरम् 'आचार्याः कृत्वा न निवर्तन्ते' इति न्यायात् । इदमेवाभिप्रेत्य तत्रत्यमण्ग्रहणं प्रत्याख्यातं भाष्ये इत्याहुरिति दिक् ॥

पक्षाश्रयणमेव वरं न तु लक्षणाश्रयणमिति भावः ॥

'अनचि च'। अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि—इति वृत्तिः । [मनो०] **नारम्भणीयमिति** । एतेषां द्वित्वविकल्पविधानेन प्रकृतसूत्रेणैवेष्टसिद्धेः । **यत्त्विति**। प्रक्रियाकौमुदीप्रकाशकृतमिदमिति वोध्यम् । **पर्युदासपरतयेति** । अज्भिन्ने इत्यर्थेन हलि परे एव नित्यनिषेधेन विकल्पस्योपपत्त्यर्थं प्रयतन्ते इति भावः [मनो०] **तथात्वापत्तेः** । पूजार्थताया आपत्तेरिति भावः । **एवंचेति** । आचार्यग्रहणेन

सादृश्य से सिद्ध होता है] यह भी 'अ इ उ ण्' इस सूत्र पर भाष्य में कहा है— "अथवा रूप की समानता से भी सिद्ध है" [अणुदित्—सूत्र में अण् का ग्रहण करने वाले पाणिनि को उक्त दोनों पक्ष अभीष्ट नहीं है—इसका समाधान करते हैं-] 'अणुदित् इस सूत्र में अण् का ग्रहण तो 'प्रत्याहार के आद्यवर्णों में णकारादि चिह्नों से यह सूत्रघटक अकार प्रत्याहारस्थ है—ऐसी प्रत्यभिज्ञा होने से अन्य उपाय का सूचक है [अतः यह अण् छोड़ा भी जा सकता था किन्तु] 'आचार्य लिखने के बाद नहीं हटाते हैं' यह न्याय है। इसी आशय से भाष्यकार ने इस सूत्र के अण् ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया है ॥

[मनो०] अनचि च (पा० सू० ८।४।४७) ['अच् से परवर्ती यर् प्रत्याहार के प्रत्याहार के वर्ण का] विकल्प से द्वित्व होता है। 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' पा० सू० ८।४।४५ इस सूत्र से [प्रस्तुत सूत्र में] वा=विकल्प-ग्रहण की अनुवृत्ति होती है—ऐसा "नाज्झलौ" [पा० सू० १।१।१०।] इस सूत्रभाष्य पर कैयट ने लिखा है। इस प्रकार [वा-ग्रहण की अनुवृत्ति से ही निर्वाह सम्भव हो जाने पर] 'सर्वत्र शाकल्यस्य' [पा० सू० ८।४।५१] यह सूत्र और इसके प्रपञ्चभूत पूर्ववर्ती [त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य पा०सू० ८।४।५०] और उत्तरवर्ती [दीर्घादाचार्याणाम् पा०सू० ८।४।५२] दो सूत्रों को बनाने की आवश्यकता नहीं है, यह भाव है।

यत्तु "दीर्घादाचार्याणाम्" (पा० सू० ८।४।५२) इति सूत्रे आचार्यग्रहणं पूजार्थमित्यभिप्रेत्य वाक् वाक्क् इति भाष्योदाहृते विकल्पे उपपत्तिचिन्तार्थं क्लिश्यन्ते, तन्मुधैव, पूजार्थतायाः प्रामाणिकैरनुक्तेः । "त्रिप्रभृतिषु" (पा० सू० ८।४।५०) इति सूत्रे शाकटायनग्रहणस्यापि तथात्वापत्तेः । न चेष्टापत्तिः, संस्स्कर्तेति त्रिसकारपरकैयटहरदत्तादिग्रन्थविरोधात् । स्वग्रन्थविरोधाच्च । अतएव प्रातिशाख्यभाष्येऽपि "आ त्वा रथम्" इति मन्त्रे तकारस्य द्वित्वविकल्प उदाहृतः । माधवेन च 'आस्ते' इत्यत्र सकारस्य द्वित्वविकल्प उक्तः । एवं च 'धात्त्रंश' इत्यत्र तकारस्य द्वित्वमसदित्युक्तिरेवासतीति दिक् ।

क्लिश्यन्त इति । "अनचि" इत्यनुवर्त्य पर्यदासपरतया हलि पर एव नित्यनिषेध इति व्याख्यानेनेति भावः । विकल्प उक्त इति । एवं च "सर्वत्र शाकल्यस्य" (पा० सू० ८।४।५१) इतिवदिदमपि प्रपञ्चार्थमति भावः ।

जो [प्रक्रियाकौमुदी के व्याख्याकार]—'दीर्घादाचार्याणाम्' पा०सू० ८।४।५२ इस सूत्र में आचार्यग्रहण को सम्मानार्थं मानकर भाष्य में उदाहृत वाक् वाक्क—इस लक्ष्य में विकल्प के विषय में उपपत्ति की चिन्ता के लिये क्लेश का अनुभव करते हैं। [शब्द०] 'अनचि' इसकी अनुवृत्ति करके पर्युदासपरक होने से हल् परे ही नित्यनिषेध होता है—इस व्याख्यान से—यह भाव है। [मनो०] वह व्यर्थ है, क्योंकि (आचार्यग्रहण) सम्मानार्थ हैं—ऐसा किसी भी प्रामाणिक ने नहीं कहा है। और उसमें सम्मानार्थं मानने पर 'त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य (८।४।५०) इस सूत्र में शाकटायनग्रहण भी पूजार्थं मानना पड़ेगा। और इसे पूजार्थ मानना सम्भव नहीं है क्योंकि 'संस्स्कर्त्ता' यहाँ तीन सकारों का प्रतिपादन करने वाले कैयट और (पदमञ्जरीकार) हरदत्त के ग्रन्थ से विरोध है। और अपने (प्रक्रिया-कौमुदी) ग्रन्थ से भी विरोध है। (विकल्प की अनुवृत्ति होती है) इसीलिये प्रातिशाख्य के भाष्य में भी 'आत्वा रथम्' इस ग्रन्थ में तकार के द्वित्वविकल्प को उदाहरणरूपेण प्रस्तुत किया है। माधव ने (धातुवृत्ति में) 'आस्ते'—यहाँ सकार के द्वित्व का विकल्प कहा है। (शब्द०) इस प्रकार (माधवादिप्रतिपादित द्वित्व के इष्ट रहने पर) 'सर्वत्र शाकल्यस्य' पा०सू० ८।४।५१ इस सूत्र के समान यह (दीर्घादाचार्याणाम्' पा०सू० ८।४।५५) भी प्रपञ्च के लिये है—यह भाव है। (अर्थात् 'अनचि च' आदि सूत्रों में 'वा' की अनुवृत्ति करके ही सर्वत्र निर्वाह सम्भव होने से इन वैकल्पिक द्वित्वविधायक सूत्रों की आवश्यकता नहीं है।) इस प्रकार (जब द्वित्व का विकल्प सिद्ध है तब) धात्त्रंशः यहाँ तकार का द्वित्व असत् है—यह कहना ही असंगत है।

असतीति। यत्तु "नादिनी" (पा० सू० ८।४।४८) इत्यादौ वृत्तौ "अनचि" (८।४।४७) इति प्राप्तिमुद्भाव्य "त्रिप्रभृतिषु–" (पा सू. ८।४।५० "सर्वत्र–" [पा. सू. ८।४।५१] इत्यनयोः प्राप्तिमनुद्भाव्य पुनः "-दीर्घात्–" (पा० सू० ८।४।५२) इत्यत्र "अनचि" इति प्राप्तिरुद्भविता हरदत्तेन, तस्यायमाशयः– निषेधविकल्पे प्राप्त्युद्भावनं नावश्यकम्, तद्विकल्पे विधिविकल्पस्य फलितत्वेन विधेरेव अप्राप्त-विषयविकल्पसम्भवाद्, नित्यनिषेधे तु तदुद्भावनमावश्यकमिति, तन्न। विकल्पेऽपि निषेधप्रकरणान्नञुल्लेखस्यावश्यकत्वेन प्राप्त्युद्भावनस्यावश्यकत्वात्। मध्ये नञोऽसम्बधो मण्डूकानुवृत्तिरग्रे इत्यत्र मानाभावाच्च। "सर्वत्र" इति सूत्रेऽस्य द्वित्वमात्रनिषेधकतेति बोधयितुं तदनुल्ले-

---

विकल्पस्योपपत्तावित्यर्थः। **[शब्द०] प्रपञ्चार्थमिति।** स्वस्वमत-प्रच्युतिदोपाभावार्थमित्यर्थः। **यत्त्विति।** प्रक्रियाकौमुदी-व्याख्यातुः मतं प्रस्तौति। **वृत्तौ**=काशिकावृत्तिव्याख्याने। **उद्भाव्य**=अनूद्य। **उद्भाविता**=स्वयमेवोक्ता। **हरदत्तेन**=काशिकावृत्ति-पदमञ्जरीकारेणेत्यर्थः। **निषेधविकल्पे**='त्रिप्रभृतेषु' 'सर्वत्रशाकल्यस्य' इति सूत्रद्वये। **तदुद्भावनम्**=प्राप्त्युद्भावनम्। खण्डयति—**तन्नेति।** **विकल्पेऽपीति।** सूत्रद्वयेऽप्राप्तविषयविधिविकल्पाङ्गीकारेऽपीत्यर्थः। **मध्ये** इति। उक्तसूत्रद्वयमध्ये इत्यर्थः। **मिश्रग्रन्थेन**=हरदत्तीयपदमञ्जरीव्याख्यानेनेत्यर्थः। **अनुपलम्भाच्चेति।** एतेन क्वचित् पुस्तके उपलम्भेऽपि 'बहूनामनुरोधो न्यायः' इतिन्यायेन

(शब्द०) "नादिन्याक्रोशे" पा० सू० ८।४।४८ इस सूत्र की काशिकावृत्ति में 'अनचि' इसकी प्राप्ति की उद्भावना करके "त्रिप्रभृतिषु" पा० सू० ८।४।५० और 'सर्वत्र शाकल्यस्य' पा०सू० ८।४।५१ इनमें प्राप्ति की उद्भावना न करके पुनः 'दीर्घादाचार्याणाम्' पा०सू० ८।४।५२ इस सूत्र में 'अनचि' इसकी प्राप्ति=अनुवृत्ति की उद्भावना (पदमञ्जरीकार) हरदत्त ने की है; इसका आशय वह है–निषेध का विकल्प रहने पर प्राप्ति का उद्भावन आवश्यक नहीं है, क्योंकि निषेध का विकल्प होने पर विधि का विकल्प फलित हो जाता है अतः विधि का ही अप्राप्तविषयक विकल्प सम्भव होता है। किन्तु जहाँ नित्य निषेध होता है वहाँ प्राप्ति का उद्भावन आवश्यक है (क्योंकि अभाव की सिद्धि के लिये पहले प्राप्ति होना अनिवार्य है)— यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि (अप्राप्त-विषयक विधि का) विकल्प (मानने) में भी निषेध का प्रकरण होने से नञ् के उल्लेख की आवश्यकता है—इसलिये प्राप्ति का उद्भावन आवश्यक होता है। और बीच (के दो सूत्रों) में नञ् का सम्बन्ध नहीं होता है आगे (के सूत्र में) मण्डूकप्लुति से अनुवृत्ति होती है–इसमें कोई प्रमाण नहीं है। और 'सर्वत्र शाकल्यस्य' इस सूत्र में यह द्वित्व-[व्यवहित-अव्यहित उभय-साधारण] मात्र का निषेधक है–इसका बोध कराने के लिये इस [विशेषरूप से विधि

"स्थानिवदादेश:" (पा० सू० १।१।५६) 'धात्वङ्गकृत्तद्धिताव्यय-सुप्तिङ्पदादेशा' इति प्राचोक्तम्। किं तत्परिगणनम् उदाहरणमात्रं वा? नाद्यः। सिच्क्सचङङादीनां श्नादेशस्य शानचश्चासङ्ग्रहापत्तेः।

खाच्च। "त्रिप्रभृतिषु-" इत्येतद्विषये "नकारषकारयोर्द्विर्वचनाभाव:" इति मिश्रग्रन्थेन प्राप्त्युल्लेखस्य कृतप्रायत्वाच्च। वृत्तिहरदत्तयोः 'नादिन्या-' "शरोऽचि" (पा० सू० ८।४।४९) इत्यनयोरपि प्राप्त्युल्लेखस्य बहुषु पुस्तकेष्वनुपलम्भाच्चेति दिक्।

चङङादीनामिति। आदिना चिण्। न केवल च्ल्यादेशानामेवासङ्ग्रह इत्याह—**श्नादेशस्येति**। तदभावे ह्यवादिषातामित्यत्रेड् न स्यात्। क्सादेः कादीनामित्त्वं न स्यात् शानचः शस्य च तन्न स्यात्। मा

तत्राप्रामाण्यग्रहः। तथा च मूलाशुद्ध्या न भवदिष्टार्थसाधनमिति-तत्त्वविदः॥

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ। मूले-**प्राचा**=प्रक्रियाकौमुदीकृता। **परिगणनमिति**। एतेष्वेवोपदेशशब्द-प्रयोग इति भावः। **तदभावे**=स्थानिवत्त्वाभावे। **अवादिषा-**

की प्राप्ति का उल्लेख नहीं है। और 'त्रिप्रभृतिषु' इस सूत्र के विषय [लक्ष्य] में 'षकार और नकार का द्वित्व नहीं होता है' इस हरदत्त मिश्र के ग्रन्थ [पदमंजरी] से प्राप्ति का उल्लेख कर ही लिया गया है। काशिकावृत्ति और उसकी टीका पदमंजरी में 'नादिन्याक्रोशे' [पा० सू०] तथा 'शरोऽचि' (पा० सू०) इन दोनों में भी प्राप्ति का उल्लेख बहुत सी हस्तलिखित पुस्तकों में नहीं प्राप्त होता है॥

(**मनो०**) स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ (पा० सू० १।१।५६) (आदेश स्थानी के समान हो जाता है अल् विधि न रहने पर) इसके उदाहरणों के विषय में काशिका-कार) प्राचीन विद्वान् ने यह कहा है—"धातु, अङ्ग, कृत्. तद्धित, अव्यय, सुप्, तिङ् और पद के आदेश (स्थानी के समान हो जाते हैं)।" तो क्या यह परिगणन है अर्थात् इनकी निश्चित संख्या यही है? अथवा केवल उदाहरण है? इन (दोनों पक्षों) में प्रथम=परिगणनपक्ष नहीं है, क्योंकि सिच्, क्स, चङ् और अङ् (इन च्लि के आदेशों) का और श्ना के आदेश शानच् का संग्रह नहीं हो सकेगा। (**शब्द०**) चङादीनामिति। 'आदि' से चिण् आदेश समझना चाहिये। केवल च्लि के आदेशों का ही असंग्रह होगा (अन्य का भी होने लगेगा)—इसलिये लिखते हैं श्ना के आदेशभूत शानच् का भी असंग्रह होने लगेगा। स्थानिवद्भाव न होने पर 'अवादिषाताम्' इस लक्ष्य में (वास्तव में 'अवाधिषाताम्' में आर्धधातुकत्व न होने से) इट् नहीं हो सकेगा। (क्योंकि च्लि-प्रत्ययवृत्ति आर्धधातुकत्व सिच् में नहीं आ सकेगा।) क्स आदि के ककार आदि की इत्संज्ञा नहीं हो सकेगी। क्योंकि प्रत्यय के आदि कवर्ग की ही इत्संज्ञा होती है।) और शानच् के शकार की भी इत्संज्ञा नहीं हो सकेगी। मा

नान्त्यः, अव्ययस्याङ्गपदाभ्यां पृथग्ग्रहणवैयर्थ्यात् ।

हि दर्शदित्यादौ अङि गुणो न स्यादिति भावः ।

ननु सिजादीनां प्रत्ययाधिकारे पाठात् श्नम्वत् प्रत्ययत्वमस्तीति न स्थानिवत्त्वोपयोगः । न च तेषां प्रत्ययत्वे च्लिविधानं व्यर्थम्, "मन्त्रे घस"—(पा० सू० २।४।८०) इति सूत्रे चङङसिचामिति त्रयाणां ग्रहणे गौरवापत्तेः । सिचो लुकि तद्विषये "आदिः सिच—" (पा० सू० ६।१।१७७) इति स्वरापत्तेश्चेति भाष्यकैयटयोः स्पष्टमित्यरुचेराह—चेति । तेन 'अग्रहीदि' त्यादाविडादेशस्य ईटोऽसङ्ग्रह इत्यर्थः । इदमुपलक्षणम् । अव्ययस्य पदात्पृथग्ग्रहणवैयर्थ्यमपि दोष इति बोद्धव्यम् । **अव्ययस्येति** । अत्र त्वस्यैव दोषत्वमिति भावः । नन्वव्ययस्याङ्गत्वे फलाभावेन प्रत्ययस्य लुका लुप्तत्वेन च तदप्राप्त्या कथं तेनाव्ययसङ्ग्रहोऽत आह—**पदेति** । तत्त्वं च ततः परस्य निघातार्थमावश्यकं, प्रत्ययलक्षणेन सुबन्तत्वाच्च तत्त्वमिति भावः ।

हि दर्शत्'—आदि लक्ष्यों में अङ् परे रहते ('ऋदृशोऽङि' सूत्र से गुण नहीं हो सकेगा। क्योंकि च्लि को मानकर होने वाली अङ्गसञ्ज्ञा आदेशभूत अङ् को मानकर नहीं हो सकती ।)

सिच् आदि का पाठ 'प्रत्ययः' इस अधिकार के अन्तर्गत है अतः श्नम् के समान इनका भी प्रत्ययत्व सिद्ध है, स्थानिवद्भाव की कोई उपयोगिता नहीं है इनके प्रत्यय रहने पर च्लि का विधान व्यर्थ है—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि "मन्त्रे घसह्वर" २।४।८० इस सूत्र में (च्लि न रहने पर) चङ् अङ् और सिच्—इन तीन का ग्रहण करना होगा । सिच् का लुक होने पर उसके विषय में 'आदिः सिचोऽन्यतरस्याम्' (पा० सू० ६।१।१८७) इससे आद्युदात्त स्वर की आपत्ति है—यह भाष्य और कैयटप्रदीप में स्पष्ट है—इस अरुचि के कारण (मनोरमा में) लिखते हैं—च। इस परिगणन से 'अग्रहीत्' आदि में इट् के आदेश ईट् का संग्रह नहीं हो सकेगा—यह अर्थ है। यह (अग्रहीत् आदि की असिद्धिरूप दोष का प्रदर्शन) उपलक्षण है क्योंकि पद से अलग अव्यय का ग्रहण व्यर्थ होना भी दोष है। (क्योंकि अव्यय भी पद होते हैं।)

[मनो०] अन्तिम पक्ष=उदाहरणमात्र—यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अव्यय का अंग और पद से पृथक् ग्रहण करना व्यर्थ है। **(शब्द०)** इस पक्ष में तो यही दोष है, यह भाव है। अव्यय के अङ्ग होने में कोई फल नहीं होने से और प्रत्यय का लुक् शब्द से लोप होने से अङ्गत्व की प्राप्ति नहीं होने के कारण उससे अव्यय का संग्रह नहीं होगा—यह कैसे ? इसके लिये (मनोरमा में) कहते हैं—पद से पृथग् ग्रहण व्यर्थ है। और अव्यय का पदत्व तो अव्यय से परे का निघात करने के लिये

प्रस्तुत्येति वृत्तिकारोक्तं तदुदाहरणमपि मन्दम्, क्त्वामात्र-स्यानव्ययत्वात्, कृत्त्वेन सिद्धत्वाच्चेत्याशयेनाह—आदेश इति।

सिद्धत्वाच्चेति। अत एवात्र तुक्। न च "सर्वे सर्वपदादेशाः" इति न्यायेन "प्रस्तुत्वा" इत्यस्य स्थाने 'प्रस्तुत्य' इत्यादेशे तस्याव्ययत्वसिद्धिरिति वृत्त्याशय इति वाच्यम्, अर्थवत्येव स्थानिवत्त्वमिति तात्पर्येण क्त्वोऽप्यर्थ-वत्त्वेन तादृशस्थान्यादेशभावकल्पने मानाभावादिति दिक्।

तामित्यत्रेति। प्रत्ययत्वाभावेनार्धधातुकत्वाभावादितिभावः। वदधातोरात्मनेपदस्य दुर्लभत्वात् कर्मव्यतिहारे तत्त्वेऽपि वृद्धेर्दुर्वचत्वात् 'अवाधिषाताम्' इत्येवोचितम्। अन्ये तु वादशब्दादाचार - क्विबन्तात् कर्मणि लुङि एतद्रूपम्। न चात्र सिचः आर्ध-धातुकत्वाभावेऽपि चिण्वदिटा सिद्धिः, अस्योपदेशाभावेन तत्प्राप्तेरित्याहुः। वस्तु-तस्तु स्यसिजित्यस्य उपदेशेऽजन्तानामित्यर्थे ण्यन्तेऽव्याप्तिः उपदेशे योऽच् तदन्ताना-मित्यर्थे 'आरिता' इत्यादौ नित्यत्वाद् गुणे रपरत्वे च चिण्वद्भावासिद्धिः, किंच 'अवाधिषाताम्' इत्यात्राप्यौपदेशिकं घञोऽचमादाय चिण्वद्भावेनैव सिद्धिः, न चार्धधातुकत्वाभावे चिण्वदिटोऽप्यप्राप्तिः, तत्रार्धधातुकस्य अप्रकृत्वेनासम्भवात् तस्मात् स्यादिप्रत्ययोपदेशकालेऽजन्तानां चिण्वद्भाव इति सिद्धान्तः, तथात्वेऽप्यत्र चिण्वद्भावो दुर्वार एवेति सुधियो विभावयन्त्वित्युपाध्यायाः सभापतिशर्माणः।

तन्नेति। इत्वं नेत्यर्थः=प्रत्ययत्वाभावादिति भावः। **माहिदर्शदिति।** लुङि अडागमाभावः, अङः प्रत्ययत्वाभावादित्वं न स्यादिति भावः। **तेषाम्**=सिजादी-नाम्। **तद्विषये**=घस्नश्गमृभिन्ने सर्वत्र वेत्यर्थः। **तेन**=चेन इत्यर्थः। **इदम**=

आवश्यक है और प्रत्ययलक्षण से सुबन्त हो जाने के कारण पदत्व सुलभ है—यह भाव है।

[मनो०] वृत्तिकार द्वारा कहा गया स्थानिवत्त्व का उदाहरण—प्रस्तुत्य—यह भी अच्छा नहीं है क्योंकि क्त्वामात्र अव्यय नहीं होता है (अपितु क्त्वाप्रत्ययान्त); और वहाँ कृत्त्व से ही सिद्ध हो जाता है—इस आशय से [सिद्धान्तकौमुदी] कहते हैं—आदेश स्थानिवत् होता है। **[शब्द० सिद्धात्वाच्चेति]** कृत्त्व है इसीलिये इस (प्रस्तुत्य लक्ष्य] में तुक् ("ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" इस सूत्र से) होता है 'सम्पूर्ण पद के स्थान पर सम्पूर्ण पद आदेश होता है' इस न्याय से प्रस्तुत्वा इसके स्थान पर प्रस्तुत्य इस आदेश से इसका अव्ययत्व सिद्ध है—ऐसा वृत्तिकार का आशय है—यह नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अर्थवान् में ही स्थानिवद्भाव होता है—ऐसा तात्पर्य होने से क्त्वा के भी अर्थवान् होने से उस प्रकार के (प्रस्तुत्वा का प्रस्तुत्य) आदेश को मानने में कोई प्रमाण नहीं है।

अनल्विधाविति किम् ? तेन, तस्मात्, तस्य, तस्मिंश्च विधौ मा भूत्। तत्र अला विधौ यथा—व्यूढोरस्केन। अत्र सकारस्य स्थानिवत्त्वेन विसर्गवदट्त्वमाश्रित्य "अड्व्यवाये" (पा० सू० ८।४।२) इति णत्वं प्राप्तम्।

अनल्विधाविति किमिति। विधिग्रहणविशिष्टं किमर्थमिति प्रश्नः। **णत्वं प्राप्तमिति।** न च सकारे स्वतोऽड्भिन्नत्वसत्त्वादड्भिन्नव्यवाये नेति निषेधात्कथं णत्वप्राप्तिरितिवाच्यम्,

---

अग्रहीदित्यसिद्धिरूपमित्यर्थः। **अत्र**=अन्त्यपक्षे। **अस्यैव**=अव्ययग्रहणस्यैव। **तदप्राप्त्या**=अङ्गत्वाप्राप्त्या। **तत्त्वञ्च**=पदत्वञ्चेत्यर्थः। **ततः**=अव्ययादिति भावः। प्रातंभवतीत्यादौ 'तिङ्ङतिङः' इति निघातसिद्ध्यर्थमिति भावः। **अत एव**=कृत्त्वस्यावश्यकत्वादेव। **अत्र**=प्रस्तुत्येत्यादौ। **तस्य**=प्रस्तुत्य इत्यस्येत्यर्थः। **वृत्त्याशयः**=काशिकाकाराशयः। **अर्थवत्येवेति**=एवेन निरर्थकानां व्यवच्छेदः। **तात्पर्येणेति।**

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥

इति पूर्वोक्तभाष्यप्रदर्शितन्यायतात्पर्येणेत्यर्थः। **तादृशस्येति।** समुदायस्येत्यर्थः। **मानाभावादिति।** श्रौतस्य स्थान्यादेशभावस्य यत्र स्थानिन आनर्थक्यं तत्र समुदा-

---

(मनो०) 'अनल्विधौ' यह किस लिये है ? **(शब्द०)** 'विधि' शब्दयुक्त का ग्रहण किसलिये है ? यह प्रश्न (का तात्पर्य) है। अर्थात् अनलि यह न लिखकर विधि के साथ समासयुक्त प्रयोग क्यों किया गया है ? **[मनो०]** (१) तृतीयान्त—अला, (२) पञ्चम्यन्त—अलः, (३) षष्ठ्यन्त—अलः, (४) सप्तम्यन्त—अलि—विधि में न हो। अर्थात् चार विभक्त्यन्तों के साथ विधि शब्द का समास करने के लिये समस्त अनल्विधि शब्द का ग्रहण है। इन (चार प्रकार के समासों) में तृतीयान्त (१) अल्-करणक विधि में [स्थानिवद्भाव न होने का उदाहरण)—जैसे—व्यूढोरस्केन। (व्यूढम्=विशालम्, उरः यस्य तेन—इस अर्थ में बहुव्रीहि समास करने पर यह रूप होता है) इस लक्ष्य में स्थानिवद्भाव से विसर्ग के समान सकार को अट्त्व मान "अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेपि" पा० सू० ८।४।२ (अट् के व्यवधान में भी णत्व होता है) इससे णत्व प्राप्त होता है। [किन्तु अल्करणक विधि होने के कारण स्थानिवद्भाव नहीं होता है। अतः णत्व नहीं होता है।]

(शब्द० णत्वं प्राप्तमिति]—सकार में स्वतः अड्भिन्नत्व होने से 'अड् से भिन्न के व्यवधान में नहीं होता है' इस निषेध के कारण णत्व की प्राप्ति कैसे होती है—[भाव यह है कि नियम शास्त्रों की निषेधमुखेन प्रवृत्ति मानते हैं—इस पक्ष में निषेध स्पष्ट है। और विधिमुखेन प्रवृत्ति होती है, सामान्य शास्त्र के तात्पर्य का

अतिदिश्यमानधर्मविरुद्धस्वाश्रयधर्मप्रयुक्तकार्याभावस्यातिदेशस्वभावसिद्ध-त्वात् । इदं चासिद्धवत्सूत्रे कैयटे स्पष्टम् ।

यस्य स्थानित्वमिति आनर्थक्यमेव तादृक्कल्पनायां मानं, तच्चात्र नास्तीति भावः । **दिगिति** । तदर्थस्तु रूढेर्यन्त्रविरोधित्वं तत्रैव तदङ्गीकारः प्रक्रियादशायां तदनङ्गीकारश्च । अतएव 'सुपन्थाः' इत्यादिसिद्धिः, प्रकृते तुक्सिद्धिश्चेत्याहुः ।

मूले—**अनल्विधाविति** । 'अनलि' इत्येतावतैवाभीष्टसिद्धौ 'विधि' सहितम् 'अनल्विधावित्यस्य ग्रहणं किमर्थमिति प्रश्नाशयः । तृतीया,—पञ्चमी-षष्ठी-सप्तमीति चतुर्विधविभक्त्यन्तार्थस्य समासलाभाय विधिग्रहणविशिष्टमनल्विधावित्यस्यग्रहणं बोध्यम् । तदेवाहमूले—**तेन, तस्मादित्यादि** । **तत्र**=चतुर्विधसमासमध्ये इत्यर्थः । **अला**=अल्करणकेन अल्कर्तृकेन वेत्यर्थः । **व्यूढोरस्केनेति** । व्यूढम् उरः यस्य स तेनेति विग्रहे बहुव्रीहौ विभक्तिलोपे सति गुणे, समासान्तकप्रत्यये व्यूढोरस्क इति । अत्र तृतीयैकवचने व्यूढोरस्केनेत्यत्र 'सोऽपदादौ' इति सूत्रेण विहितस्य सकारस्य स्थाने 'स्थानिवत्' सूत्रेण स्थानिवद्भावेन विसर्गत्वमादाय विसर्गस्याकारोपरि पाठेनाड्ग्रहणेन ग्रहणात् 'अट्कुप्वाङ्' इति सूत्रेण णत्वं प्राप्नोति । अत्र 'अला=अल्करणकविधौ, अल्कर्तृकविधौ वा आदेशो स्थानिवद् न भवति ।' एवञ्च अडादिमात्रव्यवधानाभावात् न णत्वमिति भावः । मूले—**विसर्गवदिति** । विसर्गवृत्ति-अट्त्वमित्यर्थः, षष्ठ्यर्थे मतुप् । **निषेधादिति** । नियमशास्त्राणां द्वेधा प्रवृत्तिः—निषेधमुखेन विधिमुखेन वा । अत्र 'अट्कुप्वाङ्' इत्यस्य नियामकत्वेन निषेधमुखेन च प्रवृत्त्या स्वत एव निषेधः । विधिरूपेण प्रवृत्तिः=सामान्यशास्त्रतात्पर्यसङ्कोच इति पक्षेऽपि फलितं निषेधमादायेयमुक्तिरिति बोध्यम् । समाधत्ते—**अतिदिश्यमानेति** । अतिदिश्यमानो यो धर्मस्तद्विरुद्धो यः स्वाश्रयधर्मः=आदेशनिष्ठधर्मः, तत्प्रयुक्तकार्यस्याभाव इत्यर्थः । अत्र विरुद्धत्वं धर्मे कार्ये चोभयत्रान्वेति । **इदञ्च**=तादृशकार्याभावेऽतिदेशस्वभावसिद्धत्वञ्च । एवञ्चादेशनिष्ठसत्त्वमादाय णत्वनिषेधो न शङ्कनीय इति बोध्यम् ।

संकोच होता है—इस पक्ष में भी फलित निषेध को मानकर 'अड् से भिन्न के व्यवाय में णत्व नहीं होता है ।' अतः 'व्यूढोरस्केन' में णत्व की प्राप्ति किस प्रकार होती है]—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि अतिदिष्ट होने वाले धर्म से विरुद्ध जो स्वाश्रय=आदेश में रहने वाला धर्म, उसको मान कर होने वाले कार्य का अभाव=न होना अतिदेश का स्वभावसिद्ध है । यह 'असिद्धवदत्राभात्' सूत्र पर कैयट में स्पष्ट है ।

विमर्श—जहाँ अतिदेश करना अभीष्ट होता है वहाँ आदेश में रहने वाला

अलः परस्य—द्यौ, पन्थाः। हल्ङ्याब्लिलोपो न। अलो विधौ—द्युकामः। वलि लोपो न।

द्युकाम इति। यद्यपि वत्वं हल्त्वाद्यपेक्षया विशेषधर्मस्तथाप्येतद्वाक्योपप्लुते 'वकारवदुकार' इति वाक्ये उपात्तधर्मापेक्षया न तस्य तत्त्वम्। सूत्रक्लृप्तस्थान्यादेशभावमादायैवैतत्कृतवाक्योपप्लवादिति भावः।

धर्म यदि अतिदिष्ट होने वाले धर्म से विरुद्ध होता है, तो उसको मानकर कार्य नहीं किया जाता है। प्रस्तुत लक्ष्य में अतिदिष्ट होने वाला धर्म है—अट्त्व। इससे भिन्न आदेशनिष्ठ धर्म है सकारत्व। इस सकारत्व को मानकर कोई कार्य नहीं किया जा सकता। अतः सकार में विसर्ग=अट्त्व का अतिदेश सम्भव होने से णत्व की प्राप्ति है। परन्तु यह णत्व अल्करणकविधि है। अतः स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

[मनो०] (२) अल् से परवर्त्ती की विधि में (स्थानिवद्भाव नहीं होता है—इसके उदा०]—द्यौः, पन्थाः। [इनमें दिव्+सु, 'दिव औत्' ७।१।८४ इससे व् का 'औ' आदेश और इकार का यण् करने पर द्यौ+सु इस अवस्था में) 'हल्ङ्याभ्यः' पा० सू० ६।१।६८ से सु लोप नहीं होता है। इसी प्रकार पथिन्+सु 'पथिमथ्-भुक्षामात्' सूत्र से न् का आ आदेश करने पर, इकार का आकार और थ का न्थ आदेश करने पर पन्था+सु यहाँ भी) सुलोप नहीं होता है। (क्योंकि अल् हैं वकार और नकार। इनसे परे सु की लोपविधि करनी है। अतः स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

(३) अल् के स्थान पर होने वाली विधि में (स्थानिवद्भाव नहीं होता है) जैसे—द्युकामः। वल् परे अल्=य् का लोप नहीं होता है। [शब्द०—द्युकाम इति] यद्यपि वत्व हल्त्व आदि की अपेक्षा विशेष धर्म है ('अतः सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः'—इस न्याय से हल्त्व का अतिदेश होगा वत्व का नहीं] तथापि [आदेशः स्थानिवत्] इस वाक्य से उपप्लुत=आविर्भूत 'उकार वकार के समान होता है' इस वाक्य में उपात्त=ज्ञात धर्म की अपेक्षया वत्व विशेष धर्म नहीं है क्योंकि सूत्र में क्लृप्त=निश्चित स्थान्यादेशभाव को मान कर ही इस सूत्र द्वारा किया गया वाक्य का उपप्लव है। [प्रस्तुत लक्ष्य में स्थानी है व, स्थानितावच्छेदक वत्व है, आदेश उ है, आदेशतावच्छेदक उत्व है। इस स्थान्यादेशभाव को मान कर ही स्थानिवत् सूत्र की आवृत्ति=उपप्लव की जाती है। इसमें वत्व और उत्व का ही उपादान है सामान्य और विशेष धर्मों का नहीं। इसलिये 'सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः' का लक्ष्य नहीं है। वत्व का अतिदेश होने पर 'लोपो व्योर्वलि' से

अलि विधौ—यजेः क्तः 'क इष्टः' "हशि च" (पा०सू० ६।१।११४) इत्युत्वं न।

क इष्ट इति। यद्यपीदं रूपमुत्वे गुणेऽवादेशे च पाक्षिकलोपेन सिध्यति, तथापि पक्षे 'कविष्ट' इति स्यात्; 'कयिष्ट' इति चेष्यते इति भावः।

मूले पञ्चमीसमासस्य फलं प्रस्तौति—अलः परस्येति। द्यौरिति। दिव्शब्दात् प्रथमैकवचने सौ, 'दिव् औत्' इत्यनेन वकारस्य औकारादेशे इकारस्य यणि द्यौः सिद्ध्यति। अत्र वकारस्थानिकस्य औकारस्य स्थानिवद्भावेन हल्त्वमादाय हलः परस्य सोः 'हल्ङ्याब्भ्यः' इति लोपः प्राप्तः। 'अलः परस्य विधौ न स्थानिवदि' ति निषेधान्न सुलोपः।

षष्ठीसमासस्य फलमाह मूले—अलो विधौ द्युकाम इति। अलः स्थाने विधौ न स्थानिवदिति भावः। 'द्युकामः' इति, दिवं कामयते इत्यर्थे 'कर्मण्यण्' इत्यणि, उपधावृद्धिः उपपदसमासः 'दिव उत्' इति सूत्रेण वकारस्य उकारादेशः। अस्मिन् उकारे स्थानिवद्भावेन वत्वमादाय 'लोपो व्योर्वलि' इति सूत्रेणास्य वकारस्य लोपः प्राप्तः। वकारस्य स्थाने लोपस्य विधित्वेन स्थानिवत्त्वं न भवतीति भावः।

ननु 'सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः' इति लोकप्रसिद्ध-परिभाषा। यथा 'ब्राह्मणवदस्मिन् क्षत्रिये वर्त्तितव्यम्' इत्युक्तेऽग्रासनादिप्रदानं तु दृश्यते किन्तु ब्राह्मणविशेष - देवदत्तादिसम्बन्धि - परिवेषणादि - धर्मस्य व्यवहारो न दृश्यते। तथैव प्रकृते हल्त्वापेक्षया वत्वं वल्त्वं वा विशेषधर्मः, तस्यातिदेशो न सम्भवति। एवञ्च 'द्युकामः' इत्यादौ वलि ककारे कथं लोपस्य प्राप्तिरित्याशयेन शङ्कते—यद्यपीति। आदिना वल्त्वादिसंग्रहः। उपप्लुते=कल्पिते। तत्त्वम्=विशेषधर्मत्वमित्यर्थः। हल्त्वापेक्षया वत्वस्य वल्त्वस्य वा विशेषधर्मत्वेऽपि 'स्थानिवद्' इत्यस्यावृत्तौ 'उकारः वकारवत्' अस्मिन् वाक्ये उच्चारितधर्मः वत्वमुत्वञ्च। अत्र उत्वापेक्षया वत्वे विशेषधर्मत्वं नास्तीति तस्यातिदेशे बाधकाभाव इति बोध्यम्। एतदृशवाक्योपप्लवें मानमाह—सूत्रेति आदेशविधिसूत्रेषु येन रूपेण स्थान्यादेशभावः क्लृप्तो भवति तादृशमादायैवेति भावः। एवञ्चात्र 'सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः', इत्यस्या विषय एव नेति बोध्यम्।

'द्य्उ्-कामः में य् लोप प्राप्त होता है। परन्तु अल् के स्थान पर विधि होने से निषेध हो जाता है।

[मनो०] (४) अल् परे रहते विधि में [स्थानिवद्भाव नहीं होता है—इसका] उदा०—यज् धातु से क्त (करने पर 'इष्टः' बना है—) क इष्टः। "हलि च" [पा० सू० ६।१।११४] इससे उत्व नही होता है। [शब्द० क इष्ट इति] यद्यपि यह रूप उत्व गुण और अवादेश करने पर पाक्षिक वलोप से भी सिद्ध होता है तथापि लोपाभावपक्ष में 'कविष्ट' ऐसा होने लगेगा और इष्ट रूप है—'कयिष्टः' यह भाव है।

अल् चेह स्थान्यवयव एव गृह्यते, तेन रामायेत्यादौ "सुपि च" (पा० सू० ७।३।१०२) इति दीर्घः सिद्धः। तद्विधौ हि यञादित्वमाश्रितं यञादेशावयवो न तु स्थान्यवयव इति तदेतत्सकलमभिप्रेत्याह—न तु स्थान्यलाश्रय इति।

स्थान्यवयव एवेति। उपलक्षणमेतत्स्थानिरूपोऽपीति बोद्धव्यम्। अत एव "आदेशिन्यल्याश्रीयमाणे प्रतिषेध" इति भाष्ये उक्तम्।

सप्तमीसमासस्य फलमाह मूले—**अलि विधावित्यादिना।** अलि परे विधावित्यर्थं। **इष्ट** इति। यज् धातोः क्ते, सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च 'इष्ट' इति। किम् शब्दस्य प्रथमैकवचने क इति। एवञ्च कः+इष्टः इत्यत्र विसर्गात् पूर्ववर्त्तिनः रोः 'हशि च' इत्येनोत्वं न भवति, स्थानिवद्भावनिषेधात। अन्यथा इकारे यकाराति-

---

विमर्श—यज् धातु से क्त प्रत्यय और यकार का सम्प्रसारण तथा षत्वष्टुत्वादि करने पर 'इष्टः' यह रूप बनता है। वाक्यसंस्कारपक्ष में किम्=क+सु, स् का रुत्व और उत्व करके को+इष्टः, अव् आदेश करने पर विकल्प से व् का लोप होता है। लोप न करने पर कविष्टः यह होता है। परन्तु यह रूप शुद्ध नहीं है। अतः स्थानिवद्भाव का निषेध करने पर इकार में यकारवुद्धि नहीं होने से 'हशि च' की प्रवृत्ति नहीं होती है इसीलिये स्थानिवद्भाव का निषेध करना है। निषेध हो जाने पर 'भो भगो अधो अपूर्वस्य योऽशि' से रु का य् होता है और उसका लोप 'लोपः शाकल्यस्य' से विकल्प से होता है। अतः (१) क इष्टः और लोपाभावपक्ष में (२) कयिष्टः ये दो रूप होते हैं।

[मनो०] सूत्र में स्थानी का ही अवयव अल् लिया जाता है **[शब्द०]** यह [कथन] उपलक्षण है, स्थानीरूप भी अल् लिया जाता है, ऐसा समझना चाहिये। [अर्थात् स्थानी और स्थानी का अवयव—ये दोनों लिये जाते हैं] इसीलिये 'आदेशी =स्थानी अल् के आश्रित रहने पर [स्थानिवद्भाव का] प्रतिषेध कहना चाहिये" ऐसा भाष्य में कहा गया है। **[मनो०]** [स्थानी का ही अवयव अल् लिया जाता है।] इसीलिये 'रामाय' आदि में 'सुपि च' (पा० सू० ७।३।१०२) इससे दीर्घ होता है। क्योंकि दीर्घविधान में यञादित्व [यञ् प्रत्याहार का वर्ण आदि में है जिसका वैसा होना] आश्रित किया है। और यञ् आदेश का अवयव है न कि स्थानी का अवयव—इस सब को ध्यान में रख कर [सिद्धान्तकौमुदी में] कहते है—स्थानी अल् को आश्रय मान कर होने वाली विधि में [स्थानिवद्भाव] नहीं होता है। [भाव यह है कि राम शब्द से चतुर्थी एकवचन में 'ङे' प्रत्यय होता है। इसके स्थान पर "ङेर्यः" पा० सू० ७।१।१३ से 'य' आदेश होता है। यञ् प्रत्याहार का वर्ण आदि में होने से "सुपि च" से दीर्घ होता है यहां यञ् यद्यपि अल् है किन्तु यह स्थानी का अवयव नहीं है, आदेश का है। अतः यह अल्विधि नहीं है।]

आश्रयणं चेह यथाकथञ्चिन्न तु प्राधान्येनैवेत्याग्रहः। तेन प्रपठ्येत्यत्र वलादिलक्षण इण न। तन्निषेधादिति। स्थानिवत्त्वनिषेधादित्यर्थः।

न तु स्थान्यवयव इति। अतः प्रत्ययत्वं स्थानिवत्त्वेन भवत्येवेति भावः। अग्रहीदित्यादौ "ग्रहोऽलिटि" (पा० सू० ७।२।३७) इत्यनेनेट एव दीर्घविधानान्नाल्त्वेन तस्य स्थानितेति तद्वृत्तीट्त्वाश्रयस्य सिचो लोपस्य सिद्धिरिति बोध्यम्। **यथा कथंचिदिति।** व्याख्यानादिति भावः।

देशे उत्वादेशो दुर्वारः। स्थानिवद्भावाङ्गीकारेऽपि लक्ष्यस्य सिद्धिरित्याशयेन शङ्कते शब्दरत्ने—**यद्यपीति। इदम्**=क इष्ट इत्येतत्। **पाक्षिकेति।** 'लोपः शाकल्यस्य' इति सूत्रेण यकारवकारयोः पाक्षिकलोपविधानात्। **पक्षे**=लोपाभावपक्षे। एवञ्च पाक्षिक-लोपसिद्ध्यर्थमत्र स्थानिवद्भावनिषेधः आवश्यकः। मूले—**अल्चेह।** अस्मिन सूत्रे इत्यर्थः। **स्थान्यवयव एवेति।** एवकारोऽत्र भिन्नक्रमः, स्थानिन एवावयव इत्यर्थः। **तेनेति।** तादृशार्थाश्रयणेनेत्यर्थः। **दीर्घः** इति।

[शब्द०] [स्थानी और स्थानी के अवयव अल् को मान कर होने वाली विधि मे ही निषेध होता है।] इसलिये [य आदेश में] स्थानिवद्भाव से प्रत्ययत्व होता ही है—यह भाव है। 'अग्रहीत् आदि लक्ष्यों में 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (पा० सू० ७।२।३७) इससे इट् का ही दीर्घ किया जाता है अतः अल्त्वरूप से उस [इट्] की स्थानिता नहीं है, इस कारण उस इट् में रहने वाले इट्त्व को मान कर होने वाले सिच्लोप की सिद्धि हो जाती है, ऐसा समझना चाहिये। [भाव यह है कि 'ग्रहोऽलिटि' पा० सू० ७।२।३७ इस सूत्र से इट् का ही दीर्घ लिया जाता है। दीर्घ होने पर भी इट्त्व मान कर 'इट ईटि' पा० सू० ८।२।२८ से सिच्लोप होता है। इस लिये यह अलाश्रय विधि नहीं है।] **[मनो०]** स्थानी के अल् का आश्रयण इस सूत्र में जिस किसी भी प्रकार से लिया जाता है न कि प्रधान होते हुये ही, ऐसा आग्रह नहीं है। **[शब्द०]** क्योंकि ऐसा व्याख्यान है। **[मनो०]** इस लिये 'प्रपठ्य' यहाँ पर "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" पा० सू० ७।२।३५ से वलादि मानकर होने वाला इट् नहीं होता है। [भाव यह है कि 'अनल्वि' ऐसा कहने से भी कार्य सम्भव थे तथापि विधि शब्द का ग्रहण करने का फल यही है प्रधान या अप्रधान किसी भी रूप से अल् का आश्रय लेकर होने वाली विधि में स्थानिवत्त्व नहीं होता है-प्रपठ्+क्त्वा=त्वा=ल्यप्=य+प्रपठ्य में य में वलादित्व का अतिदेश नहीं होता है। इसलिये "आर्धधातुकस्येड्वलादेः" इस सूत्र से इट् आगम नहीं होता है।]

[सुध्य्+उपास्यः यहाँ स्थानिवद्भाव से यकार का अच्त्व मानकर "अनचि च" इससे द्वित्व के निषेध की शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि 'अनल्विधौ' इससे] उसका=स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है—यह अर्थ है॥

"अचः"(पा०सू० १।१।५७)। अल्विध्यर्थमिति। **तेन वव्रश्चेत्यत्र वस्य सम्प्रसारणं न, उरदत्वस्य स्थानिवत्त्वेन सम्प्रसारणतया "न सम्प्रसारण—" (पा० सू० ६।१।३७) इति निषेधात्।**

स्थान्यवयवानाश्रयणे तु अत्रापि निषेधप्रसङ्गः, तदेवाह—**यच्चादेशावयव** इत्यादि। शब्दरत्ने—**स्थानिरूपोऽपीति**। एवञ्च स्थान्यवयवाल् - वृत्ति-धर्मनिमित्तके विधौ न स्थानिवदिति फलति। **अत एव**=स्थानिरूपस्यालोऽपि ग्रहणादेवेत्यर्थः। **आदेशिनि**=स्थानिनि। **अतः**=स्थानिभूतस्य स्थान्यवयवभूतस्यान्यरस्यालो ग्रहणादित्यर्थः। **तस्य**=दीर्घादेशस्य। **तद्वृत्तीति**। इड्वृत्तीत्यर्थः। **सिद्धिरिति**। 'इट ईटि' इत्यनेन। मूले **आश्रयणमिति**। अल इति शेषः। **आग्रह इति**। प्रस्तुतसूत्रे भाष्ये "अलमाश्रयतेऽलाश्रयः। अलाश्रयो विधिरल्विधिरिति। इतरथा हि यत्र प्राधान्येनालाश्रीयते तत्रैव प्रतिषेधः स्यात्, यत्र विशेषणत्वेनाश्रीयते तत्र प्रतिषेधो न स्यात्। किं प्रयोजनम्? प्रदीव्य, प्रसे इति, वलादिलक्षण इड् मा भूदिति।" एतेनोक्ततात्पर्यं प्रकटितमिति भावः। सुध्य् उपास्यः इत्यत्र यकारस्य स्थानिवद्भावेनाच्त्वमाश्रित्य 'अनचि' इति द्वित्वनिषेधो न शङ्क्यः, 'अनल्विधा'विति तन्निषेधादिति परममूले उक्तम्। तत्र तत्पदार्थं विवृणोति—**स्थानिवत्त्वेति**।

अचः परस्मिन् पूर्वविधौ [पा० सू० १।१।५७] अल्विध्यर्थमिदम्। परनिमित्ताजादेशः स्थानिवत् स्यात् स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्त्तव्ये—इति वृत्तिः। अत्रेदं बोध्यम्—सुध्य्+उपास्यः इत्यत्र अनल्विधाविति स्थानिवद्भावस्य निषेधेऽपि प्रकृतसूत्रेण तत्र स्थानिवद्भावः प्राप्नोति। परनिमित्तो अजादेशः=इकारस्य यकाररूपो यणादेशः, एवञ्च स्थानिभूतादचः इकारात्पूर्वत्वेन दृष्टः धकारः, तस्य द्वित्वरूपविधौ कर्त्तव्ये यणादेशः स्थानिवत् स्यादिति। तदेवाह मूले—**अलविध्यर्थमिदमिति। तनेति**। अस्य सूत्रस्य अल्विध्यर्थत्वेनेति भावः। **वव्रश्चेति**। अयं भावः—व्रश्चधातोर्लिटि प्रथमपुरुषैकवचने तिपि णलि द्वित्वे—वृश्च् वृश्च+अ। 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (६।१।१७) इत्यभ्यासरेफस्य सम्प्रसारणे

'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' [पा०सू० १।१।५७] [मनो०] यह सूत्र अलाश्रय-विधि में स्थानिवद्भाव के लिये है। अर्थात् स्थान्यवयव अलाश्रय - विधि में स्थानिवत् करने के लिये यह सूत्र है। इसी लिये 'वव्रश्च' यहाँ 'व' का सम्प्रसारण नहीं होता है। क्योंकि 'उरत्' इस सूत्र द्वारा किये अकार का स्थानिवद्भाव करने से सम्प्रसारण [ऋ] हो जाने से 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' [पा० सू० ६।१।३७] इससे निषेध हो जाता है।

न चोरदत्वं परनिमित्तं नेति वाच्यम्, अङ्गाक्षिप्ते प्रत्यये परे तद्विधानात्, प्रागभ्यासविकारेभ्योऽङ्गाधिकारः' इति पक्षं दूषयित्वा 'आसप्तमसमाप्तेः' इति पक्षस्यैव आकरे सिद्धान्तितत्वात् ।

दूषयित्वेति । "अङ्गस्य" (पा०सू० ६।४।१) इति सूत्रे भाष्ये इति शेषः । एतदसिध्यैव दूषयित्वेत्यर्थः । विस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः ।

पूर्वरूपे वृश्च् व्रश्च्+अ इति । 'उरत्' (७।४।६६) इति सूत्रेणऋकारस्य अत्वे रपरत्वे हलादिशेषे वव्रश्च इति अस्यां स्थितौ पुनः 'लिट्यभ्यासस्ये'तिसूत्रेण सम्प्रसारणे प्राप्तेऽनेन स्थानिवद्भावात् अकारस्य सम्प्रसारणरूपतया ऋकारत्वेन 'न सम्प्रसारणे' इति सम्प्रसारणनिषेधः । स्थानिवत् सूत्रेण तु न स्थानिवद्भावः, 'न सम्प्रसारेण' इत्यस्याल्विधित्वात् ।

विमर्श— भाव यह है कि छेदनार्थक व्रश्च्+लिट्=तिप्=णल्=अ, द्वित्व— व्रश्च् व्रश्च्+अ यहाँ "लिट्यभ्यासस्य०" से अभ्यास [प्रथम] रेफ का सम्प्रसारण ऋ और अ का पूर्वरूप करने पर वृश्च् व्रश्च+अ, 'उरत्' से ऋ का अकार आदेश रपर वर्श्च+व्रश्च्+अ, हलादिशेष करने पर रूप होता है—वव्रश्च । यहाँ 'व' का सम्प्रसारण प्राप्त होने पर प्रस्तुत सूत्र 'ऋ' के अकार का स्थानिवद्भाव कर देता है । अतः सम्प्रसारण ऋ मिल जाने के कारण 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारण्' से सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है । यहाँ परनिमित्तक अजादेश है—ऋ का अ, इससे पूर्वत्वेन दृष्ट है व्, इसका सम्प्रसारण करना है, अतः अकार का स्थानिवद्भाव हो जाने से सम्प्रसारण—ऋ मिल जाने के कारण पुनः 'व्' का सम्प्रसारण—नही होता है ।]

[**मनो०**] 'उरत्' पा० सू० ७।४।६६ से होने वाला [ऋकार का] अकार परनिमित्तक नहीं है—ऐसा नहीं कहना चाहिये; क्योंकि अङ्ग से आक्षिप्त प्रत्यय के परे रहते ही अकार का विधान किया गया है, अभ्यासविकार अर्थात् 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' पा०सू० ७।४।५८ से पहले तक 'अङ्गस्य इसका अधिकार है, इस पक्ष को दूषित करके 'सप्तम अध्याय की समाप्ति तक 'अङ्ग' का अधिकार है'— इसी पक्ष को भाष्य में सिद्धान्तरूप से माना गया है । [भाव यह है 'उरत्' यह सूत्र भी अङ्गाधिकार के अन्तर्गत ही है अतः अङ्ग का अकार करता है । अङ्गत्व के लिये प्रत्यय परे होना चाहिये । इस प्रकार यह आदेश भी परनिमित्तक ही समझना चाहिये । स्थानिवद्भाव में बाधा नहीं है ।] [**शब्द०**] 'अङ्गस्य' पा० सू० ६।४।१ इस सूत्र पर भाष्य में उक्त पक्षको दूषित किया गया है—यह शेष है । इस वव्रश्च की असिद्धि के कारण ही दूषित किया है, यह अर्थ है, इस विषय में विस्तृत विचार अन्यत्र [भाष्यप्रदीपोद्द्योतादि में] देखना चाहिए ।

किं च पूर्वसूत्रेण स्थानिप्रयुक्तमतिदिश्यते नत्वादेशप्रयुक्तं वार्यते, नायकः, पावक इत्यादौ "एचोऽयवायावः" (पा० सू० ६।१।७८) इत्यादीनामप्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अनेन तु वार्यते।

शब्दाधिकारमाश्रित्य भावाभावयोरुभयोरप्यतिदेशोऽयमिति स्वीकारात्।

अनेन तु वार्यत इति। स्थानिनि सति यद्भवति तदादेशेऽपि भवति, तत्र सति यन्न भवति तदादेशेऽपि न भवतीत्यर्थात्। अजादेशोऽच्कार्यं लभते न लभते चेति वाच्योऽर्थः, तत्रोपपत्तिमाह—**शब्देति**। पूर्वसूत्रे स्थानिवत्पदस्य तद्वत्कार्यं लभत इत्येतन्मात्रार्थकस्येहोभयार्थकत्वात्तदाश्रयणमिति भावः।

मूले—**सिद्धान्तित्वादिति**। एवञ्च सप्तमाध्यायपर्यन्तमङ्गाधिकारस्य सत्त्वात् 'उरत्' इत्यस्य तदन्तर्गत्वात् परनिमित्तत्वमक्षतमिति बोध्यम्। **एतदिति**। वक्ष्यच-इत्यस्येत्यर्थः। **अन्यत्रेति**। कैयटादिग्रन्थे इत्यर्थः। मूले—**किं चेति**। इदं सूत्रं न केवलमल्विध्यर्थम्, अन्यदपि वैलक्षण्यम्, तदेवाह—**पूर्वेति**। शब्दरत्ने—**तत्र** = स्थानि-

---

(मनो०) और भी, पूर्ववर्ती [स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ] सूत्र द्वारा स्थानिप्रयुक्त [स्थानी को मान कर होने वाले] का अतिदेश किया जाता है न कि आदेश को मानकर होने वाले का वारण किया जाता है, क्योंकि [आदेशप्रयुक्त का वारण मानने पर तो] नायकः, पावकः आदि में 'एचोऽयवायावः' [पा० सू० ६।१।७८] आदि की प्रवृत्ति न होने का अवसर आ जायगा। [नी+ण्वुल्=अक, पू+ण्वुल् =अक, वृद्धि करने पर नै+अकः, पौ+अकः बनते हैं। यहाँ आदेशभूत ऐ तथा औ का आय् तथा आव् करना है। इसमें वारण नहीं किया जाता है।] परन्तु प्रस्तुत सूत्र 'अचः परस्मिन्' से तो [आदेशप्रयुक्त का भी] वारण किया जाता है [**शब्द०**] क्योंकि स्थानी के रहने पर जो होता है वह आदेश होने पर भी होता है, और स्थानी के रहने पर जो नहीं होता है वह आदेश में भी नहीं होता है—ऐसा अर्थ है। अच् के स्थान पर होने वाला आदेश अच्प्रयुक्त कार्य को प्राप्त करता है और नहीं प्राप्त करता है—यह वाच्य अर्थ है। इस विषय में उपपत्ति कह रहे हैं—[**मनो०**] शब्दाधिकार मान कर यह भाव और अभाव दोनों का अतिदेश करने वाला है—ऐसा स्वीकार किया जाता है। [**शब्द०**] पूर्ववर्त्ती सूत्र में 'स्थानिवत्' [स्थानी के समान हो जाता है] यह पद 'स्थानी के समान कार्य प्राप्त करता है—इतने ही अर्थवाला है, इस (स्थानिवत् पद) का प्रस्तुत सूत्र में दोनों प्रकार का अर्थ हो जाने में से भाव और अभाव दोनों का अतिदेश माना गया है, यह भाव है। (इसलिये पूर्वसूत्र के साथ विरोध नहीं होता है।) [**मनो०**] अभाव का भी अतिदेश होता

"न पदान्त" (पा० सू० १।१।५८) इति सूत्रे यलोपदीर्घादिग्रहणं चेह लिङ्गम् । अत एव गणयतीत्यादौ न वृद्धिः ।

यलोपदीर्घादीति । यलोपदीर्घावादी येषामित्यर्थः । यलोपादयो दीर्घादयश्चेति यावत् । तेन स्वरादीनामपि सङ्ग्रहः । यलोपादीत्येव सिद्धे एवमुक्तिर्वैचित्र्याय । न हि यलोपादिविषये भावातिदेशप्रसक्तिरिनि भावः । **न वृद्धिरिति ।** "अत उपधायाः" (पा० सू० ७।२।११६) इति वृद्धिर्नेत्यर्थः ।

"क्विलुगुपधात्व"—(वा०) इति निषेधस्तूपधात्वनिमित्तकप्रत्ययविधावेव नान्यत्रेति भाष्ये स्पष्टम् ।

नीत्यर्थं । अजादेश इति । प्रयोगस्थलीयाजादेश इत्यर्थः । मूले—**अप्रवृत्तिप्रसङ्गाविति** । नायक आदौ वु इत्यस्य अकादेशे एजाद्यादेशः प्रवर्त्तते । आदेशप्रयुक्तस्य वारणे तु एषु सन्धिकार्यं दुर्लभमिति बोध्यम् । **अनेन**='अचः परस्मिन्' इति सूत्रेण । **शब्दाधिकारेति** । 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इति सूत्रात् 'स्थानिवत्' पदं प्रकृतसूत्रेऽपि अनुवर्त्तते । किन्तु शब्दमात्रस्यैवानुवृत्तिर्भवति । तेन मूलसूत्रे 'स्थानिवद् भवति=स्थानिवत् कार्यं लभते—इत्येवार्थः । प्रस्तुत सूत्रे तु 'स्थानिनि सति यत् कार्यं भवति, आदेशेऽपि तद् भवति, अथ च 'स्थानिनि सति यत् कार्यं न भवति, आदेशेऽपि तन्न भवतीत्युभयार्थकता स्वीक्रियते । अत एव वव्रश्चेत्यादौ सम्प्रसारणवारणं सुकरमिति । मूले—**चेहेति** । उभयविधार्थकतास्वीकारेचेत्यर्थः । **अत एवेति** । स्थानिनि सति यद् न भवति आदेशेऽपि तद् न भवतीत्यर्थस्वीकारा-

---

है] इस विषय में 'न पदान्त०' पा० सू० १।१।५८ इस सूत्र में यलोप और दीर्घ आदि का ग्रहण प्रमाण है । **(शब्द०)** यलोप और दीर्घ ये दोनों आदि में है जिनके—यह अर्थ है । यलोपादि और दीर्घादि—यह तात्पर्य है । इससे स्वरादि का भी संग्रह हो जाता है । यलोपादि—इस कथन से ही सिद्ध हो जाता तो भी—दोनों का उल्लेख विचित्रता के लिये है । क्योंकि यलोपादि के विषय में भावातिदेश की प्रसक्ति नहीं होती है—यह भाव है । **(मनो०)** [अभाव का भी अतिदेश होता है] इसीलिये 'गणयति' आदि में वृद्धि नहीं होती है ।

(शब्द०) 'अत उपधायाः पा०सू० ७।२।११६ से वृद्धि नहीं होती है यह अर्थ है । ''क्विलुगुपधात्व०'' यह वार्त्तिक तो उपधात्वनिमित्तक प्रत्ययविधि में ही स्थानिवत्त्व का निषेध करता है, अन्यत्र नहीं । (अतः 'गणयति' में निषेध के लिये अभावातिदेश आवश्यक है ।)

स्थानिनि सत्यभवन्त्यास्तस्या आदेशेऽप्यभावातिदेशात्। उक्तं च "काममतिदिश्यतां वा सच्चासच्चापि नेह भारोऽस्ति" [म० भा० १।१।५७] इति।

स्यादेतत्—पूर्वत्वस्य सावधित्वेन सन्निहितस्यैव अवधित्वमुचितम्। सन्निहितं चेह त्रयं—स्थानी, आदेशो, निमित्तं च। तत्र न तावत् स्थानी अवधिस्तस्यादेशेनापहारात्। नाप्यादेशनिमित्ते, वैयाकरण इत्यत्र ऐकारस्यायादेशापत्तेरिति-

---

अयादेशापत्तेरिति। यणः स्थानिवत्त्वेनाच्त्वादिति भावः।

(मनो०) क्योंकि स्थानी अकार के रहने पर न होने वाली वृद्धि का अकार-लोप रूप आदेश में भी अभावातिदेश होता है। भाष्य में कहा गया है-"इच्छानुसार (लक्ष्यानुसार) भाव और अभाव का अतिदेश कर लेना चाहिये; इस नियम में किसी प्रकार का भार नहीं है।"

विमर्श—'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' पा० सू० १।१।५६ इस सूत्र में 'स्थानिवत्' पद है। इससे आदेश में स्थानिप्रयुक्त कार्य करने के लिये अतिदेश बताया जाता है इसी 'स्थानिवत्' पद की अनुवृत्ति प्रस्तुत सूत्र में है। परन्तु केवल शब्दानुवृत्ति होती है। अतः इस सूत्र में 'स्थानिवत्' का अर्थ बढ़ जाता है-(१) स्थानी के रहने पर जो होता है आदेश में भी वह होता है—यह भावातिदेश है। [२] स्थानी के रहने पर जो नहीं होता है वह आदेश में भी नहीं होता है—यह अभावातिदेश है। इसलिये पूर्वसूत्र की अपेक्षा इसका अन्तर स्पष्ट है।

अभाव का भी अतिदेश मानने पर ही 'गणयति' आदि में 'अत उपधायाः' सूत्र से वृद्धि नहीं होती है। क्योंकि गण+इ (णिच्) यहाँ णकार का अकार रहने पर उपधावृद्धि नहीं हो सकती, यह वृद्धि अकारलोप करने पर भी गण्+इ अवस्था में नहीं होती है। इसीलिये भाष्य में भावातिदेश और आभवातिदेश दोनों का स्पष्ट समर्थन किया गया है। कैयट ने लिखा है "नहि अभावातिदेशेऽधिकं सूत्रं पठनीयम्, विधिशब्दं चान्तरेण सिध्यति" [कै० प्र० १।१।५७]।

[मनो०] यह हो-पूर्वत्व [पूर्व होना] सावधि होता है [अर्थात् किसी की अपेक्षा ही पूर्व होता है] अतः सन्निहित का अवधि होना उचित है। और यहाँ पर तीन सन्निहित हैं—(१) स्थानी, (२) आदेश और (३) निमित्त। इनमें स्थानी को अवधि नहीं माना जा सकता क्योंकि आदेश के द्वारा स्थानी का अपहरण (विनाश) कर दिया जाता है। इसी प्रकार आदेश और निमित्त इन दोनों को भी अवधि नहीं माना जा सकता क्योंकि 'वैयाकरणः' इसमें ऐकार का आय् आदेश प्रसक्त होने लगेगा। [शब्द०] क्योंकि यण्=यकार स्थानिवद्भाव से अच् हो जाता है, यह भाव है। [वि+आ+करण=व्याकरण शब्द से 'तदधीते तद्वेद'

आशङ्क्याह—अचः पूर्वत्वेन दृष्टस्येति । पूर्वत्वमुपलक्षणं न तु विशेषणमिति भावः । एतेन "अचः पूर्वत्वविज्ञानादैचोः सिद्धम्' [म० भा० १।१।५७] इति वार्तिकं व्याख्यातम् ।।

पूर्वत्वं चात्र व्यवहिताव्यवहितसाधारणम्, स्वरे निषेधात् । अतो यण्-निमित्ताकारापेक्षयाऽप्यैकारस्य पूर्वत्वमस्तीति तत्पक्षेऽप्ययं दोष इति भावः ।

आदेशेनापहारात्कथं स्थानिनोऽवधित्वमित्यत आह—**उपलक्षणमिति** ।

देवेत्यर्थः । मूलकृतोक्तं लिङ्गत्वमुपपादयति—**न हि यलोपादिविषयेत्यादिना** । ननु गणयतीत्यादौ 'अचो ञ्णिति' इति शास्त्रापेक्षया 'अतो लोपः' इति शास्त्रस्य बलवत्त्वादकारस्य लोप एव स्यान्नतु वृद्धिरिति शङ्कायामाह—**अत उपधेति** । गणयतीत्यादौ उपधावृद्धिर्न भवति, लुप्ताकारस्य स्थानिवत्वेन उपधाकारस्याभावादित्यर्थः । **नान्यत्रेति** । उपधासंज्ञायां तद्धेतुककार्यान्तरे चेत्यर्थः । एवञ्च कथयति गणयतीत्यादौ न दोष इति भावः । मूले—**आयादेशापत्तिरिति** । वि+आ+करण इत्यस्य सन्धौ व्याकरणशब्दः निष्पाद्यते । व्याकरणमधीते, वेद वा—इत्यर्थे अणि प्रत्यये 'न य्वाभ्याम्' इति सूत्रेण ऐजागमे वैयाकारण इति । अत्र यकारस्य स्थानिवत्त्वेन अच्त्वम् (इकारत्वम्) आदाय ऐकारस्यादेशापत्तिरिति भावः । **अत्र**=अचः परस्मि-

---

४।२।५९ सूत्र से अण् प्रत्यय होने पर ऐच् आगम करके 'वैयाकरण' बनता है । यहाँ य् का स्थानी इ है । आदेश य् है । इसमें स्थानित्त्व मानने पर अच् परे मिल जायगा जिससे ऐ का आय् आदेश होने लगेगा । अतः आदेश की अपेक्षा पूर्वत्व नहीं माना जा सकता ।] **[शब्द०]** इस सूत्र में पूर्वत्व व्यवहित और अव्यवहित उभयसाधारण माना जाता है । क्योंकि 'स्वरविधि' में इस स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध किया गया है । (व्यवहित का भी पूर्वत्वरूपेण ग्रहण होता है) इसी लिये (वैयाकरणः में) यण् के निमित्त आकार की अपेक्षा भी ऐकार पूर्व हो जाता है, इसलिये [निमित्त से पूर्ववर्त्ती का स्थानिवद्भाव] इस पक्ष में भी ऐकार का आय् आदेश प्रसक्त होना रूपी दोष रहता ही है **[मनो०]** इसकी आशंका करके (सिद्धान्तकौमुदी में) कहते है—स्थानिभूत अच् की अपेक्षा पूर्वत्व=पूर्ववाला है इस रूप से देखे गये की विधि की कर्तव्यता में परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् होता है । (शब्द०) आदेश के द्वारा स्थानी का अपहरण हो जाने से स्थानी का अवधि होना कैसे सम्भव है— इसके लिये (मनोरमा में) कहते हैं—पूर्वत्व यह उपलक्षण है । अर्थात् आदेश होने के पहले तो स्थानी रहता ही है, इसी की अपेक्षा पूर्वत्व मान लेना चाहिये । **[मनो०]** पूर्वत्व—यह उपलक्षण है, विशेषण नहीं है । इससे 'अच् की अपेक्षा पूर्वत्व का ज्ञान होने से ऐच् का श्रवण सिद्ध है' इस वार्तिक की व्याख्या हो गयी ।

न्निति सूत्रे 'पूर्वविधौ' इत्यंशे इत्यर्थः। **स्वरे निषेधादिति**। चिकीर्षकः इत्यत्र स्थानिवद्भावनिषेधाय 'न पदान्त' इति 'स्वर'ग्रहणम्। अत्र रेफषकाभ्यां व्यवधानेन स्थानित्वस्य प्राप्तिरेव नास्तीति तद्विधौ निषेधग्रहणं व्यर्थीभूय व्यवहिताव्यवहित-साधारणं पूर्वत्व ज्ञापयति। **अतः**=तादृशपूर्वत्वस्य ग्रहणादेव। **आकारस्येति**। वैयाकरण इत्यत्रेति भावः। **तत्पक्षे**। निमित्तग्रहणपक्षेऽपीत्यर्थः। मूले—**उपलक्षण-मिति**। अविद्यमानं सद् व्यावर्त्तकमुपलक्षणम्, यथा 'काकवन्तो देवदत्तस्य गृहाः' इत्यादौ देवदत्तगृहे सर्वदा काकस्यासत्त्वेऽपि कदाचित् काकस्य सत्तादर्शनेन काक उपलक्षणं भवति। विशेषणं तु विद्यमानं सदेव व्यावर्त्तकम्। **एतेन**=उपलक्षण-त्वस्वीकारेणेत्यर्थः। **ऐचोरिति**। श्रवणमिति शेषः, ऐचोः श्रवणं सिद्धमित्यर्थः। एवञ्च स्थानिभूताज्निरूपितस्यैव पूर्वत्वस्य ग्रहणेन वैयाकरण इत्यादौ तादृश-पूर्वत्वाभावेन ऐचः श्रवणं सिद्धमिति वार्त्तिकार्थः। अत्रेदं बोध्यम्—सुध्य्+उपास्यः इत्यत्र स्थानिभूतादचः इकारात्मकात् पूर्वत्वेन दृष्टस्य धकारस्य द्वित्वविधौ कर्त्तव्ये यणादेशस्य स्थानिवद् भावः प्राप्नोति। एवञ्च 'अच्परत्वेन तत्र 'अनचि च' इति धकारस्य द्वित्वं न स्यादिति भावः। अतोऽत्र स्थानिवद्भावनिषेधार्थमग्रिमं सूत्रं प्रस्तौति—

विमर्श—स्थानीभूत अच् की अपेक्षा पूर्वत्व=पूर्व का है इस रूप से देखे गये की कोई विधि करना हो तो परनिमित्तक=परवर्त्ती को मान कर होने वाला अजादेश=अच् के स्थान पर होने वाला आदेश स्थानिवत्=स्थानी के समान हो जाता है। पूर्व यह अपनी अवधि की अपेक्षा रखता है—किसके पूर्व। इसमें तीन सम्भव है (१) स्थानी, (२) आदेश (३) निमित्त। इनमें से किसकी अपेक्षा पूर्व होना चाहिये ? इस शंका का समाधान करते हुए सिद्धान्तकौमुदी में लिखा है—स्थानीभूत अच् की अपेक्षा पूर्ववर्त्ती रूप से देखे गये का कार्य करने पर अजादेश स्थानिवत् हो जाता है। पूर्वत्व—यह उपलक्षण है। अतः आदेश के पहले रहने वाले पूर्वत्व को मान कर स्थानिवद्भाव करना चाहिये। विचारणीय लक्ष्य—सुध्य्+उपास्यः में यण् आदेश से पहले—अर्थात् सुधी+उपास्यः इस दशा में स्थानी अच् 'ई' है, इसकी अपेक्षा पूर्वत्वरूप से दृष्ट है—'ध्' इसका द्वित्वविधान करना है। यह स्थितिसुध्य्+उपास्यः में भी समझ लेना चाहिये। अतः प्रस्तुत सूत्र प्रवृत्त होकर यण् का स्थानिवद्भाव कर देता है अर्थात् 'य्' में अच्त्व का अतिदेश कर देता है जिसके फलस्वरूप 'अनचि च' से धकार का द्वित्व होने में बाधा आती है। इस स्थानिवद्भाव का निषेध अग्रिम सूत्र से हो जाता है। अतः द्वित्व होकर दो रूप बनते हैं।

"न पदान्त" (पा० सू० १।१।५८) पदस्य चरमावयव इति। वृक्षं वेतीति वृक्षवीः, वातीति वृक्षवाः, तमाचष्टे वृक्षव्, विच्। इह "लोपो व्योः— (पा० सू० ६। १६६) इति वलोपो न, स्थानिवत्त्वात्।

अन्तःशब्दस्य चरमावयववाचित्वं, विधिशब्दो भावसाधनः, कर्मष्ठचा समासेन पदचरमावयवे कर्त्तव्ये इत्येवं व्याख्याने फलमाह—**वृक्षमिति।**

"न पदान्त०" (१।१।५८) पदस्य चरमावयवे द्विर्वचनादौ च कर्त्तव्ये परनिमित्तोऽजादेशो न स्थानिवत्–इति वृत्तिः। पदस्य अन्तः—पदान्तः, द्विः=द्विवारम्, वचनम्=उच्चारणम्, वरे परे योऽजादेशः स न स्थानिवत्—इत्यर्थे निपातनात् सप्तम्यन्तस्य द्वन्द्वे प्रवेशः, सप्तम्या अलुक् च। एवमग्रेऽपि बोध्यम्। भावार्थको विधिशब्दः—विधानम्=विधिः। इतरेतरयोगद्वन्द्वेन कर्मषष्ठ्यन्तेन समासः। एवञ्च यत्र पदचरमावयवादि विधीयते तत्र न स्थानिवत्। लोपस्तु न पदचरमावयवः, वर्णसमुदायरूपभावात्मकपदस्य अभावरूपस्य लोपस्यावयवत्वासम्भवात् इति लोपे कर्त्तव्ये न स्थानिवद्भाव निषेधः। यदि विधीयते इति विधिः, कर्मणि कि- प्रत्ययः, कर्म च पदचरमावयवादयः, तदा कर्मण उक्तत्वात् शेषे षष्ठीं विधाय समासः—पदचरमावयवादि-सम्बन्धिनि विधौ=विधानकर्मणि सति स्थानिवद्भावस्य निषेधः इत्यर्थस्तदा लोपेऽपि कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावः प्राप्नोति, लोपस्य पदचरमावयवत्वाभावेऽपि

न पदान्त० [पा० सू० १।१।५८] [मनो०] पद के चरम अवयव [और द्विर्वचन आदि] की कर्त्तव्यता में परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् नहीं होता है। [शब्द०] पदान्त शब्द में अन्त शब्द चरम अवयव का वाचक है, विधि शब्द [विधानम्-विधिः] भावसाधन [भावार्थक] है, 'पदान्तस्य विधिः'—यहाँ कर्म अर्थ में षष्ठ्यन्त के साथ समास करने से—पद का चरम अवयव कर्त्तव्य होने पर—इस प्रकार के व्याख्यान में [मनोरमा में] फल कहते हैं—वृक्षम् इति। वृक्षं वेति—इति वृक्षवीः [यहाँ—गतिः व्याप्ति, प्रजनन, कान्ति, असन, खादन अर्थवाली 'वी' धातु है।] वृक्षं वाति इति वृक्षवाः। [यहाँ गतिगन्धन अर्थवाली 'वा' धातु है।] तम् आचष्टे—इस अर्थ में ['तत्करोति तदाचष्टे' इस वार्त्तिक से णिच्=इ करके वृक्षवी और वृक्षवा के ई तथा आ का लोप करने पर वृक्षव्+इ (णि)=वृक्षवि बनता है। इस णिजन्त वृक्षवि से 'अन्येभ्यो दृश्यन्ते" सूत्र से विच् प्रत्यय करने पर णिलोप और विच् का सर्वापहारी लोप होता है। णिलोप करने पर] वृक्षव+विच् इस अवस्था में 'लोपो व्योर्वलि' इससे व् का लोप प्राप्त होता है किन्तु नहीं होता है क्योंकि टि=ई, आ का लोप अथवा णि का लोप स्थानिवत् हो जाता है [परन्तु मध्य में व्यवधान हो जाता है। फलतः वल् परे न मिलने से व्लोप नहीं होता है।]

न च "न पदान्त—" (पा० सू० १।१।५८) इति निषेधः, इह विधेयस्य लोपस्य पदानवयवत्वात्। पदान्तस्य स्थाने विधौ नेति व्याख्याने तु नेदं सिध्येत्।

विजित्। क्विपि तूठ् स्यादिति भावः। **स्थानिवत्त्वादिति।** णिलोपस्य टिलोपस्य वा स्थानिवत्त्वादित्यर्थः।

पदचरमावयवस्थानिकत्वेन पदचरमावयव-सम्बन्धित्वादित्यन्यत्र विस्तरः।

सुध्य्+उपास्यः इत्यत्र 'स्थानिनि सति यन्न भवति, आदेशेऽपि तन्न भवति' इति 'अचः परस्मिन्' इति सूत्रेणाभावातिदेशेन अचि परे यरो धकारस्य द्वित्वं न स्यादिति स्थानिवद्भावनिषेधार्थं सूत्रं प्रस्तुतम्। सूत्रघटक-'पदान्त'-विधौ स्थानिवद्भावनिषेधस्योदाहरणमाह मूले—**पदस्य चरमावयव** इति। शब्दरत्ने—**भावसाधन** इति। अयं भावः—विधीयते इति विधिः, अत्र भावार्थे किः प्रत्ययः, पदान्तादिषु कर्मणि षष्ठी, तेन—पदचरमावयवनिष्ठ-कर्मता-निरूपक-विधाने—इत्यर्थः फलति। येन शास्त्रेण यत् कार्यं विधीयते तत्कार्यनिष्ठ-कर्मतानिरूपकं विधानं तत्र प्रतीयते। एवञ्च यत्र यत्र भावरूपकार्यस्य विधानं तत्र तत्रैवैतत्सूत्रस्य प्रवृत्तिः, भावस्यैव पदचरमावयवयोग्यत्वात्। अभावविधायकस्थले तु अभावस्य शून्यरूपतया चरमावयवत्वासम्भवात् पदचरमावयवनिष्ठकर्मतानिरूपकविधानाभावेन अस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिर्न भवतीत्यासि मनसि निधायाह मूले—**वृक्षमिति। स्थानिवत्त्वादिति।** णिलोपस्य टिलोपस्य वा स्थानिवद्भावेन मध्ये व्यवधानात् वल्परत्वाभावान्न व-लोप इति भावः।

विधिशब्दस्य भावसाधनत्वे फलमुक्त्वा कर्मसाधनत्वेऽनुपपत्तिमाह मूले—**पदान्तस्य स्थाने** इति। अयं भावः—विधीयतेऽसौ विधिरित्यत्र कर्मणि कि-प्रत्ययः।

[शब्द०] क्विप् प्रत्यय करने पर व् का ऊठ् आदेश प्रसक्त होता है—यह भाव है। उक्त उदाहरणों में णिलोप अथवा टि [आ, ई] के लोप का स्थानिवद्भाव हो जाता है—यह अर्थ है।

[मनो०] "न पदान्त०" [पा० सू० १।१।५८] इससे स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता है क्योंकि यहाँ [वृक्षव्+विच्] विधेय लोप पद का अवयव नहीं है। 'पदान्त के स्थान पर विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है'—इस व्याख्यान में तो उक्त लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकता।

विमर्श—"न पदान्त०" पा०सू० १।१।५८ में 'विधि' शब्द है। इसकी निष्पत्ति दो प्रकार से होती है (१) विधानम्=विधिः—भाव अर्थ में वि पूर्वक धा धातु से "उपसर्गे घोः किः" इस सूत्र से कि=इ प्रत्यय, आलोप। 'पदान्तस्य' में

"सुबन्ताण्णिच्" इति हरदत्तादिमतेऽन्तर्वर्तिसुपा पदत्वात्। न च "इष्ठवत्" इत्यतिदिष्टेन णिचि भत्वेन पदत्वबाधः, णेर्लुप्तत्वात्। न च प्रत्ययलक्षणम्, वर्णाश्रयत्वादिति भावः।

नन्वस्य पदत्वाभावात्कुतोऽसिद्धिरत आह—सुबन्तादिति। अन्तर्वर्त्ति-सुब्निमित्तकपदत्वस्यैकदेशविकृतन्यायेन वान्तेऽपि सत्त्वमिति भावः।

कर्म अर्थ में षष्ठी करके इसका समास होता है। पदचरमावयव विधेय हो तो स्थानिवद्भाव नहीं होता है। वृक्षव् इस उदाहरण में 'लोपो व्योर्वलि' से जो लोप करना है वह पदचरमावयव विधेय नहीं है क्योंकि लोप अभावरूप होता है। अतः णिलोप या टिलोप का स्थानिवद्भाव हो जाने के कारण व्‌लोप नहीं होता है।

(२) विधीयते इति विधिः—यह कर्म अर्थ में है। फलतः कर्म उक्त रहने के कारण 'पदान्तस्य' में शेषषष्ठी मानकर समास करना होगा। 'स्थाने' का अध्याहार करना होगा—पदचरमावयवादि-सम्बन्धी विधि में स्थानिवत्त्व का निषेध होता है। किन्तु यह अर्थ मानने पर उपर्युक्त लक्ष्य में लोप की कर्त्तव्यता में भी स्थानिवद्भाव का निषेध होने लगेगा। क्योंकि पदान्त व् के स्थान पर लोप करना है। फलतः लोप प्रसक्त होगा। इसी कारण यहाँ विधानं विधिः—यह भाव अर्थ में प्रत्यय [भावसाधन] मानना उचित है।

[शब्द०] यह 'वृक्षव्' शब्द पद नहीं है [इसलिये वलोप पदान्तविधि नहीं है] अतः इसकी सिद्धि क्यों नहीं होगी—इस पर [मनोरमा में] कहते हैं—"(तत्करोति तदाचष्टे—इन अर्थों में) 'सुबन्त से ही णिच् होता है'—इस प्रकार के हरदत्त [काशिका की पदमञ्जरी-टीकाकार] के मत में अन्तर्वर्ती सुप् को मानकर [सुबन्त समझकर] पद हो जाता है।

[शब्द०] अन्तर्वर्ती सुप् को मानकर होने वाला पदत्व 'एकदेशविकृतमनन्यवद्' न्याय से वकारान्त में भी रहता ही है, यह भाव है। [इस प्रकार वृक्षव् में वलोप पदान्तविधि है, इसे रोकने के लिये भावसाधनपक्ष मानना आवश्यक है।] [मनो०] 'प्रतिपादिक से धात्वर्थ में बहुलरूप से णिच् होता है और इष्ठन् के समान कार्य भी होते हैं' इस अतिदेश से णिच् परे रहते भसंज्ञा के द्वारा पदसंज्ञा का बाध हो जाता है [अतः पदान्तविधि नहीं होगी]—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि यहाँ णि का लोप हो चुका है। [अतः अतिदेश सम्भव नहीं है।] 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि [भसंज्ञा] वर्णाश्रित विधि है। [अजादि

प्रत्ययलक्षणमिति । स्थानिवत्त्वेन प्रत्ययनिमित्तं कार्यमित्यर्थः । **वर्णाश्रयत्वादिति** । "णाविष्ठद्–" इत्यनेन "यचि भम्" इति शास्त्रस्यैवातिदेशस्तच्च वर्णाश्रयम्, एवं च स्थानिवत्त्वस्याप्रसंक्तिः । कार्यातिदेशेऽपि यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तिस्तन्निमित्तातिरिक्तसर्वनिमित्तकत्वमतिदेशस्यापीत्यङ्गीकाराद्वर्णाश्रयत्वाक्षतिः । प्रत्ययलक्षणसूत्रं तु भाष्यकृता प्रत्ययस्य यत्रासाधारणं रूपमाश्रीयते तत्रैव प्रत्ययलक्षणमिति नियमार्थन्वेन स्थापितं न त्वप्राधान्येनालाश्रयणे विध्यर्थमिति भावः ।

एवञ्च पदान्तादिचर्-पर्यन्तस्य इतरेतर-द्वन्द्वात्मकपदस्य विधिशब्देन समासाय षष्ठी कर्त्तव्या । सा च न कर्मणि सम्भवति, क्तिप्रत्ययेनोक्तत्वात् । तेन शेषषष्ठीं विधाय समासो बोध्यः । एवञ्च पदचरमावयवसम्बन्धिनि विधानकर्मणि सति स्थानिवद्भावो न भवतीत्यर्थः । तथा च भावरूपेऽभावरूपे चोभयविधे विधानकर्मणि पदचरमावयवसम्बन्धित्वं चेत्तदाऽस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः । तेन 'वृक्षव्'-इत्यत्र लोपादिस्थलेऽपि स्थानिवत्त्वनिषेधाभावात् वलोपो दुर्वार इति बोध्यम् । तदेवाह मूले—**नेदं सिध्येदिति** । शब्दरत्ने—**अस्येति** । वृक्षव् इत्यस्येत्यर्थः । **वर्णाश्रयमिति** । वर्णः अल् आश्रयो हेतुर्यत्र तदित्यर्थः । यजादीत्यस्य स्वादीत्येतद्विशेषणत्वेऽपि प्रपठ्येत्यत्रेवाप्राधान्यान्येनालाश्रयणेऽपि निषेधस्य प्रवृत्तेः स्वीकारादिति तात्पर्यम् । **एञ्चेति** । अल्विधित्वे चेत्यर्थः । नन्वेमपि प्राधान्यात् कार्यातिदेशपक्षेऽतिदेशसूत्रस्यातत्त्वेनेदं दुर्वचमत आह—**कार्यातिदेशेऽपीति** । भत्वरूपस्य तन्निमित्तरूपस्य वा कार्यातिदेशेऽपीत्यर्थः । **यन्निमित्तेति** । यस्य निमित्तस्य वैकल्यस्य=अभावस्य प्रयोज्या उपदेशस्य=प्रधानशास्त्रस्य अप्रवृत्तिः=प्रवृत्त्यभावः तस्मात् निमित्तात् अतिरिक्तानि यानि यानि तत्र

परे रहते भसंज्ञा होती है।] [**शब्द०**] स्थानिवद्भाव से प्रत्ययनिमित्तक कार्य हो जाय यह अर्थ है। वर्णाश्रित होने से प्रत्ययलक्षण नहीं होता है 'णौ इष्ठवत्' इस वचन से "यचि भम्" पा० सू० १।४।१८ इस शास्त्र का ही अतिदेश होता है और यह वर्ण को मानकर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार अलाश्रयविधि होने से स्थानिवत्त्व नहीं होता है। भत्वरूप अथवा तन्निमित्तरूप कार्य के अतिदेशपक्ष में भी जिस निमित्त के अभाव को मानकर उपदेश=प्रधान शास्त्र की अप्रवृत्ति होती है उस निमित्त से अतिरिक्त [भिन्न अजादित्व आदि] सभी निमित्त अतिदेश शास्त्र के भी माने जाते हैं, अतः वर्णाश्रय होने में बाधा नहीं है। प्रत्ययलक्षण [प्रत्ययहेतुक अर्थबोधक] सूत्र तो भाष्यकार ने—प्रत्यय का असाधारण रूप जहाँ लिया जाता है वहीं प्रत्ययलक्षण होता है—इस प्रकार नियमार्थरूप से स्थापित किया है न कि अप्रधानरूप से अल् को मान कर होने वाली विधि के लिये है, यह भाव है।

न च "अचः परस्मिन्" (पा० सू० १।१।५७) इति णिलोपस्य स्थानिवत्त्वेन भत्वं सुलभमिति वाच्यम्, णिलोपस्येव टिलोपस्यापि स्थानिवत्त्वापत्तौ वान्ते भत्वस्य दुर्लभत्वेन तत्र पदत्वानिवृत्तेः। "प्रकल्प्य चापवादविषयम्" इति न्यायेन निषेधविषये तत्प्रतिबन्धाय स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तेश्च।

निमित्तानि तानि सर्वाणि अतिदेशशास्त्रस्यापीति भावः। ननु वर्णाश्रयेऽपि प्रत्ययलक्षणसूत्रं प्रत्ययनिमित्तककार्यार्थं भवत्वत आह—**प्रत्ययेति**। **असाधारणमिति**।

विमर्श—यहाँ तात्पर्य यह है कि शास्त्रातिदेशपक्ष में जिस प्रकार वर्णाश्रयत्व है उसी प्रकार कार्यातिदेशपक्ष में भी। क्योंकि 'यचि भम्' इस शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये जिन निमित्तों की आवश्यकता होती है, उनमें णिच् प्रत्यय में केवल स्वादित्व नहीं है। अतः स्वादित्व निमित्त न होने से प्रधान [उपदेश] शास्त्र 'यचि भम्' की प्रवृत्ति नही हो पा रही है, इसके अतिरिक्त अजादित्व आदि सभी निमित्त णिच् में भी हैं। ये अजादित्वादि जिस प्रकार उपदेश शास्त्र की प्रवृत्ति में निमित्त हैं उसी प्रकार 'इष्ठवत्' इस अतिदेश शास्त्र की प्रवृत्ति में भी। इस प्रकार अल्विधि हो जाने में 'अनल्विधौ' इससे स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से भसंज्ञा नहीं होती है। इस कारण 'वृक्षव्' का पदत्व सुरक्षित रहता है। अतः वलोप पदान्तविधि है।

भाष्यकार का मत प्रस्तुत करते हुए शब्दरत्नकार का आशय यह है कि 'सिद्धे सति आरभ्यमाणो विधिर्नियमाय परिकल्प्यते' इस न्याय के अनुसार 'स्थानिवत्' सूत्र से अनल्विधि में सिद्ध रहने पर ही 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' शास्त्र आरम्भ किया गया है अतः यह भी अनल्विधि में ही प्रवृत्त होता है। इसीलिये यह नियमार्थ है। अन्यथा अल्विधि में चरितार्थ होने पर नियम का रूप धारण नहीं कर सकता। नियम का आकार यह है—जहाँ प्रत्यय के असाधारण अर्थात् प्रत्ययमात्रवृत्ति रूप का ही आश्रयण लिया जाता है वहीं प्रत्ययलक्षण होता है। इस लिये यहाँ प्रत्ययलक्षण सम्भव नहीं है।

[**शब्द०**] 'अचः परस्मिन्' पा० सू० १।१।५७ इससे णिलोप का स्थानिवद्भाव होने से भसंज्ञा सुलभ है [अर्थात् वृक्षव् यहाँ भसंज्ञा सम्भव है अतः णिलोप नहीं होगा]—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि जिस प्रकार णिलोप का स्थानिवद्भाव होता है, उसी प्रकार टिलोप का भी स्थानिवद्भाव प्रसक्त होने लगेगा तब वकारान्त [वृक्षव्] में भसंज्ञा दुर्लभ हो जायगी अतः इसमें पदत्व रहता ही है। और 'अपवादविषय को छोड़कर उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति होती है' इस न्याय से निषेध के विषय में उसका प्रतिबन्ध करने के लिये [निषेध की प्रवृत्ति रोकने के लिये] स्थानिवदभाव की प्रवृत्ति नहीं होती है।

हरदत्तादिमते इत्यनेनारुचिर्बोधिता। तद्बीजं त्वयं पक्षो न सूत्र-वार्तिकभाष्यसंमत इति प्रातिपदिकात्तदुत्पत्तौ पदत्वाभाव इति। चरमावयवे कार्य इति व्याख्याने फलं तु 'एषो यन् हसति' इत्यादौ यणः स्थानिवत्त्वाद् "एतत्तदोः" (पा० सू० ६।१।१३२) इति सुलोपाभावः। इणः शतरि यन्निति रूपम्। उत्वे च न स्थानिवद्, अनेन निषेधादिति तत्त्वम्।

प्रत्ययमात्रवृत्तीत्यर्थः। **स्थानिवदिति**। स्थानिवत्० सूत्रेणैव सिद्धौ 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इति सूत्रं नियमार्थमिति भाष्यकृन्मतम्। एवञ्च प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमेव न तु स्थानिवद्भावः। तेन स्थानिवत्सूत्रातिदेशपदार्थे प्रत्ययलोपातिरिक्तत्वेन संकोच इति 'सुदृषत् प्रासादः' इत्यादौ स्थानिवद्भावेनासन्तत्वमादाय 'अत्वसन्तस्ये' ति दीर्घो न। तथा च वार्त्तिकमतमयुक्तमिति भावः। **प्रकल्प्येति**। अपवादविषयं परित्यज्यैवोत्सर्गशास्त्रस्य प्रवृत्तिरित्यर्थः। **तत्प्रतिबन्धायेति**। 'न पदान्त०' इति निषेधप्रतिबन्धायेत्यर्थः। **हरदत्तादीति**। 'सुबन्तात् णिच' इति पदमञ्जरीकार-हरदत्तस्य पूर्वोक्तमते त्वित्यर्थः। **तद्बीजम्**=अरुचिबीजम्। **अयं पक्षः**। सुबन्ताद् णिजिति पक्षः। **तदुत्पत्तौ**=णिजुत्पत्तौ। मूलोक्तस्य भावसाधनविधिशब्दस्याश्रयणे निर्दुष्टं फलमाह—**एषो यन् हसतीति**। **सुलोपाभाव** इति। लोपस्याभावरूपतया पदविधित्वाभावात् तत्र न स्थानिवत्त्वनिषेधः। तेन हल्परत्वाभावान्न सुलोपः।

[विमर्श]—यहाँ तात्पर्य यह है कि निषेध के विषय को छोड़कर अन्यत्र ही उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति होती है—यह न्याय है। अतः 'स्थानिवत्' यह उत्सर्ग सूत्र 'न पदान्त०' इस निषेध सूत्र के विषय को छोड़कर उससे भिन्न विषय में ही प्रवृत्त होता है। इस लिये 'वृक्षव्' यहाँ णिलोप कर देने पर ही वलोप की प्राप्ति है क्योंकि इसी दशा में पदचरमावयवविधि का विषय होता है। इसलिये टिलोप का स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

[शब्द०]—हरदत्त आदि के मत में [सुबन्त से णिच् होता है]—इस कथन से अरुचि प्रदर्शित की है। इस अरुचि का मूल यह है कि यह पक्ष सूत्र, वार्त्तिक और भाष्य किसी का सम्मत नहीं है। इस लिये प्रातिपदिक से णिच् की उत्पत्ति होने पर पदत्व का अभाव है। [इस लिये भावसाधनपक्ष में पदान्तविधि का यह उदाहरण तर्कसंगत नहीं है। इस कारण शब्दरत्नकार दूसरा उदाहरण दे रहे है—] चरमअवयव विधेय=कार्य रहने पर—इस व्याख्यान में फल तो 'एषो यन् हसति'—आदि में यण् का स्थानिवद्भाव करने से 'एतत्तदोः' पा० सू० ६।१।१३२ से सुलोप न होना है। इण् धातु से शतृ प्रत्यय में 'यन्' यह रूप होता है। उत्व के विषय में तो स्थानिवद्भाव नहीं होता है क्योंकि [भावरूप विधेय होने से] प्रस्तुत सूत्र से निषेध हो जाता है, यह तत्त्व है।

द्विर्वचनादौ चेति। यलोपादय आदिशब्दग्राह्याः "वरे" इति तु वरे योऽजादेशः स न स्थानिवदिति व्याख्येयम्। सहविवक्षाऽभावेऽपि निपातनाद् द्वन्द्वः, सप्तम्यलुक् च।

नन्विदमेवोत्वमपि न स्यादत आह—उत्वे इति। उत्वस्य भावरूपतया पदचरमावयवत्वासम्भवात् स्थानिवद्भावस्य निषेधः। एवञ्च हश्परत्वमक्षुण्णमिति भावः। तस्वमिति। पदान्तविधौ स्थानिवद्भावनिषेधस्य निर्दुष्टमुदाहरणमिति बोध्यम्। आदिशब्देति। यलोप-स्वर-सवर्णानुस्वारदीर्घजश्चर्-विधयो गृह्यन्ते।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि 'विधि' शब्द में यदि कर्म अर्थ में प्रत्यय माना जायगा तो पदचरमावयव-सम्बन्धी विधि=विधानकर्म रहने पर स्थानिवत्त्व का निषेध होगा। ऐसा मान लेने पर वाक्यसंस्कारपक्ष में 'एषो यन् हसति' आदि में 'एतत्तदोः' से सुलोप की कर्त्तव्यता में स्थानिवत्व का निषेध होने लगेगा जिससे सुलोप होने लगेगा। लोप यद्यपि पदचरमावयव नहीं है तथापि पदचरमावयव-स्थानिक होने से पदचरमावयव का सम्बन्धी है।

परन्तु जब भाव में प्रत्यय मानते हैं तब पदचरमावयव विधेय रहने पर स्थानिवद्भाव नहीं होता है—यह अर्थ होता है। सुलोप तो पदचरमावयव कर्त्तव्य नहीं है अपि तु अभाव कर्त्तव्य है। इसलिये स्थानिवत्व का निषेध नहीं होता है। परन्तु 'हशि च' इस सूत्र से [सु का रु और उसके] उत्व की कर्तव्यता में पदचरमावयव कर्त्तव्य=विधेय है अतः स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। हश् ही परे रहता है अतः उत्व और गुण करके 'एषो यन् हसति' बन जाता है।

१—कर्म अर्थ में 'कि' प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'विधि' शब्द के साथ पदान्त शब्द का शेषषष्ठ्यन्त मानकर समास होता है तब पदान्तविधि का अर्थ होता है—पदचरमावयव के स्थान पर विधान करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता है।

(२) भाव अर्थ में कि प्रत्यय के योग से निष्पन्न विधि शब्द के साथ कर्म में षष्ठ्यन्त पदान्त का समास होता है। इसलिये पदचरमावयव विधेय होने पर स्थानिवत्त्व नहीं होता है।

[मनो०] और द्विर्वचनादि की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव नहीं होता है। आदि शब्द से [सूत्रोक्त] यलोप आदि का ग्रहण करना चाहिये। वरे—इसकी तो 'वर' प्रत्यय परे रहते जो अजादेश वह स्थानिवत् नहीं होता है'—यह व्याख्या करनी चाहिये। सह-विवक्षा न होने पर भी निपातनबल से द्वन्द्व समास और सप्तमी [वरे] का लोप नहीं होता है।

अथोदाहरणानि, (१) पदान्ते—कानि सन्ति, कौ स्तः। (२) द्विर्वचने—सुद्ध्युपास्यः।

कानि सन्तीति। वाक्यसंस्कारपक्ष एतत्। तत्र पक्षे पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूपान्तरङ्गत्वमादायान्तरङ्गाणां पूर्वं प्रवृत्तेरिकारादेः स्थानिभूतादचः पूर्वत्वं द्रष्टव्यम्। एतन्मूलकमेव वाक्यसंस्कारपक्षे श्रुतवर्णक्रमेणैव लक्ष्यसंस्कार इति वदन्ति।

अथोदाहरणनीति। पदान्तादिविधौ स्थानिवद्भावनिषेधस्योदाहरणानि प्रदर्श्यन्ते इति भावः। **वाक्यसंस्कारपक्षे इति।** वाक्यघटकपदानां समकालमेव प्रकृतिप्रत्ययादीनां संस्कार इति पक्ष इति भावः। एवञ्च किम्-शब्दात् जसि, अस् धातोः झिप्रत्यये च वाक्यसंस्कारः। **इकारादेरिति।** कानीत्यस्येकारस्य, काविल्यस्यौकारस्य चेत्यर्थः। **स्थानिभूतेति।** अस् धातोः अकारात् पूर्वत्वमित्यर्थः।

[मनो०] क्रमशः उदाहरण—(१) पदान्तविधि में [स्थानिवद्भावनिषेध का उदा०] कानि सन्ति, कौ स्तः। **[शब्द०]** वाक्यसंस्कारपक्ष में ये उदाहरण हैं। इस पक्ष में पूर्वोपस्थितिनिमित्तकत्वरूप [पहले उपस्थित निमित्तों वाला होना रूपी] अन्तरङ्गत्व को लेकर अन्तरङ्ग कार्यों की पहले प्रवृत्ति होने से इकार [तथा औकार] आदि का स्थानिभूत अच् की अपेक्षा पूर्वत्व देखना चाहिये। इसी आधार पर यह कहते हैं कि वाक्यसंस्कारपक्ष में सुनाई देने वाले वर्णों के क्रम से ही लक्ष्यों का संस्कार किया जाता है।

विमर्श—भाव यह है कि एक साथ पूरे वाक्य की प्रक्रिया करके रूपसिद्धि करने पर वाक्यसंस्कारपक्ष होता है। अतः 'कानि सन्ति—किम्+जस अस्+झि इस वाक्य का और किम्+औ, अस्+तस् इस वाक्य का एक साथ ही संस्कार किया जाता है। इनमें पहले कानि बनाने पर अस्+झि बाद में मिलता है। अतः अकार की अपेक्षा पूर्वत्वरूप से दृष्ट इकार का यण् करने के लिये स्थानिवद्भाव से 'सन्ति' में भी अकारबुद्धि होने लगेगी। यहाँ प्रस्तुत सूत्र स्थानिवद्भाव का निषेध करता है। इसी प्रकार कौ+स्तः में कौ+अस्+तस् की प्रतीति होने पर 'औ' का आव् आदेश प्राप्त होने लगता है। वहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। पदसंस्कारपक्ष में ये उदाहरण नहीं है क्योंकि प्रत्येक पद का ही संस्कार हो जाता है। बाद में सन्धि सम्भव नहीं है।

(२) **[मनो०]** द्विर्वचन में [स्थानिवद्भावनिषेध का उदाहरण]—सुद्ध्युपास्यः। [सिद्धान्तकौमुदी में प्रस्तुत उदाहरण को लेकर ही यहाँ के सूत्रों पर विचार किया गया है। सुधी+उपास्यः, यण् करने पर सुध्य्+उपास्यः इस अवस्था

(३) वरे—यायावरः। "यश्च यङः" इति वरच्। अतो लोपः स च "आतो लोप इटि च" (पा० सू० ६।४।६४) इत्यालोपे कर्तव्ये न स्थानिवत्।

न स्थानिवदिति। तेन आतो लोपो नेति भावः। न च पूर्वमलोपस्ततो वलि लोप इति क्रमसत्त्वादकारेणार्द्धधातुकत्वाद्यलाभात्कथमतिदेशेन तल्लाभः, सम्भावनामात्रेणापि तल्लाभस्य वरेग्रहणेन ज्ञापनात्। अस्ति चात्रापि 'यदि पूर्वं यलोपः स्यात्तदाऽकारेण प्रत्ययत्वं लब्धं स्यादि' ति सम्भावना। फलं तु यातिरित्यादिसिद्धिरिति दिक्।

द्विर्वचने इति। अत्र विषये पूर्वमेव बहूक्तम्। **वरे इति।** वरे परे योऽजादेशः सो न स्थानिवद्भवतीत्यर्थः। **तल्लाभ इति।** अर्धधातुकत्वादिलाभः। **सम्भावनेति।** यदि अकारस्यार्धधातुकत्वं स्यात् तदा तदादेशस्य लोपस्याति-

---

में स्थानिभूत अच् 'ई' की अपेक्षा पूर्वत्वेन दृष्ट यर् धकार का द्वित्व 'अनचि च' से करना है, अतः 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से स्थानिवद्भाव हो जाने पर द्वित्व नहीं हो सकता। क्योंकि यण् में इक् का अतिदेश हो जाने पर अनच् परे नहीं रहता है। परन्तु प्रस्तुत सूत्र से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाने से द्वित्व में बाधा नहीं है।]

(३) 'वर' प्रत्यय परे रहते [स्थानिवत्त्वनिषेध का उदा०]—यायावरः। [यङन्त 'या' धातु से] "यश्च यङः" इससे वरच् [प्रत्यय करने पर यायाय+वरः, इसमें 'अतो लोपः' से अ का लोप करने के बाद 'लोपो व्योर्वलि' से य् का लोप होने पर यायावर बनता है।] और यह लुप्त अकार 'आतो लोप इटि च' इससे आ का लोप करने में स्थानिवत् नहीं होता है। [यहाँ भी 'अ' की अपेक्षा 'आ' पूर्वत्वेन दृष्ट है उसकी लोपविधि में 'अचः परस्मिन्' से स्थानिवद्भाव प्राप्त है। उसका निषेध प्रस्तुत सूत्र करता है।]

[शब्द०] स्थानिवद्भाव नहीं होता है। इस कारण 'आ' का लोप नहीं होता है, यह भाव है। पहले अ का लोप फिर वल् परे रहते य् लोप होता है ऐसा क्रम होने से अकार में आर्द्धधातुकत्व आदि [प्रत्ययत्वादि] का लाभ नहीं रहता है तब अतिदेश से आर्द्धधातुकत्वादि कैसे आ जायगा—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि 'वरे' इसके ग्रहण से सम्भावनामात्र से भी आर्द्धधातुकत्व का लाभ ज्ञापित होता है। यदि पहले य्लोप हो जाता तो शेष बचे अकार में आर्द्धधातुकत्व प्रत्ययत्व, आदि सम्भव हो जाते—यह सम्भावना यहाँ है। इस ज्ञापन का फल तो 'यातिः' इत्यादि की सिद्धि है। [भाव यह है कि यङन्त या धातु से क्तिच् यायाय+ति 'अतो लोपः' इससे अलोप, 'लोपो व्योर्वलि' से य् का लोप—याया+ति, अलोप का स्थानिवद्भाव मानकर आ का लोप 'आतो लोप इटि च' सूत्र से=याय्+ति, पुनः 'लोपो व्योर्वलि' से य् का लोप। यहाँ दूसरी बार य् का लोप करने के लिए 'अ' लोप के

(४) यलोपे–यातिः। यातेर्यङन्तात् क्तिच्, अतो लोपः। यलोपः, अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वादातो लोपः, यलोपः। न च पुनरालोपः शङ्क्यः, चिणो लुङ्न्यायेनातो लोपस्यासिद्धत्वात्स्थानिवद्भावाच्च।

क्तिजिति। "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्" (पा० सू० ३।३।१७४) इत्यनेन क्तिन् तु न, "अ प्रत्ययात्" (पा० सू० ३।३।१०२) इत्यनेन बाधात्।

देशेनार्धधातुकत्वं स्यादिति भावः। **यातिरिति**। याधातोर्यङि द्वित्वे यायाय+क्तिच्=ति अलोपे कृते सति 'यायाय् + ति इत्यवस्थायां 'लोपो व्योर्वलि' इति य्लोपः। अत्र य्लोप कर्त्तव्ये स्थानिवद्भावस्य निषेधः, किन्तु 'आतो लोप इटि च' इत्यनेन आकारलोपे कर्त्तव्ये अल्लोपस्य स्थानिवद्भावस्य

स्थानिवद्भाव का निषेध होता है इसी से य् लोप सम्भव होता है। यहाँ जैसे सम्भावना मानकर लोप होता है उसी प्रकार 'यायावर' में भी सम्भावना मान कर आर्द्धधातुकत्वादि का लाभ सम्भव है जिससे लोप प्राप्त होता है। उसका निषेध करने के लिये 'वरे' का ग्रहण है।

(४) [मनो०] यलोप में [स्थानिवत्त्वनिषेध का उदाहरण] यातिः। यङन्त या धातु से क्तिच् करने पर यायाय+ति, 'अतो लोपः' से अलोप। [लोपोव्योर्वलि से य् लोप, [याया+ति]। ['अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' सूत्र से] अलोप का स्थानिवद्भाव करने से 'आतो लोप इटि च' से 'आ' का लोप होता है तब 'लोपो व्योर्वलि से य् का दूसरी बार लोप होता है—यातिः। [इस य्लोप की कर्त्तव्यता में आलोप का स्थानिवद्भाव निषिद्ध हो जाता है।] यातिः इसमें दूसरी बार आलोप की शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि 'चिणो लुक्' न्याय से आलोप असिद्ध हो जाता है और स्थानिवद्भाव हो जाता है। [शब्द०] 'क्तिच् क्तौ च संज्ञायाम्' पा० सू० ३।३।१७४ इससे क्तिच् प्रत्यय होता है, क्तिन् नहीं होता है क्योंकि 'अ प्रत्ययात्' पा० सू० ३।३।१०२ इससे बाध हो जाता है।

विमर्श—चिणो लुक् न्याय का तात्पर्य यह है कि अपाचि+त इस स्थिति में 'चिणो लुक्' सूत्र से तलोप होता है। इसके बाद प्रकर्ष अर्थ में तरप् प्रत्यय और आम् प्रत्ययादि करने पर अपाचितराम् बनता है। यहाँ पुनः तलोप प्राप्त होता है। इसे रोकने के लिये 'असिद्धवदत्राभात्' पा० सू० ६।४।२२ का आश्रयण करके लोप को असिद्धवत् मान लिया जाता है। लक्ष्यभेद से लक्षणभेद हो जाता है—इस न्याय से पहला लोपविधायक' 'चिणो लुक्' सूत्र आभीय मानकर असिद्ध हो जाता है। अतः दूसरी बार 'तराम्' का तलोप नहीं होता है। ठीक उसी प्रकार यहाँ भी

(५) स्वरे चिकीर्षकः। सनोऽतो लोपो "लिति (पा० सू० ६।१।१९३) इति ककारेकारस्य उदात्तत्वे कर्तव्ये न स्थानिवत्।

न स्थानिवदिति। स्थानिवत्त्वे हि स्वराप्रवृत्तिरेव स्यात्। अकारस्य तु न, स्वविधौ स्थानिवत्त्वनिषेधात्। लित्वं तु 'कारक' इत्यादौ सावकाशमिति भावः।

न निषेधः—याय् + ति। अस्यां दशायां पुनः लोपो व्योर्वलि इत्यनेन यलोपः। मूले—**चिणोलुङ्न्यायेति**। अयं भावः—अपाचि + त (लुङ्) इत्यवस्थाया 'चिणो लुक्' सूत्रेण तलोपः। पुनः तर + आम् प्रत्यययोगे सति 'अपाचितराम्' इत्यत्रापि लक्ष्यभेदाल्लक्षणभेदमाश्रित्य पुनः 'त' लोपो न भवति 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यनेनासिद्धत्वात् मध्ये व्यवधानान्न पुनस्तलोपः, एवमेवात्रापि प्रथमाकारलोपस्यासिद्धत्वात् तस्य व्यवधानात् पुनः प्रथमयाकाराकारस्य लोपो नेति भावः। अथवा स्थानिद्भावेन यलोपाप्रसक्त्या तेन व्यवधानात् प्रथमयाकारस्य आकारलोपो नेति मनोरमाशयः।

स्वरविधौ न स्थानिवदित्यस्योदाहरणमाह मूले—**चिकीर्षक** इति। कृ धातोः सनि, द्वित्वाभ्यासादिकार्ये चिकीर्ष इत्यस्मात् ण्वुल् = अक प्रत्ययः। सनः अकारस्यलोपे—चिकीर्षकः अत्र 'लिति' सूत्रेण ककारेकारस्योदात्तं भवति। अत्र लुप्ताकारस्य स्थानिवद्भावः 'अचः परस्मिन्' इति प्राप्नोति, प्रकृतसूत्रेण निषिध्यते। एवञ्च 'ई' कार एव पूर्ववर्णी, तस्यैवोदात्तत्वं सिध्यति। **अकारस्य तु नेति**। उदात्तत्वमिति शेषः, 'स्वविधौ न स्थानिवत्' इति वार्तिकात् निषेधादिति भावः। **सावकाश-**

याया + ति' में 'आतो लोप इटि च' यह सूत्र भी आभीय है। इसे भी लक्ष्यभेदात् भिन्न मानकर दूसरी बार 'आ' लोप करने वाला 'आतो लोप इटि च' यह सूत्र असिद्ध हो जाता है। इस प्रकार प्रथम 'आ' का लोप नहीं हो पाता है।

(५) [मनो०] स्वर में [स्थानिवद्भाव के निषेध का उदाहरण]—चिकीर्षकः। [सन्नन्त कृ धातु के चिकीर्ष + ण्वुल् = अक इस स्थिति में होने वाला] सन् के अ का लोप 'लिति' (पा० सू९ ६।१।१९३) इससे ककार का ईकार उदात्त करने में स्थानिवत् नहीं होता है [यदि सन् = ष का अकार स्थानिवत् हो जाता तो 'की' का 'इ' उदात्त नहीं हो पाता।] [शब्द०] अलोप स्थानिवत् नहीं होता है। क्योंकि स्थानिवत् होने पर [ई के] स्वर की प्रवृत्ति ही नहीं होती है। [ई का न हो, अ का ही हो—इसका खण्डन करते है] अकार का स्वर नहीं हो सकता क्योंकि अपनी विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है। 'कारकः' [कृ + ण्वुल] आदि में उदात्त करने के लिये लित्स्वर चरितार्थ है, [अतः यहाँ अ' कार के स्थानिवद्भाव का ज्ञापक नहीं बन सकता।] यह भाव है।

(६ ७) सवर्णानुस्वारयोः—शिण्ढि ।

शिण्ढीति । नन्वत्रानुस्वारस्यादिष्टादचः पूर्वत्वेन स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तिः ।

मिति । कृ+ण्वुल् इत्यस्मात् कार+अक=कारक इत्यादौ लित्वस्य फलं वर्त्तते-ऽतोनवकाशत्वात् तत्र स्वरो न शङ्क्य इति भावः ।

मूले सवर्णानुस्वारयोरेकमेवोदाहरणम्—**शिण्ढीति** । तत्र शिष् धातोर्लोटि मध्यमपुरुषैकवचने सिप्, तस्य, हिः, तस्य 'हेर्धिः' इति सूत्रेण 'धि'—शिष्+धि । श्नम्=न, अल्लोपे, अनुस्वारे च कृते शिंष्+धि, ष्टुत्वम्, षकारस्य जश्त्वेन डत्वम्, 'अनुस्वारस्य परसवर्णत्वम्, 'झरो झरि' इत्यनेन डलोपे कृते सिध्यति रूपम्—शिण्ढि । अत्र श्नमः नकारघटकस्य अकारस्य लोपो न स्थानिवत् । अन्यथा अनुस्वारपरसवर्णौ न स्यातिमिति **मनोरमाकारमतम् । शब्दरत्नकारस्तु** केवलमनुस्वारस्यैवोदाहरणत्वेन प्रतिपादयति । अतः खण्डयितुमाह—**नन्विति** । 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इति सूत्रेण अनुस्वारे कर्त्तव्ये लुप्ताकारस्य स्थानिवत्वं प्र[illegible]ोति । प्रकृतसूत्रेण निषिध्यते । ननु अनुस्वारस्य स्थानिभूतादचः (अकारात्) पू[illegible]न दृष्टत्वं नास्ति, लोपानन्तरमेवानुस्वारसम्भवात् । एवञ्चानुस्वारस्य परसवर्णे कर्त्तव्ये अल्लोपस्य स्थानिवत्वं न स्यादिति । तदेवाह—**स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तिः** । स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टत्वाभावादित्यर्थः । अशास्त्रीयमतिदेशं मनसि निधाय कौस्तुभाद्युक्तं शङ्कते—

[६+७] **[मनो०]** सवर्ण और अनुस्वार की कर्त्तव्यता में [स्थानिवद्भाव के निषेध का उदाहरण] शिण्ढि । ['शिष्लृ विशेषणे' धातु के लोट् मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है । शिष्+सि=हि=धि, 'रुधादिभ्यः श्नम्' से श्नम्=न श्विकरण मित् होने से अन्त्य स्वर के बाद होता है–शि न ष्+धि, 'श्नसोरल्लोपः' से श्नम् के अकार का लोप करने पर शिन्ष्+धि बनता है । 'झलां जश् झशि' से जश्त्व करने पर ष् का ड् और टवर्ग के साथ ष्टुत्व करने पर ध् का ढ्—शिन्ड्+ढि । यहाँ 'नश्चापदान्त झलि' से न् का अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से परसवर्ण करने पर अनुस्वार का ण् होता है—शिण्ड्+ढि । 'झरो झरि सवर्णे' से वैकल्पिक डलोप होने पर (१) शिण्ढि और [२] शिण्ड्ढि दो रूप होते हैं । यहाँ यदि लुप्त अकार का स्थानिवद्भाव हो जाता तो न् का 'अनुस्वार और परसवर्ण नहीं हो पाता । अतः प्राप्त स्थानिवत्त्व का निषेध प्रस्तुत सूत्र से होता है ।]

[शब्दरत्नकार इस उदाहरण के समर्थक नहीं है अतः इसके खण्डन का उपक्रम करते हैं—जो 'ननु' से प्रारम्भ होकर 'चेत्, सत्यम्' तक चलाकर आगे अपना मत लिखते हैं—]

[शब्द०] पूर्वपक्ष—यहाँ 'शिण्ढि' में अनुस्वार आदिष्ट [लुप्त] अच् की अपेक्षा पूर्ववर्त्तीरूप से [दृष्ट न होने से अलोप के] स्थानिवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होगी ।

नचास्मादेव ज्ञापकात्तस्याशास्त्रीयत्वेऽपि स्थानिवत्वेन तत्त्वम् ; फलाभावात्, तद्घटितसन्निवेशापेक्षस्य ततः पूर्वत्वस्यातिदेशसहस्रेणाप्यतिदेष्टुमशक्यत्वाच्च। "भोभगो" (पा० सू० ८।३।१७) इति सूत्रस्थभाष्यरीत्या तस्य स्थानिभूताल्वृत्तिधर्मत्वेन "अनल्विधौ" इति निषेधाच्च। विशेषणतयाऽलाश्रयणाच्च।

विमर्श—मनोरमाकार ने परसवर्ण और अनुस्वार दोनों से स्थानिवत्त्व के निषेध के लिये एक ही उदाहरण 'शिण्ढि' दिया है। परन्तु शब्दरत्नकार परसवर्ण का यह उदाहरण नहीं मानते हैं। शि न प्+धि यहाँ न के अकार का लोप कर देने पर जब न् का अनुस्वार करना चाहते हैं तब स्थानिभूत 'अ' की अपेक्षा पूर्वत्वेन 'न्' दृष्ट है, इस न् का अनुस्वार करने में 'अचः परस्मिन्' से स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है उसका निषेध प्रस्तुत सूत्र से होता है, यह ठीक है। परन्तु जब अनुस्वार का परसवर्ण करना चाहते हैं तब अनुस्वार स्थानिभूत अ की अपेक्षा पूर्वत्वेन दृष्ट नहीं है अपितु आदिष्ट अच् लोप रूप आदेश के विषयभूत—अ] की अपेक्षा पूर्वत्वेन दृष्ट है। इस लिये परसवर्ण की कर्त्तव्यता में 'अचः परस्मिन्' से अलोप का स्थानिवद्भाव प्राप्त ही नहीं है। तब परसवर्णविधि में स्थानिवद्भाव के निषेध का प्रश्न ही नहीं है। अतः यह उदाहरण ठीक नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि परसवर्ण व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करेगा—'स्थानिवत्' सूत्र से यह अतिदेश कर लिया जायगा कि—परसवर्ण की कर्त्तव्यता में अनादिष्ट=स्थानिभूत अच् की अपेक्षा अनुस्वार का पूर्वत्व हो जाता है। इसके बाद 'अचः परस्मिन्' सूत्र से अलोप का स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है। इस द्वितीय स्थानिवद्भाव का निषेध करने के लिये पूर्वसवर्ण का ग्रहण है—तो इसका भी खण्डन करते हैं—]

[शब्द०] इस 'सवर्ण'-ग्रहण रूप ज्ञापक से ही उस [अनादिष्ट=स्थानिभूत अच् की अपेक्षा पूर्वत्व] के अशास्त्रीय धर्म होने पर भी ["स्थानिवत्" सूत्र से] स्थानिवद्भाव के कारण तत्त्व=अनुस्वार का अनादिष्ट अच् की अपेक्षा पूर्वत्व है—ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि ["स्थानिवत्" सूत्र से स्थानिवद्भाव का] कोई फल नहीं है। और उससे घटित सन्निवेश अर्थात् अकारसहित न—इस आनुपूर्वी की अपेक्षा रखने वाले उस [स्थानिभूत अच्] की अपेक्षा पूर्वत्व का अतिदेश हजारों अतिदेश शास्त्रों से भी सम्भव नहीं है। और 'भोभगो अघो' पा० सू० ८।३।१७ इस सूत्र पर भाष्य में कही गयी रीति से इस प्रकार के पूर्वत्व का स्थानिभूत अल्वृत्ति [नकारवृत्ति] धर्म होने के कारण 'अनल्विधौ' से निषेध हो जाता है। और विशेषणतया अल् का आश्रयण है ही।

न चेति। **अस्माद्वेति**। सवर्णपदादेवेत्यर्थः। **तस्य**=अनादिष्टादचः पूर्वत्वस्य। **पूर्णसूत्रेण**=स्थानिवद्० इति सूत्रेण, **तत्त्वम्** अनादिष्टादचः पूर्वत्वमित्यर्थः, अनुस्वारस्येति शेषः। **तद्घटितेति**। अकारयुक्तो नकार-इत्येवमानुपूर्वि-घटितेत्यर्थः। **तस्य**=तादृशपूर्वत्वस्य। **अल्वृत्तीति**। नकारवृत्तीत्यर्थः। ननु असाधारण्य-निवेशवादिमूलकारमते अयमल्वृत्तिधर्मो नास्तीत्यतः आह—**विशेषणतयेति**। अज्रूपस्यालो विशेषणत्वेनाश्रयणाच्चेत्यर्थः। नन्वारोप - प्रकारीभूत - धर्मेण साक्षादवच्छिन्नोद्देश्यताकविधावेव निषेधप्रवृत्तेः 'अचः परस्मिन्' इति स्थानिवत्त्वस्य चातथात्वाददोषोऽत आह—**विशेषणतयेति**। स्थानितायामेव साक्षादवच्छिन्नत्वनिवेशे तु 'नश्चापदान्तस्य' इत्यत्र 'पदान्तनकारभिन्नस्य निर्दिश्यमानस्यानुस्वार' इत्यर्थेन नकारनिष्ठास्थानितायाः निर्दिश्यमानत्वेन साक्षादवच्छिन्नतया तस्य चाल्त्व-व्याप्यत्वाभावेनादोषो बोध्यः। अच्त्वस्याल्व्याप्यधर्मतया तद्घटित-स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेनदृष्टत्वस्यात्र निमित्तत्वेन अल्त्वव्याप्य-धर्म-घटित-धर्मनिमित्तके विधौ न स्थानिवदिति द्वितीयार्थेन 'अनल्विधौ' इति निषेधः स्यादिति भावः। ननु 'अनल्विधौ इति निषेधोऽल्त्वव्याप्यधर्मस्य स्थानिघटकाल्वृत्तित्वे एव प्रवर्त्तते, प्रकृते च अच्त्व-रूपाल्त्वव्याप्यो धर्मो न नकाररूपस्थानिघटकाल्वृत्तिरिति निषेधाप्राप्तिरत आह—

विमर्श—शब्दरत्नकार का आशय यह है कि स्थानिभूत अच् [अ] के सहित नकार—इस प्रकार की आनुपूर्वी की अपेक्षा रखने वाला जो—स्थानिभूत अच् की अपेक्षा पूर्वत्वेन दृष्ट होना है–इसका अतिदेश किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है क्योंकि परवसर्ण के सन्दर्भ में ऐसी स्थिति रहती ही नहीं। यह कहें कि अविद्यमान धर्म का ही अतिदेश होता है अतः उक्त अतिदेश सम्भव है—तो ठीक नहीं है क्योंकि अतिदेश तो आनुपूर्वी रूप है अतः 'स्थानिवत' सूत्र से कार्य का अतिदेश होने पर भी रूपाति-देश सम्भव नहीं है। 'भोभगो' इस सूत्र पर भाष्य में 'अनल्विधौ' का यह अर्थ किया गया है — अल्त्वव्याप्य - धर्मावच्छिन्न - स्थानितानिरूपितादेशताश्रयधर्मिकारोपप्र-कारीभूतधर्मनिमित्तके विधौ न स्थानिवत्।' प्रकृत लक्ष्य में समन्वय—अल्त्वव्याप्य नत्व धर्म से अवच्छिन्ना स्थानिता नकार में है इससे निरूपित आदेशता अनुस्वार में है, इस आदेशता का आश्रय अनुस्वार है। अनुस्वार-धर्मिक आरोप—'अनुस्वारः स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टत्ववान् भवतु' इस आरोप में प्रकारीभूत धर्म है—अचः पूर्वत्वेन दृष्टत्व [अच् की अपेक्षा पूर्ववर्त्ती रूप से देखा जाना], इस धर्म को निमित्त मान कर 'अचः परस्मिन्' से होने वाले स्थानिवद्भावरूप कार्य में 'अनल्विधौ' यह निषेध प्रवृत्त हो जाता है। इस अनुस्वार में स्थानिभूत अच् की अपेक्षा पूर्वत्वेन दृष्टत्वरूप धर्म का लाभ किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

भाष्ये "पूर्वत्रासिद्धे" इत्यवष्टभ्य वरे—यलोप-स्वर-भिन्नानां द्विर्वचनादीनां ग्रहणस्यात्र प्रत्याख्यानेन तस्य च णत्वे प्रतिप्रसवेनात्र स्थानिवत्त्वेन परसवर्णाभावस्यैव लाभादिदमुदाहरणं चिन्त्यम्। णत्वग्रहणे च प्रतिप्रसववार्त्तिके लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा नेत्युपपादयिष्यते।

भाष्य इति। तथा चात्र भाष्यप्रामाण्यात् णत्वरूपपरसवर्णाभावो लभ्यते इति नेदमुदाहरणं सम्भवतीति भाव इत्युपाध्यायाः। **अवष्टभ्य**=स्वीकृत्य। **अत्र**=सूत्रे। च शब्दस्तु-इत्यस्यार्थे वोध्यः। **प्रतिप्रसवेनेति**। 'तस्य दोषः संयोगादिलोपणत्वेषु' इति वार्तिकेनेत्यर्थः। **अत्र**=शिण्ढीत्युदाहरणे। **स्थानिवत्त्वेनेति**। स्थानिद्वारकमनादिष्टादचः पूर्वत्वमादाय मनोरमाकाराभिमतस्थानिवत्त्वेनेत्यर्थः। **इदमिति**। शिण्ढीत्यर्थः। ननु वार्त्तिके प्रतिपदोक्तणत्वग्रहणेनात्र निषेध एव, अत एव आह—**णत्वेति**। णत्वांशे इत्यर्थः। **उपपादयिष्यते**। अष्टन् शब्दे इति भावः। 'रषाभ्याम्'

प्राचीनों के मत में आरोप-प्रकारीभूत धर्म से साक्षात् अवछिन्न उद्देश्यतावाली विधि में निषेध प्रवृत्त होता है। 'अचः परस्मिन्' का स्थानिवत्त्व ऐसा नहीं है। इसलिये यहाँ दोष नहीं है। इस प्रकार का पूर्वपक्ष किया जा सकता है, इसका खण्डन करने के लिये शब्दरत्नकार का यह कहना है कि 'विशेषणतया' अलाश्रयण है ही, अतः 'अनल्विधौ' निषेध की प्रवृत्ति होगी ही। 'अचः पूर्वत्वेन दृष्टत्व' जो है वह अल्मात्रवृत्ति धर्म=अच्त्व से घटित धर्म है इसमें अच् विशेषण होते हुए निमित्त वनता है। स्थानिसम्बन्धि—अल्वृत्ति (अल्मात्रवृत्ति) धर्म-घटितधर्म-निमित्तके विधौ न स्थानिवत्' यह अर्थ है। स्थानी का अवयव है अकार, स्थानि-अवयव-अल्वृत्ति धर्म है अच्त्व, इससे घटित धर्म है—अचः पूर्वत्वेन दृष्टत्व; इसको निमित्त मानकर स्थानिवद्भाव करना है, 'अनल्विधौ' इस निषेध के प्रवृत्त होने में बाधा नहीं है।

[शब्द० प्रस्तुत सूत्र पर] भाष्य में 'पूर्वत्रासिद्धे च' अर्थात् त्रिपादी का कार्य कर्त्तव्य रहने पर स्थानिवद्भाव नहीं होता है' ऐसा स्वीकार करके आगे—वरे, यलोप और स्वर से भिन्न द्विर्वचन आदि के ग्रहण का प्रत्याख्यान करने से और णत्व के विषय में उस 'पूर्वत्रासिद्धे च' इसका प्रतिप्रसव अर्थात् 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलणत्वेषु' इस वार्त्तिक द्वारा बाध होने से यहाँ 'शिण्ढि' इस उदाहरण में स्थानिवद्भाव के द्वारा परसवर्ण न होने का ही लाभ होता है, इसलिये 'शिण्ढि' यह उदाहरण चिन्तनीय है। (जहाँ प्रतिपदोक्त णकार रहेगा वहीं यह वार्त्तिक लगेगा, परसवर्ण से होने वाले णकार के विषय में नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि) इस प्रतिप्रसव वार्त्तिक में णत्व अंश के ग्रहण में यह लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा नहीं लगती है, इसका उपपादन आगे (अष्टन् शब्द के समय) किया जायगा।

किं च "दीर्घादाचार्याणाम्" (पा० सू० ८।४।५२) इत्युत्तरम् "अनुस्वारस्य ययि" (पा० सू० ८।४।५८) "वा पदान्तस्य" (पा० सू० ८।४।५९) "तोर्लि" (पा०सू० ८।४।६०) "उदः स्था" (पा०सू० ८।४।६१) "झयो हो-" (पा० सू० ८।४।६२) "शश्छोऽटि" (पा० सू० ८।४।६३) इति षट्सूत्रीपाठोत्तरं "झलां जश् झशि" (पा० सू० ८।४।५३) "अभ्यासे चर्च" (पा० सू० ८।४।५४) "खरि च" (पा० सू० ८।४।५५) "वाऽवसाने" (पा०सू० ८।४।५६) "अणोऽप्रगृह्यस्य" (पा० सू० ८।४।५७) इति पञ्चसूत्र्याः पाठ इति

इत्यादिणत्वविधायकेष्वपि 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यस्यानुवृत्त्याऽऽन्तरतम्यान्नकारस्य णकाररूपमूर्धन्यादेशेनैव सिद्धे 'रषाभ्याम्' इति सूत्रे णग्रहणस्य 'पदान्तस्य' इति णत्वनिषेधकसूत्रस्य च भाष्यकृता प्रत्याख्यातत्वेन प्रतिपदोक्तनकाराभावेन प्रतिपदोक्तपरिभाषयाः प्रवृत्तिरेव नेति भाष्याशयः। भाष्योक्तपाठव्यत्यासेनापि परसवर्णोदाहरणत्व खण्डयितुमुक्रमते—**किंचेति**।

विमर्श—शब्दरत्नकार का तात्पर्य यह है कि 'पूर्वत्रासिद्धे च'='त्रिपादीस्थ कार्य कर्तव्य रहने पर स्थानिवद्भात्र का निषेध होता है, यह वार्त्तिक पहले स्वीकार किया गया है। इसके प्रयोजनों में यह कहा गया है—वरे, यलोप और स्वर को छोड़कर अन्य द्विर्वचन आदि का प्रत्याख्यान कर देना चाहिये—'द्विर्वचनादीनि च यलोपस्वरवर्जम्'। अर्थात् सूत्र में केवल तीन [वरे, यलोप, स्वर] का ही ग्रहण रखना चाहिये, अन्य का प्रत्याख्यान कर देना चाहिये। इसके आगे यह कहा गया—'पूर्वत्रासिद्धे च' इस वार्त्तिक को मानने पर (१) संयोगादिलोप, (२) लत्व (३) णत्व—इन तीन में दोष आता है अतः इन तीन में स्थानिवद्भाव होता है। प्रस्तुत लक्ष्य में भी परसवर्णद्वारा णत्व होना है, अतः स्थानिवद्भाव होगा, परसवर्ण नहीं हो सकता है।

'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इसका आश्रय लेकर भी निर्वाह नहीं हो सकता क्योंकि णत्वांश में उक्त परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है। अतः परसवर्ण का और कोई दूसरा उदाहरण देना चाहिये।

[शब्द०] और भी, दीर्घादाचार्याणाम्' (पा० सू० ८।४।५२) इस सूत्र के बाद (१) 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' पा० सू० ८।४।५८ (२) 'वा पदान्तस्य' पा० सू० ८।४।५९ (३) 'तोर्लि' पा० सू० ८।४।६० (४) 'उदः स्थास्तम्भोः' पा० सू० ८।४।६१ (५) 'झयो होऽन्यतरस्याम्' पा० सू० ८।४।६२ (६) 'शश्छोऽटि' पा० सू० ८।४।६२—इन छः सूत्रों का पाठ करने के बाद (१) 'झलां जश् झशि' पा० सू० ८।४।५३ (२) 'अभ्यासे चर्च' पा० सू० ८।४।५४ (३) 'खरि च' पा० सू० ८।४।५५ (४) 'वाऽवसाने' पा० सू० ८।४।५६ (५) 'अणोऽप्रगृह्यस्य' पा० सू० ८।४।५७

भाष्यसम्मताष्टाध्यायीपाठपक्षे परसवर्णदृष्ट्या "झलां जश् झशि" (पा०सू० ८।४।५३) इत्यस्य "झरो झरि" (पा० सू० ८।४।६५) इत्यस्य चासिद्धत्वेन यय्परत्वाभावात्तदप्राप्तेरिति चेत्, सत्यम्, पादयतेः क्विपि पाद्धसतीत्यादौ "झयो ह—" इति पूर्वसवर्णे पञ्चमीसमासेन प्राप्तस्थानिवद्भाववारणार्थ-त्वात्।

पूर्वसवर्णे इति। कर्त्तव्य इति शेषः। **पञ्चमीसमासेनेति**। अयं भावः —'पूर्वविधौ' इत्यत्र पूर्वस्य विधिरिति षष्ठीसमासवद् 'पूर्वस्माद् विधिरि'ति पञ्चमी-समासोऽपि भाष्ये उक्तः, एतत्पक्षे—स्थानिभूताद् अचः पूर्वत्वेन दृष्टाद् वर्णात् परस्य विधौ कर्त्तव्ये अजादेशः स्थानिवद् भवती' त्यर्थः। एवञ्च णिलोपरूपाजदेशा-पेक्षया पूर्वत्वेन दृष्टः पाद् इत्यस्य दकारः तस्मात् परो हसतीत्यस्य हकारः, तस्य 'झयो होऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन पूर्वसवर्णे कर्त्तव्ये णिलोपस्य स्थानिवत्त्वं प्राप्नोति, तद्वारणाय—सवर्णग्रहणमिति। ननु 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवद्भावनिषेधः, अत

इन पाँच सूत्रों का पाठ करना चाहिये—इस प्रकार के भाष्यसम्मत अष्टाध्यायीपाठ पक्ष में परसवर्ण की दृष्टि से 'झलां जश् झशि' (पा०सू० ८।४।५३) और 'झरो झरि' (पा० सू० ८।४।६५) ये दोनों असिद्ध हैं अतः यय् परे न मिल सकने के कारण अर्थात् ड् और ढ बाद में न मिलकर ष् मिलने के कारण] परसवर्ण की प्राप्ति ही नहीं होती है—ऐसा यदि कोई कहता है तो ठीक है। [अर्थात् 'शिण्ढि' यह परसवर्ण का उदाहरण नहीं है।] पादयति–इस अर्थ में णिजन्त पादि धातु से क्विप् करने पर [क्विप् का सर्वापहारी लोप और णिलोप करने पर] पाद् [यह रहता है इसके साथ हसति=पाद्+हसति आदि में 'झयो होऽन्यतरस्याम्' पा० सू० ८।४।६२ इससे पूर्वसवर्ण करने में पञ्चमीसमास से प्राप्त होने वाले स्थानिवद्भाव का वारण करने के लिये [परसवर्ण की] उपयोगिता है।

विमर्श—अधिक उपयोगिता देख कर भाष्यकार ने कहीं-कही सूत्रक्रम में कुछ परिवर्तन का परामर्श दिया है। प्रस्तुतस्थल के विषय में परिवर्तन का उल्लेख शब्दरत्नकार ने कर दिया है। इसके आधार पर शिण्ढि की प्रक्रिया इस प्रकार है—शिष्+लोट्=सि=हि। श्नम्=न् विकरण और 'श्नसोरल्लोपः' से अकार का लोप करने पर शिन्ष्+हि, 'हुझल्भ्योर्हेधिः' से हि का धि–शिन्ष्+धि, यहाँ ष्टुत्व और अनुस्वार करने पर शिंष्+ढि बनता है। यहाँ 'झलां जश् झशि' से ष् का जश् ड् किया जाता है। इसके होने पर यय् परे मिलता है तभी 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' ण् करता है परन्तु भाष्यसम्मत अष्टाध्यायीपाठ में 'अनुस्वारविधायक के बाद जश्-विधायक का पाठ है। वह 'पूर्वत्रासिद्धम्' के अनुसार असिद्ध हो जाता

हरितशब्दादाचक्षाणण्यन्तात् क्विपि हरिद्धसतीत्यादौ उक्तरीत्या प्राप्तस्य तस्य वारणार्थत्वाच्च। अत्राल्लोपस्यापि तत्प्राप्त्या क्वौ लुप्त-मित्यस्य विषय एव न।

उदाहरणान्तरं प्रस्तौति—**हरितेति**। **उक्तरीत्या**=पञ्चमीसमासाश्रयणेनेत्यर्थः। **तस्य**=स्थानिवत्त्वस्य। **अत्रेति**। हरिद्धसतीत्युदाहरणे। अपिना णिलोपस्य संग्रहः। प्रक्रिया त्वत्रापि पाद्धसतीत्यत्रेव बोध्या। ननु पञ्चमीसमासस्यानित्यतयैव स्थानि-

है, 'ष्' ही प्राप्त रहता है, और यह यय् प्रत्याहार में नहीं आता है अतः परसवर्ण की प्राप्ति ही नहीं है। तब स्थानिवद्भाव और उसके निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः यह उदाहरण केवल अनुस्वारविधि में स्थानिवद्भाव के निषेध का समझना चाहिये, परसवर्ण के विषय में नहीं।

परसवर्णविधि में स्थानिवद्भाव के निषेध का दूसरा उदा० है—णिजन्त पादि धातु से क्विप् और सर्वापहारीलोप के बाद णि का लोप कर देने पर प्राद् यह बचता है। पाद्+हसति यहाँ 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' में 'पूर्वस्मात् परस्य विधौ' यह पञ्चमीसमास मानने पर सूत्र का यह अर्थ होता है—'स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टात् वर्णात् परस्य विधौ कर्त्तव्ये स्थानिवद् भवति।' प्रस्तुत स्थल में स्थानिभूत अच्=णि का इ लुप्त है, इसकी अपेक्षा पूर्वत्वेन दृष्ट वर्ण है पाद् का दकार, इससे परे है हसति का हकार, इसकी पूर्वसवर्णविधि कर्त्तव्य है। 'इ' का स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है, उसके निषेध के लिये सूत्र में 'सवर्ण' का ग्रहण है। 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्' इस वार्त्तिक के द्वारा ही यहाँ स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है अतः यह उदाहरण भी ठीक नहीं है—इसलिये शब्दरत्नकार तीसरा उदाहरण दे रहे हैं—

[शब्द०]—हरितम् आचष्टे—इस अर्थ में 'हरित' शब्द से णिच्, टिलोप और क्विप् प्रत्यय एवं सर्वापहारी लोप कर देने पर हरित्+हसति आदि में 'झयो होऽन्यतरस्याम्, से पूर्वसवर्णविधि की कर्तव्यता में उपर्युक्तरीति से प्राप्त होने वाले स्थानिवद्भाव का वारण करने लिये 'सवर्ण' ग्रहण है। और इस लक्ष्य (णिलोप) के साथ साथ अलोप का भी स्थानिवद्भाव प्राप्त होने के कारण 'क्वौ लुप्तं न स्थानि-वत्' इस वार्त्तिक का विषय ही नहीं है।

[भाव यह है कि णिच्=इ करने पर 'अ' लोप होता है और क्विप् करने पर णिच्=इ का लोप होता है अतः अ का लोप क्विप् परे नहीं होता है। इस प्रकार 'क्वौ लुप्तं न स्थानिवत्' इस वार्त्तिक की यहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु यदि कोई पञ्चमी समास न स्वीकार करें तो यहाँ भी स्थानिवद्भाव की प्राप्ति

दीर्घे—प्रतिदीव्ना ।

हरिन्नमतीत्यादौ अनुनासिके तद्व्यावृत्त्यर्थत्वाच्च । "हयवरट्" सूत्रभाष्यरीत्या तत्र सवर्णग्रहणापकर्षेण तस्यापि सवर्णविधित्वादित्यन्यत्र विस्तरः ।

वद्भाववारणसम्भवान्नेदमपि तदुदाहरणमित्यत आह—**हरिन्नमतीति** । हरित-शब्दादाचक्षाणण्यन्तात् क्विपि नमति इत्यनेन अनुनासिके कर्त्तव्ये स्थानिवद्भाव-वारणार्थं सवर्णग्रहणादिति भावः । ननु अनुनासिकत्वं न सवर्णत्वमित्यत आह—**हयवरडिति** । **तत्र**='यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वे' ति सूत्रे । **तस्यापि** । अनुना-सिकत्वस्यापि । **अन्यत्रेति** । 'चतुर्मुख' इत्यस्य साधनावसरे शब्देन्दुशेखरादावित्यर्थः । वस्तुतस्तु—उक्तहरित्शब्दात् लुनातिशब्द योगे 'तोर्लि' इति सूत्रेण परसवर्णे हरिल्लु-नातीति परसवर्णग्रहणस्योदाहरणं बोध्यमिति भावः ।

न होने से यह भी उदाहरण ठीक नहीं है । अतः आगे अन्य उदाहरण दे रहे हैं—] और, 'हरिन्नमति' आदि में अनुनासिक बाद में रहने पर [पूर्वस्य विधिः—इस षष्ठी-समास से प्राप्त] उस स्थानिवद्भाव का वारण करने के लिये सवर्णग्रहण है ।

[हरितम् आचष्टे इस अर्थ में णिच् प्रत्यय करने पर अलोप करने के बाद क्विप् प्रत्यय करने पर हरित् बनता है । इसके आगे अनुनासिक वर्ण 'नमति' रखने पर हरित्+नमति आदि में 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' सूत्र से पूर्ववर्त्ती 'त्' का अनुनासिक करना है । अतः 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से 'अ' का स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है, उसे रोकने के लिये 'सवर्ण' ग्रहण है । [शंका हो सकती है कि 'हरिन्नमति' में तो अनुनासिकविधि है, परसवर्णविधि नहीं । तब यह उदाहरण कैसे होगा ? इसका उत्तर दिया जा रहा है—] हयवरट् [मा०सू० ५] इस सूत्र के भाष्य की रीति से उस 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' पा०सू० ८।४।४५ में 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' पा०सू०८।४।४५ से सवर्णग्रहण का अपकर्ष करने से यह 'यरोऽनु-नासिके' सूत्र भी सवर्णविधि होता है । इसका अधिक विचार अन्यत्र (चतुर्मुखः की सिद्धि के प्रसंग में हल्सन्धि में) किया गया है ।

[मनो०] (८) दीर्घविधि में स्थानिवद्भावनिषेध का उदा० प्रतिदीव्ना । [प्रति उपसर्गयुक्त दिव् धातु से कनिन् प्रत्यय करने पर प्रतिदिवन् से तृतीया एकवचन में टा प्रत्यय करने पर प्रतिदिवन्+आ । 'यचि भम्' से भसंज्ञा करने पर 'अल्लो-पोऽनः' से 'अ' का लोप हो जाने पर प्रतिदिव्न्+आ में जब 'हलि च' से उपधा-दीर्घ करना चाहते हैं तब 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से अलोप का स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है, उसका निषेध प्रस्तुत 'न पदान्त' सूत्र से किया जाता है । अतः उपधादीर्घ होने पर उक्तरूप निष्पन्न हो जाता है ।]

जशि—सग्धिश्च मे। अदनं ग्धिः। अदेः क्तिनि "बहुलं छन्दसि" (पा० सू० २।४।३९) इति घस्लादेशः। "घसिभसोर्हलि–" (पा० सू० ६।४।१००) इत्युपधालोपः। "झलो झलि" (पा० सू० ८।२।२६) इति सलोपः, धत्वम्। घस्य जश्त्वम्। "सहस्य सः–" (पा० सू० ६।३।७८) इति सूत्रात् स इत्यनुवर्तमाने "समानस्य च्छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु" इति सूत्रेण सः।

सूत्रेण स इति। "सग्धिःस्त्री सहभोजनम्" [अ०को०] इत्यमरात्सहस्य सादेश इति प्रतीयते। "झलो झलि" (पा० सू० ८।२।२६) इति सिच एव लोप इति पक्षे छान्दसो वर्णलोपो बोध्यः। स्पष्टं चेदं "धि च" (पा० सू० ८।२।२५) इति सूत्रे भाष्ये। लोके तु सग्धिरित्यसाध्वेवेति बोध्यम्॥

जश्विधौ स्थानिवद्भावनिषेधस्योदाहरणमाह मूले—**सग्धिश्च** मे। अदनम्= ग्धिः। अद्धातोः क्तिन्=ति, छान्दसत्वेन घस्लादेशे–घस्+ति, उपधालोपे घ्स्+ ति, सलोपे घ्+ति, 'झषस्तथोर्धोऽधः' इति तकारस्य धत्वे, 'झलां जश् झशि' इति घस्य जश्त्वेन गकारे—ग्=धि=ग्धिरिति। समाना ग्धिः—इति विग्रहे समासे,

---

(९) जश्विधि में [स्थानिवद्भावनिषेध का उदाहरण है]—सग्धिश्च मे। अदनम्=ग्धिः, अद् धातु से भाव अर्थ में क्विप् प्रत्यय करने पर 'बहुलं छन्दसि' (पा० सू० २।४।२९) से अद् का घस् आदेश होता है—घस्+ति। 'घसिभसोर्हलि' (पा० सू० ६।४।१३) से उपधाभूत अकार का लोप—घ्स्+ति। 'झलो झलि' (पा० सू० ८।२।२६) इससे स् का लोप घ्+ति। 'झषस्तथोर्धोऽधः पा०सू० ८।२।४० से त का ध–घ्+धि। झलां जश् झशि' से घ का जश्त्व-ग्–ग्धि। समाना ग्धिः—इस अर्थ में समान का स आदेश—'सहस्य सः' पा०सू० ६।३।७८ इस सूत्र से स इनकी अनुवृति होने पर "समानस्य छन्दस्य०" से होता है। जब घ+धि इस दशा में जश्त्व करना होता है उस समय लुप्त अकार का स्थानिवद्भाव प्राप्त होता है, उसका निषेध कर दिया जाता है। झश् परे मिलता है, जश्त्व घ्=ग् हो जाता है।

[शब्द०] 'सग्धिः' शब्द स्त्रीलिंग है और 'साथ में भोजन' यह अर्थ है, इस अमरकोष [२ वैश्यवर्ग ५५] के अनुसार सह का स होता है। [समान का नहीं]–ऐसा प्रतीत होता है। 'झलो झलि' [पा०सू० ८।२।२६] यह सूत्र सिच् के ही स् का लोप करता है [अतः घ्स्+ति में स् लोप नहीं करेगा] इस पक्ष में छान्दस वर्णलोप समझना चाहिये। यह 'धि च' पा०सू० ८।२।२४ सूत्र पर भाष्य में स्पष्ट है। लोक में तो 'सग्धिः' यह अशुद्ध ही है—ऐसा समझना चाहिये।

चरि—जक्षतुः ॥

"संयोगान्तस्य" **(पा० सू० ८।२।२३)** तदन्तस्येति। **अलोऽन्त्यपरिभाषयेति भावः। यद्यपि विशेषणेन तदन्तविधिलाभात्संयोगस्येत्येव सूत्रयितुमुचितं, तथाऽपि प्रत्येकं संयोगसञ्ज्ञेति पक्षे दृषत्करोतीत्यादौ लोपं वारयितुं**

समानस्य सादेश—सग्धिरिति। अत्र जश्‌विधौ कर्त्तव्ये लुप्ताकारस्य स्थानिवद्‌भावः प्राप्नोति, तस्य निषेधः प्रकृतसूत्रेणेति बोध्यम्। मूलतो भेदमाह—**सहस्य सादेशेति।** एवञ्च सम्मिल्य भोजनस्येयं संज्ञा। **असाध्वेवेति।** वस्तुतस्तु 'सघ हिंसायाम्' इत्यस्मात् क्तिनि सग्धिरिति लोकेऽपि प्रयोगसिद्धिरिति 'घि च' सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। धातूनामनेकार्थत्वमाश्रित्य प्रसिद्धार्थोपपत्तेरित्याहुः।

चर्‌विधौ स्थानिवद्‌भावनिषेधस्योदाहरणमाह—**जक्षतुरित।** अद्‌धातोर्लिटि प्रथमपुरुषस्य द्विवचने अदो घस्लादेशे घस् + अतुस् द्वित्वाभ्यासादिकार्ये जघस् + अतुस्, उपधालोपे जघ्स् = अतुस् अत्र 'खरि च' इत्यनेन चर्त्वे कर्त्तव्ये प्राप्तस्य अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वं न। तेन घस्य ककारे, सकारस्य षकारे, कषयोः क्षकारादेशे च रूपसिद्धिः।

एवञ्च प्रकृतसूत्रेण स्थानिवद्‌भावे निषिद्धे सति धकारस्य द्वित्वे जश्त्वे च सुद्ध्य् + उपास्यः इति जायते।

[मनो०] (१०) चर्‌विधि में [स्थानिवद्‌भाव के निषेध का उदाहरण है]—जक्षतुः। [अद् + लिट् = तस् = अतुस्, अद् का घस्लृ = घस् आदेश द्वित्वादिकार्य जघस् + अतुस् 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' पा० सू० ६।४।९८ से उपधा अकार का लोप जघ्स् + अतुस। यहाँ 'खरि च' से चर्त्वविधि में लुप्त 'अ' का स्थानिवद्‌भाव प्राप्त होता है उसका निषेध प्रस्तुत सूत्र करता है। चर्त्व करने पर जक्स् + अतुस्, स् का ष् और क् + ष् = क्ष् = जक्षतुस्, विसर्ग—जक्षतुः।]

[मनो०] संयोगान्तस्य लोपः [पा०सू० ८।२।२३] [संयोगान्त जो पद] उसके अन्त का लोप होता है। यह अन्त्यलोप 'अलोऽन्त्यस्य' पा०सू० १।१।५२ इस परिभाषा सूत्र से होता है—यह भाव है। ['पदस्य' पा०सू० ८।१।१६ इस अधिकार में प्रस्तुत सूत्र है। अतः पूरे पद का लोप प्राप्त होता है।] यद्यपि ['पदस्य' इसके होने से और 'संयोगस्य' इसके] विशेषण होने से ['येन विधिस्तदन्तस्य' १।१।७२ के अनुसार] तदन्तविधि = संयोगान्त-विधि का लाभ हो जाने के कारण 'संयोगस्य' इतना ही सूत्र बनाना उचित था तथापि प्रत्येक वर्ण की संयोग संज्ञा होती है' इस पक्ष में 'दृषत्करोति' आदि में [संयोगान्त-] लोप का वारण करने के लिये 'संयोगो

संयोगावन्तौ यस्येति द्विवचनान्तेन समासलाभार्थमन्तग्रहणम् । वृत्तौ हि उपसर्जनानामेकत्वसंख्यौत्सर्गिकी, द्वित्वादिकं तु प्रयत्नलभ्यमिति भाष्ये स्थितम् ॥

विशेषणेन । पदस्येत्यधिकारप्राप्तविशेषणेन संयोगस्येत्यनेन । **एकत्वसंख्येति ।** अभेदैकत्वसंख्येति तदर्थः । संख्यासामान्याभाव इति यावत् । विग्रहे एकवचनं तु औत्सर्गिकं सुबन्तत्वसम्पत्तिमात्रफलकमिति समर्थसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । **भाष्ये स्थितमिति ।** संयोगसञ्ज्ञासूत्रस्थे इत्यर्थः । एवं च प्रत्येकं संयोगसञ्ज्ञापक्षस्यानन्तरा इति सूत्राक्षरस्वारस्यविरोधेन फलाभावेन चासङ्गतत्वमिति तत्रैव भाष्ये ध्वनिततयाऽत्रत्यमन्तग्रहणं व्यर्थमेव, न तु फलान्तरेऽभिनिवेशः कार्य इति भावः ।

संयोगान्तस्य लोपः (पा० सू० ८।२।२३) संयोगान्तं यत् पदं तदन्तस्य लोपः स्यादिति वृत्तिः । **औत्सर्गिकीति ।** समासे उपसर्जनपदार्थे संख्यासामान्यं प्रतीयते, संख्याविशेषज्ञानं न भवति । तदुक्तं वाक्यपदीये —

अन्तौ यस्य' इस प्रकार के द्विवचनान्त के साथ समास की सिद्धि के लिये 'अन्त' का ग्रहण है । [केवल 'संयोगस्य' पाठ से एक को भी संयोगसंज्ञक मानकर लोप रोकना कठिन होता ।] समासादि वृत्तियों में उपसर्जन पदार्थों की एकत्व संख्या तो औत्सर्गिकी है किन्तु द्वित्वादि संख्यायें तो प्रयत्न से लभ्य हैं—ऐसा भाष्य में स्थित है ।

[**शब्द०**] 'पदस्य' इसका अधिकार है । यह विशेष्य होता है और 'संयोगस्य' यह विशेषण बनता है । फलतः तदन्तविधि मानकर 'संयोगान्तस्य' अर्थ हो जाता है ।] एकत्वसंख्या=अभेदैकत्वसंख्या—यह अर्थ है । संख्यासामान्य का अभाव अर्थात् सामान्यरूपेण संख्यासामान्य और संख्याविशेष का भान न होना । विग्रहवाक्य में एकवचन तो औत्सर्गिक है वह केवल सुबन्तत्व [समर्थ पदत्व] का सम्पादन करने के लिए है—ऐसा 'समर्थः पदविधिः' (पा०सू० २।१।१) सूत्रभाष्य में स्पष्ट है । भाष्य में='हलोऽनन्तराः संयोगः' पा०सू० १।१।७ इस संयोगसंज्ञा-विधायक सूत्र पर भाष्य में है । इस प्रकार [अन्त-ग्रहण का उपर्युक्त फल है और यह भाष्यसम्मत है तो] 'प्रत्येक की संयोग संज्ञा होती है' यह पक्ष 'हलोऽनन्तराः संयोगः' पा० सू० १।१।७ सूत्रघटक) 'अनन्तराः=अव्यवहिताः—इस सूत्राक्षर के स्वारस्य के विरुद्ध है और कोई फल नहीं है, अतः यह पक्ष असंगत है [अर्थात् न विद्यते अन्तरम्=व्यवधानं ययोः येषां वा—इस व्युत्पत्ति के द्वारा दो अथवा अधिक को ही 'अनन्तर' कहा जा सकता है, एक को नहीं] यह उसी सूत्र पर भाष्य में ध्वनित है अतः इस सूत्र में 'अन्त' का ग्रहण व्यर्थ ही है, किसी अन्य फल के विषय में अभिनिवेश=आग्रह नहीं चाहिये, यह भाव है ।

"यण—" इति वाचनिकम् । यद्वा वाच्यो=व्याख्येयः । व्याख्या च द्वेधा–"झलो झलि" (पा० सू० ८।२।२६) इत्यतो झल्ग्रहणमपकृष्य झल एव लोपोऽविधीयत इति ।

यत्तु संयोगेति लुप्तषष्ठीकम्, तच्च पदस्येति चान्तविशेषणम्, संयोगान्तस्य सतः पदान्तस्येत्यर्थमन्तग्रहणमिति । तन्न । तादृशलक्ष्याभावात् । अत एव "छ्वसोः" (पा० सू० ६।४।११९) सूत्रे "द्विशकारको निर्देशः" इति भाष्ये उक्तम् । त्वद्रीत्या संयोगान्तलोपस्य दुर्वारत्वेन शकारद्वयाभावात्तदसंगतिः स्पष्टैव ॥

यथौषधिरसाः सर्वे मधुन्याहितशक्तयः ।
अविभागेन वर्त्तन्ते तां संख्यां तादृशीं विदुः ॥ (वा० प०३।१४।१२०)

सूत्राक्षरस्वारस्येति—अविद्यमाना अन्तरा येषां ते अनन्तराः=अव्यवहिता इत्यर्थः । द्वयोश्चान्तरा कश्चिद् विद्यते न वा, इति भाष्यात् द्वयोरेव संयोगत्वं स्पष्टम् । **ध्वनिततयेति** । समुदायस्य संयोगसंज्ञा यथा स्यादित्येतदर्थं सहग्रहणं कर्त्तव्यम्–इति प्रथममभिधाय 'गर्गदण्डनन्यायेन समुदायस्यैव तत्सिद्धौ 'सहग्रहणं न कर्त्तव्यम्' इत्येवोक्तं नतु एकस्य संयोगसंज्ञायाः किञ्चदसाधारणं प्रयोजनमभिहितम् । एवञ्चान्तग्रहणं न कार्यम् ।

[प्रक्रियाकौमुदी एवं इसके टीकाकार] जो यह कहते हैं —'संयोग' यह लुप्त षष्ठीविभक्तिवाला पद है, यह [संयोगपद] और 'पदस्य' यह पद ये दोनों 'अन्तस्य' के विशेषण हैं—संयोगान्त होते हुये पदान्त का [लोप होता हैं–] यह अर्थ है–इस अर्थ का उपपादन करने के लिये 'अन्त' का ग्रहण है—किन्तु यह कथन ठीक नहीं हैं क्योंकि ऐसा लक्ष्य नहीं मिलता है । इसीलिये 'छ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च (पा० सू० ६।७।११९) इस सूत्र पर भाष्य में [लोपश्श्च-यह] 'दो शकार वाला निर्देश है' —ऐसा कहा गया है । तुम्हारे [प्रक्रियाकौमुदी एवं उसके टीकाकार के] अनुसार संयोगान्तलोप दुर्वार है, रोकना सम्भव नहीं है, अतः दो शकार न होने के कारण उक्त भाष्य की असङ्गति स्पष्ट ही है । [भाव यह है 'लोपश्श्च' यहाँ 'संयोगान्त जो पदान्त' यह मानने पर एक शकार का लोप होगा ही एक ही रहेगा तब 'द्विशकारको निर्देशः' यह भाष्यकथन सर्वथा असंगत ही है ।]

[**मनो०**] 'यण् के लोप का प्रतिषेध वाच्य है'—यह वाचनिक=वचनरूप से पठनीय है । अथवा 'वाच्यः=व्याख्येय [यण्लोप के प्रतिषेध की व्याख्या करनी चाहिये]' और व्याख्या दो प्रकार की है—'झलो झलि' [पा० सू० ८।२।२६] इस सूत्र से झल् ग्रहण का अपकर्ष [संयोगान्तस्य लोपः पा०सू० ८।२।२३ में] करके झल् का ही लोप करना चाहिये ।

अपकृष्येति। तच्च षष्ठ्या विपरिणम्य वाक्यभेदेन सम्बध्यते। तेन पूर्ववाक्यस्य क्वचिदझल्यपि प्रवृत्तिः। उत्तरवाक्येन च तस्य क्वाचित्कत्वं ज्ञाप्यते। तेन च नातिप्रसङ्गः। ध्वनित चेदम् "अमो मश्" (पा० सू० ७।१।४०) इत्यत्र भाष्ये। तत्र हि मद्वयात्मकमादेशं विधाय शित्त्वं प्रत्याख्यातम्। एकस्य मस्य संयोगान्तलोप इति च कैयटेन व्याख्यातम्।

प्रक्रियाप्रकाशोक्तिं खण्डयितुमाह — **यत्त्विति**। **अत एव**=तादृशार्थाभावादेव। द्विशकार इति भावः। **त्वद्रीत्येति**=प्रकियाप्रकाशाद्युक्तरीत्या संयोगान्तं पदम्—'लोपश्श्' अत्र लोपो दुर्वारः तेन भाष्योक्तशकारद्वयनिर्देशसस्यासङ्गतिः स्पष्टैवेति भावः।

'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' इति वार्त्तिकं व्याख्यातुं प्रस्तौति—**यण** इति। **अपकृष्येति**। झल इति पञ्चम्यन्तं तस्य षष्ठ्यन्ततया विपरिणामेन झलो लोप इति भावः। **वाक्यभेदेनेति**। तत्र वाक्यद्वयम्—(१) संयोगान्तस्य लोप इत्येकं वाक्यम्। एतदर्थंस्तु प्रसिद्ध एव। (२) संयोगान्तस्य झलो लोपः' इति द्वितीयम्। एवञ्च सामान्यभूतेन प्रथमवाक्येनैव सर्वत्र सिद्धौ द्वितीयं वाक्यं व्यर्थीभूय प्रथमवाक्यस्य

[**शब्द०**] [संयोगान्त सूत्र पहले है 'झलो झलि' बाद में है अतः झल्ग्रहण का अपकर्षण करके झल् का ही लोप करना चाहिये] अपकृष्ट होने वाला 'झल्' यह पञ्चम्यन्त पद षष्ठ्यन्त रूप से बदल कर वाक्यभेद से सम्बद्ध किया जाता है [—(१) संयोगान्त जो पद उसके अन्त का लोप होता है। यह प्रथम वाक्य बनता है (२) झलन्त जो संयोग, तदन्त जो पद, उसके अन्त का लोप होता है—यह द्वितीय वाक्य है। प्रथम वाक्य सामान्य है उसी से सर्वत्र लोप सम्भव है। अतः द्वितीय वाक्य व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है] पूर्ववाक्य=प्रथम वाक्य की कहीं कहीं अझल् में भी प्रवृत्ति होती है। [अझल् में यण् भी है। उसका लोप होना चाहिये। उसका प्रतिषेध होता है। और उत्तर=दूसरे वाक्य [संयोगान्तस्य झलो लोपः'] से पूर्ववाक्य की कहीं कहीं ही प्रवृत्त होना ज्ञापित होता है। इस लिये कोई अतिप्रसङ्ग नहीं है। [भाव यह है कि कल्पित दो वाक्यों में प्रथम वाक्य सामान्यरूप से सर्वत्र संयोगान्तलोप करता है इसी से कार्य सम्भव हो जाता है। अतः द्वितीय सूत्र (वाक्य) व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि प्रथम वाक्य की प्रवृत्ति कहीं कहीं ही होती है सर्वत्र नहीं। अतः सुद्ध्य् उपास्यः में भी य् लोप नहीं होगा। अतः अतिप्रसंग नहीं होता है।] यह 'अमो मश्' (पा०सू० ७।१।४०) इस सूत्र पर भाष्य में ध्वनित है। इस सूत्रभाष्य में दो मकारों वाले आदेश का विधान करके शित्त्व का प्रत्याख्यान कर दिया है। और एक मकार का संयोगान्त लोप हो जाता है, यह व्याख्या कैयट ने की है।

अन्तरङ्गे लोपे कर्तव्ये बहिरङ्गस्य यणोऽसिद्धत्वमिति वा। न च षाष्ठी असिद्धपरिभाषा त्रिपादीस्थत्वेनासिद्धमन्तरङ्गं लोपं न पश्यतीति वाच्यम्। कार्यकालपक्षाभ्युपगमात्। न च "नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः" इति निषेधः—

क्वाचित्कत्वं ज्ञापयति। तेन क्वचिद् अझल्यपि अस्य प्रवृत्तिः। एवञ्चत्रापि सुद्ध्युपास्य इत्यादौ यकरादिनिवृत्त्यापत्तिरूपोऽतिप्रसङ्गो नेत्यर्थः। **प्रत्याख्यतमिति।** अनेकाल्त्वादेव सर्वादिशसिद्धेरिति भावः। द्वितीयां व्याख्यां प्रस्तौति मूले—**अन्तरङ्गे लोप इति। षाष्ठीति।** 'वाह ऊठ्' इति षष्ठाध्यायीस्थसूत्रेण ज्ञापितेति भावः। **त्रिपादीस्थेति।** संयोगान्तस्य लोपः' इति सूत्रेणेति भावः। **'नाजानन्तर्ये इति।** परिभाषार्थस्तु—अचोऽन्यानन्तर्यनिमित्तकेऽन्तरङ्गे कार्ये कर्त्तव्ये जातस्य बहिरङ्गस्य बहिष्ट्वप्रकलृप्तिः। बहिष्पदेन बहिरङ्गम्, तस्य भावो बहिरङ्गत्वम् तत्प्रयुक्तासिद्ध-

---

[भाव यह है कि वैदिक प्रयोगों में लुङ् लकार के उत्तमपुरुष एकवचन के मिप् का मश् आदेश 'अमो मश्' (पा०सू० ७।१।४०) यह सूत्र करता है। यहाँ 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' पा० सू० १।१।५५ सूत्र से सम्पूर्ण के स्थान पर आदेश करने के लिये शित् [मश्] आदेश है। परन्तु भाष्यकार का यह कहना है कि यहाँ 'अमोम्म्' यह सूत्र वनाकर अनेकाल् मानकर ही उक्त सूत्र से सर्वादेश कर लेना चाहिये। कैयट ने यह व्याख्या की है कि एक म् का संयोगान्त लोप करना चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि अझल् का भी लोप होता है।]

[मनो० दूसरी व्याख्या यह है-] अथवा अन्तरंग लोप की कर्तव्यता में बहिरंग यण् असिद्ध हो जाता है। [इस प्रकार पहली अथवा इस दूसरी व्याख्या से यण् लोप का वारण सम्भव है। 'वाह ऊठ्' पा०सू० ६।४।१३२ इस षष्ठ अध्याय के सूत्र से ज्ञापित] षाष्ठ 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' यह परिभापा [सपादसप्ताध्यायीस्थ है अतः] त्रिपादी में स्थित होने के कारण 'संयोगान्तस्य लोपः' [पा०सू० ८।२।२३ से होने वाले] असिद्ध अन्तरंग लोप को नहीं देखती है [अतः यण् का लोप हो जायेगा]—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि कार्यकालपक्ष स्वीकार कर लिया जाता है। [कार्यकालपक्ष में असिद्धपरिभाषा भी त्रिपादीस्थ हो जाती है। 'अच्निष्ठ अच् के आनन्तर्य=अव्यवधान-निमित्तक कार्य की कर्तव्यता में बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है' इससे ['असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इसका] निषेध हो जायेगा। [भाव यह है कि अन्तरंगलोप की अपेक्षा यण् बहिरंग है क्योंकि यण् अज्निष्ठ अजानन्तर्य-निमित्तक है—ऐसा हरदत्तादि का मत है। अतः परिभाषा की प्रवृति नहीं होगी, निषेध हो जायगा—ऐसा नहीं कहना चाहिये

तस्यानित्यत्वात् । उत्तरकालप्रवृत्ते लोपे अजानन्तर्याभावाच्च । तथा च वार्तिकम्—"संयोगान्तस्य लोपे यणः प्रतिषेधः" "न वा झलो लोपाद्", "बहिरङ्गलक्षणत्वाद्वा" इति । इह यथोद्देशपक्षे आद्यं वार्तिकद्वयम्, तृतीयं तु कार्यकालपक्षे इति विवेकः ।

अनित्यत्वादिति । तत्र च ज्ञापकं "केऽणः" (पा० सू० ७।४।१३) इति निर्देशः । 'क इ अण' इति स्थिते लक्ष्यगतपरत्वमाश्रित्य प्राप्त इकारस्य यण् असिद्धपरिभाषया तत्र व्यावर्त्यते । "अन्तरङ्गं वलीयः" इति परिभाषान्तरं नास्त्येवेति भावः ।

क्योंकि वह 'नाजानन्तर्ये' परिभाषा अनित्य है । और उत्तरकाल में होने वाले लोप में अच् का आनन्तर्य नहीं है । ['नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः'—इस परिभाषा का अर्थ यह है अच्निष्ठ अजानन्तर्य-निमित्तक अन्तरंग कार्य [illegible]ी कर्त्तव्यता में, जात =पहले किया गया बहिरंग कार्य असिद्ध हो जाता है । य[illegible] अन्तरंग संयोगान्त-लोप में अजानन्तर्यनिमित्तकता नहीं है इसलिये इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी । तब बहिरंग यण् असिद्ध हो जाने पर लोप का प्रश्न नहीं है ।] इस विषय में वार्त्तिक हैं—(१) संयोगान्तलोप के विषय में यण् का प्रतिषेध कहना चाहिये । (२) कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि झल् के ही लोप का विधान है । [यण् झल् से बहिर्भूत है । इसका लोप नहीं होगा ।] अथवा (३) 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस की प्रवृत्ति हो जाती है । इन तीन वार्त्तिकों में पहले वाले दो वार्त्तिक यथोद्देशपक्ष को मान कर हैं और तीसरा कार्यकालपक्ष को—यह विवेक है ।

[शब्द०] 'नाजानन्तर्य परिभाषा' अनित्य है—इस अनित्यता में 'केऽणः' (पा० सू० ७।४।१३) यह सूत्रनिर्देश ज्ञापक है । [वाक्यसंस्कारपक्ष में—] क+इ +अणः इस स्थिति में लक्ष्यगत परत्व को मानकर प्राप्त होने वाला—इ का यण् —यहाँ 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा से रोका जाता है । [यदि नाजा-नन्तर्यं परिभाषा नित्य होती तो यहाँ बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो पाती यण् रोकना कठिन होता ।] 'अन्तरंग बलवत्तर होता है' यह दूसरी परिभाषा नहीं ही है ।

विमर्श—भाव यह है कि सूत्रपाठ के अनुसार गुण परवर्त्ती होने के कारण यण् का बाध करता है और लक्ष्यगत परत्व को ध्यान में रखने पर यण् परवर्त्ती है । इस प्रकार इन दोनों की तुल्यता है । अतः परस्पर-प्रतिबन्ध होने से एक साथ दोनों का अभाव होगा, अथवा पाक्षिक यण् होने लगेगा । अथवा इष्टानुरोध से लक्ष्यगत परत्व का

वस्तुतः "ओमाङोश्च" (पा० सू० ५।१।९५) इत्याङ्ग्रहणादनित्यमिदम्। तद्धि शिव + आ + इहीति स्थिते परमपि सवर्णदीर्घं बाधित्वा धातूपसर्गकार्यत्वेनान्तरङ्गत्वादादगुणे वृद्धिबाधनार्थम्। उदाहरणं तु अक्षद्यूरिति। अन्यथा अन्तरङ्गे यण्यूठसिद्धः स्यात्।

त्वस्य न प्रक्लृप्तिः = न प्राप्तिरिति। **तस्य** = नाजानन्तर्येति वचनस्य। शब्दरत्ने— **तत्र चेति**। अनित्यत्वे चेत्यर्थः। **व्यावर्त्यंते** इति। पूर्वं यणि कृते गुणाप्राप्त्या 'केऽण' इति निर्देशस्योपपत्तिर्भविष्यतीत्यत आह—**वस्तुत** इति। **इदमिति**। नाजानन्तर्यमिति वचनमित्यर्थः। **अक्षद्यूरिति**। नाजानन्तर्यपरिभाषाया इति शेषः।

ही आश्रयण लिया जाता है। यण् प्राप्त होता है उसका वारण 'असिद्ध' परिभाषा से किया गया है। अन्तरंग होने से गुण ही होता है। यदि 'नाजानन्तर्य' परिभाषा नित्य रहती तो गुण की प्रवृत्ति नहीं हो पाती, 'केऽणः' यह पाणिनीय निर्देश नहीं बन पाता। इससे 'नाजानन्तर्य' परिभाषा की अनित्यता स्पष्ट है। यदि पाठकृत परत्व ही मानें तो गुण ही होगा यण् नहीं। तब यण् की व्यावृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता है—इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं—]

[शब्द०] वास्तव में 'ओमाङोश्च' (पा० सू० ५।१।९५) इस सूत्र में 'आङ्' इसके ग्रहण से यह [नाजानन्तर्य०] परिभाषा अनित्य है। क्योंकि यह [आङ् ग्रहण] शिव + आ + इहि' इस स्थिति में परवर्त्ती भी सवर्णदीर्घ का बाध करके धातु एवम् उपसर्ग का कार्य होने से अङ्गरंग होने के कारण 'आद्गुणः' ६।१।८७ इससे गुण कर देने पर [शिव + एहि इस दशा में] वृद्धि का बाध करने के लिये है। यदि 'नाजानन्तर्य०' परिभाषा नित्य होकर प्रवृत्त होती तो सवर्णदीर्घ और बाद में गुण करके रूप सिद्ध हो जाता। अतः आङ्ग्रहण व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि 'नाजानन्तर्य० परिभाषा अनित्य है। यहाँ प्रवृत्त नहीं होती है। पहले गुण ही होता है, तब शिव + एहि में वृद्धि रोकने के लिये 'आङ्' का ग्रहण है।] इस परिभाषा का उदाहरण है — अक्षद्यूः। अन्यथा अन्तरंग यण् कर्त्तव्यता में ऊठ् असिद्ध हो जाता। [भाव यह है कि 'अक्षैः दीव्यति—इस विग्रह में क्विप् प्रत्यय, उसका सर्वापहारी लोप. उपपद समास, विभक्तिलोप आदि करने पर अक्षदिव् बनता है। 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' पा० सू० ६।३।१९ इससे व् का ऊठ् = ऊ—अक्षदि + ऊ यहाँ अन्तरंग यण् की कर्तव्यता में बहिरङ्ग ऊठ् असिद्ध होने लग जाता। परन्तु 'नाजानन्तर्ये' इस परिभाषा के कारण 'बहिरङ्ग' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं हो पाती है। ऊठ् असिद्ध नहीं होता है, यण् होकर —अक्षद्यूः बन जाता है। यही इस परिभाषा का फल है।]

यत्त्वाहुः—वार्तिककृतो वचनं, प्रत्याख्यानप्रकारद्वयं तु भाष्यकृत इति, तन्निर्मूलम्। मतभेदे प्रमाणाभावात्।

यदप्याहुः—'काव्यं, कलत्रं, शाल्वं चाचक्षाणः काव्, कलत्, शाल्, अदभ्रयतेरधब् इति। तदपि न, पक्षत्रयेऽपि संयोगान्तलोपस्य दुर्लभत्वात्। आद्यपक्ष-

---

मतभेद इति। न वेति 'वा' शब्दस्वारस्येन वचनारम्भवादिन एव प्रत्याख्यानप्रकारो, भाष्यकृत्तु 'तर्त्तर्हि वक्तव्यं' न वक्तव्यमित्यादिशब्दैरेव प्रत्याचष्टे—इति सर्वं वार्तिककृत एवेति भावः।

विस्तरस्तु परिभाषेन्दुशेखरादौ द्रष्टव्यः। **ऊठसिद्ध इति।** ऊढोऽसिद्धत्वे यणोऽप्राप्ततया तद्रूपासिद्धिरिति भावः।

मूले—**काविव्यादि।** काव्यम् आचष्टे इत्यर्थे णिचि, भत्वे, अलोपे च कृते काव्य् इति संयोगान्तम्, तस्य च संयोगान्तलोपे कृते सति वकारान्तं रूपं जायते। एवमेव 'कलत्र्' इत्यत्र संयोगान्तरेफस्य लोपः, 'शाल्व्' इत्यत्र संयोगान्तवकारलोपो वोध्यः। **पक्षत्रयेऽपीति।** (१) संयोगान्तलोपे यणः प्रतिषेधः, (२) न वा झलो लोपात् (३) वहिरङ्गलक्षणत्वाद् वा' इति वार्तिक-

---

[**मनो०**] जो यह कहते हैं '[यणः प्रतिषेधो वाच्यः—] यह वार्तिककार का वचन है। किन्तु इसके प्रत्याख्यान के दोनों वचन भाष्यकार के हैं—वह निर्मूल है। इनमें मतभेद में कोई प्रमाण नहीं है। [**शब्द०**] 'न वा' इसमें 'वा' इस शब्द के स्वारस्य से वचन आरम्भ करने वाले के ही प्रत्याख्यान के प्रकार हैं। [अर्थात् वार्त्तिककार ने ही 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' यह कहा है और 'न वा झलो लोपात्' यह भी इन्हीं का है क्योंकि 'वा' शब्द एक ही व्यक्ति विकल्प अर्थ में प्रयुक्त करता है।] भाष्यकार 'तो कहना चाहिये ? नहीं कहना चाहिये' इत्यादि शब्दों से ही प्रत्याख्यान करते हैं, ['वा' शब्द के द्वारा नहीं।] अतः यहाँ के सभी वचन वार्त्तिककार के ही हैं, यह भाव है।

[**मनो०**] जो यह कहते हैं—काव्यम् आचक्षाणः, कलत्रम् आचक्षाणः, शाल्वम् आचक्षाणः—(इन अर्थों में) काव्, कलत् शाल् और अदभ्रयति से अधब् यह होता है। (काव्यम् आचष्टे—इस अर्थ में णिच् करके नामधातु से क्विप् और उसका सर्वापहारी लोप करने पर काव्य्+णि=इ में, णिलोप और संयोगान्तलोप से य्लोप करके काव् यह रूप बनता है। इसी प्रकार अन्य तीनों में भी समझना चाहिये। परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि (उपर्युक्त) तीनों पक्षों में संयोगान्त का लोप करना दुर्लभ है। प्रथमपक्ष ('संयोगान्तस्य लोपे यणः प्रतिषेधः' वचन) और

द्वयैकरूप्यार्थं पूर्वं पूर्वमन्तरङ्गं परं परं बहिरङ्गमित्यल्लोपणिलोपयोरसिद्धत्वस्य सुवचत्वात्। अत एव कातन्त्रपरिशिष्टे शुक्लयतेः क्विपि 'शुक्ल्' इत्युदाहृतम्। वान्तयोः क्विपि ऊठो दुर्वारत्वात्।

काविंत्यादि। संयोगान्तलोपादिति भावः। ननु पूर्व-पूर्वस्थानिकमन्तरङ्गमित्यर्थो न भाष्यसम्मतः। किं तु पूर्वपूर्वनिमित्तकमित्येव। किं च प्रातिपदिकाद् णिजुत्पत्तेरेव भाष्यसम्मतया बहिर्भूतसुब्निमित्तकसंयोगान्तलोपोऽपि बहिरङ्ग इत्यरुचेराह—**वान्तयोरिति।** काव्ये यलोपे स्थानिवत्त्वनिषेधात्

त्रयोक्तपक्षेष्वित्यर्थः। **सुवचत्वादिति।** एवञ्च संयोगान्तपरत्वाभावस्यैव सत्वान्नलोप इति भावः। **अत एवेति।** एतादृशस्थलेषु संयोगान्तलोपाभावादेवेत्यर्थः। काव्यशब्दे यलोपे कर्त्तव्ये 'न पदान्त' इति सूत्रेण स्थानिवद्भावस्य निषेधे 'लोपो व्योर्वलि' इत्यनेन य्लोपे कृते वान्तत्वम्, शाल्व-शब्दे च अकारलोपे कृते स्वत एव वान्तत्वमत एवाह मूले—**वान्तयोरिति।** ननु क्विपमकृत्वा विचि प्रत्यये

द्वितीयपक्ष ('न वा झलो लोपात्'—इस वचन) के साथ एकरूपता करने के लिये तीसरे पक्ष ['बहिरङ्गलक्षणत्वाद्वा' वचन) में—पूर्व पूर्व अन्तरङ्ग और पर पर बहिरङ्ग है—इस प्रकार अलोप और णिलोप (इन दोनों के बहिरङ्ग होने के कारण इन) का असिद्ध होना कहना सरल है। (अतः अन्त में संयोग न हो सकने से लोप का प्रश्न ही नहीं है।) (ऐसे स्थलों पर लोप नहीं होता है) इसलिये कातन्त्र व्याकरण परिशिष्ट में—शुक्लयति इस णिजन्त से क्विप् करने पर शुक्ल् यह (संयोगान्त रूप) उदाहरण दिया गया है।

(शब्द०) काव् इत्यादि रूप संयोगान्तलोप के कारण होते हैं, यह भाव है। पूर्व-पूर्वस्थानिक अन्तरंग होता है, यह अर्थ भाष्यसम्मत नहीं है अपितु पूर्व-पूर्वनिमित्तक ही अंतरंग होता है, यही भाष्यसम्मत है। (भाव यह है कि पहले जिसके स्थानी उपस्थित हों वह कार्य या शास्त्र बलवान् नहीं होता है अपितु जिसके निमित्त पहले उपस्थित होते हैं, वही अन्तरङ्ग माना जाने से बलवान् होता है, यदि पूर्वपूर्वस्थानिक को भी अन्तरंग मान लें तब भी दोष है, यह कहते हैं—) और भी, प्रतिपादिक से ही णिज् की उत्पत्ति भाष्य-सम्मत है अतः बहिर्भूत सुप को निमित्त मानकर होने वाला संयोगान्तलोप भी बहिरङ्ग हो जाता है—इस अरुचि के कारण कहते हैं—**(मनो०)** वकारान्तों में क्विप् करने पर (व् का) ऊठ् आदेश रोका जाना सम्भव नहीं है **[शब्द०]** काव्य शब्द में णिच्, अलोप, क्विप्, अनुबन्धलोप करने पर] यलोप की कर्त्तव्यता में ('न पदान्त०' सूत्र से अलोप का)

न च स्थानिवत्त्वम्, क्वौ विधिं प्रति तन्निषेधात्, विचि "लोपो व्योः–" (पा० सू० ६।१।६६) इति लोपस्य प्रसङ्गाच्च। गिरिवेश्मयतेस्तु क्विपि यणः प्रतिषेधार्थं वचनारम्भपक्षे गिरिवेडित्युचितम्। प्रत्याख्यानपक्षे तु मान्तमेवेति दिक्।

"लोपो व्योः" (पा०सू० ६।१।६६) इति कृते वान्तत्वमिति ऊठ् दुर्वारः, अन्त्ये च स्वत एवेति तत्र वलोपं बाधित्वोठ् दुर्वार इत्यर्थः। विचीति। काव्यशब्दे इति शेषः। यलोपे स्थानिवत्त्वनिषेधात्। एवं च प्राचीनोक्त संयोगान्त-लोपोदाहरणत्वमयुक्तमिति भावः। शाल्वे तु अल्लोपादेः स्थानिवत्त्वान्न तत्प्रसक्तिरिति बोध्यम्।

उक्तं रूपमत आह मूले—**विचीति**। अयं भावः—काव्यमाचष्टे इत्यर्थे णिजन्ताद् विचि कृते सति यलोपे कर्त्तव्ये स्थानिवत्त्वनिषेधात् वल्परत्वमाश्रित्य लोपप्रसक्तेः। **एवञ्चेति**। वलोपप्रसङ्गे चेत्यर्थः। **उदाहरणत्वमिति**। काव् इत्यस्य शेषः।

स्थानिवद्भाव निषिद्ध हो जायगा अतः 'लोपो व्योर्वलि' पा०सू० ६।१।६६ से य् लोप कर देने पर वकारान्त हो जाता है अतः इसमें [व् का ऊठ्] रोकना सम्भव नहीं है और अन्तिम अर्थात् (शाल्व + णिच् + क्विप् = आलोप) शाल्व् में तो स्वतः ही वकारान्तता है इस लिये इनमें (संयोगान्तलोप के असिद्ध हो जाने से प्राप्त होने वाले वल्निमित्तक) वलोप का बाध करके ऊठ् करना दुर्निवारणीय है–यह अर्थ है।

(मनो०) अलोप का स्थानिवद्भाव हो जायगा—यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'क्विप् परे रहते विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है' इस नियम से अलोप के स्थानिवत्त्व का निषेध हो जाता है। [अतः वान्तत्व सुरक्षित होने से व् का ऊठ् आदेश दुर्वार है।] और [क्विप् न करके] विच् प्रत्यय करने पर तो 'लोपो व्योर्वलि' (पा० सू० ६।१।६६) से य्लोप होने का प्रसङ्ग है। [शब्द०] काव्य में–इतना शेष है। यलोप की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है। (अतः वल्परक मानकर य्लोप कर देने पर काव् यही बचता है। यहाँ संयोगान्तलोप का प्रश्न नहीं है) इस प्रकार (वलोप का प्रसङ्ग रहने पर] प्राचीनों द्वारा कहा गया [काव्] संयोगान्तलोप का उदाहरण अयुक्त है, यह भाव है। शाल्व शब्द में तो अल्लोप आदि का स्थानिवद्भाव हो जाने के कारण उस [संयोगान्तलोप] की प्रसक्ति नहीं है, ऐसा समझना चाहिये। [मनो०] गिरिवेश्म-यति [णिजन्त गिरिवेश्म] से क्विप् करने पर यण् का प्रतिषेध करने के लिये वार्तिक आरम्भ करने के पक्ष में—गिरिवेट् यही रूप उचित है। किन्तु वार्तिक के प्रत्याख्यानपक्ष में मकारान्त [गिरिवेश्म्] ही रूप प्राप्त होता है, यह दिग्दर्शन है।

मान्तमेवेति। अस्य प्राप्नोतीति शेषः। तस्मात्तत्पक्षेऽपि वाक्यभेदेन व्याख्याय गिरिवेडित्येव। अन्यथाऽऽरम्भप्रत्याख्यानयोः फलभेदः स्यादिति भावः। **दिगिति।** दिगर्थस्तु संयोगान्तलोपसंयोगादिलोपविषयकतयाऽऽरब्धस्य "यणः प्रतिषेध"—इतिवचनस्य संयोगान्तलोपविषयकस्य "झलो लोपात्" इति प्रत्याख्यानम्। अत एव तत्र "संयोगान्तलोपो झलो लोप" इति भाष्ये व्याख्या कृता। "बहिरङ्गलक्षणत्वाद्वा" इत्यस्य तु बहिरङ्गो यणादेशोऽन्तरङ्गो लोप इति व्याख्यानेन वार्तिकस्वारस्येन चेदृशानां लक्ष्याणामनभिधानमेव। वस्तुतस्तृतीयं वार्तिकं विसर्जनीयसूत्रभाष्ये कार्यकालपक्षमुपक्रम्य-

---

तत्प्रसक्तिरिति। 'लोपो व्योर्वलि' इत्यस्य प्रसक्तिरित्यर्थः। **अन्यथेति।** मान्तमेव प्राप्नोतीति व्याख्यानास्वीकारे इत्यर्थः। **संयोगादिलोपविषयकतयेति।**

[शब्द०] मकारान्त ही—इसका 'प्राप्त होता है'—यह शेष है। अर्थात् मान्तरूप प्राप्त होता है—गिरवम्। इस लिये इस [झल् ग्रहण के अपकर्ष] पक्ष में भी वाक्यभेद से व्याख्या करके 'गिरवेट्' यही रूप उचित है। अन्यथा [शब्दरत्न-कारोक्त—'प्राप्नोति इति शेषः' ऐसा नहीं मानेंगे तो] आरम्भ और प्रत्याख्यान दोनों पक्षों में फलभेद होने लगेगा—यह भाव है। [मनोरमा में जो दिक् कहा गया है] दिक् का अभिप्राय तो यह है—संयोगान्तलोप और संयोगादिलोप इन दोनों को विषय बनाने वाले के रूप में आरम्भ किये गये अर्थात् द्विविधलोप को विषय बनाते हुए आरम्भ किये गये गये 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' [यण् के लोप का प्रतिषेध कहना चाहिये।] इस वचन का प्रत्याख्यान 'संयोगान्त झल् का लोप होता है' इस वचन से हो जाता है। [प्रत्याख्यान है] इसी लिये 'संयोगान्तलोप=झल् का लोप' यह व्याख्या भाष्य में की गयी है।

'अथवा बहिरङ्ग होने से'—इसका तो यणादेश बहिरङ्ग है संयोगान्तलोप अन्तरङ्ग है—इस प्रकार के व्याख्यान से और वार्त्तिकस्वारस्य से इस प्रकार के [लोपद्वय-विषयक अकृत्रिम यण् से युक्त) शब्दों का अनभिधान ही है। [यदि लोप अभीष्ट होता तो यह कहा जाता—'अन्तरङ्गो लोपः, अन्तरङ्गलक्षणत्वाद्वा।' किन्तु ऐसा नहीं कहा गया है—इसका फल यही है कि अकृत्रिम यण् से घटित काव्य् शाल्व् आदि शब्दों का अभिधान नहीं है। अन्त्यपक्ष में लोप प्राप्त होता है और आदिपक्ष में नहीं प्राप्त होता है—इस प्रकार फलभेद प्रसक्त होने लगता है फलतः इनका अनभिधान ही है।] वास्तव में ('बहिरङ्गलक्षणत्वाद् वा' इस) तृतीय वार्त्तिक को, 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' पा० सू० ८।३।१५ इस सूत्र पर भाष्य में' कार्यकालपक्ष मानकर "न वा बहिरङ्गलक्षणत्वाद् वा"—यह परिहार उचित नहीं

इति पक्ष इति । **पक्षद्वयस्यापि भाष्ये स्थितत्वादिति भावः ।** चत्वारि रूपाणीति ।

यत्तु वदन्ति—धकारयकारोभयद्वित्वे उभयोः पुनर्द्वित्वे लोपविकल्पेऽन्यतरद्वित्वे च नव रूपाणि । तथा हि—एकधं त्रिधा, एकयं द्वियं च त्रियं च । एव द्विधं त्रिधं च त्रिधेति ।

"अयुक्तोयं परिहारो न वा बहिरङ्गलक्षणत्वाद्वा" इत्यनेन दूषितमित्यलम् ॥

लोपद्वयविषयकतयेत्यर्थः । 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सूत्रे यण्ग्रहणसम्बन्धेन यणन्तसंयोगाद्योः सकारककारयोर्लोपो नेति तदर्थः । **अत एव**=तस्यैव प्रत्याख्यानादेवेत्यर्थः । **तत्र**=सूत्रे इत्यर्थः । प्रकृतं प्रतिपादयति—**बहिरङ्गेति** । एवञ्चेदं व्याख्यानमुभयविषयकमित्येवोचितम् । **वार्त्तिकस्वारस्येनेति** । अन्यथा अन्तरङ्गो

है" यह कहते हुए दूषित किया गया है, अब विस्तार अनावश्यक है । (बहिरङ्ग परिभाषा के त्रिपादी में प्रवृत्त न होने के कारण यह तृतीय समाधान अनुचित है, यह शब्दरत्नकार का भाव है ।)

('यणो मयो द्वे वाच्ये' (का. वा.) 'मय इति पञ्चमी यण इति षष्ठी' इति पक्षे यकारस्यापि द्वित्वम् ।" सिद्धान्तकौमुदी की इस पंक्ति से प्रतीक लिया है—) **(मनो०)** इतिपक्ष इति । (अर्थात् 'मयः' इसमें पञ्चमी है और 'यणः' इसमें षष्ठी है, अतः मय् से परे यण् का द्वित्व होता है इसलिये यकार का भी द्वित्व होता है ।) दोनों पक्ष भाष्य में स्थित हैं, यह भाव है ।

('यणो मयो द्वे वाच्ये' इसमें आवृत्ति करके दो वाक्य बनाये गये हैं । (१) 'यणः' यह पञ्चम्यन्त और 'मयः' यह षष्ठ्यन्त मानकर यण् से परे मय् का द्वित्व होता है । (२) 'मयः' यह पञ्चम्यन्त है 'यणः' यह षष्ठ्यन्त हैं, मय् से परे यण् का द्वित्व होता है । इस पक्ष में धकारोत्तरवर्त्ती यण्=य् का भी द्वित्व होता है । ये दोनों पक्ष 'अनचि च' पा०सू० ८।४।४७ सूत्र पर भाष्य में हैं ।)

(इस प्रकार धकार और यकार के वैकल्पिक द्वित्व के कारण २+२=) चार रूप होते है ।

जो लोग यह कहते हैं—धकार और यकार इन दोनों का द्वित्व करने पर (दो धकारोंवाला और दो यकारों वाला एक रूप) इन दोनों का फिर से द्वित्व करने पर (तीन धकारों वाला और तीन यकारों वाला एक रूप) लोप का विकल्प होने पर अन्यतर का द्वित्व करने पर नौ रूप बनते हैं । यह इस प्रकार है—एक धकार वाले तीन रूप (१) एक यकार वाला, (२) दो यकारों वाला (३) तीन यकारों वाला । इसी प्रकार दो धकारों वाले तीन रूप और तीन धकारों वाले तीन रूप ।

उभयद्वित्वेति। द्विधं द्वियमेकम्। पुनर्द्वित्वे त्रिधं त्रियम्। **अन्यतरेति**। एकधं द्वियं त्रियं च एकयं द्विधं त्रिधं च, द्वयोरपि द्वित्वे अन्यतरस्य पुनर्द्वित्वे द्विधं त्रियम्, त्रिधं द्वियं च। अनुभयद्वित्वे एकधमेकयम्। लोपविकल्पान्यतरद्वित्वयोः समफलता, सम्भवमात्रेण तु तदुक्तिः।

लोपः, 'अन्तरङ्गलक्षणाद् वा' इत्येव वदेदित्यभिप्रायः। **ईदृशानाम्**=लोपद्वयविषयाकृत्रिम-यण्-घटितानां-'काव्यम्' 'शाल्वम्' इत्यादीनामित्यर्थः। **विसर्जनीय सूत्रे इति**। 'खरवसानयोर्विसर्जनीय' इति सूत्रभाष्ये इति भावः। एवञ्च तदर्थं प्राचा मूलकारस्य प्रयासो व्यर्थ एवेति आद्ययोर्द्वयोरेवोल्लेख उचितः, तदाह—**अलमिति**। 'यणो मयो द्वे वाच्ये' इत्यत्र 'मय इति पञ्चमी यण इति षष्ठी' इति पक्षे यकारस्यापि द्वित्वमिति प्रसङ्गः। मय प्रत्याहारघटितवर्णात् परस्य यणः अपि द्वित्वमिति तदर्थः। एवञ्च 'अनचि च' इत्यनेन धकारस्य द्वित्वम्, प्रस्तुतवार्त्तिकेन च यकारस्य द्वित्वम्। उभयद्वित्वयोर्वैकल्पिकत्वेन चत्वारि रूपाणि। तदेवाह मूले—**चत्वारीति**।

प्राचां मतं निराकर्तुं प्रस्तौति—**यत्त्विति**। **एकधं त्रिधंति**। यदा धकारस्य द्वित्वं नैव भवति, यकारस्य च द्वित्वं वार्त्तिकेन भवति (१) एकधं द्वियम्, यदा पुनर्यकारस्यैव द्वित्व' मनचि च' सूत्रेण भवति तदा (२) एकधं त्रियम्, यदा उभयोर्द्वित्वं न, तदा (३) एकधं त्रियम्,। यदा धकारस्य द्वित्वं, यकारस्य च द्वित्वाभावः

[शब्द०] दोनों का=धकार और यकार का द्वित्व करने पर दो धकारों वाला और दो यकारों वाला एक रूप—सु ध् ध् य् य् उपास्यः (ऐसा 'अनचि च' पा०सू० ८।४।४७ से द्वित्व करने पर होता है। 'यणो मयो द्वे वाच्ये' से ध् और य् इन दोनों का) पुनः द्वित्व करने पर तीन धकारों वाला तीन यकारोंवाला ध् ध् ध् य् य् य्+उपास्यः दूसरा रूप। अन्यतर=किसी एक का द्वित्व करने पर एक धकारवाला दो यकारोंवाला सु ध् य् य्+उपास्यः तीसरा रूप, एकधकार वाला और तीन यकारों वाला सु ध् य् य् य्+उपास्यः चौथा रूप; एक यकारवाला दो धकारोंवाला सु ध् ध् य्+उपास्यः पाँचवाँ रूप, एक यकारवाला तीन धकारोंवाला सु ध् ध् ध् य्+उपास्यः छठा रूप। (ध् तथा य्) दोनों का द्वित्व करने पर एक का पुनः द्वित्व करने पर दो धकारों वाला और तीन यकारों वाला—सु ध् ध् य् य् य्+उपास्यः यह सातवाँ और तीन ध् तथा दो य् वाला सु ध् ध् ध् य् य्+उपास्यः—आठवाँ रूप। किसी का भी द्वित्व न करने पर सु ध् य्+उपास्यः नौवाँ रूप। ('झरो झरि सवर्णे पा०सू० ८।४।६५ तथा हलो यमां यमि' पा०सू० ८।४।६४ से) विकल्प से लोप तथा अन्यतर=दोनों में से किसी एक का द्वित्व करने पर समान ही फल होता है, केवल सम्भावना मानकर लोपविकल्प कहा गया है।

न चान्तरङ्गे द्वित्वे बहिरङ्गस्य यणोऽसिद्धत्वम्, 'त्रैपादिकेऽन्तरङ्गे बहिरङ्गपरिभाषा न प्रवर्त्तत' इति विसर्जनीयसूत्रे भाष्यकैयटयोर्व्यवस्थापितत्वादिति ।

अत्रेदं वक्तव्यम्-पुनर्द्वित्वमशुद्धम् । एकस्यां व्यक्तौ एकं लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तत इति "एकः पूर्वपरयोः" (पा० सू० ६।१।८४) इति सूत्रे भाष्ये सिद्धान्तितत्वात् । अन्यथा द्वित्वानामानन्त्यापत्तेः ।

एकः पूर्वपरयोरिरिति । तत्र हि यथा 'अनयोः पूलयोः कटं कुर्वि'त्यादौ एक-

---

तदा (१) द्विधम् एकयम्, पुनर्धकारस्य द्वित्वम् यकारस्य च द्वित्वम्, तदा (२) द्विधं द्वियम्, यदा यकारस्य पुनर्द्वित्वम्, धकारस्य एकदैव द्वित्वम् तदा (३) त्रियं द्विधम्, यदा धकारस्य द्विवारं द्वित्वम्, तदा (१) त्रिधम् एकयम्, यकारस्य एकवारं द्वित्वम् (२) त्रिधं द्वियम्, यकारस्यापि द्विवारं द्वित्वम् तदा (३) त्रिधं त्रियम्, एवञ्च संकलनया नवरूपाणीति प्राचामभिप्रायः । ननु यदि लोपस्य वैकल्पिकत्वेन तत्कृतो न विशेषस्तर्हि तस्योपन्यासो व्यर्थं एवेत्यत आह—**समफलता** । विकल्पेन लोपः स्यात् अन्यतरस्य च द्वित्वं स्यादित्यत्र न फलभेदः । अत्र सम्भवमात्रत्वेन विकल्पोक्तिरिति भावः । मूले—**पुनर्द्वित्वमिति** । एकवारं द्वित्वं विधाय तस्यैव पुनर्द्वित्वमित्यर्थः । **व्यक्ताविति** । लक्ष्यरूपव्यक्तावित्यर्थः । **अन्यथेति** । एकस्यां लक्ष्यव्यक्तौ एकवारमेव द्वित्वस्य प्रवृत्त्यस्वीकारे इत्यर्थः । शब्दरत्ने—**तत्रेति** । 'एकः

विमर्श—प्रक्रियाकौमुदी की प्रकाशटीका मे उपर्युक्तरीति से नौ रूप प्रदर्शित किये गये हैं । यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि 'अनचि च' से और 'यणो मयो द्वे वाच्ये' इसके दो व्याख्यान मय् से परे यण् का द्वित्व मानकर ऊपर की प्रक्रिया है ।

[मनो०] अन्तरङ्ग द्वित्व की कर्तव्यता में बहिरङ्ग यण् असिद्ध हो जाता है —ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि त्रैपादिक अन्तरङ्ग कार्य के विषय में बहिरङ्ग परिभाषा [असिद्ध बहिरङ्गमन्तरङ्गे] नहीं प्रवृत्त होती है, यह 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इस सूत्र के भाष्य और कैयटीय प्रदीप में व्यवस्थापित किया गया है ।

[उपर्युक्त मत का खण्डन करने के लिये दीक्षित लिखते हैं—] यहाँ [उपर्युक्त प्रकाशकार के लेख के विषय में] यह कहना चाहिये—[एक बार धकार और यकार का द्विवत्व कर लेने के बाद] पुनः=दूसरी बार इन्हीं का द्विवत्व करना अशुद्ध है क्योंकि एक लक्ष्यरूपी व्यक्ति में लक्षण=सूत्र एक ही बार प्रवृत्त होता है—ऐसा 'एकः पूर्वपरयोः' पा० सू० ६।१।८४ इस सूत्र भाष्य में व्यवस्थापित किया गया है। यदि उक्त व्यवस्था नही मानी जायगी तो अनन्त द्वित्वों का प्रसङ्ग आयेगा ।

[शब्द०] 'एकः पूर्वपरयोः' (पा०सू० ६।१।८४) इस सूत्र भाष्य में जिस प्रकार

वाक्यतयैव वोध्यादेकत्वविवक्षणेनोभयसम्बन्ध्येककटकरणप्रतीतिस्तथा आदचि पूर्वपरयोर्गुण इत्यादावपि द्वन्द्वनिर्देशाद्विधेयगतसंख्याविवक्षणाच्चोभयोः स्थाने एक एवादेशो भविष्यतीत्येकग्रहणं प्रत्याख्याय शङ्कितम्—शास्त्राधिकारिणः पुरुषान्प्रति प्रवृत्तं संस्कारकं तत्तच्छास्त्रं प्रतिपुरुषमेकवाक्यतया सकृदेवार्थबोधकं, यथाऽऽधानेनाग्नीन्संस्कुर्यादित्यर्थकं-"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" इति वाक्यं प्रतिब्राह्मणं सकृदेवार्थबोधकं सकृदेव स्वविषये प्रवर्तकं च। अत एव पुनः पुनर्नाधानादिसंस्कारः, तथा व्याकरणशास्त्रस्य "अवर्णादचि पूर्वपरयोर्गुणो भवति, गुणवान् शब्दश्च साधुर्भवति, स च प्रयोक्तव्यः"

पूर्वपरयोरिति सूत्रभाष्ये इत्यर्थः। **पूलयोः**—तृणसमुदाययोः। **विधेयेति**। गुणगतेत्यर्थः। **उभयोः**=पूर्वपरयोः। **एक एवेति**। न तु 'रदाभ्याम्' 'उभौ साभ्यासस्य' इतिवदनेकः, तत्र गमकस्य स्थानिभेदसूचकस्य सत्त्वेऽप्यत्र सूत्रे तथाऽभावादिति-बोध्यम्। **शङ्कितम्**—इत्यस्याग्रे **'आवश्यकम्'** इत्यत्रान्वयः। **स्वविषये**। आधानाख्यसंस्कार इत्यर्थः। **अत एव**=एकवारमेव तत्र प्रवर्त्तकत्वादेव। प्रकृते योजयति-

---

'इन दो पूलों=तृणों के ढेरों का कट=चटाई बनाओ' इत्यादि में एकवाक्यता से [एक वाक्य होकर] ही बोध होता है [क्योंकि एकवाक्यतया परस्पर अन्वय सम्भव रहने पर वाक्यभेद उचित नहीं है] अतः [विधेय कटगत] एकत्व की विवक्षा होने से उभयपूलसम्बन्धी (=दोनों तृणसमूहों का) एक कट=चटाई बनाने की प्रतीति होती है, इसी प्रकार 'अकार के बाद अच् रहने पर पूर्व एवं पर दोनों के स्थान पर गुण होता है' इत्यादि में भी [पूर्वपरयोः यह] द्वन्द्वनिर्देश है और विधेय [गुण आदेश] की एकत्व संख्या विवक्षित है इन कारणों से [पूर्व तथा पर] दोनों के स्थान में एक ही आदेश होगा [अर्थात् दो स्थानियों के स्थान पर दो आदेश नहीं होंगे]" इस प्रकार 'एक' ग्रहण का प्रत्याख्यान करके शङ्का की है—शास्त्राध्ययन के अधिकारी पुरुषों के प्रति प्रवृत्त होने वाला संस्कारक वह वह शास्त्र प्रत्येक पुरुष के लिये एकवाक्यता द्वारा एक ही बार अर्थ का बोधक होता है, जिस प्रकार 'आधान से अग्नि का संस्कार करें'—इस अर्थवाला 'वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नियों का आधान करे' यह वाक्य प्रत्येक ब्राह्मण लिये एक ही बार अर्थ का बोधक होता है। और एक ही बार अपने विषय में [=आधानाख्य संस्कार में] प्रवर्त्तक होता है। इसी कारण आधान संस्कार बार बार नहीं किया जाता है। ठीक इसी प्रकार व्याकरण शास्त्र का भी—(१) अवर्ण के बाद अच् रहने पर पूर्व और पर का गुण होता है, (२) और गुणवान् शब्द साधु=शुद्ध होता है, (३) और इसी का प्रयोग करना

इत्येतावत्पर्यन्तं व्यापारात्तत्संस्कृतस्यैकस्य खट्वेन्द्रस्य प्रयोगेण शास्त्रार्थस्य करणान्मालेन्द्रादिप्रयोगो न स्यात् । अतस्तत्तल्लक्ष्यविषयवाक्योपप्लवेन वाक्यभेदोऽवश्यं वाच्यः । तद्वत्पूर्वपरविषयेऽपि स्यादिति तत्रैकग्रहणमावश्यकमिति । तत्र गुणो भवतीत्याद्यंशो लक्ष्यसंस्कारफलक एव यथाऽऽधानमग्निसंस्कारकम्, शास्त्रतात्पर्यविषयप्रयोगविधिश्च पुरुषसंस्कारक एवेति तदाशयः । ततः सिद्धान्तितम्–यथा नित्यनैमित्तिककाम्यविधीनां तदकरणजन्यप्रत्यवायपरिहाराय फलाय च वाक्यभेदेन तत्तद्विषयकशास्त्रोपप्लवात् पुनःपुनः प्रवर्त-

---

तथेति । तद्वदेवेत्यर्थः । **व्यापारादिति** । प्रतिपुरुषमेकवाक्यतया सकृदेव बोधकत्वात् प्रवर्त्तकत्वाच्चेत्यर्थः । **तत्संस्कृतस्य**=तादृशसंस्कारविषयभूतस्य । **करणाद्**=चरितार्थत्वाद् । **अतः**=अन्यलक्ष्याणां संस्कारार्थम् । **वाक्योपप्लवेन**=वाक्यकल्पनयेति भावः । **वाच्य** इति । पुरुषैक्येपि वाक्यभेदस्यावश्यमेव वक्तव्यत्वम् । **तद्वत्**=संस्कारकस्थल इव । **स्यादिति** । उभयस्थाने आदेशद्वयप्रसक्तिरित्यर्थः । **तत्रैकेति** । 'एकः पूर्वपरयो' रिति सूत्रे एकग्रहणमावश्यकमिति भावः । **तत्र**=पूर्वप्रदर्शितवाक्यत्रय इत्यर्थः । **पुरुषसंस्कारक** इति । पुरुषस्य धर्मजनकक्रियाप्रवृत्तिसम्पादक इत्यर्थः । 'च' शब्दस्तु—इत्यर्थे । **सिद्धान्तित**मित्यस्य **प्रयोग**

चाहिये'—इतनी दूर तक व्यापार होता है [और यह प्रत्येक पुरुष के लिये एकवाक्यता द्वारा एक ही बार बोधक और प्रवर्त्तक होता है] इस लिये इस वाक्य से संस्कार किये गये 'खट्वेन्द्रः' इसी एक प्रयोग से [आद्गुणः पा० सू० ६।१।८७] शास्त्र के चरितार्थ हो जाने से 'मालेन्द्रः' आदि [गुणयुक्त] प्रयोग नहीं हो सकेंगे। इस लिये उन भिन्न-भिन्न लक्ष्यविषयक वाक्यों (सूत्रों) के उपप्लव [आवृत्ति, कल्पना] से वाक्यभेद अवश्य कहना होगा [अर्थात् पुरुष एक होने पर लक्ष्य को ध्यान में रख कर लक्षणभेद की कल्पना करनी होगी ।] ठीक इसी प्रकार 'पूर्व' एवं 'पर' के विषय में भी होने लगेगा [अर्थात् एक ही लक्ष्य में वाक्यभेद से पूर्व और पर दोनों के स्थान पर दो गुण होने लगेंगे] इसलिये 'एक' के ग्रहण की आवश्यकता है । [पूर्वोक्त 'शङ्कितम्'—का अन्वय यहाँ 'आवश्यकम्' के साथ है ।] वहाँ [उपर्युक्त तीनों वाक्यों में] 'गुण होता है' इत्यादि अंश लक्ष्य संस्काररूपी फलवाला ही है, जैसे आधान अग्नि का संस्कारक होता है, शास्त्रतात्पर्यविषयक प्रयोगविधि पुरुषसंस्कारक ही होती है [धर्मजनक क्रिया में पुरुष की प्रवृत्ति कराने वाली ही होती है ।] यह उक्त (शंकापरक) भाष्य का आशय है । इस प्रकार की शंका के बाद यह सिद्धान्त किया गया—नित्य, नैमित्तिक और काम्य विधियाँ, इनके न करने पर प्रत्यवाय के परिहार के लिये और फल के लिये वाक्यभेद से तत्तत् क्रियाविषयकशास्त्र के उपप्लव=आवृत्ति द्वारा पुनः पुनः प्रवर्त्तक होती हैं । इसी प्रकार हम वैयाकरणों

त्वम्। तथा ममाप्यसाधुप्रयोगे प्रत्यवायश्रवणान्नित्यसमत्वं प्रयोगविधेः। "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति" इत्यनेन काम्यत्वं चेति तत्तद्विषयानन्तवाक्योपप्लवेन भवत्येव मालेन्द्रादिप्रयोग इति। एवंप्रयोगविध्यंशस्य नित्यकाम्यत्वव्यवस्थापनेन गुणविध्यंशस्य शुद्धसंस्कारार्थत्वमेवोक्तम्। एवं च तस्याधानादिवदेवाग्निस्थानीयलक्ष्येषु सर्वेषु प्रवृत्तावपि एकाग्नाविवैकलक्ष्ये नावृत्तिरिति पूर्वपरयोर्नादेशद्वयप्रसक्तिरिति तत्तात्पर्यम्। एवं च स्पष्टमेव पूर्वपक्षसिद्धान्तयोरयं न्यायः संस्कारकविधिविषये सिद्धान्तित इति भावः। "संप्रसारणाच्च" (पा०सू० ६।१।१०८) इति सूत्रे भाष्येऽपि स्फुटोऽयम्।

इत्यनेनान्वयः। **तत्तद्विषयकशास्त्रोपप्लवात्**=तत्तत्क्रियाविषयकशास्त्रोपप्लवात्। **ममापि**=वैयाकरणानामपीत्यर्थः। **नित्यसमत्वमिति**। तत्समत्वमेव न तु तत्त्वम्, तद्बोधकाभावादिति बोध्यम्। **एवम्**=उक्तप्रकारेण। **प्रयोगविध्यंशस्य**=स च प्रयोक्तव्य इत्यंशस्य। **गुणविध्यंशस्य**=अवर्णादचि पूर्वपरयोर्गुणो भवतीत्यं-

---

के लिये भी असाधु शब्द के प्रयोग में प्रत्ययवाय का श्रवण होने से प्रयोगविधि नित्यविधि के समान हो जाती है। और 'सम्यक् ज्ञात, शास्त्र से अन्वित और समुचित रूप से प्रयुक्त एक शब्द स्वर्ग लोक में मनोरथ पूरा करने वाला होता है' इस (आगमवचन) से काम्य विधि हो जाती है, इसलिये तत्तत्-लक्ष्य-विषयक अनन्त वाक्यों के उपप्लव (आवृत्ति) के द्वारा 'मालेन्द्रः' आदि प्रयोग होते ही हैं। इस प्रकार (स च प्रयोक्तव्यः—इस) प्रयोगविधि-अंश की नित्यता और काम्यता व्यवस्थापित हो जाने से (अवर्णादचि पूर्वपरयोः गुणो भवति—इस) गुणविधि अंश का शुद्ध संस्कारार्थ होना ही कहा गया है। इस प्रकार (जब गुणविधिअंश शुद्ध लक्ष्य-संस्कारक ही है तब) उस (गुणविधि) की आधानादि के समान ही अग्निस्थानीय सभी लक्ष्यों में प्रवृत्ति होने पर भी एक अग्नि के समान एक लक्ष्य में आवृत्ति नहीं होती है (अर्थात् जैसे एक अग्नि का आधान संस्कार कर देने के बाद पुनः उसी का संस्कार नहीं होता उसी प्रकार एक ही लक्ष्य में गुण हो जाने पर उसी में पुनः गुण नहीं होता है, आवृत्ति नहीं होती है)—इस प्रकार एक ही लक्ष्य में पूर्व एवं पर दोनों के स्थानों पर दो आदेशों की प्रसक्ति नहीं है, यह भाष्य का तात्पर्य है। इस प्रकार स्पष्ट ही है कि पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष में यह न्याय [लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते] संस्कारकविधि के विषय में ही सिद्धान्ति है [न कि तीनों अंशों के विषय में]—यह भाव है। 'सम्प्रसारणाच्च' पा० सू० ६।१।१०८ इस सूत्र पर भाष्य में भी यह स्पष्ट किया गया है।

न च "झरो झरि" (पा० सू० ८।४।६५) इति "हलो यमाम्-" (पा० सू० ८।४।६४) इति च लोपेन निर्वाहः, लोपस्य वैकल्पिकत्वात्। कथमन्यथा त्रिधं त्रियं चेति भवदुक्तिः सङ्गच्छते।

शस्य। अत्र 'तत्तल्लक्ष्यविषयोपप्लुतवाक्ये' इत्यशमादौ संयोज्यान्वयः कार्यः। **एवञ्चेति।** गुणविध्यंशस्य शुद्धलक्ष्यसंस्कारकत्वे चेत्यर्थः। **तस्य**=गुणविधे-रित्यर्थः। **नावृत्तिरिति।** स्थानिगतद्वित्वमादाय न द्विवारं प्रवृत्तिरिति भावः। **तत्तात्पर्यमिति।** भाष्यादितात्पर्यमित्यर्थः। **एवञ्चेति।** पूर्वपक्षसिद्धान्तयोः पूर्वोक्त-तात्पर्यकत्वे इत्यर्थः। **अयं न्याय इति।** 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते-इति न्यायः। **संस्कारकेति।** न तु त्रितयविध्यंशे इति भावः। एवञ्चैकस्मिन् लक्ष्ये पुनःपुनर्न-

---

विमर्श—नित्य एवं नैमित्तिक विधियाँ न करने पर प्रत्यवाय होता है और करने पर फल प्राप्त होता है। इस लिये वाक्यभेद से तत्तत् क्रिया-विषयक वाक्यभेद से विधियाँ पुनः पुनः प्रवर्त्तक होतीं हैं। वैयाकरणों के मत में भी 'तेऽसुरा हेलयो हेलयः कुर्वन्तः परवभूवुः, तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेक्षितवैं, नापभाषितवैं, म्लेच्छो ह वा एष पदेपशब्दः' इस वचन से दोष का श्रवण होने से और 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति' इस वचन से काम्यविधि का ज्ञान होता है। और अर्थवोधनार्थ होने से नैमित्तिक विधित्व स्पष्ट है। इसलिये तत्तद्विषयक अनन्तवाक्यों की आवृत्ति होने के कारण 'मालेन्द्रः' 'खट्वेन्द्र' आदि प्रयोग होने में बाधा नहीं है। इस प्रकार 'स च प्रयोक्तव्यः' यह प्रयोगविधि नित्य एवं काम्य सिद्ध हो जाती है। इस लिये 'अवर्णादचि पूर्वपरयोः गुणो भवति' यह गुण विधि अंश केवल संस्कारक विधि ही है। जैसे आधान केवल संस्कारक विधि है। वह एक अग्नि के विषयक में एक ही बार प्रवृत्त होती है उसी प्रकार एक ही लक्ष्य में एक बार गुण हो जाने पर पुनः पुनः संस्कारक विधि प्रवृत्त नहीं होती है। अग्निभेद से जैसे सभी व्यक्तियों के लिये सभी अग्नियों का आधान संस्कार होता है उसी प्रकार लक्ष्यभेद से सभी लक्ष्यों में गुण प्राप्त होता है। निष्कर्ष यह है कि 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते' न्याय संस्कारक विधि के लिये है। अतः एक ही लक्ष्य-संस्कारक विधि की आवृत्ति नहीं हो सकती। फलतः एक ही बार गुण होगा, 'एक' ग्रहण व्यर्थ है। यह भाष्य का तात्पर्य है।

[मनो०] 'झरो झरि सवर्णे' पा०सू० ८।४।६५ और 'हलो यमां यमि' पा०सू० ८।४।६४ इन सूत्रों द्वारा [ध् और य् के] लोप से निर्वाह [—इष्टसिद्धि] हो जायगा—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन दोनों से होने वाले लोप वैकल्पिक हैं। [अतः लोपाभावपक्ष में असंगति स्पष्ट है।] यदि वैकल्पिक नहीं मानेंगे तो तीन धकारों वाला और तीन यकारों वाला—यह आप [प्रक्रियाकौमुदीटीकाकार] की

किं चैवं सति "सर्वस्य द्वे" (पा० सू० ८।१।१) इति द्वित्वमपि पुनः पुनः प्रवर्तेत। अत एव "लिटि धातोः—" (पा० सू० ६।१।८) इति सूत्रेऽनभ्यासग्रहणं भाष्ये प्रत्याख्यातम्। सन्नन्ताद्यङन्ताद्वा णिचि चङि द्वित्वाभावार्थं तदिति तु कैयटादिभिरुक्तम्। तस्मादिह त्यज वा पञ्चमादीनि रूपाणि, स्वीकुरु वा रूपानन्त्यमिति नवत्वोक्तिरसंगतैव। सकारद्वित्वेनाष्टौ विसर्गद्वित्वेन षोडशेति त्वन्यदेतत्।

वैकल्पिकत्वादिति। एवं च पक्षे द्वित्वानामानन्त्यापत्त्या परिनिष्ठितत्वाभावापत्तिः। न च त्वदुक्तरीत्याऽऽनन्त्यापत्तिप्रयुक्तमपरिनिष्ठितत्वमसकृत्प्रवृत्तौ

द्वित्वशास्त्रप्रवृत्तिरिति प्राचां मतमयुक्तमेवेति बोध्यम्।

मूले—**वैकल्पिकत्वादिति**। सूत्रद्वयेन विकल्पेनैव लोपविधानादित्यर्थः। **अन्यथेति**। लोपविकल्पत्वानङ्गीकारे। **भवदुक्तिः**=प्रक्रियाकौमुदीकाराद्युक्तिः। **एवञ्चेति**। लोपस्य वैकल्पिकत्वे च। **अभावापत्तिरिति**। सर्वदा द्वित्वप्रसङ्गादनन्तद्वित्वप्रसक्त्या परिनिष्ठितत्वं विहन्येतेति भावः। **त्वदुक्तरीत्येति**। लोपस्य वैकल्पिकत्वरूपपूर्वोक्तरीत्येत्यर्थः। **सम्भवादिति**। एतावतैव शास्त्रस्य कृतार्थत्वादिति

उक्ति कैसे संगत होगी। [यदि यह द्वित्व बार-२ प्रवृत्त होगा तो 'सर्वस्य द्वे' [पा० सू० ८।१।१] इससे होनेवाला द्वित्व भी पुनः पुनः प्रवृत्त होगा। [पुनः पुनः द्वित्वादिकार्य नहीं होते हैं] इसी लिये 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' (पा० सू० ६।१।८) इस सूत्र पर भाष्य में 'अनभ्यास' ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया गया है [क्योंकि द्वित्व होने पर पहले वाला अभ्याससंज्ञक होता है। अतः ऐसे स्थलों पर द्वित्व रोकने के लिये ही 'अनभ्यास' ग्रहण है। परन्तु जब 'एक लक्ष्य में एक विधि एक ही बार प्रवृत्त होती है तो दूसरी बार प्रवृत्त होने का प्रसंग ही नहीं है। अभ्यास मिलेगा नहीं, 'अनभ्यास' का ग्रहण अनावश्यक है।] सन्नन्त अथवा यङन्त से णिच् करने पर [लुङ् लकार में] चङ् करने पर द्वित्व रोकने के लिये उस 'अनभ्यास' का ग्रहण है, यह कैयट आदि ने व्याख्या की है। इस लिये [सुध्युपास्यः मे] चाररूपों के बाद पञ्चम आदि रूपों को छोड़ दीजिये अथवा अनन्त रूपों को मानिये, केवल नौ रूप होते हैं—यह कहना असंगत है। [उपास्यः के] सकार के द्वित्व से आठ और विसर्ग के द्वित्व से सोलह रूप होते हैं, यह तो अलग बात है।

[शब्द०] मनोरमा में लोप को वैकल्पिक कहा गया है। लोप के वैकल्पिक होने पर अनन्त द्वित्व होने लगेंगे जिससे कभी भी परिनिष्ठित न होने का प्रसङ्ग आता है। यह कि—आप [मनोरमाकार] की रीति से आनन्त्य की आपत्ति से होने वाला अपरिनिष्ठितत्व 'असकृत्=बार बार प्रवृत्ति में बाधक होगा, यह ज्ञात होता है परन्तु

बाधकमिति लभ्यते। तच्च नात्र, द्वित्वस्य वैकल्पिकत्वेन यावच्छक्ति-द्वित्वसहितप्रयोगस्य परिनिष्ठितत्वसंभवात्। अप्रवृत्तनित्यविध्युद्देश्यताव-च्छेदकानाक्रान्तत्वं हि परिनिष्ठितत्वमिति वाच्यम्, आनत्यापत्तेरित्यस्य चतु-ष्पञ्चादिधकारयकाराणामापत्त्या त्रिधमित्यादित्वदुक्तमर्यादाभङ्गापत्तेरित्य-र्थात्। तद्ध्वनयन्वक्ष्यति—**नवत्वोक्तिरसङ्गतैवेति**। आनन्त्यापत्तिरेव तन्न्या-यबीजमिति तु न युक्तम्, उदवोढामित्यादौ उद् अवह् स् तामित्यवस्थायां सिज्लोपादेरसिद्धत्वात्सिचि वृद्धावोकारे "लक्ष्ये लक्षणस्य" इति न्यायेन पुन-र्वृद्धिर्नेति "सिचि वृद्धिः—" (पा०सू० ७।२।१) इति सूत्रस्थभाष्यविरोधात्,

---

भावः। **अप्रवृत्तेति**। अप्रवृत्तो यो नित्यविधिस्तदीयोद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्त-त्वमित्यर्थः। प्रकृते च सुद्ध्युपास्य इत्यादौ 'इको यणची'ति सूत्रेण यणादेश-प्रवृत्त्युत्तरं परिनिष्ठितत्वमेव, यतो ह्यत्र यणादेशविधायकशास्त्रस्य प्रवृत्तत्वेना-प्रवृत्तो नित्यविधिः 'एचोऽयवायावः' इत्यादिः, तस्योद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वं सुद्ध्युपास्यः इत्यादेः इति तस्य परिनिष्ठितत्वमेव। प्राचां रीत्यैव समाधत्ते—**आनन्त्यापत्तेरिति**। **चतुष्पञ्चादीति**। अत्रादिना यावच्छ-

---

वह (अपरिनिष्ठितत्व) ही यहाँ सुध्ययुपास्य में नहीं है क्योंकि द्वित्व के वैकल्पिक होने से अपनी शक्तिभर द्वित्व-सहित प्रयोग का परिनिष्ठित होना सम्भव है। [अर्थात् जब द्वित्व वैकल्पिक है, अनिवार्य नहीं, तब अपनी शक्ति या इच्छानुसार द्वित्व करने पर भी इसे परिनिष्ठित माना जा सकता है।] क्योंकि 'अप्रवृत्त जो नित्य विधि, उसकी उद्देश्यता के अवच्छेदक से अनाक्रान्त होना अर्थात् नित्यविधि की उद्देश्यता के अवच्छेदक से युक्त न होना—परिनिष्ठित होना है [इस लिये 'सुध्युपास्य' आदि में 'इको यणचि' इस नित्यविधि की प्रवृत्ति हो जाने के बाद परिनिष्ठितत्व हो जाता है]—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि 'अनन्तता होने लगेगी' इसका तात्पर्य यह है कि चार या पाँच आदि धकारों और यकारों की आपत्ति होने से—तीन धकारों वाला—आदि आपके [प्रक्रियाप्रकाशकर्त्ता) के द्वारा कही गयी मर्यादा = सीमा भंग होने लग जाती है। इसी (सीमाभंग) को ध्वनित करते हुए मनोरमाकार आगे लिखेंगे ९ रूप होना कहना असंगत ही है। अनन्तरूपों का प्रसक्त होना उस [लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते'] न्याय का बीज है, यह तो ठीक नहीं है क्योंकि 'उदवोढाम्' इत्यादि में उद् अवह् स् ताम्' इस अवस्था में सिच् आ-लोप आदि के असिद्ध हो जाने से सिच् परे मानकर ['वद-व्रजहलन्तस्याचः' पा० सू० ७।२।३ इससे 'अ' की] वृद्धि करने पर ओकार [सहिवहोरोदवर्णस्य सूत्र से विहित] में 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' इस न्याय से पुनः वृद्धि नहीं होती है' इस प्रकार के 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेपु (पा०सू० ७।२।१) सूत्र के भाष्य से विरोध होता है, क्योंकि अनन्त-

आनन्त्यापत्तेस्तत्राभावात्। एतद्भाष्यप्रामाण्येन विकारकृतभेदेन न लक्ष्यभेदाश्रयणम्। "समः सुटि" (पा०सू० ८।३।५) इति सूत्रं चास्यां मानम्। अन्यथा "समो वा लोपम्--" इत्यनेनान्त्यलोपे पुनर्द्वित्वेन त्रिसकारस्यापि सिद्धौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। "इरयोरे" (पा० सू० ६।४।७६) इति सूत्रे इरयोरिति

क्तिप्रयोगविषयद्वित्वपरिग्रहः। अग्रेपि **आदिना** त्रियमित्यस्य संग्रह इति भावः। **असङ्गतैवेति**। उक्तरीत्या कथञ्चित् परिनिष्ठतत्वस्योपपत्तावपि संदशनिर्धारणमेव दूषणमिति निष्कर्षः।

तन्न्यायेति। 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते' इति न्यायप्रवृत्तौ वीजमित्यर्थः। **ओकारे** इति। 'सहिवहोरोदवर्णस्य' इति सूत्रेण ओकारे जाते इति भावः। **पुनर्वृद्धिर्न**। ओकारस्य पुनर्वृद्धिर्नेत्यर्थः। **विकारकृतभेदेनेति**। विकारेण कृतो यो व्यक्तिभेदः, तज्जन्यो यो लक्ष्यभेदः तेनेत्यर्थः।

अस्याम्='लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते' इति परिभाषायाम्। **अन्यथेति**। तन्न्यायरूपपरिभाषानङ्गीकारे। **अन्त्यलोपे** इति। मकारलोपे इति भावः। **तद्वैय-**

रूपों की आपत्ति का प्रसङ्ग वहाँ नहीं है। इस भाष्य के प्रामाण्य के कारण विकार के भेद से (एक ही) लक्ष्य के भेद को नहीं माना जाता। [अर्थात् किसी लक्ष्य में कोई विकार=आदेशादि करने के बाद वही लक्ष्य दूसरा बन जाता है, और उसमें पुनः शास्त्र की प्रवृत्ति सम्भव हो जाती है, ऐसा नहीं माना जाता है।] 'लक्ष्य में लक्षण की प्रवृत्ति एक ही बार होती है, इस न्याय में 'समः सुटि' (पा० सू० ८।३।५) यह सूत्र प्रमाण है। यदि उक्त न्याय नहीं माना जाता 'सम् के मकार का वैकल्पिक लोप होता है' इससे अन्त्य [म्] का लोप करने पर पुनः सकार का द्वित्व कर देने पर तीन सकारों वाला रूप सिद्ध हो ही जाता तव 'सम् के मकार का रु आदेश होता है', इत्यर्थक 'समः सुटि' इस सूत्र का वैयर्थ्य स्पष्ट ही है। [भाव यह है कि संस्स्कर्त्ता यह तीन सकारों का वाला रूप बन सके इसके लिये 'समः सुटि सूत्र द्वारा म् का रुत्व, विसर्ग और स् किया जाता है। यदि द्वित्व-विधायक शास्त्र की अनेक बार प्रवृत्ति हो सकती हो तो 'सम्+स्कर्ता' में म् का लोप करके दो बार स् का द्वित्व करके तीन सकारों वाला रूप भी बनाया जा सकता है। इसी के लिये 'समः सुटि' इस सूत्र का प्रणयन व्यर्थ हो जाता। वही यह ज्ञपित करता है कि 'एक लक्ष्य में एक लक्षण एक ही बार प्रवृत्त होता है।' अन्यथा दो बार द्वित्व करके तीन सकारों का रूप बन जाता और म् का लोप कर दिया जाता।] 'इरयोरे' (पा०सू० ६।४।७६) इस सूत्र में 'इरयोः' यह द्विवचन तो

द्विवचनं तु स्वविधेयस्य स्वस्मिन्नुद्देश्यत्वाप्राप्त्या तत्प्राप्तये इति न तदस्यां मानम्। न च तत्र "सहिवहोरोत्–" (पा० सू० ६।३।११२) इति तपरत्व-सामर्थ्याद् न वृद्धिरिति वाच्यम्, अशाब्दत्वात्, अतत्कालव्यावृत्तेरेव तेन शब्दमर्यादया लाभात्। एतेन– सुद्ध्युपास्ये पूर्वंधस्य द्वित्वे जश्त्वे लक्ष्य-

र्थ्यमिति। त्रिसकाररूपसिद्ध्यर्थं 'समः सुटि' इति सूत्रवैयर्थ्यम्, तादृशरूपस्याधुना सूत्राभावेऽपि सम्भवात्। प्राचोक्तिं खण्डयति—**इरयोरिति**। अयं भावः—'प्रथम दध्र अपः, इति वैदिकप्रयोगसाधनाय तत्सूत्रमारब्धम्। धाञो लिटि तस्य झादेशे तस्य च 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' इत्यनेन 'इरेच्' आदेशे, द्वित्वाभ्यासकार्ये, 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे 'इरयोः रे' इति सूत्रेण तस्य 'रे' आदेशे, आर्धधातुकत्वादिडागमे सति दध्+इरे इत्यत्रापि 'इरे' इरयस्य पुनः 'रे' आदेशो कृते सिध्यति। अत्र द्विवचनग्रहणं 'लक्ष्ये लक्षणमि' ति न्यायबीजमाहुः, तन्न,–तदेवाह—**द्विवचनमिति**। **स्वविधेयस्य**=रेभावस्य, **स्वस्मिन्**=रेभावे, **तत्प्राप्तये**= [illegible]श्यताप्राप्तये, **तत्**

स्वविधेय [रे-भाव] का अपने में उद्देश्यत्व प्राप्त न होने के कारण [पुनः रेभाव न होने का प्रसंग आने के कारण] 'रे'–भाव की प्राप्ति के लिये वह द्विवचन है, वह इस परिभाषा की सिद्धि में प्रमाण नहीं है।

विमर्श—यहाँ तात्पर्य यह है कि 'प्रथम दध्र आपः' आदि वाक्य में धा धातु से लिट् लकार=झ=इरेच्–धा+इरे द्वित्वादि कार्य और आलोप हो जाने पर दध्+इरे बनता है। यहाँ 'इरयोः रे' (पा० सू० ६।४।७६) सूत्र इरे का रे आदेश करता है। इस दशा में वलादि मानकर इट् कर देने पर पुनः दध्+इरे ही हो जाता है। इस अवस्था में दूसरी बार भी 'इरयोः रे' यही सूत्र 'इरे' का 'रे' आदेश करता है। इस सूत्र का विधेय 'रे' है। अतः इसी में उद्देश्यता नहीं मानी जा सकती। इस उद्देश्यता की सिद्धि के लिये 'इरयोः' यह द्विवचन है। 'रे' इसके पूर्व 'इट्' आगम हो जाने पर भी 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' इस परिभाषा से 'इरे' को भी 'रे' के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है, 'रे' में उद्देश्यता नहीं है, अतः दूसरी बार यहाँ 'रे' आदेश नहीं होगा इसी उद्देश्यता के उपपादनार्थ 'इरयोः' यहाँ द्विवचन है। अतः यह 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते' इस परिभाषा में ज्ञापक नहीं हो सकता।

[**शब्द०**] 'उदवोढाम् [उद् अवह् +स् ताम्] में 'सहिवरोदवर्णस्य' (पा०सू० ६।३।११२) में [ओत् में] तपरकरणसामर्थ्य से पुनः [ओ का] वृद्धि नहीं होगी—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि [वृद्धि नहीं होती है यह] शब्दमर्यादा [=तपरकरण] से लाभ नहीं होता है क्योंकि उस तपरकरण [शब्दमर्यादा]

भेदात्पुनर्द्वित्वमि-त्यपास्तम् । पूर्वमकारस्येदानीमोकारस्येति लक्ष्यभेदस्यो-दवोढामित्यादावपि सत्त्वेनोक्तभाष्यविरोधात् । विकारान्यानुपूर्व्यैक्येन लक्ष्यैक्यं तु ममाप्यस्त्येवेति दिक् ।

इति द्वित्वमपीति । एतेनाष्टमिकवर्णद्वित्वं स्थाने द्वित्वमिति लक्ष्यभेदोऽस्तीति परास्तम् । पदद्वित्वस्याप्यावृत्त्यापत्तेः । वस्तुतस्तत्षाष्ठद्वित्ववन्न स्थाने

=द्विवचनग्रहणम्, **तत्र**=उदवोढामित्यत्र । **न वृद्धिः**=न पुनर्वृद्धीत्यर्थः । **अशाब्दत्वात्**=शब्दमर्यादया तादृशार्थस्यालाभात् । **तेन**=तपरकरणेन । **एतेन**=वक्ष्यमाणदोषेणेत्यर्थः । **विकारेति** । विकारान्ययोर्विकृताविकृतयोरानुपूर्व्योर्मिथः ऐक्येनेत्यर्थः । **ममापीति** । उदवोढामित्यत्र लक्ष्यैकवादिनो ममापीत्यर्थः ।

द्वारा उस [उपात्त] काल से भिन्न काल वाले की व्यावृत्ति का ही लाभ होता है । [अतः यहाँ दूसरी बार वृद्धि रोकने के लिये 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते' इस न्याय का आश्रयण आवश्यक है । इससे—'सुद्ध्युपास्यः' में पहले 'ध' का द्वित्व करने पर जश्त्व कर देने पर [ध् का द् कर देने पर] लक्ष्य का भेद हो जाने से अर्थात् 'सुध्ध्य् उपास्यः' के स्थान पर 'सुद्ध्य उपास्यः' हो जाने पर पुनः द्वित्व हो सकता है—यह कथन परास्त हो गया । क्योंकि 'उदवोढाम्' यहाँ भी पहले ['वदव्रज०' सूत्र से] अकार की वृद्धि और [ओकार आदेश करने के बाद] इस समय 'ओकार' की [वृद्धि प्राप्त है] इस प्रकार लक्ष्यभेद सम्भव हो जाने से उपर्युक्त भाष्य का विरोध स्पष्ट है । ['सुद्ध्युपास्यः' में जश्त्वरूप विकार के अतिरिक्त वर्णकृत अनुपुर्वी एक प्रकार की रहती है अतः लक्ष्य एक ही है, पुनः द्वित्व नहीं होता है—इसपूर्वपक्ष का निराकरण करते हैं—] विकार से भिन्न आनुपुर्वी की एकरूपता से लक्ष्य एक ही रहता है यह तो [उदवोढाम्—के समर्थक] मेरे मत में भी है ही । [अर्थात् उदवोढाम् में भी केवल 'अ' का 'ओ' विकार ही होता है शेष आनुपूर्वी समान ही रहती है अतः लक्ष्य एक है । तपकरण द्वारा वृद्धि रोकना सम्भव नहीं है, 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते' न्याय के आश्रयण की आवश्यकता है ।]

'सर्वस्य द्वे' (पा०सू० ८।१।१) इससे होने वाला द्वित्व भी प्रसक्त होगा । मनोरमा के इस कथन से यह कहना कि—अष्टम अध्याय का द्वित्व किसी वर्ण के स्थान पर है । अतः (ध् का द् हो जाने से) लक्ष्यभेद हो जाता है—यह निरस्त हो जाता है क्योंकि [अष्टम अध्याय के] पदद्वित्व की भी आवृत्ति होने लगेगी । अर्थात् यह द्वित्व भी बार बार होने लगेगा । वास्तव में वह अष्टम अध्याय का वर्णद्वित्व षष्ठ अध्याय वाले द्वित्व के समान (किसी के) 'स्थान पर' द्वित्व नहीं

द्विर्वचनमित्यन्यत्र निरूपितम् । **प्रत्याख्यातमिति** । "अनभ्यासप्रतिषेधोऽनर्थकश्छन्दसि वा वचनात्, नोनूयतेर्नोनावेत्यादौ न दोष" इति भाष्यम् । "एकस्यैकाचो द्वित्वे कृते एकाज्व्यपदेशे हेतोरचो द्विरुक्तत्वाद्; अनेन न्यायेनाचः पुनः पुनर्द्वित्वाप्राप्तौ अवयवान्तरस्यैकाच्त्वाभावेन तदप्रवृत्तौ तद् व्यर्थम्" इति च तदाशयः कैयटेनोक्तः ।

मूले—**एवं सतीति** । लक्ष्ये लक्षण - न्याय - प्रवृत्त्यस्वीकारे इत्यर्थः । **अत एवेति** । सकृदेव प्रवृत्तिस्वीकारादेवेत्यर्थः । **तदितीति** । अनभ्यासग्रहणमित्यर्थः । शब्दरत्ने **एतेनेति** । वक्ष्यमाणप्रकारेणेति । **आवृत्त्यापत्तेरिति** । वर्णद्वित्वस्येव पदद्वित्वस्याप्यावृत्तेरित्यर्थः । **तत्**=आष्टमिकवर्णद्वित्वम्, । **अन्यत्रेति** । शब्देन्दुशेखरादौ 'सर्वस्य द्वे' इति सूत्रव्याख्यानावसरे इत्यर्थः । **प्रत्याख्यातमिति** । एतद्विवृणोति शब्दरत्ने—**अनभ्यासेति** । अनर्थकः, लक्षणस्य सकृत् प्रवृत्तेरिति भावः । ननु 'नोनावे'त्यादौ 'सन्यङोः' इति द्वित्वोत्तरं लिटि लकारे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वापत्तिरत अनभ्यासप्रतिषेध आवश्यकोऽत आह—**छन्दसि वा वचनादिति** । **न दोष** इति । पुनर्द्वित्वापत्तिरूपो न

है, इसका अन्यत्र (सर्वस्य द्वे' पा०सू० ८।१।१ इस सूत्र की मनोरमा एवं शेखर आदि में) प्रतिपादित किया गया है । ["लिटि धातोरनभ्यासस्य" पा०सू० ६।१।८ इस सूत्र में 'अनभ्यास ग्रहण का] प्रत्याख्यान कर दिया गया है । 'अनभ्यास यह प्रतिषेध व्यर्थ है क्योंकि वेद में वैकल्पिक विधान है—अतः 'नोनूयते इससे बनने वाले 'नोनाव' में दोष नहीं है, दूसरी बार द्वित्व नहीं होता है । आशय यह है कि यङन्त नोनूय के लिट् में नोनाव यह बनता है । यहाँ 'सन्यङोः" ६।१।९ से पहले ही द्वित्व किया जा चुका है । पुनः 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इस सूत्र से द्वित्व न हो—इसके लिये 'अनभ्यासस्य'=(द्वित्वरहित का) ग्रहण है । परन्तु यह व्यर्थ है क्योंकि वैदिक प्रयोग में द्वित्व वैकल्पिक कहा गया है । इसके फलस्वरूप लौकिक में नित्य द्वित्व एक बार होगा] 'एक एकाच् का द्वित्व कर लेने पर एकाच् इस व्यवहार में हेतुभूत अच् दो बार कह दिया गया इस लिये 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते' इस न्याय से उसी अच् का द्वित्व न प्राप्त रहने पर और अवयवान्तर (=हल्) एकाच् नहीं होता है अतः द्वित्व की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । इस दशा में वह [अनभ्यास-ग्रहण] व्यर्थ है—यह भाष्याशय कैयट ने कहा है ।

विमर्श—यहाँ शब्दरत्न के सम्पादकों एवं व्याख्याकारों की एक अनवधानता ज्ञात होती है—

महाभाष्य में 'अभ्यास - प्रतिषेधानर्थक्यं च छन्दसि वा वचनात्' ऐसा - वार्त्तिक लिखा है । किन्तु प्रकाशित शब्दरत्न में 'अनभ्यास प्रतिषेधोऽनर्थकश्छन्दसि वा

कैयटादिभिरिति। अत्रारुचिबीजं तु भाष्यप्रामाण्येन "तेषामनभिधानं, "स्तौतिण्योः—" (वा० सू० ८।३।६१) इति सूत्रस्थः सोषुप्यतेः सन् 'सोषुपिषते' इति भाष्यप्रयोगोऽपि छान्दस इत्याहुः। रूपानन्त्यमिति। रूपाधिक्यमित्यर्थः। तदाह—नवत्वोक्तिरसङ्गतेति। सकारद्वित्वे इति। अच्परयत्वावच्छिन्नं ह्यस्य लक्ष्यम्, तत्रैकस्मिन् धकारे प्रवृत्तावपि तादृशे सकारे लक्ष्यभेदात्पुनः प्रवृत्तिर्भवत्येवेति भावः। एवं सम्प्रसारणादिविधौ यण्त्वावच्छिन्नमुद्देश्यमिति लक्ष्यभेदाद्यावदुद्देश्यं पुनः प्रवृत्ति-

---

दोष इत्यर्थः। न्यायेनेति। लक्ष्ये लक्षणमिति न्यायेनेत्यर्थः। अचः=तस्यैवाच इत्यर्थः, अवयवान्तरस्य=हल इत्यर्थः, तदप्रवृत्तौ=द्वित्वाप्रवृत्तौ। तद्=अनभ्यासग्रहणम्,

---

वचनात्' यह लिखा है, यह भाष्यविरुद्ध है क्योंकि 'अनभ्यास' का नहीं अपितु अभ्यास का प्रतिषेध अनर्थक बताया जा रहा है। यदि 'अनभ्यासरूप प्रतिषेध अनर्थक है, ऐसी व्याख्या की जाय तो प्रकाशित पाठ की संगति बैठ सकती है।

'लिटि धातोरनभ्यासस्य' पा० सू० ६।१।८ इस सूत्रभाष्य के कैयटीय प्रदीप का शब्दरत्न में लेख नहीं है। सम्भव है कहीं अन्यत्र लिखित कैयटीय वचन का संकेत यहाँ शब्दरत्नकार ने किया है।

[शब्द० सन्नन्त और यङन्त से णिच् में लुङ् चङ् में द्वित्व न हो—इसके लिये अनभ्यासग्रहण है—ऐसा] कैयट आदि ने कहा है। इस कथन में [मनोरमाकार की] अरुचि का कारण यह है कि भाष्यप्रामाण्य से उन [सन्नन्तादि-प्रकृतिक णिजन्तादि प्रकृतिक–लुङाद्यन्त] शब्दों का अनभिधान है। "स्तौतिण्योः" (पा० सू० ८।३।६१) इस सूत्रभाष्य में प्रदर्शित सोषुप्य [यङन्त] धातु से [सन् करके] 'सोषुपिषते' यह भाष्यीय प्रयोग भी वैदिक है [लौकिक नहीं]—ऐसा [भाष्यानुसारी विद्वान्] कहते हैं।

[चार के आगे के रूपों को छोड़ दो अथवा अनन्त रूप स्वीकार करो, नौ से अधिक रूपों को स्वीकार करो।] जैसा कि [मनोरमाकार] कहते हैं—नौ रूप ही होते हैं—यह कथन असंगत है। [उपास्यः के] सकार का द्वित्व करने पर [आठ रूप होते हैं क्योंकि 'अनचि च'] इस सूत्र का—अच् से परे यर्—लक्ष्य है, इस लक्ष्य में एक धकार में द्वित्व की प्रवृत्ति होने पर भी उस प्रकार के [अच् से परे यर्] सकार में लक्ष्यभेद के कारण पुनः द्वित्व की प्रवृत्ति होती ही है यह भाव। [भाव यह है कि अच् से परे यर् का द्वित्व होता है—इस सूत्रार्थ के अनुसार ध् में पहले द्वित्व होता है। इसके बाद 'स्' भी लक्ष्य बनता है, इसका भी द्वित्व होता ही है क्योंकि लक्ष्यभेद है।] इसी प्रकार सम्प्रसारणादिविधि में यण् उद्देश्य है इस लिये जब तक यण् रहते हैं तब तक लक्ष्यभेद होने के कारण पुनः पुनः सम्प्रसारण की प्रवृत्ति होती

यदप्युक्तं 'त्रैपादिकेऽन्तरङ्गे' इत्यादि, तदपि न, 'नार्कुटो नार्पत्य' इत्यत्र विसर्गवारणाय वृद्धेरसिद्धत्वस्य तत्रैव भाष्ये स्पष्टत्वात्। "संयोगान्तलोपे यणः प्रतिषेधः" इत्यस्य बहिरङ्गत्वेन प्रत्याख्यातत्वात्, स्वयमपि तथैवानूदितत्वाच्च। तस्मादिह यथोद्देशपक्षो ग्राह्यो बहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तये। तथा च भाष्ये 'मयः परस्य यणो द्वित्वे दध्यत्रे' त्युदाहृतम्।

भवत्येवेति न "न संप्रसारणे" (पा० सू० ६।१।३७) इत्यादेर्वैयर्थ्यमिति बोध्यम्।

तदपि नेति। यथोद्देशपक्षे इत्यनुक्त्वा सामान्येन यदुक्तं तदपि नेत्यर्थः। तस्मादिहेति। "यणो मय" इत्यत्रेत्यर्थः। विसर्जनीयसूत्रभाष्यात्तु कार्यकालपक्षेपि त्रिपाद्यां तदप्रवृत्तिरिति लभ्यते, मूलं तु कैयटानुसारेणेति परे।

तदाशयः=भाष्याशय इत्यर्थः। मूले—**द्वित्वाभावार्थं तद्**=अनभ्यासग्रहणं द्वित्ववारणार्थमिति भावः। **तस्मात्**=पूर्वोक्तात् हेतोरिति भावः। **पञ्चमादीनि**

रहती हैं; इस कारण 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' पा० सू० ६।१।३७ इत्यादि सूत्र व्यर्थ नहीं होते हैं, ऐसा समझना चाहिये।

[मनो०] जो यह कहते हैं—त्रैपादिक अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है—यह भी ठीक नहीं हैं **[शब्द०]** 'यथोद्देश पक्ष में'—यह न कह कर सामान्यरूप से जो कहा वह भी ठीक नहीं हैं—यह अर्थ है। क्योंकि 'नार्कुटः' 'नार्पत्यः' आदि में विसर्ग का वारण करने के लिये वृद्धि का असिद्ध होना उसी (खरवसानयोः पा० सू० ८।३।१५) सूत्रभाष्य में स्पष्ट कहा गया है। संयोगान्तलोप में यण् का प्रतिषेध करना चाहिये' इस वचन का बहिरंग होने के कारण प्रत्याख्यान कर दिया गया है। और [प्रक्रियाकौमुदीकार ने] स्वयम् इसका अनुवाद=पुनः प्रतिपादन किया है। इस लिये यहाँ [यणो मयो द्वे वाच्ये—इस वार्त्तिक में] बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति रोकने के लिए यथोद्देशपक्ष का (ही) ग्रहण करना चाहिये। इसी कारण भाष्य में 'मय् से परे यण् के द्वित्व के विषय में दध्यत्र यह उदाहरण दिया गया है।

[शब्द०] यहाँ =यणो मयो द्वे वाच्ये' इस वार्त्तिक में—यह अर्थ है। किन्तु 'खरवसानयोः' (पा० सू० ८।३।१५) इस सूत्र के भाष्य से तो कार्यकालपक्ष में भी त्रिपादी में इस बहिरंग परिभाषा की अप्रवृत्ति [प्रवृत्ति न होने] का ज्ञान होता है, यहाँ का मूल (मनोरमाकार का वचन) तो कैयट के आधार पर लिखा गया है ऐसा अन्य लोग [शब्दरत्नकारादि] कहते हैं।

न चैवमपि "इकोऽसवर्णे-" (पा० सू० ६।१।१२७) इति शाकलेन रूपान्तरमस्त्विति वाच्यम्, समासे तन्निषेधात्।

न च नित्यसमास एव तन्निषेध इति वाच्यम्, भाष्ये नित्यग्रहणस्य प्रत्याख्यातत्वात्। यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यात्।

नन्विह यणेव दुर्लभः, सुधीशब्दस्य ध्यायतेः सम्प्रसारणेन निष्पन्नत्वेन "सम्प्रसारणाच्च" (पा० सू० ६।१।१०८) इति पूर्वरूपापत्तेरिति, चेन्न,

---

=चतुरधिकमिति भावः। शब्दरत्ने—**अत्रारूचीति**। कैयटादिभिरित्युक्त्वा सूचितं तदित्यर्थः। **तेषाम्**=सन्नन्तादिप्रकृतिकणिजन्तादिप्रकृतिकलुङाद्यन्तानामिति भावः। **अनभिधानम**—लोके इति शेषः। ननु सुद्ध्युपास्य इति लक्ष्यैक्यात् **सकारद्वित्वेनाष्टावित्यादि** मूलासङ्गतिरत आह—**अच्परेति**। **अस्य**='अनचिच' इति सूत्रस्य। **तादृश** इति। अच्परयर्त्वावच्छिन्ने इत्यर्थः। प्रसङ्गत आह—**एवमिति**। प्रस्तुतस्थल इवेति भावः। मूले—**तत्रैवेति**। विसर्जनीयसूत्रे इत्यर्थः। **इह**='यणो मयो द्वे वाच्य' इति वार्त्तिके इत्यर्थः। ननु मूलासङ्गतित आह शब्दरत्ने—**मूलं त्विति**। एवञ्च न कोपि दोषः।

मूले—**नचैवमपीति**। लक्ष्यलक्षणन्यायप्रवृत्त्या चतुरधिक - रूपास्वीकारेऽपीत्यर्थः। **रूपान्तरमपीति**। ह्रस्वप्रकृतिभावयुक्तमपीत्यर्थः। ननु वार्त्तिकमते नित्यसमास एव तन्निषेधः। अत आह—**यथोत्तरमिति**। एवञ्च भाष्यकारमतेनात्र तादृशरूपस्याप्रसक्तिरिति बोध्यम्।

[मनो०] (लक्ष्य में लक्षण=सूत्र की प्रवृत्ति एक ही बार होती है—) ऐसा मान लेने पर भी "इकोऽसवर्णे०" पा० सू० ६।१।१०८ इस सूत्रानुसार शाकल्य के मत से [ह्रस्वयुक्त प्रकृतिवाला] दूसरा रूप भी हो जाय अर्थात् एक यण् वाला और दूसरा ह्रस्व तथा प्रकृतिभाववाला—इस प्रकार दो रूप हों—ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ['न समासे' इस वचन से] समास में उस ह्रस्व-प्रकृतिभाव-विधान का निषेध किया गया है।

नित्यसमास-स्थल में ही उस (ह्रस्व-प्रकृति भाव) का निषेध है—यह भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि भाष्य में 'नित्य' ग्रहण का प्रत्याख्यान कर दिया गया है और बाद वाले मुनियों का मत प्रमाणिक होता है। [अतः सूत्र की अपेक्षा भाष्यमत अधिक प्रामाणिक है।)

[पूर्वपक्ष—] यहाँ सुधी+उपास्यः में यण् ही दुर्लभ है; क्योंकि 'सुधी' शब्द 'ध्यै चिन्तायाम्' इस धातु से य् का सम्प्रसारण 'इ' करके निष्पन्न होता है अतः 'सम्प्रसारणाच्च' (पा० सू० ६।१।१०८) इस सूत्र द्वारा (उपास्यः का भी) पूर्वरूप होने लगेगा (अतः इक् के बाद अच् सम्भव ही नहीं रहेगा तब यण् का प्रसंग ही

"सम्प्रसारणपूर्वत्वे समानाङ्गग्रहणम्" इति वार्तिकोक्तेः। सम्प्रसारणस्थानिकस्यातथात्वाच्च।

सम्प्रसारणस्थानिकस्येति। स्थाने जातस्येति शेषः। साक्षात्संप्रसारण-स्थानिकपूर्वरूपादेः "हलः" (पा० सू० ६।४।२) इत्यारम्भसामार्थ्यादल्विधौ स्थानिवत्त्वाङ्गीकारेऽपि पूर्वरूपोत्तरं प्रवृत्तस्य "हल" (पा० सू० ६।४।२) इति दीर्घस्य स्थानिवद्भावेन सम्प्रसारणत्वे मानाभाव इति भावः।

मूले—**इहेति।** सुधी-शब्दे इत्यर्थः। **पूर्वरूपापत्तेरिति।** उपास्य इत्यस्येति शेषः। **समानाङ्गेति** यत्र सम्प्रसारणे पूर्वरूपं कर्त्तव्यं तत्र समानम्=एकमेवाङ्गमपेक्षितम्। अत्र तु सुधी इति पृथक्, उपास्य इति च पृथगङ्गमिति बोध्यम्। तेन न पूर्वरूपापत्तिरिति भावः। ननु समानाङ्गग्रहणं प्रत्याख्यातमत आह—**सम्प्रसारणस्थानिकस्येति।** तादृशस्थाने जातस्य 'हलः' इति दीर्घस्येत्यर्थः। **अतथात्वादिति।** सम्प्रसारणत्वाभावादित्यर्थः। **अल्विधाविति।** दीर्घे कर्त्तव्ये इति भावः। एतावतैव 'हलः' इति सूत्रस्य चारितार्थ्यमिति भावः। **माना-**

नहीं है)—ऐसा यदि कहो तो नहीं कह सकते क्योंकि 'सम्प्रसारण के पूर्वरूप के प्रसंग में समान अंग का ग्रहण करना चाहिये' ऐसा वार्त्तिक में कहा गया है अर्थात् एक अंग-संज्ञक घटक का सम्प्रसारण करने पर उसी अंग के अच् का पूर्वरूप होता है, अन्य का नहीं। यहाँ सुधी अलग है और उपास्य अलग है, पारिभाषिक अंग दो हैं) और सम्प्रसारणस्थानिक वैसा नहीं है अर्थात् य् का सम्प्रसारण करने के बाद 'हलः' सूत्र से सम्प्रसारण का दीर्घ हो जाता है अतः यह दीर्घ वर्ण सम्प्रसारण नहीं है, पूर्वरूप नहीं होगा। [**शब्द०**] सम्प्रसारणस्थानिक—इसमें सम्प्रसारण-स्थानिक के स्थान पर होने वाला (दीर्घ) वैसा नहीं हैं—इतना शेष है। (अर्थात् सम्प्रसारण है स्थानी जिसका ऐसे दीर्घ 'ई' का विधान 'हलः' ६।४।२ सूत्र करता है। जब दीर्घ 'ई' हो जाता है तब उसे सम्प्रसारण-संज्ञक नहीं कहा जा सकता, अतः पूर्वरूप का प्रसंग नहीं है।) कारण यह है कि साक्षातसम्प्रसारणस्थानिक (साक्षात् सम्प्रसारण के स्थान पर होने वाले) पूर्वरूप आदि का 'हलः' पा० सू० ६।४।२ इस सूत्र को बनाने के कारण अल्विधि में (अर्थात् दीर्घत्व विधि में) स्थानिवद्भाव स्वीकार कर लिया जाता है तो भी पूर्वरूप कर देने के बाद प्रवृत्त होने वाले 'हलः' पा० सू० ६।४।२ से किये गये दीर्घ का स्थानिवद्भाव करके अर्थात् ह्रस्व मानकर सम्प्रसारण मानने में कोई प्रमाण नहीं है, यह भाव है।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि ध्यै=ध्या धातु के य् का सम्प्रसारण करके आ का पूर्वरूप किया जाता है, इसके बाद 'हलः' से दीर्घ किया जाता है। परन्तु पूर्व

न चैवमपि "न भूसुधियोः" [पा० सू० ६।४।८५] इति यण्निषेधः शङ्क्यः, आङ्गत्वेन प्रत्यये परत एव तस्य प्रवृत्तेः। अनन्तरस्येति न्यायेन "एरनेकाचः—" (पा० सू० ६।४।८२) इति "ओस्सुपि" (पा० सू० ६।४।८३) इति च सूत्रद्वयेन प्राप्तस्यैव निषेधाच्च।

भाव इति। यदा सम्प्रसारणोत्तरं पूर्वरूपं जायते तदा सम्प्रसारणस्य दीर्घविधायकस्य 'हल' इति सूत्रस्यारम्भसामर्थ्यात् दीर्घरूपे अल्विधावपि स्थानिवद्भावः स्वीक्रियते किन्तु पूर्वरूपविधानानन्तरं यदा 'हल' इति सूत्रेण दीर्घत्वं विहितं तदा तस्मिन् दीर्घे वर्णे स्थानिवद्भावेन सम्प्रसारणत्वकल्पने मानाभावः। एवञ्च 'सुधी' इत्यस्य दीर्घेकारस्य सम्प्रसारणत्वमेव नास्ति, कुतः पूर्वरूपप्रसङ्ग इति बोध्यम्।

मूले—**तस्येति।** यण्निषेधस्येत्यर्थः। **अनन्तरस्येति।** 'अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा' इति न्यायेनेति भावः। **प्राप्तस्यैवेति।** यण इति शेषः।

रूप करने पर केवल सम्प्रसारण ही स्थानी नहीं रहता है। अतः दीर्घ नहीं होना चाहिये। इस कारण दीर्घ की कर्त्तव्यता में अल्विधि रहने पर भी यहाँ पूर्वरूप आदि का स्थानिवद्भाव करके सम्प्रसारण मानकर 'हलः' से दीर्घ किया जाता है। यदि यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं करेंगे तो साक्षात् सम्प्रसारण स्थानी नहीं मिलेंगे दीर्घ नहीं हो सकेगा, 'हलः' सूत्र व्यर्थ हो जायगा। अतः सूत्रारम्भ-सामर्थ्य से यह स्वीकार कर लिया जाता है कि दीर्घ-विधि में स्थानिवद्भाव होता है। परन्तु पूर्वरूप के बाद जब दीर्घ हो जाता है उसी दीर्घ का स्थानिवद्भाव करके अर्थात् सम्प्रसारणत्व का अतिदेश करके, सुधी+उपास्यः में 'ई' को भी सम्प्रसारण मानकर 'उकार' का भी पूर्वरूप करने में कोई प्रमाण नहीं है। अतः यण् होने में कोई बाधा नहीं है।

[मनो०] उपर्युक्त अवस्था में भी, 'न भूसुधियौ [पा० सू० ६।४।८५, भू और सुधी का यण् नहीं होता है] इस सूत्र से यण्-निषेध होता है—ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि निषेधक सूत्र 'अङ्गस्य' [पा० सू० ६।४।१] के अधिकार में पठित है अतः प्रत्यय परे रहते ही इसकी प्रवृत्ति होती है [क्योंकि यस्मात् प्रत्यय-विधिस्तदादि प्रत्यय अङ्गम्' पा० सू० १।३।१३ से यही ज्ञात होता है।] और 'अव्यवहित का ही विधान या प्रतिषेध होता है' इस परिभाषा के आधार पर "एरनेकाचः' [पा० सू० ६।४।८२] और 'ओस्सुपि' (पा० सू० ६।४।८३) इन दो सूत्रों से प्राप्त होने वाले यण् का ही निषेध होता है। [अतः 'इको यणचि' पा० सू० ६।१।७७ से यण् होने में बाधा नहीं है।]

धात्त्रंश इति। अत्र रेफस्य द्वित्वं न। द्वित्वप्रकरणे रहाभ्यामिति साक्षाच्छ्रुतेन निमित्तभावेन रेफस्य कार्यित्वबाधात्। सुध्युपास्य इत्यादौ तु स्थानित्वेन निमित्तत्वमिकः "तस्मादित्युत्तरस्य" (पा० सू० १।१।६७) इत्यादिनिर्देशाज्ज्ञापकान्न बाध्यत इति कैयटः। तकारस्य तु भवत्येवेत्युक्तम्। तच्च वा, इत्यतोऽत्र रूपद्वयम्।

द्वित्वं नेति। "यणो मय" इति प्राप्तं नेत्यर्थः। द्वित्व-प्रकरणे इति। तथा च भाष्यम्—"रेफस्यानुनासिकपरसवर्णद्विर्वचनप्रतिषेधो वक्तव्यः"। स्वर्नयति,

---

मूले—**कार्यित्वबाधात्**। 'कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते' इति

विमर्श—यहाँ 'सुद्ध्युपास्यः' का विचार समाप्त होता है। मद्ध्वरिः—इस लक्ष्य के विषय में कोई अतिरिक्त विवेचनीय नहीं है–मधु+अरिः यहाँ 'उ' का 'व्' यण् होता है। शेष सभी विवेचन सुद्ध्युपास्यः के समान ही समझना चाहिये। इसी लिये प्रोढमनोरमा तथा शब्दरत्न दोनों में कोई विचार नहीं किया गया है। अब ऋकार के यण् के उदाहरण पर विचार किया जा रहा है—]।

[मनो०] धात्त्रंशः। [धातृ+अंशः, यण् करने पर ऋकार का 'र्' होता है। 'अनचि च' (पा० सू० ८।४।४७ से तकार का वैकल्पिक द्वित्व होता है।] **[शब्द०]** 'यणो मयो द्वे वाच्ये' इस वार्तिक से प्राप्त **[मनो०]** रेफ का द्वित्व नहीं होता है। क्योंकि द्वित्व के प्रकरण में [अचो रहाभ्याम् पा० सू० ८।४।४६ सूत्र में] 'रहाभ्याम्' यहाँ साक्षात् सुने गये रेफ और हकार इन दोनों के निमित्त हो जाने के कारण रेफ का कार्यी होना [स्वयं द्वित्वरूप कार्य का अनुभव प्राप्त करना] बाधित है। किन्तु सुद्ध्युपास्यः आदि में स्थानी होने के इक् की निमित्तता का बाध 'तस्मादित्युत्तरस्य' पा० सू० १।१।६७ आदि निर्देशों के ज्ञापन होने के कारण नहीं होता है, ऐसा कैयट ने कहा है। [भाव यह है कि जैसे निमित्त होने से स्थानित्व का बाध होता है उसी प्रकार स्थानी होने से निमित्त का बाध क्यों नहीं होता? इसका समाधान कैयट ने यह दिया है कि 'पाणिनि ने स्वयं [तस्मादिति+उत्तरस्य=] 'तस्मादित्युत्तरस्य' पा०सू० १।१।६७ यह यण्घटितनिर्देश किया है। इससे यह ज्ञापित होता है कि इक् स्थानी भी है और परत्वेन निमित्त भी। इस लिये सुद्ध्युपास्यः में यण् होता ही है।] **[मनो०]** तकार का द्वित्व तो होता ही है। यह विकल्प से होता है अतः दो रूप होते हैं। यह कहा गया है। [धात्त्रंशः में रेफ के द्वित्व न होने के विषय में मनोरमाकार के वक्तव्य पर शब्दरत्नकार प्रमाण दे रहे हैं—] **[शब्द०]** द्वित्वप्रकरण में। जैसा कि भाष्य है—'रेफ का (१) अनुनासिक, (२) परसवर्ण और (३) द्वित्व होने का प्रतिषेध कहना चाहिये।' (१) अनुनासिक का उदा० स्वर्नयति [स्वर्+नयति यहाँ 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' पा० सू०

कुण्डं रथेन, मद्द्ररथः, भद्र्ह्लदः । न वक्तव्यः, रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति । नेमौ रहौ कार्यिणौ, किं तर्हि ? निमित्तं द्विर्वचनस्येति" । अन्यथा वचनारम्भे द्विर्वचनमात्रस्य निषेधेन फलभेदे प्रत्याख्यानानापत्तेः । साक्षाच्छ्रुतेन = विशेष-शब्दबोधितेन । यत्र यत्र द्वित्वनिमित्तत्वं तत्र सर्वत्र वाक्यान्तरेण "अनचि" (पा० सू० ८।४।४७) इत्यनेन कार्यित्वप्रसक्तेरनवकाशेन तेन भाष्यप्रामाण्यात्सामान्यत एव द्वित्वकार्यित्वं बाध्यते इति भावः ।

न्यायादिति भावः। **यणो मय** इति। मय इति पञ्चमीति पक्षे इति शेषः। **अन्यथेति**। प्रकरणे तद्बाधानङ्गीकारे । **वाक्यान्तरेणेति** । एतदेवाह—'अनचि च' इत्यनेनेति । **तेनेति** । द्वित्वनिमित्तत्वेनेत्यर्थः । **तस्मादित्युत्तरस्येति** । 'इति + उत्तरस्य' अत्र पाणिनिणा यण्विधानं कृतम् । अच्घटकत्वेन इकः निमित्तत्वमपि, इक्त्वेन कार्यित्व-मपि । किन्तु पाणिनीयनिर्देशेनेदं ज्ञाप्यते यत् स्थानित्वेन निमित्तत्वं न बाध्यते । एवञ्च तादृशस्थलेषु यण्सिद्धिः । **तकारस्येति** । द्वित्वमिति शेषः । अत्र = धातृ +

८।४।४५ से रेफ का अनुनासिक प्राप्त होता है] (२) परसवर्ण का उदा० कुण्डं रथेन [यहाँ 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' पा० सू० ८।४।५ से रेफ को यय् मानकर अनुस्वार का परसवर्ण प्राप्त होता है । (३) मद्र्ह्लदः, भद्र्ह्लदः [यहाँ द् से परे और ह से परे रेफद्वय का क्रमशः 'यणो मयो द्वे वाच्ये' और 'अचो रहाभ्यां द्वे' पा०सू० ८।४।४६ से द्वित्व प्राप्त है ।] इन कार्यों का प्रतिषेध नहीं कहना चाहिये, क्योंकि "रेफ और ऊष्म वर्णों के सवर्ण होते ही नहीं हैं। ये रेफ और हकार कार्यी = द्वित्वरूप कार्य के भोक्ता नहीं हैं। तो क्या हैं ? ये [रेफ और हकार] तो द्वित्व के निमित्त हैं।" [यहाँ 'रहौ' में हकार का उल्लेख दृष्टान्त के लिये है— जैसे 'ह' द्वित्व का कार्यी नहीं होता है वैसे ही 'रेफ' भी द्वित्व का कार्यी नहीं होता है ।] यदि ऐसा नहीं मानेंगे अर्थात् इस वचन से सामान्य प्राप्त द्वित्व का बाध नहीं मानेंगे तो 'रेफस्यानुनासिकपरसवर्णद्विर्वचनप्रतिषेधो वक्तव्यः' इस वार्तिक के आरम्भपक्ष में द्वित्वमात्र का प्रतिषेध होने से [और इस वचन के प्रत्याख्यान-पक्ष में केवल 'अनचि च' पा० सू० ८।४।४७ से प्राप्त द्वित्व का ही प्रतिषेध होने से] फल में भेद हो जाने पर प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकेगा । [इससे यही सिद्ध होता है कि भाष्यकार रेफ के द्वित्वमात्र का प्रतिषेध मानते हैं ।] साक्षात् श्रुत = विशेषरूप से उच्चारित शब्दों के द्वारा [रेफ की कार्यिता का बाध हो जाता है ।] जिस जिसमें द्वित्व की निमित्तता है, उस उस सभी में 'अनचि च' पा०सू० ८।४।४७ इस दूसरे वचन द्वारा कार्यित्वप्रसक्ति का अनवकाश है, अतः इस भाष्य के प्रामाण्य से सामान्यरूप से ही द्वित्वकार्यिता का बाध हो जाता है, यह भाव है ।

न बाध्यत इति। इदं च व्यक्तिपक्षेऽप्यावश्यकम्। अन्यथा "अकः सवर्णे—" (पा० सू० ६।१।१०१) इत्येतत्पर्यालोचनया श्रीश इत्यादिविषयकयण्शास्त्राभावकल्पनवत्संग्राहकवाक्ये इकः स्थानित्वश्रवणात्तद्विषयक-

अंश इत्यत्र द्वित्वसहितं द्वित्वरहितं च द्वयमिति भावः।

इदं चेति। ज्ञापकाश्रयणञ्चेति भावः। अपिना जातिपक्षेऽपि बोध्यम्। **अन्यथेति।** ज्ञापकानाश्रयणे इत्यर्थः। **शास्त्राभावेति।** श्री+ईशः इत्यत्र यणः दीर्घस्य चोभयोः प्राप्तिः, तत्र बाध्यशास्त्रस्यैवाभावकल्पनं भवति। **संग्राहकवाक्येति।** 'इको यणचि' 'अजव्यवहित-पूर्वत्वविशिष्टस्य इकः यण् भवती'त्यर्थके

विमर्श—जिस भी रेफ को द्वित्व का निमित्त मानते हैं उसी को 'अनचि च' इस सूत्र से द्वित्व का कार्यी भी माना जाता है। तब निमित्तता से कार्यिता का बाध होगा। फलतः कार्यिताप्रसक्ति का कोई अवकाश=लक्ष्य नहीं रहेगा। इसलिये भाष्य के अनुसार निमित्तता अपवाद होकर कार्यिता का बाध कर लेगी। अतः रेफ का द्वित्व नहीं होगा। वार्त्तिक अनावश्यक है। किन्तु सुद्ध्युपास्यः आदि में इक् निमित्त भी है क्योंकि अच् के अन्तर्गत है और कार्यी भी है, क्योंकि इक् के स्थान पर यण् होता है। अतः यहाँ भी निमित्तता से कार्यिता का बाध होना चाहिये? इस शंका के उत्तर में मनोरमाकार ने लिखा है कि 'तस्मादित्युत्तरस्य' में पाणिनि ने इक् परे रहते इक् का यण् किया है अतः इसी को ज्ञापन मान कर 'यण् के विषय में बाध्यबाधकभाव नहीं मानना चाहिये। यदि यह कहा जाय कि व्यक्तिपक्ष में प्रत्येक लक्ष्यरूपी व्यक्ति के लिये 'इको यणचि' सूत्र की आवश्यकता होगी इस उपस्थितिसामर्थ्य से सुद्ध्युपास्यः आदि सभी में यण् हो जायगा, ज्ञापक के आश्रयण की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु ऐसा तर्क दिया जाना ठीक नहीं है क्योंकि व्यक्तिपक्ष में भी जिस प्रकार 'अकः सवर्णे दीर्घः' के लक्ष्य -श्रीशः' आदि में बाध्य शास्त्र=यण्विधायक शास्त्र के अभाव की कल्पना की जाती है उसी प्रकार—अजव्यवहित-पूर्वत्वविशिष्ट इक् का यण् होता है—इस संग्राहक=लक्ष्यसंस्कारक महावाक्यस्थ इक् में स्थानिता का श्रवण होता है अतः बाध्य इक् निमित्तत्त्व-विषयक 'इको यणचि' के अभाव की कल्पना की जायगी—यही आशय आगे व्यक्त किया जा रहा है—

[**शब्द०**] इक् की निमित्तता का बाध नहीं होता है। और यह ज्ञापकाश्रयण व्यक्तिपक्ष में भी आवश्यक है। यदि ज्ञापक का आश्रयण नहीं करते हैं तो 'अकः सवर्णे दीर्घः' इस शास्त्र की पर्यालोचना से 'श्रीशः' इत्यादिविषयक यण् शास्त्र के अभाव-कल्पना के समान संग्राहक [=लक्ष्यसंस्कारक 'इको यणचि' सूत्र] में इक्

लक्षणाभावस्यैव कल्पनं स्यादिति स्पष्टम् "इको यणचि" (पा० सू० ६।१।७७) इत्यत्र कैयटे। कैयट इति। अत्रारुचिवीजं तु अत्र स्थानित्वस्य नानवकाशत्वम्, मध्वत्रेत्यत्र निमित्तत्वाप्राप्त्या तत्र स्थानित्वस्य चारितार्थ्यात्। तक्रकौण्डिन्यन्यायोऽप्यनवकाशविषय एव इति स्पष्टं "तद्धितेष्वचाम्—" (पा० सू० ७।२।११७) इति सूत्रे भाष्ये। तदप्राप्तियोग्यविषयाभावरूपं चानवकाशत्वमेतद्विषये। न च तक्रकौण्डिन्यन्यायो विधेयविषय एव, विशेषविहितेन सामान्यविहितं बाध्यत इत्यभियुक्तव्यवहारादिति वाच्यम्, अपूर्वबोध्यत्वेन निमित्तत्वादेरपि विधेयत्वात्। नहि निमित्तवत्त्वमपि मानान्तरसिद्धमिति दिक्।

इत्यर्थः। **तद्विषयकेति**। इको निमित्तत्वविषयकेत्यर्थः। **अत्रेति**। गुले इत्यर्थः। तत्र=यण्विषय इत्यर्थः। **तत्र**=इकि। मधु+अत्र—एतादृशस्थलेषु इक्परत्वा-

---

की स्थानिता के श्रवण के कारण तद्विषयक [इक् के निमित्तत्वविषयक] लक्षण के अभाव की ही कल्पना होने लगेगी। [इसके फलस्वरूप 'सुद्ध्युपास्यः' आदि में यण् नहीं हो सकेगा]—यह 'इको यणचि' सूत्रभाष्य पर कैयट में स्पष्ट है। [बांध नहीं होता है—ऐसा कैयट का कथन है।] इस कथन में [मनोरमाकार की] अरुचि का कारण तो यह है कि यहाँ यण्विषय में स्थानित्व का अनवकाश नहीं है, क्योंकि मध्वत्र [मधु+अत्र] में इक् के निमित्त होने की प्राप्ति नहीं है [क्योंकि 'अ' इक् में नहीं है, किन्तु अच् होने से निमित्त है।] अतः इस इक् में स्थानित्व चरितार्थ है। [मधु+अत्र में इक् केवल स्थानी ही है, सुधी+उपास्यः के समान इक् स्थानी और निमित्त दोनों नहीं हैं। मध्वरिः में इक् स्थानी है और इक्भिन्न 'अ' निमित्त है अतः स्थानित्व सावकाश है, निरवकाश नहीं है।] 'तक्र-कौण्डिन्य' न्याय भी अनवकाशविषयक ही है, यह 'तद्धितेष्वचामादेः' इस सूत्रभाष्य में स्पष्ट है। इस तक्र-कौण्डिन्य-न्याय के विषय में तदप्राप्तियोग्यविषयाभावरूप अनवकाशत्व है। तक्रकौण्डिन्यन्याय विधेयविषय में ही प्रवृत्त होता है क्योंकि विशेषविहित के द्वारा सामान्यविहित का बाध होता है—ऐसा मान्य विद्वानों का व्यवहार है। [यहाँ रेफ विधेय नहीं है अतः इसके विषय में प्रस्तुत न्याय नहीं प्रवृत्त होना चाहिए।]—ऐसा नहीं कहना चाहिए; क्योंकि अपूर्व बोध्य [अज्ञातज्ञाप्य) होने से निमित्तत्व आदि भी [कार्यी के समान] विधेय हो जाते हैं। क्योंकि निमित्तत्व के समान कार्यित्व भी किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है। [अर्थात् अपूर्व विधेय कार्यी जैसे प्रस्तुत सूत्र से ही ज्ञात होता है कि ठीक इसी प्रकार निमित्तता का ज्ञान भी प्रस्तुत सूत्र से ही होता है इसलिये निमित्त को भी विधेय-कोटि में मानकर तक्रकौण्डिन्यन्याय की प्रवृत्ति करनी चाहिये।]

लाकृतिरिति **त्वेकमेव** ॥

एकमेवेति। यण्तत्प्राग्वर्तियरो द्वित्वप्रयुक्तरूपभेदाभावादिति भावः। वकारस्तु नात्र। अन्यूनानतिरिक्तस्थानिकादेशलाभेनाधिकस्थानिकस्याप्रवृत्तेः। लण्सूत्रस्थभाष्यविरोधेनेदृशानामनभिधानमिति तत्त्वम् ॥

भावात्तस्य निमित्तत्वं नास्ति, तेन स्थानित्वं चरितार्थमिति बोध्यम्। **तदप्राप्तीति**। तस्य प्राप्तियोग्यत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकभेदवान् यो विषयस्तदभावरूपमित्यर्थः। एवञ्च व्यक्तिभेदेन भेदं मत्वा तत्र दोषो न देयः। **एतद्विषये इति**। तक्र-कौण्डिन्यन्यायविषये इत्यर्थः। **विधेयविषय एवेति**। किन्तु स्थानिनिमित्तयोर्विधेयत्वं नास्तीति तत्र न तक्रकौण्डिन्यन्यायसञ्चार इति भावः। **व्यवहारादिति**। तथा च 'अचो रहाभ्यां द्वे' इत्यनेन द्वित्वस्यैव विधेयतया रेफस्याविधेयत्वेन कथमस्य न्यायस्य प्रवृत्तिरिति पूर्वपक्ष्याशयः। **अपूर्वबोध्यत्वेन**=अज्ञातज्ञाप्यत्वेन। अपिना कार्यित्वस्य संग्रहः। 'इको यणचि' इत्यादि-सूत्रैरेव कार्यित्वं निमित्तत्वं च तथैव ज्ञाप्यते यथा विधेयत्वमिति भावः। **तत्त्वम्**=निमित्तत्वं कार्यित्वं च। हर्यनुभव इत्यादौ निमित्तभूतानां रेफादीनां ज्ञानं श्रोत्रेन्द्रिय-प्रमाणेन जायते, न तथा रेफादिनिष्ठाया द्वित्वनिमित्तताया ज्ञानम् 'अचो रहाभ्याम्' इत्येतच्छास्त्रातिरिक्तप्रमाणेन भवितुमर्हति। किन्तु 'अचो रहाभ्याम्' इत्यनेनैवेति रेफस्याविधेयत्वेपि तन्निष्ठनिमित्तत्वस्य अनेनैवापूर्वबोधनेन विधेयविषयत्वात् तन्न्यायप्रवृत्तिर्निर्बाधेति भावः।

भेदाभावादिति। तत्र द्वित्वनिमित्ताभावादित्यर्थः। **नात्र**। ऌ इत्यस्य स्थाने

[मनो०] लाकृतिः [ल+आकृतिः का] यह एक ही रूप होता हैं।

[शब्द०] क्योंकि यण् और इसके पूर्ववर्त्ती यर् का द्वित्व मानकर कोई भेद नहीं होता है, यह भाव है। यहाँ 'व्' यण् नहीं हो सकता, क्योंकि अन्यून और अनतिरिक्त स्थानी वाले [ल्] आदेश का लाभ हो जाने से अधिक स्थानवाले [व्] आदेश की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'लण्' सूत्रस्थ भाष्य के साथ विरोध होने के कारण ऐसे [ऌ-स्थानिक ल् आदेशवाले] प्रयोगों का अनभिधान है, यह तत्त्व है।

विमर्श—व् का दन्त-ओष्ठ स्थान है और ल् का केवल दन्त। स्थानी ऌ का भी दन्त स्थान है। अतः स्थानसाम्य की दृष्टि से 'ऌ' का 'व्' हो जाना चाहिये। इस शंका का समाधान यह है कि 'स्थानेऽन्तरतमः' सूत्र में 'अन्तरतम=सदृशतम' का उल्लेख होने के कारण अधिक या कम स्थान वाला आदेश नहीं किया जा सकता। अतः 'ऌ' का 'ल्' ही होता है, 'व्' नहीं ॥

"हलो यमाम्" (पा० सू० ८।४।६४) लोपः स्याद्वेति। "झयो हः–" (पा० सू० ८।४।६२) इत्यतोऽन्यतरस्यामित्यमित्यनुवृत्तेः। एतच्च 'लण्' [मा.सू. ६] सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। माहात्म्यमिति। अत्र मलोपो नेत्यर्थः। "हलो यरां यरि सवर्णे लोपः" इति तु न सूत्रितम्, आर्च्नोत्, मूर्च्नः, शार्ङ्ग्म्, आर्त्नीः, इत्यादौ रेफात्परस्य लोपापत्तेः॥

आर्त्नीः इति। आङ्पूर्वादर्त्तेर्बाहुलकान्निप्रत्ययः। धनुषः कोटी उच्येते। "आर्तिः पीडाधनुष्कोट्योः" (अ०को० ३।३।७५) इत्यमरे नकाररहितः पाठो दृश्यते। अर्तिरिति पाठान्तरम्।

इति भावः। ईदृशानामिति। लृस्थानिकलादेशयुतानामनार्षप्रयोगाणामित्यर्थः। तत्त्वमिति। वास्तविकं समाधानम्, मूलं तु प्राचामरोधेनेत्याहुः।

हलो यमां यमि लोपः (पा० सू० ८।४।६४) हलः परस्य यमो लोपः स्याद् वा यमि—इति वृत्तिः। मूले—एतच्चेति। अन्यतरस्यामित्यस्यानुवृत्तिरिति भावः। 'यमां यमि' इत्यत्र यथासंख्यं बोध्यम्। तत्फलमाह मूले—**माहात्म्यमिति**। पर-

---

[मनो०] 'हलो यमां यमि लोपः' (पा० सू० ८।४।६४) हल्=व्यंजन से परे यम् प्रत्याहार के वर्ण का वैकल्पिक लोप होता है, यम् प्रत्याहार का वर्ण बाद में रहने पर क्योंकि झयां होऽन्यतरस्याम्' से विकल्प की अनुवृत्ति इस प्रस्तुत सूत्र में होती है। यह वैकल्पिकत्व 'लण्' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। [वहाँ यह लिखा है "हलो यमां यमि लोपः इत्येवमेकस्यात्र लोपो भविष्यति। विभाषा स लोपः। विभाषा श्रवणं प्रसज्येत।]

['यमाम् यमि' इन दोनों में यथासंख्य है। यम् प्रत्याहार का जो वर्ण पहले है, वैसा ही यदि बाद में है तभी पूर्व का लोप होता है अतः] 'माहात्म्यम्' यहाँ 'म' का लोप नहीं होता है—यह अर्थ है। ['त्म्य' इसमें म् इस यम् के बाद 'म्' यम् नहीं है अपितु 'य्' है। अतः यथासंख्य न होने से लोप नहीं होता है।] 'हल्=व्यञ्जन से परे यर् का सवर्ण यर् परे रहते लोप होता है, ऐसा सूत्र नहीं बनाया गया, क्योंकि 'आर्च्नोत्, मूर्च्नः, शार्ङ्ग्म्, आर्त्नीः इत्यादि में रेफ से परे वर्णों ['च्, ग्, त्'] का लोप होने लगेगा। [क्योंकि सवर्ण बाद में हैं।]

[शब्द०] आर्त्नीः। आङ् पूर्वक ऋ धातु से बाहुलकात् 'नि' प्रत्यय होता है। [और चुर्यगिम्यां निः' इस वचन से ऋ का आर्त् आदेश होता है।] धनुष् के दोनों किनारे 'आर्त्नी' कहे जाते हैं। 'पीडा और धनुष् का छोर—इन दोनों अर्थों में 'आर्ति' यह शब्द है' ३।३।७५ इस अमरकोष में नकाररहित पाठ है। 'अर्ति' यह पाठान्तर है।

"वान्तो यि" (पा० सू० ६।१।६६) यकारादाविति । **विशेषणमात्मान्तस्य सञ्ज्ञा स्यादित्येतदर्थकस्य "येन विधिः–" (पा० सू० १।१।७२) इति सूत्रस्यापवादभूतेन "यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे" इति वार्तिकेनायमर्थो लभ्यते । ओदौतोरिति । पूर्वसूत्रे तयोरेव वान्तौ प्रति स्थानित्वेन निर्णीतत्वादित्यर्थः ।**

वार्त्तिकेति । वार्तिकेनेत्यनेन तस्य वाचनिकत्वं सूचितम् ।

पूर्वसूत्रे इति । वान्तज्ञानाय तत्पर्यालोचनस्यावश्यकत्वादिति भावः ।

स्येति । धकारयोः गकारतकारयोरिति भावः । शब्दरत्ने **नकाररहित** इति । अमर-कोषोपलब्धपाठे तु लोपप्रसक्तिर्नेति बोध्यम् ।

वान्तो यि प्रत्यये (पा० सू० ६।१।७९) यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोरव् आव् एतौ स्तः—इति वृत्तिः । ननु विशेषणं तदन्तस्य संज्ञा स्यादिति सत्त्वे कथं यकारावित्यत आह मूले—**यस्मिन् विधिरिति** । परिभाषार्थः—अत्र यत्पदस्य सप्तम्यन्तपदमर्थः । गृह्यते=इतरभिन्नत्वेन ज्ञायते येन तद् ग्रहणम्=विशेषणमिति यावत् । ग्रहणं च तदल् च—इति 'अल्ग्रहणम्' । पूर्वनिपातप्रकरणस्यानित्यतया विशेष्यस्य पूर्वनिपातः । एवञ्च—सप्तम्यन्तपदार्थे अल्रूपविशेषणे यो विधिः सः सप्तम्यन्तार्थालादौ विशेष्ये बोध्यः । अत एव—'यि' इत्यस्य 'यकारादौ' इत्यर्थः सम्पद्यते । मूले **वान्त** इति । 'गोर्यूतौ छन्दस्युपसंख्यानम्' 'अध्वपरिमाणे' च इति वचनात्

विमर्श—'अर्तिः' पीडा-धनुष्कोट्योः' इस अमरकोष ३।३।७५ में यह पाठ भी मिलता है । इसके अनुसार यहाँ 'त्' लोप का प्रसङ्ग नहीं है ।

[मनो०] वान्तो यि प्रत्यये [पा० सू० ६।१।७९] यकारादि प्रत्यय परे रहते (१) ओ और (२) औ के क्रमशः (१) अव् और (२) आव् आदेश होते हैं ।] यकारादि—यह । विशेषण आत्मान्त [वह है अन्त में जिसके ऐसे] की संज्ञा=बोधक होता है—इस अर्थ वाले 'येन विधिस्तदन्तस्य' पा० सू० १।१।७२ इस सूत्र के अपवादभूत 'अल्ग्रहण में जिसके परे विधि हो उसको आदि में मान लिया जाता है—'इस वार्त्तिक (परिभाषा) से यह अर्थ (यकारादौ प्रत्यये) ज्ञात होता है । **[शब्द०]** वार्तिक—इस कथन से इस परिभाषा का वचनरूप से पाठ सिद्ध होता है । [अर्थात् परिभाषा को वार्त्तिक लिख दिया है ।]

[मनो०] ओत् तथा औत् का [क्रमशः अव और आव् आदेश होता है]—क्योंकि [एचोऽयवायावः' इस] पूर्ववर्ती सूत्र में उन ओत् औत् [ओ, औ] का ही वकारान्त [अव् और आव्] के प्रति स्थानित्व निर्णीत हो चुका है, यह अर्थ है । **[शब्द०]** वान्त आदेशों के ज्ञान के लिये पूर्वसूत्र की पर्यालोचना आवश्यक है—यह भाव है ।

ननु गव्यूतिरित्यत्र "हलि सर्वेषाम्" (पा० सू० ८।३।२२) इति, "लोपः शाकल्यस्य" (पा० सू० ८।३।१९) इति वा लोपः स्यादित्याशङ्क्याह- वान्त इति ।

लव्यमिति । लुनातेरचो यत् । "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" (पा० सू० ७।३।८४) इति गुणः । अवश्यलाव्यमिति । "ओरावश्यके" (पा० सू० ३।१।१२५) इति ण्यत् ॥

क्षय्यमिति । "शकि लिङ् च" पा० सू० ३।३।१७२) इति चात्कृत्याः । क्षेयमिति । "अर्हे कृत्यतृचश्च" (पा० सू० ३।३।१६९) इति यत ॥

गो + यूतिः अत्र अवादेशः । वान्त (आदेशः) इत्यत्र वकाराद् गोयूं तावित्यत्र छकाराद् वा पूर्वभागे 'लोपो व्योर्वलि' इति सूत्रेण लोपेन वकारः प्रश्लिष्यते । तेन

[मनो०] गव्यूतिः—यहाँ 'हलि सर्वेषाम्' अथवा 'लोपः शाकल्यस्य' इससे व् का लोप होने लगेगा —इस शंका के लिये (सिद्धान्त-कौमुदी में) लिखते हैं—वान्त [वान्त इत्यत्र वकारात् 'गौयूं तौ [छन्दसि] इत्यत्र छकाराद्वा पूर्वभागे 'लोपो व्योः' इति लोपेन वकारः प्रश्लिष्यते । तेन श्रूयमाणवकारान्त आदेशः स्यात् वकारो न लुप्यते इति यावत् ।' सिद्धान्तकौमुदी प्रस्तुत सूत्र पर]

['धातोस्तन्निमित्तस्यैव' पा० सू० ६।१।८० वकारादि प्रत्यय परे रहते धातु के एच् का यदि वान्त आदेश हो तो प्रत्यय-निमित्तक एच् का ही हो। इसका] उदारण—लव्यम् । लू धातु से 'अचो यत्' सूत्र से यत् प्रत्यय होता है । 'सार्वधातु-कार्धधातुकयोः' सूत्र से 'ऊ' का गुण होता है। [लो + य इसमें ओ = गुण का निमित्त यकारादि प्रत्यय ही है अतः 'ओ' का अव् होकर लव्यम् होता है।] अवश्य-लाव्यम् । इसमें लू धातु से 'ओरावश्यके' सूत्र से ण्यत् = य प्रत्यय होता है । [लू + य 'अचो ञ्णिति' सूत्र से ऊ की वृद्धि औ—अवश्यम् लौ + य, यहाँ यकारादि प्रत्य-यनिमित्तक औ = एच् है अतः औ का आव् होता है 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इस वचन से 'अवश्यम्' के म् का लोप होता है ।]

['क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' पा०सू० ६।१।८१ शक्यविषयक अर्थ में क्षय्य और जय्य शब्दों का प्रयोग करना चाहिये ।] क्षय्यम् । 'शकि लिङि च' इस सूत्र में च के बल से लिङ् के साथ साथ कृत्य प्रत्यय होता है अतः क्षि धातु से 'अचो यत्' सूत्र से यत् करने पर क्षि + य, गुण करने पर क्षे + य, प्रस्तुत सूत्र से ए का अय् आदेश— क्षय्यम्, जय्यम् । क्षेतुं शक्यम्, जेतुं शक्यम्—यह अर्थ है ।] क्षेयम् । (क्षेतुं योग्यम् इस अर्थ में 'अर्हे कृत्यतृचश्च' सूत्रसे यत् प्रत्यय करने पर अय् आदेश नहीं होता है । (क्योंकि इसमें योग्य अर्थ है, शक्य अर्थ नहीं ।)

हर एहीति। इह "ओमाङोश्च" (पा० सू० ६।१।९५) इति पररूपं प्राप्तम् ॥

"उरण् रपरः" (पा०सू० १।१।५७) आन्तरतम्यादिति। रेफशिरस्क-स्यार् इत्यस्य रेफद्वारा ऋकारेण स्थानसाम्यादित्यर्थः। पक्षे द्वित्वमिति। ऋध्धेर्धस्येति भावः।

ऋध्धेर्धस्येति। न च द्वित्वभिन्नं पूर्वत्र कर्तव्ये परमसिद्धमित्यर्थकेन "पूर्वत्रासिद्धमद्वित्वे' इत्यनेन धातुधकारस्य जश्त्वे दस्येति वक्तुमुचितमिति

श्रूयमाण-वकारान्त आदेशः स्यात्। वकारो न लुप्यते—इति यावत्—इति सिद्धान्तकौमुदीतो बोध्यम्।

'लोपः शाकल्यस्य' इत्यस्योदाहरणमाह—हर एहीति। हरे+आ+इहि' 'धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्' इति कृत्वा आद्गुणे कृते सति 'हरे+एहि' इत्य-वस्थायाम् 'एचोऽयवायावः' इति अयादेशे सति पदान्तयकार 'लोपः शाकल्य-स्येति' लोपे कृते 'अन्तादिवच्च' इत्यनेन पूर्वान्तिवद्भावेन आ ्त्वमादाय 'ओमा-ङोश्च' इति पररूपे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन य्लोपस्य लोपविधायकशास्त्रस्य

['लोपः शाकल्यस्य' पा०सू० ८।३।१९ अवर्णपूर्वक पदान्त यकार तथा वकार का लोप होता है अश् परे रहते शाकल्य के मत में, अर्थात् विकल्प से। इसका उदाहरण प्रस्तुत है] हर+एहि। [हरे+एहि यहाँ 'ए' का अय् करने पर 'लोपः शाकल्यस्य' इससे 'य्' का वैकल्पिक लोप कर देने पर] यहाँ 'ओमाङोश्च' सूत्र से पररूप प्राप्त होता है। (क्योंकि हरे+आ+इहि में गुण रने से ए हुआ है। अन्तादिवद्भाव से आङ्त्व का अतिदेश करके पररूप प्राप्त होता है। परन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र के अनुसार लोप असिद्ध हो जाने से अवर्ण से परे आङ् नहीं मिलता है अतः पररूप नहीं होता है।)

[मनो० 'उरण् रपरः'। ऋकार के स्थान पर जो अण् आदेश होता है वह रपर होता हुआ ही प्रवृत्त होता है। कृष्ण+ऋद्धिः यहाँ 'आद् गुणः' से अ+ऋ के स्थान पर 'अ' गुण रपर अर्थात् अर् रूप में ही होता है] क्योंकि अत्यन्त सदृश है। रेफ है सिर पर जिसके ऐसे 'अर्' इसका रेफ के द्वारा ऋकार के साथ आन्तरतम्य=अत्यन्त सादृश है—यह अर्थ है। [कृष्णर्द्धिः यहाँ पर 'अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र से] वैकल्पिक द्वित्व होता है अर्थात् ऋध् धातु के धकार का पाक्षिक द्वित्व होता है, यह भाव है।

[शब्द०] 'द्वित्व से भिन्न कार्य की कर्त्तव्यता में पूर्व की अपेक्षा पर शास्त्र असिद्ध होता है' [अर्थात् द्वित्व की कर्त्तव्यता में असिद्ध नहीं होता है] इस अर्थ वाले 'पूर्वत्रासिद्धमद्वित्वे' इस वार्तिक के कारण [ऋध्] धातु के धकार का जश्त्व (द्) हो

लोपो वेति। "झयो होऽन्यतरस्याम्" (पा०सू० ८।४।६२) इति सूत्राद्-विकल्पानुवृत्तेः। एतच्च "नाज्झलौ" (पा० सू० १।१।१०) इति सूत्रे भाष्य-कैयटयोः स्पष्टम्।

प्राचस्तु विकल्पानुवृत्तेरनुक्तेर्न्यूनता।

वाच्यम्, फले विशेषाभावेन तदनादरणात्। न ह्यत्र जश्त्वात् पूर्वमनन्तरं वा द्वित्वे रूपे विशेषोऽस्ति, तदनन्तरं जश्त्वप्रवृत्तेः सत्त्वात्। यत्र पूर्वत्रा-सिद्धप्रवृत्तौ तन्निषेधे वा फले विशेषस्तत्रैवास्याः परिभाषात्वेन प्रवृत्ते-रित्यन्यत्र विस्तरः। यद्वा धस्य=तत्स्थानिकस्येत्यर्थं इति दिक्॥

नाज्झलाविति सूत्रे इति। "हयवरट्" सूत्रशेषे चेत्यपि बोध्यम्। अनुवृत्ते-रिति। "हलो यमाम्" (पा० सू० ८।४।६४) इत्यत्र 'झरो झरि" (पा० सू० ८।४।६५) इत्यत्र चेति भावः।

वाऽसिद्धत्वेन अवर्णपरत्वाभावान् न पररूपमिति बोध्यम्।

उरण् रपरः (पा० सू० १।१।५७) 'ऋ इति त्रिंशतः संज्ञा' इत्युक्तम्, तत्स्थाने

जाने पर दकार का द्वित्व कहना उचित है—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि फल में कोई अन्तर नहीं आता है। अतः वह वचन नहीं माना गया। [भाव यह है कि कृष्णर्द्धिः में ऋध् के ध् का जश्त्व पहले हो चुका है। और द्वित्वविधायक 'अचो रहाभ्याम्' इस पूर्व सूत्र की दृष्टि में पर सूत्र 'झलां जश् झशि' यह असिद्ध नहीं होता है क्योंकि पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' यह वार्त्तिक है। तब ऋध् के ध का द्वित्व कहना चाहिये था। इस शंका का समाधान यह है] जश्त्व के पहले द्वित्व हो अथवा द्वित्व करके जश्त्व कर दिया जाय, हर स्थिति मे एक प्रकार का ही रूप होता है—कृष्णद्दिर्धः। [अतः शंका व्यर्थ है।] जहाँ 'पूर्वत्रासिद्धम्' की प्रवृत्ति होने पर अथवा निषेध होने पर फल में कोई अन्तर आता है वहीं पर 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' इस वचन की परिभाषा रूप से प्रवृत्ति होती है, इसका अन्यत्र [उद्द्योतादि में] विस्तृत विचार है। अथवा धकार का=धकार है स्थानी जिसका ऐसे दकार का द्वित्व होता है, यह अर्थ है। [अतः कोई असंगति नहीं है।]

[मनो० झरो झरि सवर्णे पा० सू० ८।४।६५ हल् से परे झर् का सवर्ण झर् से परे रहते] विकल्प से लोप होता है। क्योंकि 'झयो होऽन्यतरस्याम्' (पा० सू ८।४।६२) से विकल्प=अन्यतरस्याम् की अनुवृत्ति होती है। इसका स्पष्टीकरण 'नाज्झलौ' इस सूत्र पर भाष्य और कैयटीयप्रदीप में है। [शब्द०] 'हयवरट्' सूत्र भाष्य के अन्त में भी है, यह समझना चाहिये।

[मनो०] प्राचीन (प्रक्रिया-कौमुदीकार) की [इन सूत्रों में विकल्प की अनुवृत्ति न करने से न्यूनता है। [शब्द०] 'हलो यमां यमि' इसमें और 'झरो झरि' इसमें विकल्व की अनुवृत्ति नहीं कही है—यह भाव है।

यदपि व्याख्यातृभिः—"शरोऽचि" (पा० सू० ८।४।४९) इति ज्ञापकमुपन्यस्य तत्संवादार्थं भाष्यमुपन्यस्तम्—"अनुवर्त्तते विभाषा, शरोऽचि यद्वारयत्ययं द्वित्वम्" इति, तन्न।

तदुत्तरभाष्ये एव उक्तज्ञापकस्य दूषितत्वात्। लोपस्य हि नित्यत्वे

ज्ञापकमिति। उभयत्रापि विकल्पानुवृत्ताविति भावः। **लोपस्य हीति।** लोपमात्रस्येत्यर्थः। **लोपापवाद इति।** आरम्भसामर्थ्यादिति भावः।

योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्त्तते। तत्रान्तरतम्यात् 'कृष्णर्द्धिः' इत्यत्र 'अर्', तवल्कार इत्यत्र 'अल्'—इति वृत्तिः। कृष्ण + ऋद्धिः अत्रान्तरतम्याद् गुणे रपरे च कृते 'कृष्णर्धिः' इत्यत्र 'अचो रहाभ्यां द्वे' इत्यनेन धकारस्य विकल्पेन द्वित्वम्—कृष्णर्द्द्धिः। अत्र शङ्कते शब्दरत्ने—**न चेति।** द्वित्वभिन्ने एव पूर्वत्र कर्तव्ये परम् असिद्धमिति 'पूर्वत्रासिद्धमद्वित्वे' इति वचनस्यार्थः। एवञ्च द्वित्वविधायक-'अनचि च' इत्येतच्छास्त्रदृष्ट्या जश्त्वविधायकस्य 'झलां जश् झशि' इ[illegible]स्यासिद्धत्वाभावेन परत्वात् जश्त्वस्यैव प्रवृत्तिः। एवञ्च दकारस्यैव द्वित्वं व[illegible]मिति शंकाशयः। **अस्याः**='पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे' इति परिभाषाया इत्यर्थः। **अन्यत्रेति।** परिभाषेन्दुशेखरादावित्यर्थः। **तत्स्थानिकेति।** धकारस्थानिकस्येत्यर्थः, दकारस्येति भावः।

और भी जिन व्याख्याकारों ने [शब्द०] दोनों सूत्रों में अन्यतरस्याम्=विकल्प की अनुवृत्ति में [मनो०] 'शरोऽचि' इस सूत्र को ज्ञापक रूप से उपन्यस्त करके उसमें (भाष्य की) सहमति दिखाने के लिए भाष्य को प्रस्तुत किया है—('हलो यमां यमि लोपः' और 'झरो झरि सवर्णे' इन दोनों सूत्रों में) विकल्प की अनुवृत्ति होती है क्योंकि (पाणिनि) 'शरोऽचि' इस सूत्र द्वारा द्वित्व का वारण करते हैं—ऐसा कहा है।

[भाव यह है कि 'हलो यमां यमि लोपः' और 'झरो झरि सवर्णे' इन दोनों सूत्रों से होने वाला लोप यदि नित्य होता तो द्वित्व करने के बाद भी लोप अवश्य होता। इसके फलस्वरूप 'शरोऽचि' इस सूत्र से द्वित्व का निषेध करना व्यर्थ हो जाता, क्योंकि द्वित्व न होना अथवा होकर लोप हो जाना—इन दोनों अवस्थाओं में एक ही प्रकार का रूप रहता है। इस कारण द्वित्व-निषेधक सूत्र व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि इन सूत्रों में विकल्प की अनुवृत्ति होती है अतः लोपाभावपक्ष में द्वित्व-निषेध न होने पर रूप में अन्तर सम्भव है। अतः द्वित्वनिषेध चरितार्थ है।]

परन्तु (व्याख्याकारों का उपर्युक्त कथन ठीक नहीं है। क्योंकि इसी ['हयवरट्] उत्तरवर्ती सूत्र में ही उक्त ज्ञापन को दूषित किया गया है। ("तदेतदत्यन्तं सन्दिग्धं वर्त्तते आचार्याणाम् विभाषाऽनुवर्त्तते नवेति।" 'हयवरट्' पर भाष्य) कारण यह है कि लोप [शब्द०] लोपमात्र [मनो०] यदि नित्य हो ता तब तो 'अचो रहाभ्याम्' से होने वाला द्वित्व [शब्द०] आरम्भ-सामर्थ्य से [मनो०] लोप का अपवाद

"अचो रहाभ्याम्—" (पा० सू० ८।४।४६) इति द्वित्वं लोपापवादः स्यात्। तथा च "शरोऽचि" इत्यस्य सार्थक्यं स्पष्टमेव। तस्माद्विकल्पानुवृत्तौ ज्ञापकान्तरमनुसर्तव्यम्।

भाष्यकारादिव्याख्यानमेव वा शरणम्।

ज्ञापकान्तरमिति। "अणुदित्" (पा० सू० १।१।६९) सूत्रस्थमण्ग्रहणं हलः परस्य यरो लोपो वैकल्पिक इति सामान्यापेक्षमाश्रयणीयमिति भावः। तस्य "हलो यमाम्—" (पा० सू० ८।४।६४) इति विशेषापेक्षत्वे आह—**व्याख्यानमेव वेति।** यदि तु "हलो यमाम्—" इत्यत्र विकल्पं सिद्धं कृत्वा द्वित्वस्य तद्विषये चारितार्थ्येन "झरो झरि" इत्यत्र तदनुवृत्तौ "शरोऽचि" (पा० सू० ८।४।४९) इति ज्ञापकमुपन्यस्यते तदा सम्यगेव, परं तु प्राचां भाष्यसंमतिलेखः प्रामादिकः। तद्भाष्यस्योभयविषयकतया प्रवृत्तेः।

झरो झरि सवर्णे। (पा०सू० ८।४।६५) हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात् सवर्णे झरि—इति वृत्तिः। मूले—**न्यूनतेति**। रूपद्वयासिद्धिरूपेति भावः। **अभिप्रेत्य**=उपन्यस्य। **आरम्भसामर्थ्यादिति**। सर्वदा लोपस्य प्रवृत्त्या द्वित्वविधानं व्यर्थीभूय 'अनवकाशो विधिरपवाद' इति न्यायेन द्वित्वस्य बाधकम्। तन्निषेधाय 'शरोऽचि' इति सार्थकमिति बोध्यम्। मूले—**तस्मादिति**। 'शरोऽचि' इत्यस्य सार्थक्यादिति भावः। ज्ञापकान्तरमाह शब्दरत्ने—**अणुदिदिति**। **अण्ग्रहणमिति**। तत्राण्ग्रहणं तु 'संय्यता' इत्यादौ अनुनासिकपरसवर्णस्य यत्वेन ग्रहणात् यकारस्य 'अनचि च' इत्यनेन द्वित्वे त्रियकारश्रवणार्थम्। यदि लोपो नित्यः स्यात् तदा कृतेऽपि द्वित्वे तस्य

हो जाता। और इस प्रकार 'शरोऽचि' इसकी सार्थकता स्पष्ट ही है। [भाव यह है कि लोप के नित्य होने पर द्वित्व करना व्यर्थ हो जाता और व्यर्थ होकर वह आरम्भसामर्थ्यात् लोप का अपवाद बन जाता। इस प्रकार अपवादभूत द्वित्व को रोकने के लिये 'शरोऽचि' यह सूत्र चरितार्थ है।) इस प्रकार इन दोनों सूत्रों में विकल्प की अनुवृत्ति में किसी दूसरे ज्ञापक का अनुसरण करना चाहिये। [शब्द०] विकल्प की अनुवृत्ति में अन्य ज्ञापक मानना चाहिये। 'अणुदित्' सूत्र में स्थित अण्-ग्रहण को—हल् से परे यर् का लोप वैकल्पिक है–इस प्रकार के सामान्यापेक्ष ज्ञापक का आश्रयण करना चाहिये—यह भाव है। उस ज्ञापक के 'हलो यमां यमि इस विशेष के [वैकल्पिक में] ज्ञापक होने पर (मनोरमा में) कहते हैं—[मनो०] भाष्यकारादि का व्याख्यान ही शरण है। [शब्द०] किन्तु यदि 'हलो यमाम्' के लोप-विषय में द्वित्व के चरितार्थ हो जाने से 'झरो झरि' इसमें उस विकल्प की अनुवृत्ति में 'शरोऽचि' इसको ज्ञापक रूप से उपन्यस्त किया जाता है तब तो ठीक ही है। लेकिन प्राचीनों द्वारा भाष्यसम्मति का उल्लेख करना प्रमादपूर्ण है। क्योंकि यह भाष्य तो दोनों सूत्रों को विकल्पानुवृत्ति का विषय बताते हुए प्रवृत्त हुआ है। (क्योंकि

द्वित्वलोपयोरिति। **यत्तु—द्वित्वविधानसामर्थ्याद् द्वावेव शिष्येते इति, तन्न। लोपस्य वकल्पिकत्वेन द्वित्वस्य पक्षे चरितार्थत्वात्। त्रिधमिति। "यणो मय" इति लक्षणान्तरेण पुनर्द्वित्वे तु चतुर्धमपि बोध्यम्॥**

लोपेन निवृत्तौ यकारद्वयस्यैव श्रवणं स्यादिति अण्ग्रहणस्य वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। तदेव लोपस्य वैकल्पिकत्वं ज्ञापयतीति भावः। **तस्य**=उक्तसूत्रस्थाण्ग्रहणस्य। **विकल्पमिति**। 'अण्ग्रहणाद्' इत्यादौ संयोज्यम्। **तद्विषये**=हलो यमां यमीति लोपविषये। **तदनुवृत्तौ**=अन्यतरस्यामित्यनुवृत्तौ। **ज्ञापकमिति**। चतुर्ध इत्यादौ द्वित्वनिषेधाय 'शरोऽचि' इति सूत्रम्। यदि 'झरो झरि' इति लोपो नित्यः स्यात्तदा द्वित्वे कृतेऽपि लोपेन तस्य निवृत्तौ इष्टरूपसिद्धौ निषेधकं सूत्रं व्यर्थं स्यात्, तद् व्यर्थीभूय विकल्पानुवृत्तौ ज्ञापकमिति बोध्यम्। **तद्भाष्यस्येति**। 'अनुवर्त्तते विभाषा, शरोऽचि यद् वारयत्ययं द्वित्वमिति' पूर्वोक्तस्येत्यर्थः। **उभयविषयकतयेति**। तेन ज्ञापकेन यदा 'झरो झरि' इत्यत्रानुवृत्तिः सिध्यति तदा मध्यस्थत्वेन 'हलो यमां यमि' इत्यत्रापि अन्यतरस्यामित्यस्य सम्बन्धः सिद्धः। एवञ्चोभयविषयकता तस्य भवत्येवेति तात्पर्यम्। द्वित्वाभावे लोपे सति एकधम्। असति लोपे द्वित्वलोपयोर्वा द्विधम्, सति द्वित्वे लोते चासति त्रिधम्—(१) कृष्णर्धिः (२) कृष्णर्द्धिः (३) कृष्णर्द्द्धिः। यदा

'झरो झरि' इस अग्रिम सूत्र में सम्बद्ध होने पर मध्यवर्ती 'हलो यमाम्' में सम्बन्ध मानना ही उचित है।)

[शब्दरत्नकार विकल्प की अनुवृत्ति में अण्ग्रहण को ज्ञापक मानते हैं। 'अणुदित्' सूत्र में अच् का ग्रहण न करके 'अण् का ग्रहण इसीलिये किया गया है कि 'संय्यन्ता' आदि में अनुनासिक परसवर्ण 'य्' का यर् से ग्रहण होने से 'अनचि च' से द्वित्व करने पर तीन यकारोंवाला ही रूप बनता द्वित्व का कोई फल नहीं होता। इस प्रकार द्वित्व के लिये 'य' का भी ग्रहण कराने के लिए अच् की अपेक्षा व्यापक अण् का ग्रहण है। यही ज्ञापित करता है कि लोप वैकल्पिक है। लोपाभावपक्ष में तीन यकार रहते है।

यदि प्राचीन लोग यह कहें कि 'हलो यमाम्' यह वैकल्पिक है। अतः इस लोप के विषय में द्वित्व चरितार्थ हो जाता है। तब 'झरो झरि' में विकल्प की अनुवृत्ति में 'शरोऽचि' को ज्ञापक मानना उचित ही है।]

[**मनो०** कृष्णर्द्धिः में लोप न होने पर अथवा] द्वित्व और लोप दोनों होने पर दो धकारों वाला रूप होता है। जो यह कहते हैं कि [ध के] द्वित्वविधान के सामर्थ्य से दोनों ध् शेष बचते हैं—वह ठीक नहीं है, क्योंकि लोप वैकल्पिक है अतः लोपाभावपक्ष में द्वित्व चरितार्थ है। [ध् का द्वित्व करने पर और लोप न करने पर] तीन धकारों वाला [एक रूप होता है]। 'यणो मयो द्वे वाच्ये' इस द्वित्वविधायक दूसरे वचन (वार्तिक) से पुनः द्वित्व करने पर चार धकारों वाला भी रूप समझना चाहिये।

"एत्येधत्यूठ्सु" (पा० सू० ६।१।८९) ॥ अत्र एचोत्यनुवर्त्तते तच्च एतेरेव विशेषणं नत्वेधतेः, अव्यभिचारात् । नाप्यूठः, असम्भवादिति प्राञ्चः ।

असम्भवादिति । न च आ अवतीति औः, जनस्य और्जनौरित्यादाववेः

'यणो मयो द्वे वाच्य' इति वचनेनापि द्वित्वं तदा चतुर्धम् (४) कृष्णद्द्ध्धिः । मूले-चतुर्धमिति । अत्र सर्वत्र धकारस्थानिकत्वमादाय भूतपूर्वगतिमादाय वोक्तमिति वोध्यम् । तेन प्रयोगे दकारश्रवणेऽपि न दोषः ।

विमर्श—कृष्ण+ऋद्धिः में गुण और रपर करने पर कृष्णर्द्धिः वनता है । इसमें 'अचो रहाभ्यां द्वे' इससे वैकल्पिक द्वित्व है । प्रारम्भ में धातु का ध् है, वह जश्त्व करने पर 'द्' हो जाता है । द्वित्व के वाद 'झरो झरि सवर्णे' इससे विकल्प से ध् का लोप होता है । इस प्रकार दो विकल्पों के कारण तीन रूप होते हैं—

(१) द्वित्व न हो, केवल लोप हो—कृष्णर्धिः ।

(२) लोप न हो अथवा द्वित्व और लोप दोनों हो तब दो धकारों वाला—कृष्णर्द्धिः ।

(३) द्वित्व हो किन्तु लोप न हो तव तीन धकारों वाला—कृष्णर्द्द्धिः । प्रथम और द्वितीय धकारों का जश्त्व के द्वारा 'द्' हो जाता है ।

(४) 'यणो मयो द्वे वाच्ये' इस वार्त्तिक से भी ध् के पुनः द्वित्व में चार ध वाला चौथा रूप भी होता है—कृष्णद्द्द्धिः । यह लोपाभावपक्ष में ही सम्भव है ॥

[मनो०] एत्येधत्यूठ्सु। इस सूत्र में ['वृद्धिरेचि' सूत्र से] 'एचि' इसकी अनुवृत्ति होती है। यह एच् एति [इण्] धातु का ही विशेषण होता है [एजादि इण् धातु परे रहते], न कि एध का भी, क्योंकि कहीं भी व्यभिचार नहीं है । (अर्थात् एध् सर्वत्र एजादि ही है । अतः एजादि को इसका विशेषण मानना अनावश्यक है ।) और न ऊठ् का ही, क्योंकि असम्भव है, (अर्थात् ऊठ् कभी भी एजादि नहीं हो सकता)—ऐसा प्राचीनों का कहना है ।

[शब्द०] असम्भव होने के कारण एच् को ऊठ का विशेषण नहीं माना जा सकता । (आ=समन्तात् अवति—इस विग्रह में अव् धातु से क्विप् प्रत्यय, सर्वापहारी लोप और प्रत्ययलक्षण मानकर 'ज्वरत्वर०' आदि सूत्र से उपधा और व् दोनों के स्थान पर ऊठ् आदेश करने पर 'आद् गुणः' से गुण करने पर 'ओ' बना कर प्रातिपदिक संज्ञा, सु, णिद्वद्भाव, वृद्धि करने परे) 'औः' बनता यहाँ एजादि ऊठ् है—यही लिखते है—)

आ अवति—इससे 'औः'—जनस्य औः इस समास-स्थल में अव् धातु से क्विप् प्रत्यय (और इसका सर्वापहारी लोप करके प्रत्ययलक्षण से) ऊठ् आदेश, और

अत्र कैयटः—'एधतेरपि विशेषणम् । मा भवान्प्रेदिधदित्यत्र व्यभिचारात् ।' यद्यपीदं कयटपुस्तकेषु प्रायेण न दृश्यते तथाऽपि क्वचिद् दृश्यत एव । न च "णौ चङि—" (पा० सू० ७।४।१) इति ह्रस्वे कृते नायमेधति-

---

क्वावूठ्यादगुणे परादिवत्त्वेनोठ्त्वात्सम्भवोऽस्ति । न च "वृद्धिरेचि" (पा० सू० ६।१।८८) इति सिद्धिः, "ओमाङोश्च" (पा० सू० ६।१।९५) इत्यनेन बाधाद्, अनेन तु सामर्थ्यात्तद् बाध्यत इति वाच्यम्, तस्यानभिधानादित्याशयात् ।

किं च "ओमाङोः—" (पा० सू० ६।१।९५) इत्येतद्बाधकल्पनापेक्षया सामर्थ्येन लक्ष्यानुरोधेन च "एचि" इत्यस्यासम्बन्धकल्पनैवौचिता ।

एत्येधत्यूठ्सु । (पा० सू० ६।१।७९) अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूप-गुणापवादः—इति वृत्तिः । मूले **एचीति** । वृद्धिरेचि' इति सूत्राद् 'एचि' इत्यनुवर्त्तते । शब्दरत्ने—**तस्येति** । तादृशशब्दरूपस्येत्यर्थः ।

'आद्गुणः' से गुण करने पर (अन्तादिवच्च सूत्र द्वारा) परादिवद्भाव से (औ में) ऊठ् का ज्ञान सम्भव है (अतः एजादि ऊठ् असम्भव कहना ठीक नहीं) । यहाँ 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि सम्भव है, यह नहीं कह सकते क्योंकि 'ओमाङोश्च' इससे पररूप से बाध हो जायगा। (फलस्वरूप पररूप होने लगेगा ।) परन्तु प्रस्तुत सूत्र तो ('एचि' इस विशेषण के अन्यत्र चरितार्थ न हो सकने के कारण) सामर्थ्यवश उस पररूप का ही बाध कर लेगा ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि 'औं' इस रूप का अनभिधान है—यह भाव है ।

और भी, 'ओमाङोश्च' इस सूत्र के बाध करने की अपेक्षा (एचि—इसका ऊठ् इस अंश में भी सम्बन्ध करने से एजादि ऊठ् परे रहते वृद्धि होती है—इस प्रकार वाक्यार्थ के) सामर्थ्य से और (ऊठ् इस अंश में भी 'एचि' इसके सम्बन्ध से एजादि ही ऊठ् परे वृद्धि स्वीकार करने पर 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति' इस परिभाषा से 'ओमाङोश्च' इसके बाध के कारण इसी लक्ष्य में वृद्धि होगी न कि 'विश्वौहः' इत्यादि में । इस लिये इस प्रकार के) लक्ष्यों की सिद्धि के अनुरोध से 'एचि' इसका ऊठ् के साथ सम्बन्ध न करने की कल्पना ही ठीक है ।

[मनो०] यहाँ (एचि के सम्बन्ध के विषय में) कैयट का यह कहना है—'एचि' यह एध् धातु का भी विशेषण है, क्योंकि 'मा भवान् प्रेदिधत् (प्र + इदिधत्)' इसमें व्यभिचार [अभाव] है । यद्यपि यह बात अधिकांश कैयटीय प्रदीप-ग्रन्थों में नहीं दिखाई देती है तथापि कहीं कहीं दिखाई ही देती है । [मा भवान् प्र + एध् + इ (णि) + अ (चङ्) + त् (ति) इस स्थिति में वर्णकार्य से अंग कार्य के बलवान् होने से वृद्धि के पहले] 'णौ चङ्युपधायाः ह्रस्वः' इस सूत्र से ह्रस्व कर देने पर

रिति वाच्यम्, एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्। न चैवमपि "अजादेर्द्वितीयस्य" (पा० सू० ६।१।२) इति धिशब्दस्थाने धि-धि-शब्दादेशे सति वस्नसोरिव-प्रकृतिप्रत्ययविभागसम्मोह इति वाच्यम्, द्विः प्रयोगो द्विर्वचनं षाष्ठमिति षाष्ठभाष्ये सिद्धान्तितत्वात्। अन्यथेहैव णिलोपो न स्यात्।

ह्रस्व कृते इति। वृद्धेः पूर्वमित्यादिः। वार्णपरिभाषयेति भावः। अनन्यत्वादिति। न च "अचः परस्मिन्" (पा० सू० १।१।५७) इति स्थानिवत्त्वेनैजादित्वं सुलभम्, पूर्वपरविधित्वात्। पूर्वस्यैव विधौ हि सः। मध्येऽपवादन्यायेनाद्गुणं बाधित्वा इहैव स्यात्, उपैधत इत्यादौ तु परत्वात्पररूपमेव स्यादिति भावः। संमोह इति। एधतेरादेशाभावेन न स्थानिवत्त्वेन तत्त्वम्।

पूर्वपरविधित्वादिति। पूर्वपरयोरुभयोः स्थाने एव वृद्धिरूप एकादेशो भवतीति भावः। मध्येऽपवादेति। 'मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इति न्यायेन पूर्वं पठितम् 'आद् गुण' इति सूत्रमेव बाधेत तेन 'प्रेदिधद्' इत्यादौ वृद्धिः स्यात्, उपैधते' इत्यादौ तु परत्वात् 'एङि पररूपम्' इत्यनेन पररूपमेव प्रसज्येत।

('इधि' बन जाने पर) यह 'एध' धातु नहीं है—ऐसा नहीं कहना चाहिये 'क्योंकि एक अवयव के विकार से दूसरा वह नहीं हो जाता है। [शब्द०] 'अचः परस्मिन्०' इस सूत्र से स्थानिवद्भाव द्वारा एजादित्वं सुलभ है—यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह वृद्धि पूर्व तथा पर दोनों के स्थान पर होने वाली है और वह स्थानिवद्भाव केवल पूर्व के स्थान पर विधि की कर्तव्यता में ही होता है। (अतः स्थानिवद्भाव से एजादित्व नहीं लाया जा सकता।] 'मध्ये पठिता ये अपवादास्ते पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' इस न्याय के अनुसार (प्र+इदिधत् में) 'आद् गुणः' से प्राप्त गुण का बाध करके इसी में वृद्धि होने लग जायगी, उपैधते आदि में (नहीं हो सकेगी अपि तु) पर होने के कारण ('एङि पररूपम्' सूत्र से) पररूप ही होने लगेगा, (यह मनोरमाकार का) भाव है। [मनो०] ऐसा मान लेने पर भी 'अजादेर्द्वितीयस्य' इस सूत्र द्वारा 'धि' इसके स्थान पर 'धि धि' शब्द आदेश होने पर (अस्मद् एवं युष्मद् के स्थान पर होने वाले) 'वस्, नस्' आदेशों के समान प्रकृति-प्रत्यय का पृथक् पृथक् ज्ञान नहीं हो सकता, [शब्द०] एध के स्थान पर न होने से स्थानिवद्भाव द्वारा भी एधतित्व नहीं लाया जा सकता—[मनो०] ऐसा नहीं क्योंकि षष्ठ कहना चाहिये, अध्याय से विहित द्वित्व दो बार उच्चारण है (आदेश नहीं है)—यह वहीं भाष्य में सिद्धान्तित है। यदि द्वित्व को दो बार उच्चारण नहीं मानेंगे अन्य शब्दरूप मान लेंगे तब तो प्रइदिधत् यहीं पर 'णेरनिटि' से णि का लोप नहीं हो सकेगा।

जिघांसतीत्यादौ सनः सकारेण विशिष्टस्य द्वित्वे कृते कुत्वं च न स्यात् ।

न स्यादिति । न च "णेरनिटि" (पा० सू० ६।४।५१) इत्यस्य ण्यन्तस्याङ्गस्य लोप इत्यर्थः, स चालोन्त्यपरिभाषयाऽन्त्यः, एवं च प्रकृते न दोषः । "सर्वे सर्वपदादेशा" इति न्यायेनेधीत्यस्येधिधि-इत्यादेशसत्त्वेन स्थानिनो ण्यन्ततया आदेशेऽपि स्थानिवद्भावेन ण्यन्तत्वस्य सुलभत्वादिति वाच्यम्, अलोऽन्त्यपरिभाषया निर्दिश्यमानपरिभाषया च "णेरनिटि" (पा० सू० ६।१।५१) इत्यस्य ण्यन्तस्याङ्गस्यान्त्यो यो निर्दिश्यमानो णिस्तस्य लोप इत्यर्थेन दोषात् । अन्ते णेरसत्त्वात् । सूत्रं तु आद्यादित्यादौ चरितार्थमिति भावः । **कुत्वं च न स्यादिति ।** हन्त्यवयवहकाराभावात् । सन्सम्बन्धिसकारवैशिष्ट्याभावे तु स्थानिवत्त्वेन कुत्वं स्यादपीति भावः ।

तत्त्वम्=एधतित्वम् । मूले—**अन्यथेति** । एकदेशविकारेऽप्यन्यत्वस्वीकारे इत्यर्थः । **इहैवेति** । इदिधत् इत्यत्रैवेत्यर्थः । **कुत्वं चेति** । हन्रूपत्वाभावादिति भावः । तदेव वक्ष्यति शब्दरत्ने—**हन्त्यवयवहकाराभावादिति । सर्वे सर्वपदेति ।**

[शब्द०] 'णेरनिटि' इसका अर्थ यह है कि ण्यन्त अङ्ग का लोप होता है और यह 'अलोऽन्त्यस्य' इस परिभाषा के द्वारा अन्त्य के स्थान पर होगा, इस प्रकार प्रस्तुत लक्ष्य में कोई दोष नहीं है । 'पाणिनि के मत में पूरे पद के स्थान पर पूरा पद ही आदेश होता है' इस न्याय से 'इधि' इसके स्थान 'इधिधि' ऐसा आदेश होने के कारण स्थानी (इधि) ण्यन्त है अतः आदेश (इधिधि) में भी स्थानिवद्भाव से ण्यन्तत्व सुलभ है—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि 'अलोऽन्त्यस्य' इस परिभाषा से और 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इस परिभाषा से 'णेरनिटि' इस सूत्र का यह अर्थ है—ण्यन्त अङ्ग का अन्त्य निर्दिश्यमान जो णि उसका लोप होता है—इससे (णिलोपप्राप्त्यभावरूप) दोष रहता है । क्योंकि अन्त में णि नहीं रहता है (अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय-सम्मोह के कारण अन्त में णि का ज्ञान नहीं हो पाता है ।) 'णेरनिटि' यह णिलोपविधायक सूत्र तो 'आद्यात्' इत्यादि में चरितार्थ है—यह भाव है । [क्योंकि अद् धातु से णिच् प्रत्यय परे रहते ही वृद्धि के विधान के कारण णिबुद्धि का विघात नहीं होता है, अतः णिबुद्धि रहती है । इसके लोप में सूत्र चरितार्थ हो जाता है ।]

[मनो०] और जिघांसति इत्यादि में सन् के सकार से विशिष्ट [हन् स इस] का द्वित्व करने पर ('अभ्यासाच्च' सूत्र से कुत्व नहीं हो सकेगा, **[शब्द०]** क्योंकि अब हन् का अवयव हकार नहीं है (अपितु हन्स का हैं) सन् सम्बन्धी सकार के वैशिष्ट्य के अभाव में तो स्थानिवद्भाव से [हन् धातुत्व का अतिदेश होने से] कुत्व हो भी सकता है, यह भाव है ।

न चान्तरङ्गत्वात् प्रथमं "चङि" (पा० सू० ६।१।११) इति द्वित्वे कृते ह्रस्वो न भवत्येवेति वाच्यम्, ओणेर्ऋदित्करणेन बहिरङ्गस्यापि "णौ चङि" (पा० सू० ७।४।१) इति ह्रस्वस्य प्रथमं प्रवृत्तिरिति ज्ञापितत्वात् ।

अन्तरङ्गत्वादिति । चङ्परणिनिमित्तह्रस्वापेक्षया चङ्मात्रनिमित्तत्वेनाल्पपदार्थापेक्षत्वादित्यर्थः । भाष्ये तु नित्यत्वमात्रमेव द्वित्वस्योक्तम् । **ज्ञापितत्वादिति ।** इदं च "णौ चङि—" (पा० सू० ७।४।१) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपजायते ॥

दोषादिति । णिलोपस्य प्राप्त्यभावरूपदोषादित्यर्थः । **अन्ते ।** सम्मोहनेन अन्ते णिवृद्धेरसत्त्वादिति भावः । **आद्यादिति ।** णिति प्रत्यये परतो वृद्धेर्विधानेन णिवृद्धेर विघाताद् णिवृद्धिर्भवतीति भावः । **स्यादपीति ।** अत्रापिमूलोक्ताभावस्य समुच्चायकः । एवञ्च पाक्षिकोऽयं दोषः इति प्रागुक्तमेव मुख्यं दूषणं न त्विदमिति बोध्यम् ।

अन्तरङ्गपरिभाषया साधनमसम्भवमिति प्रतिपादयितुमाह—**न चेति ।** **ह्रस्वो नेति ।** प्रथमं द्वित्वे सति 'एधिधि—' इत्यवस्थायामुपधायामेकारस्याभावान्न ह्रस्वप्राप्तिरिति भावः । **ज्ञापितत्वादिति ।** अयं भावः—ओण् धातोः ऋदित्करणस्य

[मनो०] अन्तरङ्ग होने से **[शब्द०]** अर्थात् चङ्परणिनिमित्तक ह्रस्व की अपेक्षा केवल चङ् को निमित्त मान कर होने से अल्प पदार्थ की अपेक्षा वाला होने से **[मनो०]** पहले 'चङि' इससे द्वित्व कर लेने पर [बह्वपेक्ष] ह्रस्व नहीं ही होना चाहिये, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ओण् धातु के ऋदित् करने के द्वारा—बहिरङ्ग भी 'णौ चङि' इससे ह्रस्व की पहले प्रवृत्ति होती है । यह ज्ञापित होता है ।

विमर्श—ओण् धातु में ऋकार को इत् करने का फल यही है कि बहिरङ्ग होने पर भी उपधाह्रस्व द्वित्व के पहले ही हो जाता है । यदि ओण् इ+अ+त् में पहले द्वित्व कर दिया जाय ओ णि णि+अ+त् तब तो 'ओ' उपधा में मिलता नहीं है, इसके ह्रस्व की प्राप्ति और ऋदित होने से 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' से उसका निषेध—ये व्यर्थ हो जाते हैं । इस प्रकार ऋदित् करना व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि बहिरङ्ग होने पर भी उपधा का ह्रस्व पहले ही होता है । तब ओणि+अ+त् में ही ह्रस्व प्राप्त होता है । इसका निषेध करने के लिए ऋदित्करण सार्थक है ।

[शब्द०] और यह [बहिरङ्ग की भी पहले प्रवृत्ति होती है—यह] 'णौ चङि' पा० सू० ७।४।१ सूत्रभाष्य में स्पष्ट है ।

अत्र माधवः[1]—मा भवान् प्रेदिधदित्यत्र नातिप्रसङ्गः, ण्यन्तस्य शब्दान्तरत्वादेधतिग्रहणेनाग्रहणात् । अत एव हि "न भाभूपूकमिगमि–" (पा०सू०८।४।३४) इत्यत्र "ण्यन्तानां च भादीनामुपसंख्यानम्" इत्युक्तम् । तत्रैव शब्दान्तरत्वादप्राप्तावुपसंख्यानमिति कैयटन्यासकारहरदत्तादिभिः सर्वैरेवोक्तम् । किं च ण्यधिकस्यापि ग्रहणे "उपसर्गात्सुनोति–" (पा० सू० ८।३।६५) इत्यत्राभिषावयतीत्युदाहृत्य ण्यन्तेनाभेर्योगात्सुनोतिं प्रत्यनुपसर्गत्वात्कथं षत्वमित्याशङ्क्याभेः प्रकृत्यर्थविशेषकत्वेन समाधानं भाष्यकाराद्युक्तमसङ्गतं स्यात् ।

असङ्गतं स्यादिति । सुनोतिग्रहणेन सावयतेरपि ग्रहणेन शङ्काया एवाभावादिति भावः ।

प्रयोजनप्रसङ्गे भाष्ये उक्तम्—द्विर्वचनह्रस्वत्वयोर्मध्ये द्विर्वचनं नित्यमिति तदेव प्रथमं स्यादिति द्वित्वविषयीभूत-'णि'-शब्देन व्यवधानाद् 'ओणिणि' इत्यत्रोपधाया-मोकारस्याभावात् 'णौ चङि' इति सूत्रेण उपधाह्रस्वस्य प्रसक्तिरेव नास्ति तदा 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' इत्यनेन ऋदित्करणफलकोपधाह्रस्वप्राप्तिरेव नेति तद्वारणाय ओणृ इत्यत्र ऋदित्करणं व्यर्थम् । व्यर्थीभूय च तद् ज्ञापयति—द्विर्वचनापे-

---

[मनो०] ('एचि' यह एध् का भी विशेषण है—) इस प्रसङ्ग में [धातुवृत्तिकार] माधवाचार्य का यह मत है—'मा भवान् प्र इदिधत्' यहाँ अतिप्रसङ्ग नहीं है क्योंकि णिजन्त धातु तो दूसरा ही शब्द हो जाता है अतः एध के ग्रहण से [णिजन्त एधि का] ग्रहण नहीं होता है। (णिजन्त होने से दूसरा शब्द हो जाता है) इसी लिये 'न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम्' ८।४।३४ इस सूत्र के भाष्य में 'णिजन्त भा आदि का भी उपसंख्यान करना चाहिये' ऐसा लिखा है। [भाष्य में 'ण्यन्तस्य चोपसंख्यानम्' ऐसा रूप है।] इसी की व्याख्या में—दूसरा शब्द होने के कारण (णत्व का निषेध) प्राप्त न रहने पर उपसंख्यान करना चाहिये—ऐसा कैयट, (काशिकावृत्ति के व्याख्याता) न्यासकार और पदमञ्जरीकार हरदत्त आदि सभी ने कहा है। और भी, णि से युक्त=णिजन्त का भी मूल प्रकृति धातु के ग्रहण से ग्रहण मानने पर 'उपसर्गात् सुनोति०' पा० सू० ८।३।६५ इसमें 'अभिषावयति' यह [षत्वविधान का] उदाहरण देकर—णिजन्त के साथ अभि (उपसर्ग) का योग होने से सुनोति=सू के साथ उपसर्गत्व न होने से [उक्त उदाहरण में] कैसे षत्व होगा—यह शंका करके भाष्यकारादि द्वारा किया गया समाधान—'अभि-प्रकृत्यर्थ को विशेषित करने वाला है'—यह असंगत हो जायगा। [भाव यह है कि यदि सुनोति और णिजन्त 'सावयति' दोनों एक शब्द होते तो शंका और समाधान दोनों असंगत हो जायेंगे] [शब्द०] 'सुनोति के ग्रहण से 'सावयति' का भी ग्रहण हो जाने से शंका ही नहीं उठती, यह भाव है।

---

१. देखिये माधवीयधातुवृत्ति, पृ० ४८।

न च "ह्रेरचङि" (पा० सू० ७।३।५६) इति लिङ्गात् "प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणम्"—

इति भ्रमितव्यम्, ज्ञापकस्य कुत्वमात्रविषयकत्वात्। तथा च वार्त्तिकम्—"ह्रेश्चङि प्रतिषेधानर्थक्यमङ्गान्यत्वात्"। ज्ञापकं तु चङोऽन्यत्र ण्यन्तेऽपि कुत्वभावस्येति। तस्माद्युक्तिविरोधाद्भाष्यवार्तिकवृत्तिन्यासादि-ग्रन्थैः पूर्वापरस्वग्रन्थेन च विरोधादुपेक्ष्योऽयं कैयट इति।

क्षया ह्रस्वत्वं बलीयः। एवञ्च द्वित्वात्पूर्वमेपोपधाह्रस्वत्वं प्राप्नोति तन्निपेधार्थम् 'ऋदित्करणमिति बोध्यम्।

अनुवर्त्तमानम् 'एचि' इदम् एधतेरपि विशेपणम्, मा भवान् प्रेदिधत् इत्यत्र व्यभिचारात् (एजादिएधधातोरभावात्) इति पूर्वोक्तकैयटमतस्य खण्डनाय धातुवृत्तिकारमाधवमतं प्रस्तौति मूले—**अत्र माधव** इति। **अत एवेति**। ण्यन्तस्य शब्दान्तरत्वादेवेत्यर्थः। **ण्यन्तानां चेति**। भाष्ये तु ण्यन्तस्य चोपसंख्यानम्, किं पूञ एवं ? नेत्याह। अविशेषेण' इति दृश्यते। तात्पर्यप्रदर्शनं तु माधवेन कृत-मिति बोध्यम्। तत्र 'ण्यन्तस्य धात्वन्तरत्वान्निपेधो न प्राप्नोतीति वचनमिति कैयटे-नोक्तं न्यासपदमञ्जर्यादौ च तादृशमवेति तदभावः। शब्दरत्ने—**शङ्काया एवाभा-वादिति भाव** इति। एवञ्चोभयमसङ्गतं स्यादिति तदाशयः। मूले—**तस्मादिति**। पूर्वोक्तभाष्यादिप्रमाणाद्धेतोरित्यर्थः।

[मनो०] 'ह्रेरचङि' [अभ्यास से परे 'हि' धातु के हकार का कुत्व होता है, किन्तु चङ् परे रहते नहीं होता है]—उस सूत्र रूप प्रमाणं से 'प्रकृति के ग्रहण में णियुक्त का भी ग्रहण होता है'—

[भाव यह है कि णिजन्त 'हि' धातु के लुङ् लकार में 'अजीहयत्' इस रूप में कुत्व का निपेध करने के लिये सूत्र में 'अचङि' ऐसा है। यदि प्रकृतिग्रहण से णिजन्त का ग्रहण ही नहीं होता तब कुत्व की प्राप्ति ही नहीं है, उसके निषेध के लिये 'अचङि' यह पर्युदास व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है—प्रकृतिग्रहण से णिविशिष्ट का भी ग्रहण होता है।]

[मनो०]—ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये क्योंकि यह ज्ञापक केवल कुत्व के लिये है। (इसीलिये जिघायमिषति में कुत्व होता है।) जैसा कि वार्त्तिक है—'चङ् परे रहते 'हि' धातु का कुत्वनिषेध करना व्यर्थ है क्योंकि यह दूसरा शब्द हो जाता है।' यह ज्ञापक तो चङ् से भिन्न में णिजन्त में भी कुत्व होने का है। (अर्थात् णिजन्त में केवल चङ् को छोड़कर अन्यत्र कुत्व होता है, इसी में 'अचङि' यह ज्ञापक होता है।) इस प्रकार युक्तिविरोध और भाष्यवार्त्तिक काशिकावृत्ति, न्यास आदि ग्रन्थों से और अपने पूर्वापर-ग्रन्थ से विरोध होने के कारण यहाँ का कैयट का कथन उपेक्षणीय है।

अत्रेदं वक्तव्यम् । अस्तु विशिष्टस्य शब्दान्तरत्वं तावताऽपि प्रकृतिभागस्यैध्रूपत्वं केनापगतमित्यवधार्यताम् । न ह्य ुपैधत इत्यादौ तिङन्तस्यैध्रूपता नास्तीति प्रकृत्यंशे सा हीयते । तथा च "उपसर्गात्सुनोति–" इति सूत्रे वार्त्तिकं "सिद्धं त्ववयवानन्यत्वात्" इति । यत्त्वभिषावयतीत्यत्रत्यभाष्यविरोधोद्भावनं तद्विपरीतम् । यतः प्रकृतेः सुनोतिरूपानपायात् कैयटमते सिद्धा यथोक्तव्यवस्था । त्वन्मते तु रूपान्तरत्वेन ण्यधिकस्याग्रहणादसङ्गतैव प्रागुक्तव्यवस्था स्यात् । को ह्येधयति सावयत्योर्विशेषः यदेधतेर्ण्यधिकस्याग्रहणं सुनोतेस्तु ग्रहणमिति ।

अवयवानन्यत्वादिति । ण्यन्तावयवस्य सुनोतेः सुनोतिभिन्नत्वाभावादिति तदर्थः । **सुनोतिरूपानपायादिति ।** सुनोतित्वानपायादित्यर्थः ।

साम्प्रतं माधवमतं निराकरोति—**अत्रेदं वक्तव्यमि**त्यादिना । मूले **विशिष्टस्य**=ण्यादिसहितस्य । **नास्तीति** । नञ्द्वयेन प्रकृतार्थं दृढीकरोति—एध्रूपतैवास्तीति भावः । असंगतत्वं प्रतिपादयति शब्दरत्ने—**ण्यन्तेनेति** । मूले—**वृत्तिग्रन्थ इति ।** काशिकाग्रन्थ इत्यर्थः । मूले—**असङ्गत** एवेति । अत्र एवकारेण प्रकृतिभागस्य शब्दान्तरत्वे 'उपैधयते' प्रैदिधिषते' इत्यादौ वृद्ध्यभावः स्यादिति ध्वनितम् । वस्तुतस्तु 'इणीकारादौ प्रतिषेधः' इति वार्त्तिकविरोधात् प्रैदिधदित्यस्यानभिधानमावश्यकमिति

उक्त विषय में [माधवाचार्य से] यह कहना चाहिये—णिविशिष्ट दूसरा शब्द हो जाय, यह ठीक है परन्तु इससे प्रकृतिभाग की एधरूपता का किससे अपहरण होता है, यह निर्णय करिये । क्योंकि 'उपैधते' आदि में (उप-विशिष्ट) तिङन्त की एधरूपता नहीं है, ऐसा नहीं है, इसलिये प्रकृत्यंश में एध्रूपता नष्ट नहीं होती है । [अर्थात् जैसे उपैधते में एध्रूपता अक्षुण्ण है वैसे ही एधयति आदि णिजन्त में भी है) और जैसा कि 'उपसर्गात् सुनोति०' इस सूत्र-भाष्य में वार्त्तिक हैं—(ण्यन्त और अण्यन्त सावयति तथा सुनोति दोनों में) षत्व सिद्ध है क्योंकि दूसरा अवयव=शब्द नहीं है [**शब्द०**] ण्यन्तावयव सुनोतिधातु मूल सुनोति से भिन्न नहीं है—यह अर्थ है । [**मनो०**] 'अभिषावयति—यहाँ पर भाष्यविरोध का जो उद्भावन किया है, वह विपरीत है । क्योंकि सुनोति रूप का नाश नही होता है, [**शब्द०**] सुनोतित्व का विनाश नहीं होता है । यह अर्थ है । [**मनो०**] इस लिये कैयट के मत में यथोक्त व्यवस्था (वन जाती है) । किन्तु तुम्हारे [माधवाचार्य के] मत में भिन्न रूप होने के कारण णिविशिष्ट का [प्रकृतिग्रहण से] ग्रहण ही नहीं होता है, इस लिये पूर्वोक्त व्यवस्था असंगत ही हो जाती है । क्योंकि 'एधयति' तथा 'सावयति' दोनों में क्या अन्तर है कि एध् का णिविशिष्ट का ग्रहण नहीं होता है और सुनोति का [णिविशिष्ट का भी] ग्रहण है ।

यदपि ण्यन्तभादीनामुपसंख्यानमुपन्यस्तं तदपि नास्माकं प्रतिकूलम्। विशिष्टस्य शब्दान्तरत्वेन प्रकृत्यंशस्य तु णिचा व्यवधानेनोपसंख्यानस्यावश्यकत्वात्। अत एव न तत्रत्यन्यासादिभिः, स्वोक्त्या वा विरोधः। प्रत्युत तवैव विरोधः। षाष्ठे भाष्यवार्त्तिकयोः "एत्येधत्योः—" (पा० सू० ६।१।८९) इति योगं विभज्य "एचि" इति विशेषितत्वात्। तस्मादिह वृत्तिग्रन्थो माधवग्रन्थश्चासङ्गत एवेत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—एजाद्योरित।

असङ्गतैवेति। ण्यन्तेनाभेर्योगादिति शङ्का, प्रकृत्यर्थविशेषकत्वेन समाधानरूपा च व्यवस्थाऽसङ्गतैव स्यात्, त्वदुक्तरीत्या ण्यधिके षत्वाप्राप्तेरित्यर्थः। तदेवाह—को हीति॥

तदुपादानेन सर्वोऽपि विचारोऽत्र निष्फल एव। एत्येधत्योरवयवे एचीति भाष्यकारीयव्याख्यानन्तूपरञ्जकतया एधत्यंशेऽपि 'एचि' इत्यस्य सम्बन्ध इत्यभिप्रायेण त्याहुः। अपरे तु वार्त्तिकस्थमिण्ग्रहणमुपलक्षणम्। अत एव भाष्यकृताऽत्रैत्येधत्योरिति योगं विभज्य तयोरेवैचीति विशेषणं कृतमिति वदन्तीति—भैरवमिश्राः।

[यहाँ भाव यह है कि माधवाचार्य के मत में शुद्ध धातु और णिजन्त धातु दोनों अलग २ शब्द हैं। अतः णिजन्त में षत्व की प्राप्ति ही नहीं है तब] शब्द०] अभि का णिजन्त के साथ योग यह शंका और अभि प्रकृत्यर्थ षून् का विशेषण है—यह समाधान—इनकी व्यवस्था नहीं बन सकती क्योंकि माधवाचार्य के अनुसार णिविशिष्ट में णत्व की प्राप्ति ही नहीं है। यही मनोरमा में कहा है कि एधयति और सावयति में क्या अन्तर है?

[मनो०] और '(णत्वप्रतिषेध में) ण्यन्त भा आदि का उपसंख्यान करना चाहिये' यह जो उपन्यस्त किया है, वह भी हमारे (कैयटसमर्थक के) प्रतिकूल नहीं है—क्योंकि (णिच्) विशिष्ट के दूसरा होने से प्रकृत्यंश का णिच् से व्यवधान होने से उपसंख्यान आवश्यक है। इसीलिये वहाँ के न्यास आदि के साथ और अपनी [कैयट की] उक्ति से विरोध नहीं होता है। इसके विपरीत आप (माधव) का ही विरोध है। षष्ठ अध्याय में भाष्य और वार्त्तिक में' 'एत्येधत्योः' ऐसा योगविभाग (सूत्रविभाग) करके 'एचि' इससे विशेषित किया है अर्थात् 'एचि' इसे इण् और एध् दोनों का विशेषण बनाया गया है। इस प्रकार यहाँ (काशिका) वृत्ति ग्रन्थ और माधव धातुवृत्ति] दोनों असंगत हीं हैं, इसी आशय से [सिद्धान्तकौमुदी में वृत्ति में] व्याख्या लिखते हैं—एजादि एति [=इण्] और एधति [एध् परे रहते वृद्धि रूप एकादेश होता है।]

अक्षौहिणीति। ऊहोऽस्त्यस्या ऊहिनी, अक्षाणामूहिनीति विग्रहः। परिमाणविशेषविशिष्टा सेना अक्षौहिणी। "पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्" (पा० सू० ८।४।३) इति णत्वम्।

यत्तु—प्राचा विगृहीतम्–अक्षाणामूहः समूहः=सोऽस्त्यस्या इति। तदपि ऊहिनीशब्देन षष्ठीतत्पुरुष इत्येवम्परतयैव कथंचिन्नेयम। ऊहशब्देन समासे तत इनौ तु वृद्धिर्न स्यात्, अन्तरङ्गेण गुणेन बाधात्। अपवादभूताया अपि वृद्धेरूहिनीशब्देन विग्रहे चरितार्थत्वात।

विग्रह इति। समस्यमानपदस्वरूपबोधक इत्यर्थः। तत इनाविति। "अत इनिठनौ" (पा० सू० ५।२।११५) इति विहित इत्यर्थः। अन्तरङ्गेणेति। प्रथमप्रवृत्तिकेनेत्यर्थः। समर्थग्रहणेन कृतसन्धिकार्यादेव तद्धितोत्पत्त्या तद्विषयेऽकृतव्यूहपरिभाषाया अप्रवृत्तेः, तस्या असत्त्वाच्चेति भावः।

'अक्षादूहिन्यामुपसंख्यान'मित्यस्योदाहरणमाह— अक्षौहिणीति। अक्षौहिणीपदं सेनाविशेषे रूढम्। तदुक्तं महाभारते—

अक्षौहिण्याः प्रमाणन्तु खागाष्टैकद्विकैर्गजैः।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः॥

[मनो०] 'अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानम्'—वार्त्तिक का लक्ष्य प्रस्तुत है—] अक्षौहिणी। ऊह है इसका—इस विग्रह में—उहिनी [ऊह+इन् और ङीप् करने पर बना है]। अक्षाणाम् ऊहिनीयह विग्रह हैं। [शब्द०] समस्यमान पदों के स्वरूप का बोधक है—यह अर्थ है। [समास और विभक्ति का लोप करके अक्ष, ऊहिनी, वृद्धि करने पर अक्षौहिनी, णत्व] [मनो०] परिमाण-विशेष से विशिष्ट सेना अक्षौहिणी कही जाती है। यहाँ 'पूर्वपदात् संज्ञायामगः से न् का ण् होता है।

प्राचीन आचार्य ने यह विग्रह किया हैं—अक्षाणाम् ऊहः=समूह, सः अस्ति अस्याः। यह भी ऊहनी के साथ षष्ठीतत्पुरुष है—इसी अभिप्राय से किसी प्रकार बनाना चाहिये। क्योंकि (अक्ष का) ऊह शब्द के साथ समास करने पर तो उस [अक्ष+ऊह] से 'अत इनिठनौ' सूत्र से इन् प्रत्यय करने पर [वार्त्तिक से] वृद्धि नहीं हो सकती क्योंकि अन्तरंग गुण से बाध हो जायगा। [शब्द] प्रथम प्रवृत्त होने वाले गुण से वृद्धि का बाध हो जायगा। [तद्धितप्रकरण में भी] समर्थ का ग्रहण होने से सन्धिकार्य आदि युक्त से ही तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति होती है, और इसके विषय में 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है, और [वास्तव में] यह परिभाषा है ही नहीं यह भाव है। [मनो० वृद्धि तो गुण की अपवाद है, इसका समाधान करते हैं कि] गुण की अपवादभूत भी वृद्धि ऊहिनी शब्द के साथ [वृद्धि करने में] चरितार्थ हो चुकी है। [अतः बाधक नहीं होगा।]

तथा चोक्तं प्राक्—"इण ङिशोनामाद्गुणः सवर्णदीर्घत्वात्" इति ॥

चाग्तार्थत्वाच्चेति । तद्घटकोहिनीशब्दस्य कल्पितार्थेनाप्यर्थवत्त्वाभावेन तत्रैतत्सूत्राप्रवृत्तेश्चेत्यपि बोध्यम् ॥

खम् = ०, अगाः = ७, अष्टौ = ८, एकम् = १, द्विकम् = २, वामतो गणनया २१८७० भवन्ति, एतावन्तो गजाः, रथाः, त्रिघ्नैः = त्रिगुणितैः = ६५६१० संख्याका अश्वाः पञ्चघ्नैः = पञ्चगुणितैः = १०९३५० संख्याकाः पदातयः यस्यां सेनायां वर्तन्ते सा एकाक्षौहिणी उच्यते । मूले—**अन्तरङ्गेणेति** । पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूपान्तरङ्गत्वेन लोकन्यायसिद्धेनेत्यर्थः । समासे संहिताया नित्यत्वेन इन्-प्रत्ययोत्पत्तिपर्यन्तविलम्बासम्भवादिति भावः । **तद्विषये**=तद्धितविषये । वस्तुतः सा परिभाषा नास्त्येवेत्यत आह—**असत्त्वाच्चेति** । **तद्घटकेति** । अक्षौहिणीघटक—ऊहिनीशब्दस्येत्यर्थः । **कल्पितार्थेनेति** । समासे समुदायस्यैवार्थवत्त्वम्, अवयवस्य कल्पितमर्थवत्त्वम्, तच्चात्र नास्ति, इन्प्रत्ययस्य समासादेवोत्पत्तेरिति भावः । **एतत्सूत्राप्रवृत्तेश्चेति** । ननु 'अक्षादि०' इतिवचनस्य वार्त्तिकत्वेन 'सूत्र' इत्युक्तिरसङ्गता इति चेन्न, 'क्रतूक्थादि०' (पा०सू० ४।२।६०) इति सूत्रभाष्ये 'वार्त्तिकसूत्रिक' इत्युदाहरणात्, 'सूत्राच्च कोपधात्' (पा० सू० ४।२।६५) इति सूत्रभाष्येऽपि 'संख्याप्रकृतेः सूत्रवाचकादिति वाच्यम्' यथा 'अष्टक' इति, नेह 'माहावार्त्तिकः' इत्युक्तेः 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' इति सूत्रभाष्ये 'न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तन्ते' इति

[शब्द०] [प्राचीनों द्वारा उपपादित जो समुदाय] उसका घटक ऊहिनी शब्द कल्पित अर्थवत्ता से भी अर्थवान् नहीं है (क्योंकि समास के बाद 'इनि' होता है अतः पहले उसकी अर्थवत्ता नही है] इस लिये वहाँ इस सूत्र=वार्त्तिक की प्रवृत्ति नहीं होगी–यह भी समझना चाहिये । (विशेष संस्कृत-व्याख्या में देखें ।) [मत्तो०] जैसा कि कहा गया है 'इट्, ङि, शी—इनमें सवर्णदीर्घ का बाध करके 'आद्गुणः' से गुण ही होता है ।' (अर्थात् अयज+इन्द्रम् आदि में वाक्य-संस्कार-पक्ष में अयज+इट्+इन्द्र में गुण और सवर्णदीर्घ दोनों प्राप्त हैं; इनमें अपवाद भी सवर्णदीर्घ का बाध करके गुण की प्रवृत्ति होती है । उसी प्रकार यहाँ भी गुण ही होगा वृद्धि नहीं हो सकेगी । अतः ऊहिनी के साथ ही समास उचित है । अक्षौहिणी सेना के विषय में महाभारत में यह लिखा है—

"अक्षौहिण्याः प्रमाणन्तु खगाष्टैकद्विकैर्गजैः ।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ॥

अर्थात् २१८७० हाथी और इतने ही रथ, तीन गुने=६५६१० घोड़े और पाँच गुने=१०९३५० पैदल सिपाही जिसमें हैं उसे अक्षौहिणी सेना कहा जाता है ।]

स्वादीरेरिणोः । इरेरिण्योरिति क्वाचित्कोऽपपाठः । स्वैरीति णिन्यन्तस्यास्त्रियां वृद्धयभावप्रसङ्गात् । स्वैरिणीत्यत्र तु ङीपः प्रागभागमादाय वृद्धिर्बोध्या । यत्तु व्याचख्युः—लिङ्गविशिष्टपरिभाषयेति, तन्निष्फलम् ॥

प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु । अत्रोहशब्दः कश्चित्प्रक्षिप्तो भाष्यादौ तु न दृश्यत इति प्राञ्चः । इदानीन्तनपुस्तकेषु तु भाष्यवार्तिकयोरूहशब्दो दृश्यत एव ।

नानर्थकस्येति । उपस्थितस्यार्थस्य शब्द प्रति विशेषणत्वसम्भवे त्यागायोगादिति भावः । सोरदेवस्त्वाह—"व्रश्च—" (पा० सू० ८।२।३६) इति सूत्रे राजेः पृथग् भ्राजिग्रहणमिह ज्ञापकमिति ।

भाष्याच्च वार्त्तिकेऽपि सूत्रव्यवहारदर्शनेन 'अक्षादूहिन्यामुपसंख्यानमि' ति वार्त्तिकस्य सूत्रपदेन ग्रहणे नासङ्गतिरिति तद्धितप्रकरणे शब्दरत्ने द्रष्टव्यमित्याहुः ।

मूले—अपपाठ इति । 'ईरिणी' इति ङीबन्तपाठे तद् लिंगकरूपे वृद्ध्यनापत्तेरिति भावः ।

[मनो०] स्वादीरेरिणोः । (स्व के अकार के बाद ईर और ईरिन् शब्द परे रहते दोनों के स्थान पर वृद्धि होती है ।] 'ईरेरिण्योः' यह कहीं-कहीं अशुद्ध पाठ है अर्थात् ङीप्-विशिष्ट ईरिणी अशुद्ध है, क्योंकि स्वैरी [स्वेन ईरितुं शीलम् अस्य इस विग्रह में 'सुप्य-जातौ णिनिस्ताच्छाल्ये' से विहित] णिनि-प्रत्ययान्त अस्त्री= स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अर्थात् पुंल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में वृद्धि न होने की स्थिति आ जायेगी । स्वैरिणी यहाँ ङीप् के पूर्ववर्त्ती अंश [स्व+ईरिन्] को लेकर वृद्धि समझनी चाहिये । [अतः ईरिणी—पाठ व्यर्थ है ।]

जो यह व्याख्या करते हैं—'प्रतिपादिक के ग्रहण में लिङ्ग-विशिष्ट का भी ग्रहण होता है' इस परिभाषा से कार्यनिर्वाह होगा, वह निष्फल है ।

('प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु' वार्त्तिक का विवेचन—प्र शब्द से ऊह, उढ, ऊठि, एष और एष्य शब्द परे रहते दोनों के स्थान पर वृद्धि एक आदेश होता है ।) इस वार्त्तिक में किसी के द्वारा ऊह शब्द प्रक्षिप्त है, भाष्य आदि में नहीं देखा जाता है—ऐसा प्राचीन विद्वान् कहते हैं । परन्तु इस समय के समस्त ग्रन्थों में भाष्य एवं वार्त्तिक में 'ऊह' शब्द दिखाई ही देता है । (इसलिये यहाँ भी इसका उल्लेख है ।)

'अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता है ।' उपस्थित अर्थ की शब्द के प्रति विशेषणता सम्भव होने पर इसे छोड़ना ठीक नहीं है, यह भाव है । सीरदेव [परिभाषा ग्रन्थ के लेखक] तो यहाँ—'व्रश्चभ्रस्जसृजमृज-राजि-भ्राजिच्छषां षः' इस सूत्र में राज् धातु से अलग भ्राजि का ग्रहण इस परिभाषा में ज्ञापक मानते हैं ।

नन्वेतदयुक्तं—फणादिना राजिना साहचर्यात् तथाभूतस्यैव षत्वार्थतया भ्राजिग्रहणस्योपक्षीणत्वादिति चेत्, विभ्राट् विभ्रागिति रूपद्वयं हि साध्यं तच्च व्रश्चादिसूत्रे "राजृ" इति पठित्वाऽपि सुसाधम्। एकस्य भ्राजतेर्ऋकारस्य प्रागपि दातुं शक्यत्वात्—ऋभ्राज इति।

ज्ञापकमिति। भ्राजौ राजेरपि सत्त्वेन राजिग्रहणेनैव सिद्धेस्तद् व्यर्थं सज्ज्ञापकमिति भावः। **तथाभूतस्यैवेति**। फणादेरेवेत्यर्थः। **राजृ इति पठित्वेति**। न चैवमनुबन्धनिर्देशाद्राराष्टीत्यादौ यङ्लुकि षत्वं न स्यादिति वाच्यम्, यङ्लुकश्छान्दसत्वात् "श्तिपा शपा" इत्यस्यानित्यत्वाच्च, भाष्ये

प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु। **दृश्यत इति**। एवञ्चोहशब्दघटितमेव वार्त्तिकं साध्विति तदभिप्रायः। ऊढवान्—इत्येतद्घटक-ऊढ-शब्दस्य कथं न ग्रहणमिति प्रतिपादयितुमाह मूले—**अर्थवद्ग्रहण** इति। एवञ्च तद्घटकोढशब्दस्य ग्रहणाभावेन न प्रौढवान्

[**शब्द०**] भ्राज् में राज् के भी होने से राज् से ही भ्राज् का ग्रहण सिद्ध होने से वह व्यर्थ होकर ज्ञापक बनता है—यह भाव है। [इनका भाव यह है कि भ्राज में राज् है, अतः व्याप्य राज् से व्यापक भ्राज् का भी ग्रहण सम्भव है, पुनः अलग सिद्ध करता है कि 'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्।' भ्राज् का राज् अनर्थक है। उल्लेख यह अतः ऊढवान् में ऊढ मान कर वृद्धि नहीं हो सकती।]

शंका—[**मनो०**] यह उपर्युक्त ज्ञापन कथन ठीक नहीं है क्योंकि राज धातु के साहचर्य के कारण उसी प्रकार की फणादि-गणीय ही भ्राज धातु षत्व के लिये है अतः भ्राजिग्रहण उपक्षीण होजाता है [भाव यह है कि फणादि राज् का षत्व होता है इसी प्रकार फणादि ही भ्राज् का भी षत्व हो अन्य का न हो, इसके लिये सूत्र में भ्राजि का ग्रहण है अतः उसे परिभाषा का ज्ञापक नहीं मानना चाहिये)—ऐसा यदि कहो तो नहीं कह सकते क्योंकि विभ्राट् और विभ्राक् ये दो रूप सिद्ध करने हैं ये तो 'व्रश्च भ्रस्ज' सूत्र में 'राजृ' को पढ़ कर भी सिद्ध किये जा सकते हैं क्योंकि (सूत्र में) भ्राज के पहले ऋकार दिया जा सकता है अर्थात् 'ऋभ्राज' पढ़ा जा सकता है। (राज से इसका ग्रहण नहीं होगा राजृ से ऋ भ्राज का ग्रहण न होने से षत्व न होकर कुत्व होगा तब विभ्राक् रूप बनेगा। तब भ्राजृ का ग्रहण होगा तब षत्वादि होकर विभ्राट् यह भी बनेगा) [**शब्द०**] उस प्रकार से (ऋयुक्त) पाठ में भी अनुबन्ध का निर्देश होने से 'राराष्ट्रि' आदि यङ्लुक् में (व्रश्च० सूत्र से) षत्व नहीं हो सकेगा—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि यङ्लुक् छान्दस=वैदिक प्रयोगों के लिये हैं, और—

'श्तिपा शपानुबन्धेन निर्दिष्टं यद् गणेन च।

यह परिभाषा अनित्य है, और भाष्य में यह 'श्तिपा शपानुबन्धेन०' परिभाषा

"भ्राजभास—" (पा० सू० ७।४।३) इति विकल्पस्य वाचनिकतया ऋकारस्य आत्मनेपदमात्रफलकतया वक्ष्यमाणत्वेन तत्स्थानेऽकारस्य सुपठत्वाच्च ।

तस्यानुक्तत्वाच्च । एतेन—फणादित्वेन ग्रहणे गणेन ग्रहणाद्यङ्लुकि न स्यादित्यपास्तम् । गणेन निर्देशाभावाच्च । राट्, विभ्राट्—इत्यादौ राजृत्वं तु भूतपूर्वगत्या । राशब्दपूर्वकजृधातोः क्विपि निष्पन्नराजृशब्दे नपुंसके न षत्वं, सूत्रे राजृ इत्यनुनासिकस्य पाठात् ।

इत्यादीनां साधुत्वमिति बोध्यम् । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषायां ज्ञापकमाह मूले—**व्रश्चेति । भ्राजौ राजेरपीति** । अत्र अपि शब्दः पूर्वान्वयी—भ्राजावपीति भावः । भ्राजिधातौ घटकतया राजिधातुरप्यस्ति । एवञ्च भ्राजि इत्यनेनैव राजेरपि ग्रहणसम्भवे सति पृथग् राजिग्रहणं व्यर्थीभूय परिभाषायां ज्ञापकं भवतीति भावः । मूले—

है ही नहीं (अतः षत्व में बाधा ही नहीं है) । इस प्रकार (पूर्वोक्त तीन दोषों के कारण)—'फणादि है' इस रूप से ग्रहण करने में (फणादि) गण से ग्रहण होने के कारण यङ्लुक् में प्रयोग नहीं हो सकता—यह कथन निरस्त हो गया । और गण से इसका निर्देश भी नहीं है । (क्योंकि जहाँ गणबोधक शब्द का साक्षात् उच्चारण है वहीं गण से निर्दिष्टत्व माना जाता है । फणादि ऐसा नहीं है ।) राट्, विभ्राट् आदि में तो 'साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिराश्रीयते' इसके अनुसार राजृत्व है । रा शब्दपूर्वक जृ धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुये राजृ शब्द में नपुंसक में षत्व नहीं होता है, क्योंकि 'व्रश्च०' इस सूत्र में 'राजृ' इस अनुनासिक (ऋकार) का पाठ है । (भाव यह है कि अनुनासिक होने के कारण 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से ऋ की इत्संज्ञा और लोप हो जाने के कारण ऋकाररहित राज् का षत्व होता है ।) [मनो०] और 'भ्राजभास-दीपजन० (पा० सू० ७।४।३) इसमें 'अन्यतरस्याम्' के द्वारा विकल्प के स्पष्टतया उक्त होने से (भ्राजृ के) ऋकार का केवल आत्मनेपद फल है, ऐसा आगे (चुरादिगण में) कहा जाने वाला होने से इस ऋ के स्थान पर अकार भी पढ़ा जाना सम्भव है ।

[भाव यह है कि 'भ्राजृ' में ऋ अनुबन्ध का क्या फल है ? ऋदित् होने से चङ् परे रहते 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' से उपधाह्रस्व का निषेध फल नहीं हो सकता क्योंकि 'भ्राजभास' इस सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' के द्वारा उपधाह्रस्व का विकल्प स्पष्ट शब्दों में कहा गया है । दूसरा फल अनुदात्तेत् मानकर आत्मनेपद करना हो सकता है, परन्तु यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यह कार्य तो 'अ' अनुबन्ध लगाकर भी सम्भव है ।]

तस्मात् सीरदेवोक्तं ज्ञापकमपि सम्यगेव। प्रैष्य इति। एषसाहचर्या-देष्योऽपि अनव्ययं गृह्यते। तेन ण्यन्तादिषेः क्त्वो ल्यपि पररूपमेव न तु वृद्धिः। प्रेष्य गतः॥

सुपठत्वाच्चेति। एवञ्च "भ्राजभास" इति सूत्रे भ्राजिग्रहणं न कार्य-मिति बोध्यम्। **सीरदेवार्क्तमात।** अत्रारुचिवीजं तु व्रश्चादिसाहचर्येण धातुसञ्ज्ञकराजेर्ग्रहणं स्यादिति भ्राजिग्रहणस्यावश्यकत्वम्। किञ्च भ्राज-न्तर्गतराजेर्न ऋकारानुबन्धत्वं तस्य समुदायानुबन्धत्वादिति।

उपक्षीणत्वादिति। एक-प्रयोजनसाधनेन कृत्यकृत्यत्वादिति भावः। **एतेनेति।** श्तिपा शपानुबन्धेन—इत्यादि-परिभाषायाः वस्तुतोऽभावेनेत्यादिपूर्वोक्तदोषत्रयेणेत्यर्थः। **अत्र**=सीरदेवोक्तज्ञापने। **आवश्कत्वमिति।** भ्राज्—इत्येतद्घटक-राज -इत्यस्य धातुत्वाभावेन तस्य ग्रहणासम्भवः। **तस्य**=अनुबन्धभूत-ऋकारस्य। मूले—**एषसा-हचर्यंति।** अनव्यय-'एष' साहचर्यम् 'एष्य' इत्यस्यापि अनव्ययरूपत्वं बोधयति। तेन ल्यवन्तेऽव्ययतया न वृद्धिरिति बोध्यम्। 'इष इच्छायाम्' तुदादिः, 'इष गतौ दिवादिः, इष आभीक्ष्ण्ये क्र्यादिः' एषां घञि ण्यति च एषः, एष्यः इति रूपे, तत्र पर-रूपे प्राप्तेऽनेन वृद्धिरिति बोध्यम्। प्रवत्सतरेति—इति वार्त्तिकं निरूपयति। **अत्र**=अस्मिन् वार्त्तिके। **विरुद्धमिति।** एवञ्च यथाश्रुतशब्दानां योगे एव वृद्धि-रुचितेति तदभिप्रायः॥

[शब्द०] और इस प्रकार 'भ्राज-भ्रास०' इस सूत्र में 'भ्राज' का ग्रहण नहीं करना चाहिए, ऐसा समझना चाहिये। [मनो०] उपर्युक्त हेतुओं से सीरदेव के द्वारा कहा गया ज्ञापक भी ठीक ही है। [शब्द०] यहाँ सीरदेवोक्त में अरुचि का कारण यह है—व्रश्चादि के साहचर्य से धातुसंज्ञक ही राज् का ग्रहण होता है। इस लिये 'भ्राज्' का ग्रहण आवश्यक है। [क्योंकि भ्राज् के अन्तर्गत राज् की धातुसंज्ञा नहीं होती है।] और भी; भ्राज् के अन्तर्गत आने वाले राज् का अनुबन्ध ऋकार नहीं हो सकता क्योंकि यह ऋ तो समुदाय का अनुबन्ध है। [इस लिये राज् के ग्रहण से भ्राज् का ग्रहण नहीं हो सकता। तब यह सार्थक है। उसे परिभाषा का ज्ञापक मानना ठीक नहीं है, यह भाव है।]

[मनो०] प्रैष्यः। एष—यह अव्ययभिन्न है, इसके साहचर्य के कारण 'एष्य' यह भी अव्ययभिन्न ही लिया जाता है। इसका फल यह है कि ण्यन्त इष् धातु से क्त्वा का ल्यप् करने पर [अव्यय हो जाने से 'एङि पररूपम्' से] पररूप ही होता है, [प्रस्तुत वचन से] वृद्धि नहीं होती है। प्रेष्य गतः—भेजकर चला गया।

प्रवत्सतरेति। अत्र कालापानुसारिणो वत्सरशब्दमपि पठित्वा वत्सरे देयमृणं वत्सरार्णमित्युदाहरन्ति । अपरे तु वत्सशब्दमपि पठन्ति, तत्सर्वं भाष्यादिविरुद्धम् ॥

"अन्तादिवच्च" (पा० सू० ६।१।८५) इहैकः पूर्वपरयोरित्यनुवर्तते, यथासंख्यं चेत्यभिप्रेत्याह–पूर्वस्यान्तवदिति। स्थानिवत्सूत्रेणैव गतार्थमिदं सूत्रम्।

भाष्यादिविरुद्धमिति। तदनुक्तत्वादिति भावः ॥

गतार्थमिदमिति । पूर्वपरयोरिति द्विवचननिर्देशेनोभयोरपि प्रत्येकं स्थानित्वादिति भावः। एवं च प्राच्छंतीत्यादौ विसर्गवारणाय ज्ञापकाश्रयण-

---

'उपसर्गादृति धातौ' पा० सू० ६।१।९१ इत्येतस्य लक्ष्यभूते 'प्राच्छंतीत्यादौ-वृद्धिप्रसङ्गमाशंक्य निराकर्तुम् 'अन्तादिवच्च' पा० सू० ६।१।८५ इति सूत्रमुपस्था-पयति। योऽयंमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत् स्यादिति–वृत्तिः। ननु वृत्त्युक्तो-ऽर्थोऽसम्भव अत आह मूले—**इहेति**। **इदम्**=अन्तादिवच्चेति सूत्रम्। कथं गतार्थ-

---

'प्रवत्सतर-कम्बलवसनार्ण-दशानामृणे'–वार्तिक का विवेचन। प्र, वत्सतर आदि शब्दों के बाद ऋण शब्द रहने पर दोनों के स्थान पर वृद्धि एक आदेश होता है।] यहाँ कालाप व्याकरण के अनुयायी विद्वान् 'वत्सर' शब्द का भी पाठ करके 'वत्सरे देयम् ऋणम्' [इस अर्थ में] 'वत्सरार्णम्' ऐसा उदाहरण देते हैं। दूसरे विद्वान् वत्स शब्द का भी पाठ मानते हैं। यह सभी भाष्यादि से विरुद्ध है। [शब्द०] क्योंकि भाष्य और वार्त्तिक में ऐसा कुछ नहीं कहा गया है, यह भाव है।

'अन्तादिवच्च' [पूर्व और पर दोनों के स्थान में जो एक आदेश होता है वह पूर्व का अन्तवत् और पर का आदिवत् होता है।] इस सूत्र में 'एकः पूर्वपरयोः' इसकी अनुवृत्ति होती है और यथासंख्य अन्वय होता है, अर्थात् पूर्व का अन्त के साथ और पर का आदि के साथ, इसी आशय से [सिद्धान्तकौमुदी में] कहते हैं (दोनों के स्थान पर जो एक आदेश होता है वह)—पूर्व का अन्तवत्=अन्तिम अवयव के तुल्य होता है—इत्यादि। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इसी सूत्र से यह गतार्थ है। [इसकी आवश्यकता नहीं है।]

[शब्द०] क्योंकि 'पूर्वपरयोः' इस प्रकार के द्विवचन के निर्देश से [पूर्व और पर] दोनों में प्रत्येक स्थानी हो जाता है, [अतः उनमें रहने वाले धर्म का अतिदेश उसी सूत्र से सम्भव है, यह सूत्र अनावश्यक है] यह (दीक्षित का) का भाव है। और इस प्रकार [स्थानिवद्भाव का आश्रयण कर लेने पर] 'प्राच्छंति' आदि में विसर्ग का वारण करने लिए [उभयथर्क्षु आदि निर्देश को] ज्ञापक मानने की आवश्यकता भी नहीं'

न चाल्विध्यर्थमिति भ्रमितव्यम्। अस्याप्यल्विधावनिष्टत्वात्। अन्यथा 'अयजे इन्द्रमि'त्यत्र सवर्णदीर्घापत्तेः। तथा च वार्त्तिकम्—"न वा अताद्रूप्यातिदेशात्" इति।

मपि न कार्यम्, यतस्तत्र स्थानिवत्त्वेन रेफान्ते पदत्वं दुर्लभम्, तस्य तत्स्थानिधर्मत्वाभावात्। आनुमानिकवचनकल्पनया प्र ऋच्छ इत्यस्य प्रार्च्छादेशे तु समुदाये प्रशब्दधर्माणां स्थानिवत्त्वेन लाभेऽपि प्रारित्यत्र तदलाभेन रेफे पदान्तत्वस्य दुर्लभत्वादिति बोध्यम्। **न चेति**। "वर्णाश्रये विधावन्तादिवद्भावप्रतिषेधो वाच्य" इत्यस्य प्रत्याख्यानमेतत्—"न वा वक्तव्यं ताद्रूप्यस्य

तेत्यत आह— **पूर्वपरयोरिति**। **एवञ्चेति**। तेन सूत्रेण गतार्थत्वे चेत्यर्थः। **तत्र**= प्राच्छंतीत्यादौ। **तस्य**=पदत्वस्य। **तत्स्थानिधर्मत्वाभावात्**=समुदायनिष्ठत्वेऽपि एकादेशस्थानिधर्मत्वाभावात्, समुदायस्य प्रत्येकं च स्थानित्वं किन्तु न हि तत्र पदत्वमस्तीति भावः। मूले **अस्यापीति**। अन्तादिवच्चेति सूत्रस्यापीति। **अन्यथेति**। अल्विधावस्य प्रवृत्तिस्वीकारे इत्यर्थः। **वर्णाश्रय** इति। वर्णमात्रवृत्ति-धर्माश्रिते विधावन्तादिवद्भावो न भवतीति तदर्थः। **एतत्**='न वा अताद्रूप्यातिदेशात्' इति वचनम्। **ताद्रूप्यस्य**=अन्तादिवर्णमात्रवृत्तिधर्मस्य। **तदर्थः**='न वेति वचनस्यार्थः।

है क्योंकि वहाँ [प्राच्छंति में रेफान्त प्रार् में] स्थानिवद्भाव के द्वारा पदत्व दुर्लभ है क्योंकि पदत्व उस [एकादेश] के स्थानी का धर्म नहीं है। अर्थात् समुदाय का प्रत्येक स्थानी है, उनमें पदत्व दुर्लभ है। आनुमानिक वचन की कल्पना से 'प्रऋच्छ' इसके 'प्राच्छं आदेश में तो समुदाय में प्र शब्द के धर्मों [पदत्वादि] का स्थानिवद्भाव से लाभ हो जाने पर भी केवल 'प्रार्' इसमें उसका लाभ नहीं होता है [क्योंकि प्रार् तो आदेश यह नहीं है], इसलिए रेफ में पदान्तत्व दुर्लभ है, ऐसा समझना चाहिये।

[मनो०] अल्विधि [में स्थानिवद्भाव] के लिये यह सूत्र है, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये क्योंकि अल्विधि में इस 'अन्तदिवच्च' सूत्र की भी प्रवृत्ति इष्ट नहीं है। यदि ऐसा नहीं मानेंगें तो 'अयजे+इन्द्रम' यहाँ भी सवर्णदीर्घ होने लगेगा। [अयज+इ का अयजे यह रूप है, इस 'ए' का स्थानी 'इ' मानकर सवर्णदीर्घ होने लगेगा।] जैसा कि वार्तिक है—"अथवा वर्णमात्रवृत्ति धर्म का अतिदेश नहीं होता है।' **[शब्द०]** 'वर्णाश्रयविधि में अन्तादिवद्भाव का प्रतिषेध कहना चाहिये, इस वचन का प्रत्याख्यान यह [मूलोक्त] वचन है—'अथवा नहीं कहना चाहिये' क्योंकि ताद्रूप्य=तद्रूपता=वर्णमात्रवृति धर्म अर्थात् अन्त और आदि वर्णमात्र में रहने वाले धर्म का अतिदेश इस [अन्तादिवच्च] सूत्र से नहीं होता है'

=वर्णमात्रवृत्तिधर्मस्यानेनातिदेशाभावादिति तदर्थः। पूर्वस्य परस्य च समुदायस्यान्तादिभ्यां वर्णाभ्यां पृथगवस्थिताभ्यां ये व्यवहाराः प्रातिपदिकत्व-सुबन्तत्व-प्रत्ययत्वादयस्ते कृतैकादेशस्यापि भवन्तीत्यर्थात्। अत एव तुक्यसिद्धवचनं चरितार्थम्। अन्यथाऽधीत्येत्यादौ ह्रस्वत्वप्रयुक्ततुक्सिद्धेरसिद्धवचनवैयर्थ्यं स्पष्टमेव। अत एव खट्वाभिरित्यत्रैस् नेति दिक्। **अत्र चेति।**

सूत्रार्थमाह—**पूर्वस्येति**। **पृथगवस्थिताभ्यामिति**। सन्धिकार्य-प्रवृत्तेः पूर्वं स्वरूपेऽवस्थिताभ्यामित्यर्थः। **इत्यर्थात्**=सूत्रस्यार्थादिति भावः। **अत एव**=उक्तविधापेऽवस्थिताभ्यामित्यर्थः। **इत्यर्थात्**=सूत्रस्यार्थादिति भावः। **अत एव**=उक्तविधार्थाङ्गीकारादेव, वर्णमात्रवृत्तिधर्मानतिदेशादेवेत्यर्थः। **तुक्यसिद्धेति**। 'षत्वतुकोरसिद्धः' (पा० सू० ६।१।८६) इति सूत्रमित्यर्थः। **अन्यथेति**। वर्णमात्रवृत्तिधर्मस्यापि

यह उक्त वार्तिक का अर्थ है। ['वर्णमात्र' इस कथन से समुदायवृत्ति धर्म के अतिदेश में बाधा नहीं है।] पूर्व और पर के समुदाय के, पृथक् अवस्थित अन्त और आदि वर्णों से जो व्यवहार—प्रादिपादिकत्व, सुवन्तत्व, प्रत्ययत्व आदि होते हैं, वे व्यवहार [पूर्व-पर-समुदाय के स्थान पर] किये गये एक आदेश के भी होते हैं—यह सूत्र का अर्थ है। [वर्णमात्रवृत्ति धर्म का अतिदेश नहीं होता है] इसीलिए तुक् की कर्त्तव्यता में एकादेश की असिद्धि का वचन ('षत्वतुकोरसिद्धः') चरितार्थ होता है। अन्यथा [यदि वर्णमात्रवृत्ति धर्म का भी अतिदेश मान लिया जाय तो] 'अधीत्य' आदि में (आदिवद्भाव से) ह्रस्वत्वप्रयुक्त तुक् सिद्ध हो जाने के कारण 'षत्वतुकोरसिद्धः' इस असिद्धत्वबोधक वचन की व्यर्थता स्पष्ट ही है। (भाव यह है कि अधि+इङ्+क्त्वा=ल्यप्=में सवर्णदीर्घ करने पर अधी+य बनता है यहाँ ह्रस्वपरत्व न होने से तुक् नहीं हो सकता, इसलिये 'षत्वतुकोरसिद्धः' इस वचन से एकादेश को असिद्ध मानकर ह्रस्वत्व-प्रयुक्त तुक् होता है। यदि वर्णमात्रवृत्ति धर्म ह्रस्वत्व का भी अतिदेश सम्भव होता तो उसी से दीर्घ में ह्रस्वत्व का अतिदेश करके तुक् हो जाता। असिद्धत्व-वचन व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि वर्णमात्रवृत्ति धर्म का अतिदेश नहीं होता है इसीलिये) 'खट्वाभिः' इसमें [भिस् का] ऐस् नहीं होता है। अन्यथा खट्व+टाप्=आ, सवर्णदीर्घ करने पर खट्वा+भिस् यहाँ दीर्घ आदेश में ह्रस्वत्व के अतिदेश से 'अतो भिस ऐस्' द्वारा भिस् का ऐस् होने लग जाता।]

[प्रार्च्छति—में प्र+ऋच्छति यहाँ 'उपसर्गादृति धातौ' सूत्र से वृद्धि और रपर करने पर उक्त रूप होता है। इसमें 'अन्तादिवच्च' सूत्र से प्रार् के रेफ के पदत्व का अतिदेश मानकर अर्थात् 'प्र' या 'उप' में रहने वाले पदत्व का अतिदेश 'प्रार्' 'उपार' में मानकर 'रेफ' के पदान्त हो जाने से 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से रेफ का विसर्ग प्राप्त होता है। परन्तु अन्तवद्भाव से पदान्त में रेफ का विसर्ग नहीं

न विसर्ग इति। एतच्च 'सुखार्त' इत्यादावपि तुल्यम्। अत्र च कार्यकालपक्षे बहिरङ्गत्वादसिद्धत्वमपि बोध्यम्। न च "नाजानन्तर्ये" इति निषेधः, यत्रान्तरङ्गे बहिरङ्गे वा अचोरानन्तर्यं तत्रेति हरदत्तपक्षे तत्प्राप्त्यभावात् यत्र पश्चात्प्रवर्तमानेऽजानन्तर्यमिति कैयटमते

सुखार्त इत्यत्र प्रार्च्छतीत्यत्र चेत्यर्थः। आद्ये विशिष्य ऋतशब्दस्य तृतीया-समाससापेक्षत्वेनान्त्ये उपसर्गत्वधातुत्वादिसापेक्षत्वेन वृद्धेर्बहिरङ्गत्वादिति भावः। अचोरानन्तर्यमिति। अचोऽजानन्तर्यनिमित्तमित्यर्थः। पश्चात्प्रवर्त-

---

अतिदेशस्वीकारे। अत एत —वर्णमात्रवृत्तिधर्मानतिदेशे। मूले–न विसर्ग इति। अन्तवदभावेन पदान्तरेफस्य न विसर्गः, 'उभयथर्क्षु' (पा० सू० ८।३।८) 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' (पा० सू० ३।२।१८६) इत्यादिनिर्देशात्। एवं च प्राच्छंत्यादौ न

होता है क्योंकि पाणिनि ने 'उभयथर्क्षु' और 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' ये निर्देश किये हैं। यहाँ भी उभयथा+ऋक्षु और च+ऋषि में गुणरूप एकादेश करके अन्तवद्भाव द्वारा रेफ का पदान्तत्व होने से विसर्ग होना चाहिये था। परन्तु पाणिनि ने विसर्ग नहीं किया है। अतः इसी को प्रमाण मान कर अन्यत्र भी विसर्ग नहीं करना चाहिये, यह अभिप्राय है। यही संकेत यहाँ प्रस्तुत है—]

[मनो०] विसर्ग नहीं होता है। यह स्थिति ['ऋतेन च तृतीयासमासे'–वार्तिक के उदाहरण] 'सुखार्तः' आदि में भी समान ही समझनी चाहिये। अर्थात् इसमें भी पूर्वान्तवद्भाव से विसर्ग नहीं होता है। और यहाँ 'सुखार्तः' में कार्यकालपक्ष में बहिरङ्ग होने से असिद्धता भी समझनी चाहिये। [अर्थात् ऋत शब्द और तृतीया-समास की अपेक्षा रखने वाला वृद्धि आदेश पदान्त रेफ की अपेक्षा रखने वाले विसर्ग-विधान को दृष्टि में बहिरंग होने से असिद्ध हो जाता है।] [शब्द०] यहाँ='सुखार्तः' और 'प्रार्च्छति' में—यह अर्थ है। प्रथम=सुखार्तः में विशेषरूप से 'ऋत' शब्द और तृतीयासमास की अपेक्षा होती है और अन्त्य—'प्रार्च्छति' आदि में उपसर्गत्व, धातुत्व आदि की अपेक्षा होती है। इस लिये अधिक अपेक्षा वाली होने से वृद्धि बहिरंग है। [विसर्ग अन्तरंग है। अतः वृद्धि के असिद्ध हो जाने से विसर्ग नहीं हो पाता है।]

[मनो०] "नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः" (अचों के आनन्तर्यनिमित्तक कार्य में बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है) इस परिभाषा के कारण बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी—ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अन्तरङ्ग या बहिरंग शास्त्र की प्रवृत्ति में अचों का आनन्तर्य है।

[शब्द०] अच् का अजानन्तर्यनिमित्त है—यह अर्थ है, (मनो०) वहीं प्रस्तुत परिभाषा प्रवृत्त होती है, इस हरदत्त के मत में इस परिभाषा की प्राप्ति सम्भव

निषेधाप्राप्तेः । बह्वपेक्षत्वेन बहिरङ्गायां वृद्धावजानन्तर्यं सत्त्वेऽपि पश्चात्प्रवर्तमाने तदभावात् ॥

माने इति । अन्तरङ्गे इत्यर्थः ।

अत्र च "षत्वतुकोः—" (पा० सू० ६।१।८६) इति सूत्रस्थं तुग्ग्रहणं ज्ञापकम् । अन्यथाऽधीत्येत्यादौ ल्यप्प्रवृत्तये पूर्वं समासे तत्र जाते संहिताया नित्यत्वात् ल्यबुत्पत्तिपर्यन्तमप्यसंहितयाऽवस्थानासम्भवेन एकादेशे ल्यपि तुगपेक्षया पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयापेक्षैकादेशस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वेन तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । तत्र पश्चात् प्रवर्तमाने तुक्यचोऽन्यानन्तर्यंनिमित्तक-कार्यत्वान्न दोषः । **अजानन्तर्यमिति** । अचोऽन्यानन्तर्यमित्यर्थः ॥

विसर्गः । कथं बहिरङ्गत्वमत आह—**आद्ये** इति । **अत्रचेति**। कैयटोक्तपक्षे इत्यर्थः ।

अन्यथेति । परिभाषाऽनङ्गीकारे । **तत्र** = समासे । **तद्वैयर्थ्यम्**—तुग्ग्रहण-वैयर्थ्यम् । **तत्र** = अधीत्यादौ । अत्र मूलकारः कैयटोक्तपक्षमेवाश्रयतीति बोध्यम् ।

रहने पर भी (अर्थात् प्राच्छेति आदि में बहिरंग वृद्धि में अज्निष्ठ-अजानन्तर्य-निमित्तक कार्य होने से इस परिभाषा की प्रवृत्ति सम्भव रहने पर भी) जहाँ बाद में प्रवृत्त होने वाले अन्तरंग में अजानन्तर्य (अजव्यवहितत्व) है, (वहाँ बहिरंग परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है ।) इस कैयटमत में निषेध की प्राप्ति नहीं है । क्योंकि बहुत की अपेक्षा रखने वाली होने से बहिरङ्ग वृद्धि में अजानन्तर्य रहने पर भी (वृद्धि के) में बाद प्रवृत्त होने वाले अङ्गरंग में अजानन्तर्य नहीं है । (अतः निषेधक परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी । असिद्धत्व होगा । विसर्ग नहीं होगा ।)

[शब्द०] यहाँ परिभाषा में 'षत्वतुकोरसिद्धः' इस सूत्र में स्थित तुक्ग्रहण ज्ञापक है। यदि परिभाषा नहीं मानते हैं तो 'अधीत्य' इत्यादि में ल्यप् आदेश करने के लिये पहले समास होने पर (क्योंकि समास के बाद ही क्त्वा का ल्यप् होता है) समास में संहिता नित्य है इस कारण ल्यप् प्रत्यय की उत्पत्ति तक बिना संहिता के रहना सम्भव नहीं होता है, इस लिये (सवर्णदीर्घ रूप) एक आदेश कर देने पर ल्यप् के विषय में तुक् की अपेक्षा रखने वाला सवर्णदीर्घ रूप एकादेश बहिरङ्ग होने से असिद्ध हो जाता है, इस कारण (असिद्धत्व के लिये उस) तुक् का ग्रहण व्यर्थ होना स्पष्ट है । (व्यर्थ होकर वह ज्ञापित करता है 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्व-प्रक्लृप्तिः' ।) इस 'अधीत्य' में बाद में प्रवृत्त होने वाले तुक् में अच् का अन्यानतर्य-निमित्तक कार्य न होने से दोष नहीं है । अजानन्तर्य = अच् का अन्यानन्तर्य = अन्य का अव्यवधान—यह अर्थ है । (भाव यह कि अजानन्तर्यम्' में एकवचनान्त 'अचः' का 'आनन्तर्यम्' के साथ समास है, द्विवचनान्त 'अचोः' का नहीं, जैसा कि हरदत्त मानते हैं । इस लिये अच् का अन्य के अव्यवधान को मानकर होने वाले

उपसर्गेणेति। यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रत्येव गत्युपसर्गसञ्ज्ञा इत्युक्तत्वादिति भावः।

प्रार्षभीयतीति। "शरोऽचि" (पा० सू० ८।४।४९) इति द्वित्वनिषेधः।

प्रेजत इति। एजृ दीप्तौ। कम्पनार्थस्तु परस्मैपदी। एजते=कम्पते इति तु प्राचां व्याख्यानं प्रामादिकमेव। एङ्येङित्येव सिद्धे पररग्रहणमुत्तरार्थम्, रूपग्रहणं तु चिन्त्यप्रयोजनम्। एङि पर इत्येव सिद्धेः। यथा "अमि पूर्वः"

यत्क्रियेति। यदर्थक्रियायुक्ता इत्यर्थः। इत्युक्तत्वादिति। भाष्यकारादिभिरिति शेषः।

ननु 'उपसर्गाद् ऋति' इति न्यासेनैव निर्वाहः, उपसर्गेण धातोराक्षेपादिति चेदत्रोच्यते—प्रस्तुतसूत्रे योगविभागः, 'धातौ' इति योगविभागेन पुनर्वृद्धिः'

कार्य में बहिरंग परिभाषा नही लगती है। असिद्धत्व नहीं होता है। तभी तुक् का असिद्ध मानना सार्थक होता है।)

[मनो०] [उपसर्ग के कारण ही धातु का आक्षेप सिद्ध रहने पर 'धातौ' यह योगविभाग पुनः वृद्धि करने के लिये है। अतः इसके लक्ष्यों में 'ऋत्यकः' से वैकल्पिक प्रकृतिभाव नहीं होता है। उपसर्ग होने से धातु का आक्षेप कैसे सिद्ध होता है—इसके लिये मनोरमा में कहते हैं—] जिस क्रिया से युक्त=जिस क्रिया के अर्थ से युक्त होते हैं उसी के प्रति गतिसंज्ञक और उपसर्गसंज्ञक होते हैं, [शब्द०] ऐसा भाष्यकारादि द्वारा 'भूवादयो धातवः' ३।१।१ सूत्र पर कहा जा चुका है, यह शेष है।

[वा सुप्यापिशलेः। अवर्णान्त उपसर्ग से परे ऋकारादि सुबन्त धातु [नामधातु] रहने पर विकल्प से वृद्धि एक आदेश होता है। प्र+ऋषभीयति। प्रस्तुत सूत्र से वैकल्पिक वृद्धि और रपर करने पर] प्रार्षभीयति। [मनो०] [यहाँ 'अचो रहाभ्यां द्वे' से द्वित्व प्राप्त होने पर] 'शरोऽचि' से द्वित्व का निषेध हो जाता है।

['एङि पररूपम्। अवर्णान्त उपसर्ग से परे एङादि धातु रहने पर पररूप एक आदेश होता है। मनो०] प्रेजते। एजृ दीप्ति अर्थ वाली है। कम्पनार्थक एज धातु तो परस्मैपदी है। एजते=कम्पते=काँपता है, यह प्राचीनों का कथन प्रमादयुक्त ही है। [प्र+एजते यहाँ प्रस्तुत सूत्र से दोनों के स्थान पर पररूप एक आदेश होता है। यह वृद्धि का अपवाद है।] 'एङि एङ्' [अवर्णान्त उपसर्ग से परे एङादि धातु रहने पर दोनों के स्थान पर एङ् हो जाता है] इसी से निर्वाह सम्भव हो जाने पर 'पर' का ग्रहण उत्तर सूत्रों (१) ओमाङोश्च, (२) उस्यपदान्तात्, (३) अतो गुणे' के लिये है; रूप के ग्रहण का प्रयोजन चिन्तनीय है क्योंकि 'एङि परः' [एङ् परे रहते परवर्ती एक आदेश होता है] इसीसे निर्वाह

(पा० सू० ६।१।१०७) इति।

उत्तरार्थमिति। तेनाद्यश्वर्यात्, भिन्द्युः, पचन्ति—इत्यादि-सिद्धिः। "अतो गुणे" इत्युत्तरार्थम्" इति क्वाचित्कोऽपपाठः। चिन्त्य-प्रयोजनमिति। न च शिवायेत्यत्र "अणोप्रगृह्यस्य—" (पा०सू० ८।४।५७) इत्यनुनासिकत्वे तदनुकरणे ततः परमोमित्यस्य "ओमाङोश्च" (पा० सू० ६।१।९५) इति पररूपेऽनुनासिकाभावार्थं परस्य यादृशं रूपं तादृशं यथा स्यादिति रूपग्रहणम्। स्पष्टं चेदम् "ऐऔच्" इत्यत्र भाष्ये कैयटे चेति वाच्यम्, "तृज्वत्क्रोष्टुः" (पा०सू० ६।१।९५) इति सूत्रभाष्योक्तरीत्या

तेन 'ऋत्यकः' (पा सू६।१।१२८) इति पाक्षिकः प्रकृतिभावो नेति अनुसन्धेयम्।

वा सुप्यापिशलेः (पा० सू० ६।१।९२) इत्यस्य लक्ष्यं प्रस्तौति मूले—**प्रार्षभी-यतीति**। अत्र 'अचो रहाभ्याम्' (पा० सू० ८।४।४९) इति षकारस्य द्वित्वं कथं नेति अत आह मूले—**शरोऽचीति**।

'एङि पररूपम्' (पा० सू० ६।१।९४) इत्यस्य लक्ष्यं प्रस्तौति मूले—**प्रेजते-**

सम्भव है। जैसा कि 'अमि पूर्वः' यहाँ है। [**शब्द०**] रूप का ग्रहण उत्तर सूत्रों [ओमाङोश्च, उस्यपदान्तात्, अतो गुणे] में अनुवृत्ति के लिये है इस कारण अद्यश्र्यात् [अद्य + आ + ऋश्यात्' मे 'ओमाङोश्च' से पररूप के बाद गुण होता है।] भिन्द्युः [भिद् + लिङ् = झि = जुस् = उस्, यामुट् = यास् आगम्, श्नम् = न–अलोप भिन्द् + यास् + उस् सलोप के वाद भिन्द्या + उस् में 'उस्यपदान्तात्' से 'आ' का पररूप होता है।] पचन्ति [पच् + लट् = झि = अन्ति, शप् = अ पच + अन्ति में 'अतो गुणे' से पररूप होता है।] 'अतो गुणे' इस उत्तर सूत्र के लिये है, यह कहीं कहीं अशुद्ध पाठ है। [क्योंकि अन्य दो सूत्रों में इसका सम्बन्ध नहीं हो सकेगा।] रूपग्रहण का प्रयोजन चिन्तनीय है। 'शिवाय' इसमें 'अणोऽप्रगृह्यस्या-नुनासिकः' इससे अनुनासिक होने पर उस [शिवाय] के अनुकरण करने पर उस [अनुकरणविषयीभूत शिवाय शब्द] से परे 'ओम्' इसका 'ओमाङोश्च' इस सूत्र से पररूप [की प्राप्ति] में अनुनासिक न हो इसके लिये—परवर्त्ती का जिस प्रकार का रूप होता है। उसी प्रकार का रूप जैसे हो सके—इसके लिये 'रूप' का ग्रहण है [अर्थात् पूर्ववर्त्ती 'शिवाय' के अनुनासिक अकार में सादृश्यप्राप्त अनुनासिक न हो, परवर्ती का जैसा अनुनासिक रूप है, वैसा ही हो—इसके लिये 'रूप' का ग्रहण है। केवल 'पर' रहने पर यहाँ अनुनासिक भी हो सकता था] —ऐसा 'ऐऔच्' इस माहेश्वर सूत्र के भाष्य और कैयटप्रदीप में स्पष्ट है—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इस सूत्र की भाष्योक्ति रीति से

गुणस्य शब्दत्वादिवद्रूपत्वाभावेन रूपग्रहणेनाव्यावृत्तेः। रूपशब्देन च श्रावणज्ञानविषयोऽवयवसंस्थानवान्। अत एव तृज्वत्सूत्रे न हि स्वरो रूपवानित्युक्तम्। वर्णरूपावयवसंस्थानमेव शब्दस्य रूपं तद्वत्तयैव शब्दस्य रूपमिति व्यवहारः, स्वरस्तु न तद्वानिति शब्दत्वादिवन्न स शब्दस्य रूपमिति तदर्थः। तत्र सूत्रे रूपातिदेशे स्वरातिदेशो न स्यादित्युपक्रम्येदमुक्तम्। परः किंगुणको भवतीत्याकांक्षायां स्थानिगुणक इति लभ्यते। तत्रोभयगुणकस्यासम्भवादेकस्थान्यन्तरतमत्वात्तद्गुणकस्यैवोपस्थित्या च तस्यैव सिद्धेश्च। परशब्देन प्रयोगस्थस्योपस्थितस्य ग्रहणं, प्रयोगे च गुणो भेदक एव। शास्त्रे परमुच्चा-

---

इति। **उत्तरार्थमिति**। 'एङि पररूपम्' इत्युत्तरवर्तिषु (१) ओमाङोश्च' (२) उस्यपदान्तात्, (३) अतो गुणे (पा० सू० ६।१।९५-९७) इति सूत्रेष्वनुवृत्त्यर्थम् परग्रहणम्। **तेन**=अनुवर्तनेन। **गुणस्य**=अनुनासिकत्वह्रस्वत्वादः शब्दत्वादिवत् शब्दरूपत्वाभावेनेत्यर्थः। **अव्यावृत्तेरिति**। गुणविशिष्टस्येति भावः। **अत एव**= तस्याग्रहणादेव। **तस्यैव**=शुद्धस्यैव, **भेदकः**=विभिन्नकार्यसम्पादकः। **अत एव**= सति सम्भवे उभयगुणकस्य स्वीकारादेव। **स्वरित** इति। स्वरितस्य समाहाररूपतयोभयगुणकत्वात् सम्भव इति भावः।

शब्दत्व आदि के समान [अनुनासिक] गुण भी रूप नहीं होता है इस लिये 'रूप'-ग्रहण के द्वारा उस [अनुनासिकत्व गुण] का रोका जाना सम्भव नहीं है। और 'रूप' शब्द से श्रावण [श्रवणग्राह्य] ज्ञान का विषय अवयवसंस्थानवाला [लिया जाता] है। [रूप से अवयवसस्थानवान् का ग्रहण होता है] इसीलिये 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इस भाष्य में 'स्वर रूपवाला नहीं होता है' ऐसा कहा गया है। वर्णरूप अवयवसंस्थान ही शब्द का रूप होता है, तद्वत्ता=वर्णरूप अयवयव संस्थान वाला होने के कारण ही 'शब्द का रूप' यह व्यवहार होता है परन्तु स्वर तो तद्वान्=अवयवसंस्थान वाला नहीं होता है, इस लिये जैसे शब्दत्व शब्द का रूप नहीं होता है वैसे ही वह [अनुनासिकत्वादि गुण] भी रूप नहीं है, यह उस भाष्य का अर्थ है। इस [तृज्वत्०] सूत्र में रूप का अतिदेश होने पर स्वर का अतिदेश नहीं होगा—'यह उपक्रम करके यह [पूर्वोक्त] कथन है। 'परवर्ती' किस गुणवाला होता है? इस आकाङ्क्षा में [दोनों] स्थानियों के गुणवाला होता है–ऐसा ज्ञात होता है। उस [पूर्वोक्त लक्ष्य] में दोनों स्थानियों के गुणवाला सम्भव नहीं है और एक स्थानी अर्थात् परवर्ती निरनुनासिक स्थानी का सदृशतम होता है इस कारण उस परवर्त्ती निरनुनासिक= शुद्ध के गुणवाले की ही उपस्थिति होने से और उस शुद्ध की सिद्धि होने से [अर्थात् अनुनासिक की व्यावृत्ति हो जाने से] 'पर' शब्द से प्रयोग में स्थित उपस्थित का ग्रहण होता है। और प्रयोग में गुण भेदक—विभिन्न व्यवहारों का

रितो गुणोऽभेदको न तु प्रयोगे इति परशब्देनोपस्थितानानुनासिकस्यैवैक-स्थान्यन्तरतमत्वाद्विधिः। यत्र तु स्थानिद्वयगुणकसम्भवस्तत्र स एव। अत एव स्वरितान्तसुब्रह्मण्याशब्दस्य निपातत्वादुदात्तेन ओंशब्देन "ओमाङो—" (पा०सू० ६।१।९५) इत्येकादेशः सुब्रह्मण्योमिति स्वरित इति "तस्यादित—"(पा० सू० १।२।३२) इति सूत्रे भाष्यकैयटयोरुक्तम्। "ऐऔज्" इति सूत्रे एकादेशे "आद्गुणः" (पा०सू० ६।१।८७) इत्यादौ दीर्घग्रहणं कर्तव्यं त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा मा भूवन्निति वार्त्तिककृतोक्ते "अकः सवर्णे–" (पा०सू० ६।१।१७१) इत्यत्र योगविभागेन "एकः पूर्वपरयोः" (पा०सू० ६।१।८४) इति यो निर्दिष्टः स दीर्घ इति व्याख्याने पचन्तीत्यत्र दोषमाशङ्क्यैकदेशिनोक्तं—रूपग्रहणात् परस्य यादृशं रूपमित्यादि भाष्ये, तत्तु

सम्पादक ही होता है। लेकिन शास्त्र में उच्चारित गुण अभेदक होता है। न कि प्रयोग में, [अर्थात् शास्त्र में उच्चारित गुण कभी कभी विवक्षित नहीं भी होता है परन्तु प्रयोग में तो उच्चारित गुण विवक्षित ही होता है] इस लिए 'पर' शब्द से उपस्थित अननुनासिक=शुद्ध का ही, एक स्थानी के अन्तरम=सदृशतम होने से, विधान होता है। परन्तु जहाँ दोनों स्थानियों के गुणोंवाला सम्भव रहता है वहाँ दोनों के गुणों वाला ही होता है। [सम्भव रहने पर दोनों के गुणों वाला ही होता है] इसीलिये [सुब्रह्मणि साधु—इस अर्थ में यत् प्रत्यय होने से तित् प्रत्ययान्त मानकर] स्वरितस्वरान्त 'सुब्रह्मण्या' शब्द का, निपात होने से उदात्त 'ओम्' शब्द के साथ 'ओमाङोश्च' (पा० सू० ६।१।९५) सूत्र से पररूप एकादेश 'सुब्रह्मण्योम्' यह स्वरित होता है, यह तस्यादितः (पा०सू० १।२।३२) इस सूत्र पर भाष्य और कैयट प्रदीप में कहा गया है। [भाव यह है कि स्वरित में उदात्त एवम् अनुदात्त दोनों का समाहार होने से दोनों के गुणोंवाला सम्भव हो जाता है।) 'ऐ औच्' [मा०सू० ४] इस मूत्र पर भाष्य में कहा गया है—'[एकादेश का विधान करने वाले] 'आद्गुणः' (पा०सू०६।१।८७) इत्यादि सूत्रों में 'दीर्घ' का ग्रहण करना चाहिये जिससे तीन मात्रावाले और चार मात्रा वाले आदेश न हों—' ऐसा वार्त्तिककार द्वारा कहे जाने पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (पा०सू०६।१।१७१) इसमें योग-विभाग के द्वारा 'एकः पूर्वपरयोः' (पा० सू० ६।१।८४) इस [के अधिकार] में जो निर्दिष्ट है वह दीर्घ होता है' ऐसे व्याख्यान मे 'पचन्ति' यहाँ दोष की आशंका करके एकदेशी ने कहा—'[रूप-का ग्रहण करना चाहिये क्योंकि] 'रूप' का ग्रहण होने से परवर्त्ती का जैसा रूप होता है वैसा ही हो [दूसरे प्रकार का न हों]—वह सब तो ह्रस्वत्व के रूपत्व के अभिमान से कहा गया है। [अतः सिद्धान्तकथन नहीं है।] सिद्धान्तपक्ष में तो

नियोगोऽवधारणमिति । यदाहुः—

अनवक्लृप्तौ यदा दृष्टः पररूपस्य गोचरः ।

ह्रस्वत्वस्य रूपत्वाभिमानेन । सिद्धान्ते तु स्पष्टार्थमेव रूपग्रहणमिति तत्रैव भाष्ये सूचितम् । "इको गुण—" (पा०सू० १।१।३) इति सूत्रस्थकैयटस्तु चिन्त्य एव । तत्र हि—इक्परिभाषाऽभावे जनेर्गुणोऽनुनासिकः स्यादिति शङ्किते पररूपेण शुद्धो भविष्यतीति भाष्ये उक्तम् । तस्य मदुक्तरीत्या उपपत्तेः । "ऐऔच्" इतिसूत्रस्थकैयटस्तु पूर्वपक्षोपपादकत्वान्न स्वार्थसाधक इति दिक् ॥

'एवे चानियोगे' इति वार्त्तिकस्थं नियोगपदार्थं निरूपयति **मूले-नियोगोऽवधारणमिति** । मूले **एतेनेति** । अवधारणार्थस्वीकारेण । **पूर्वनिपातापत्तिरिति** । विशेषणत्वेन वार्त्तिकशब्दस्यैव पूर्वनिपातप्रसङ्ग इति भावः ।

'रूप' का ग्रहण स्पष्टता के लिये है—यह वहीं [ऐऔच्—इस सूत्र पर महाभाष्य में] सूचित किया गया है । 'इको गुणवृद्धी' (पा०सू० १।१।३) इस सूत्रभाष्य पर कैयट का कथन तो चिन्त्य ही है । क्योंकि वहाँ भाष्य में "इक् परिभाषा के अभाव में जन् धातु का गुण अनुनासिक होने लगेगा—ऐसी शंका करने पर पररूप के द्वारा शुद्ध वर्ण हो जायगा—यह भाष्य में कहा गया है ।

[भाव यह है कि 'एको गुणवृद्धि' इस परिभाषा में इक् के ग्रहण के तीन प्रयोजन बताये गये हैं—(१)आकार की निवृत्ति, (२) सन्ध्यक्षर की निवृत्ति। और (३) व्यंजन की निवृत्ति । अर्थात् इन तीनों को गुण या वृद्धि का स्थानी नहीं माना जा सकता । यदि यह परिभाषा नहीं होगी तो 'जन्' के 'न्' का 'अ' भी गुण माना जायगा और उस 'न्' के अनुनासिक होने से 'अ' भी अनुनासिक होने लगेगा । समाधान यह दिया गया कि "जनेर्डः" (पा० सू० ३।२।९७) इससे जो 'ड' प्रत्यय होता है, उसके अवशिष्ट 'अ' के साथ पररूप होने के कारण यह 'अ' भी शुद्ध हो जायगा । इस कारण 'मन्दुरजः' आदि में अनुनासिक 'अ' नहीं होगा ।]

इस भाष्य की उपपत्ति मेरी रीति से हो जाती है । 'ऐ औच्' [मा० सू० ४] इस सूत्रभाष्य का कैयट-प्रदीप तो पूर्वपक्ष का उपपादक है । इस लिये यह स्वार्थ का साधक नहीं हो सकता, यह दिग्दर्शन है ।

[मनो०] ['एवे चानियोगे' अवर्ण के बाद 'एव' शब्द रहने पर नियोगभिन्न अर्थ में पररूप एक आदेश होता है'—यह वार्त्तिक का अर्थ है ।] नियोग= अवधारण=अवश्यम्भाव है । जैसा कि कहा गया है—

अनवक्लृप्ति=अनिश्चय अर्थ में जब 'एव' शब्द देखा जाता है तब वह पररूप

एवस्तु विषयो वृद्धेर्नियमोऽयं यदा भवेत् ॥ १ ॥ इति ।

एतेन 'नियोजनं=नियोगो=व्यापार इति' व्याख्यानं परास्तम् । "यदैव पूर्वं ज्वलने शरीरे" "ममैव जन्मान्तरपातकानाम्" इत्यादिप्रयोगविरोधात्, उदाहृतवृत्तिस्थश्लोकविरोधात् । "लङः शाकटायनस्यैव" (पा० सू० ३।४।१११) "तपस्तपःकर्मकस्यैव" (पा० सू० ३।१।८८) इत्यादिसौत्रप्रयोगविरोधाच्च । यत्तु—श्लोकवार्त्तिकमिदमित्याहुः, तद्रभसात् ।

शकन्ध्वादिष्विति । शकन्ध्वादिविषये तत्सिद्ध्यनुगुणं पररूपं वाच्यमित्यर्थः । अत एवाह—तच्च टेरिति ॥

नावक्लृप्तौ यदेति पाठे न छन्दोभङ्गः । तद्रभसादिति । वृत्तौ भवमिति व्याख्याने वार्त्तिकशब्दस्य पूर्वनिपातापत्तिरित्याहुः ।

का गोचर=विषय बनता है । किन्तु जब नियम अर्थ में 'एव' शब्द देखा जाता है तब वह वृद्धि का विषय बनता है । [अतः पररूप होने पर अनिश्चय अर्थ और वृद्धि होने पर निश्चय अर्थ की प्रतीति होती है ।]

इस वचन के द्वारा—'नियोजन=नियोग=व्यापार है—'यह व्याख्यान निरस्त हो गया । कारण यह भी है 'यदैव पूर्वं ज्वलने शरीरे' [यदा+एव] 'ममैव जन्मान्तरपातकानाम्' [मम+एव] इत्यादि [वृद्धियुक्त] प्रयोगों से विरोध है । और ऊपर उदाहृत वृत्तिस्थ श्लोक से भी विरोध है । और 'लङः शाकटायनस्यैव' (पा० सू० ३।४।१११) 'तपस्तपःकर्मकस्यैव' (पा०सू० ३।१।८८) इत्यादि में सूत्रसम्बन्धी [वृद्धिघटित] प्रयोगों के साथ विरोध होता है ।

[शब्द०] ['अनवक्लृप्तौ यदा दृष्टः' इस मूलस्थ पाठ में नौ अक्षर होने से छन्दोभंग है ।] 'नावक्लृप्तौ यदा दृष्टः' ऐसा पाठ करने पर [आठ अक्षर होने से] छन्दोभंग नहीं है । [शब्दरत्न के इस कथन से यह ज्ञात होता है कि मूल में 'अनवक्लृप्तौ यदा दृष्टः' ऐसा ही पाठ था । अतः प्रौढमनोरमा के कुछ संस्करणों में 'नावक्लृप्तौ' यह पाठ रखना प्रामादिक है । क्योंकि यदि यही पाठ होता तो शब्दरत्नकार को परामर्श देने की आवश्यकता नहीं पड़ती ।]

[मनो०] किसी ने इस कारिका को श्लोकवार्त्तिक कहा है वह रभस से [शीघ्रता से अविचारित प्रयोग] है । [शब्द०] वृत्ति में होने वाला—इस व्याख्यान में वार्त्तिक शब्द का पूर्वनिपात होने लगेगा । [कारण यह है कि उस अर्थ में वार्त्तिक शब्द विशेषण बन जाता है अतः यौगिक अर्थ में उसका पूर्वनिपात प्रसक्त होगा । परन्तु शब्दरत्नकार का यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि पूर्वनिपात प्रकरण अनित्य है । अतः पूर्वनिपात नहीं भी होगा ।]

[मनो०] 'शकन्धु' शब्द जिस गण का आदि शब्द है उस गण में पठित शब्दों

यदि तु "आत्" इत्यधिकारादकारस्यैवेष्येत तर्हि 'मनीषा' इति न सिद्ध्येत् ।

केचित्तु—मनः पतच्छब्दयोः पृषोदरादित्वादन्त्यलोपेऽकारस्यैव पररूपमाहुः ।

शकानां = देशविशेषाणामन्धुः = कूपः—शकन्धुः ।

विषय इति । शकन्ध्वादिष्विति विषयसप्तमीति भावः । **अत एवाहेति ।** ईदृशव्याख्यानतो लब्धमाहेत्यर्थः ।

आहुरिति । अत्रारुचिवीजं तु वचनद्वयव्यापारो व्यर्थः, पृषोदरादित्वाट्टिलोपेनैव सिद्धेरिति । **देशविशेषाणामिति ।** देशविशेषशब्दस्य यौगिकत्वेन जातिवाचकत्वाभावात् "विशेषणानां चाजातेः" (पा० सू० १।२।५२) इति

का सिद्धि के अनुरूप पररूप कहना चाहिये—यह इस वार्तिक का अर्थ है। इसीलिए [सिद्धान्त-कौमुदी में] कहते हैं—और वह पररूप 'टि' का ही होता है। ['अचोऽन्त्यादि टि' पा० सू० १।४।६४ के अनुसार अन्त्य अच् तथा अन्त्य अच् और और उसके बाद वाला हल्—इनका समुदाय 'टि' कहा जाता है। इस केवल टि का पररूप होता है। सम्पूर्ण शब्द का नहीं।]

[शब्द०] शकन्ध्वादिषु' यह विषय अर्थ में सप्तमी है—यह भाव है। इसीलिये सिद्धान्तकौमुदी में कहा है—इस मनोरमोक्त व्याख्यान से लब्ध अर्थ वहाँ कहा है—यह अर्थ है।

[मनो०] यदि [आद् गुणः' पा० सू० ६।१.८७ घटक] 'आत्' इस अधिकार से केवल 'अ' का ही पररूप इष्ट है तब तो 'मनीषा' यह नहीं सिद्ध हो सकता। [कारण यह है कि मनस् + ईषा यहाँ 'अ का नहीं अपितु अस् = टि का पररूप होने पर ही रूप सिद्ध होता है।]

कुछ लोग [प्रक्रियाकौमुदीकार आदि]—मनस् और पतत् शब्दों को 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' ६।३।१०९ के अन्तर्गत मानकर अन्त्य = 'स्' और 'त्' का लोप करके केवल 'अ' का ही पररूप होता है—ऐसा कहते हैं।

[शब्द०] इस कथन में अरुचि का वीज तो यह है कि दो वचनों का व्यापार करना व्यर्थ है क्योंकि पृषोदरादि होने से टि का लोप कर देने से ही रूप सिद्ध हो जाता है। [पृषोदरादिगण में पठित शब्दों की निपातनात् सिद्धि की जाती है। इनमें (१) एकबार अन्त्य का लोप करना (२) पुनः अ का पररूप करना—इन दो व्यापारों की कल्पना में गौरव स्पष्ट ही है।]

[मनो०] शक = देशविशेष का अन्धु = कुआँ। **[शब्द०]** देशविशेषवाचक शब्द यौगिक है, अतः जातिवाचक नहीं हैं अतः 'विशेषणानां चा जातेः' (पा० सू०

कर्काणां राज्ञामन्धुः। बदरीवाचो तु कर्कन्धूशब्दो दीर्घान्तः "अन्धूदृन्भू—(उ० सू०)" इत्यादिना उणादिषु वक्ष्यते।

अटतीत्यटा पचाद्यच्। कुलस्य अटा कुलटा। ईष उञ्छे, ईष गत्यादिषु। आभ्यां—"गुरोश्च हलः (पा० सू० ३।३।१०३) इत्यप्रत्यये ईषा। मनस ईषा मनीषा। हलस्य ईषा हलीषा=लाङ्गलदण्डः। मूर्द्धन्योपधः।

न निषेध इति बोध्यम्। कुलस्याटेति। कर्मणः शेषत्वविवक्षायां षष्ठी। अन्यथा कर्मण्यणि कुलाटीति स्यादिति भावः।

शकन्ध्वादिष्विति वार्त्तिकलक्ष्यं प्रस्तौति मूले—शकानामिति। कुलटेति। कुलानीति कर्मणः उपपदत्वं स्वीकार्य समासाङ्गीकारे 'कर्मण्यण्' इति सूत्रेण अणि, णित्वान्ङीपि कुलाटीति रूपापत्तिरिति भावः।

१।२।५२) इससे निषेध नहीं होता है—यह समझना चाहिए। [भाव यह है कि शकानां राज्ञां निवासः—इस अर्थ में 'शक' शब्द से 'अण्' प्रत्यय होता है और उसका लुप्=लोप हो जाता है। इसलिए लुप् प्रत्ययार्थ के विशेषण 'शक' शब्द में भी प्रकृति=मूलभूत शब्द के सदृश ही लिङ्ग और वचन होते हैं—अतः 'देशविशेषाणाम्' यह बहुवचन ठीक ही है।]

[मनो०] कर्कसंज्ञक राजाओं का अन्धु=कुआँ। बेर=फलवाची कर्कन्धू शब्द दीर्घ ऊकारान्त है 'अन्धूदृन्भू०' [उणादि सूत्र १।९४] इत्यादि सूत्र से उणादि में कहा जायगा।

[मनो०] कुलटा की व्युत्पत्ति—अटति इति अटा [अट् धातु से—] 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (पा० सू० ३।१।१३४) सूत्र से अच् प्रत्यय [और स्त्रीलिङ्ग में टाप्=आ प्रत्यय करने पर] अटा। कुलस्य अटा [यहाँ समास और विभक्ति का लोप करने पर कुल+अटा यहाँ 'अ' का पररूप करके]—कुलटा बनता है। [घर घर घूमने वाली व्यभिचारिणी स्त्री]।

[शब्द०] कुलस्य अटा—इस विग्रह में कर्म की शेषत्वविवक्षा में षष्ठी विभक्ति है। ऐसा न मानने पर [कुलानि अटति ऐसा मानने पर कर्म उपपद मानकर 'कर्मण्यण्' (पा० सू० ३।२।१) सूत्र से अण् प्रत्यय करने पर ['टिड्ढाणञ्' पा० सू० ४।१।१५ से ङीप् होने से और णित् मानकर उपधावृद्धि होने से] 'कुलाटी' ऐसा होने लगता, यह भाव है।

[मनीषा की सिद्धि मनो०] 'उञ्छ अर्थ में इष् धातु है' 'गति आदि अर्थों में ईष् धातु है'। इन दोनों धातुओं से 'गुरोश्च हलः' (पा० सू० ३।३।१०३)—सूत्र द्वारा 'अ' प्रत्यय करने [टाप्=आ करने] पर 'ईषा' यह बनता है। मनसः ईषा [—इस विग्रह में समास करके विभक्तिलोप करने पर मनस्+ईषा यहाँ

यस्तु—

प्रभुशङ्करयोरीशः स्त्रियां लाङ्गलदण्डके ॥

इति रभसकोशात् तालव्योपधस्तस्मिन् परे "आद्गुणः" (पा० सू० ६।१।८७) इत्येव भवति–हलेशा । पतन्नञ्जलिर्यस्मिन् नमस्कार्यत्वादिति पतञ्जलिः ।

मार्तण्ड इति । केचिदत्र सवर्णदीर्घमाहुः । 'परा मार्ताण्डमास्थत्', 'पुनर्मार्ताण्डमाभरत्', 'विश्वो मार्ताण्डोऽव्रजदि'त्यादि–वैदिकप्रयोगास्तेषामनुकूलाः ॥

ओत्वोष्ठयोरिति । अकारस्य ओत्वोष्ठयोश्चैकत्र समासे स्थितौ सत्या-

---

टि=अस् का पररूप करने पर] 'मनीषा' [शब्द बनता है । इसी प्रकार] हलस्य ईषा [–यहाँ भी समास विभक्तिलोप और टि का पररूप करने पर]— हलीषा [बनता है इसका अर्थ है—] लाङ्गलदण्ड । [हल के बीच में लगी हुई लकड़ी । लोकभाषा में 'हरीस' कहा जाता है ।] इसकी उपधा में मूर्धन्य 'ष' है ।

'प्रभू और शंकर अर्थ में 'ईश''शब्द है और लाङ्गलदण्ड अर्थ में स्त्रीलिङ्ग (ईशा) शब्द है ।'

इस रभसकोष के अनुसार तालव्य शकार-उपधा वाला जो 'ईशा' शब्द है, इसके परे रहने पर तो 'आद्गुणः' (पा० सू० ६।१।८७) इससे गुण ही होता है— हलेशा । [अतः पररूपघटित 'हलीशा' यह अशुद्ध समझना चाहिये ।] नमस्कार योग्य होने के कारण गिर रही हैं अञ्जलियाँ जिस पर—वह 'पतञ्जलि' है । [बहुव्रीहि समास करने पर विभक्ति का लोप हो जाने पर पतत्+अञ्जलि यहाँ। टि=अत् का पररूप होने पर 'पतञ्जलि' [महाभाष्य के प्रणेता ।] बनता है ।

मार्तण्डः । [शकन्ध्वादिगण आकृतिगण है अतः आकृति देखकर अपठित शब्द भी इसी में मानकर पररूप करना चाहिये । इसका उदा० मार्तण्डः है । मृतम् अण्डं यस्य सः—इस विग्रह में समास और विभक्तिलोप करने पर मृत+अण्ड इस स्थिति में सवर्णदीर्घ का बाध करके पररूप होने से 'मृतण्डः' बनता है । मृतण्डाद् आगतः इस अर्थ में अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि, रपर आदि कार्य करने पर 'मार्तण्डः' बनता है । मार्तण्ड=सूर्य ।]

कुछ लोग यहाँ सवर्णदीर्घ कहते हैं [और मृताण्डः यह मानते हैं]—इनके समर्थन में ये वैदिक प्रयोग हैं—'परा मार्ताण्डमास्थात्', 'पुनर्मार्ताण्डमारभत्', विश्वोमार्ताण्डोव्रजत्' ।

'समासघटक 'ओतु' और 'ओष्ठ' शब्द परे रहते विकल्प से पररूप होता है ।'

मिदं प्रवर्तते । तेनेह न, वृषलसुतौष्ठव्रणस्ते इति ।।

अव्यक्तशब्दं व्याचष्टे—ध्वनेरिति । अनुकरणस्येति । परिस्फुटाकारादिवर्णस्येति भावः । तस्य चानुकरणत्व किञ्चित्साम्येन बोध्यम् ।

यत्तु प्राचोक्तम—अतः किम् ? दकारान्ते मा भूदिति । यच्च व्याख्यातं—दकारान्त इति रूपान्तरोपलक्षणं वटक्, मरुत् इत्यादेरपीति, 'तन्निस्सारम् ।

किंचित्साम्येनेति । तदभावे हि भग्नदन्ताद्युच्चारिताव्यक्तशब्दे एव स्यादव्यक्तत्वं चार्थबोधाजनकत्वेनापि वक्तुं शक्यमित्याहुः ।

'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' (पा० सू ६।१।९८) इति सूत्रं स्पष्टयितुमाह मूले-अव्यक्तशब्दमिति ।

अकार का और ओतु तथा ओष्ठ की एक ही स्थान पर समास में स्थिति होने पर यह वार्तिक प्रवृत्त होता है । इस कारण यहाँ नहीं होता है-· ·लसुतौष्ठव्रणस्ते' । [हे वृपलसुत ! तुम्हें ओष्ठव्रण है । यहाँ समास नहीं, व्यास है । अलग-अलग पद हैं । अतः पररूप न होकर वृद्धि ही होती है ।]

['अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' पा०सू० ६।१।९८ ध्वनि के अनुकरण का जो 'अत्' शब्द इसके बाद 'इति' परे रहते पररूप एकादेश होता है । यह सूत्रार्थ है–] सूत्र में प्रयुक्त अव्यक्त शब्द की व्याख्या करते हैं–ध्वनि के।) अनुकरण का=परिस्फुट अकारादि वर्ण का—यह अर्थ है। कुछ सादृश्य लेकर उस ध्वनि को अनुकरण समझना चाहिये। (भाव यह है कि अस्पष्ट ध्वनि का अनुकरण स्पष्ट ध्वनि कैसे होगा, क्योंकि जैसा अनुकार्य होता है वैसा ही अनुकरण होता है ? इसका समाधान यह है कि यहाँ शब्दत्व अंश में ही समानता मानकर अनुकरणत्व समझना चाहिये, पूर्ण साम्य अनिवार्य नहीं है। [शब्द०] कुछ ही साम्य से अनुकरणत्व है। क्योंकि उस=अनुकरणत्व के अभाव में टूटे हुए दाँत वाले पुरुष आदि के द्वारा उच्चारित अव्यक्त शब्द के अनुकरण में ही (अनुकरणत्व) होगा, न कि ध्वनि के अनुकरण में अतः शब्दत्वादि कुछ ही अंश में साम्य लेना चाहिये। यहाँ अव्यक्तत्व अर्थबोध के अजनकत्वरूप से भी कहा जा सकता है, ऐसा कहते हैं। (इस कारण केवल टूटे हुए दाँत वाले पुरुष आदि के द्वारा उच्चारित शब्द में ही अव्यक्तत्व न हो, किसी भी ध्वनि में हो सके–इसीलिये कौमुदीप्रतिपादित अर्थ लेना चाहिये।)

[मनो०] किसी प्राचीन आचार्य ने जो यह कहा—'अत् का हो' यह किस लिए है ?। दकारान्त (=अद्) में पररूप न हो। (यह फल है।)' और जो यह व्याख्या की गई—'दकारान्त का न हो—यह अन्य रूपों का उपलक्षण है—वटक्, मरुत् इत्यादि का भी पररूप हो जाय।' ये दोनों बातें निस्सार हैं क्योंकि ('अत्

प्रश्नस्य' दान्त इत्युत्तरस्य च निरालम्बनत्वात्।

यत्तु व्याचख्युः—"अतो गुणे" (पा० सू० ६।१।९७) इत्यतोऽत इत्यनुवर्त्य शब्दाधिकाराश्रयणात्सिद्धमिति प्रश्नः। यदा जश्त्ववशाद्दान्तत्वं तदाऽपि स्यात्पुनरद्ग्रहणे तु श्रौततान्तत्वस्य विवक्षणान्नेत्युत्तरमिति।

तच्चिन्त्यम्।

निरालम्बनत्वादिति। अद्ग्रहणं तद्भिन्नव्यावृत्यर्थमित्यस्य वालैरपि सुज्ञेयत्वेनात किमिति प्रश्नस्य, दान्ते मा भूत्, वटक्, मरुदित्यत्र च मा भूदिति उत्तरस्य च निरालम्बनत्वमित्यर्थः। शब्दाधिकारेति। तदाश्रयणाच्चाच्छब्दस्येत्यर्थो भविष्यतीति भावः। तदाऽपि स्यादिति। एकदेशविकृतन्याये-नाच्छब्दत्वादिति भावः। जश्त्वशास्त्रस्येति। अनुकार्यानुकरणयोर्भेदे पदान्त-

---

का' यह किस लिए है—ऐसा) प्रश्न और दकारान्त का न हो—यह उत्तर—ये दोनों ही बातें निराधार हैं। (शब्द०) प्रश्न और उत्तर दोनों का कोई आलम्बन=आधार नहीं है, क्योंकि) 'अत्' का ग्रहण उससे भिन्न की व्यावृत्ति के लिए है—यह बात तो बालक=साधारण व्यक्ति भी सरलता से समझ सकता है इसलिए 'अत् का' यह किसलिये है ?' ऐसा प्रश्न करना और 'दकारान्त में न हो', तथा 'वटक्', 'मरुत्' इनमें भी न हो—यह उत्तर देना दोनों निराधार हैं, यह अर्थ है।

(मनो०) (किसी ने प्रश्न तथा उत्तर की) जो यह व्याख्या की है—'अतो गुणे' (पा० सू० ६।१।९७) सूत्र से 'अतः' इसकी अनुवृत्ति करके शब्द का अधिकार (अनुवृत्ति) मानकर सिद्ध है (अर्थात् 'अत्' इत्याकारक शब्द की अनुवृत्ति है न कि 'अत्' से बोध्य एकमात्रिक 'अ' की अनुवृत्ति होती है। अतः 'अत्' का पररूप सिद्ध हो जाता है।) इसलिए प्रश्न किया गया है। किन्तु जब जश्त्व के कारण दकारान्तत्व हो जाता है तब भी पररूप होने लगता [क्योंकि 'एकदेशविकृतम् अनन्यवत्' इस न्याय से 'अद्' में भी 'अत्' का ज्ञान सम्भव था। अतः पररूप सम्भव था, दुबारा 'अत्' का ग्रहण किस लिए किया गया, इसका उत्तर यह है कि] पुनः 'अत्' का ग्रहण करने पर तो श्रौत=सुनाई देने वाला तकारान्त ही विवक्षित है अतः [दकारान्त का पररूप] नहीं होता है [इसके लिए 'अत्' का ग्रहण है]—यह उत्तर है [शब्द०] ['अतो गुणे' सूत्र से अनुवृत्त 'अतः' का] शब्दाधिकार मानने से 'अत्' इस शब्दरूप का पररूप होता है, यह अर्थ होगा, यह भाव है। उस समय भी होगा क्योंकि दकारान्त=अद् में भी 'एकदेशविकृत अन्य के समान नहीं होता है' इस न्याय से 'अद्' में भी 'अत्' शब्द का ज्ञान हो जाता है, यह भाव है।

[मनो०] उपर्युक्त व्याख्यान भी चिन्तनीय है [शब्द०] क्योंकि अनुकार्य तथा अनुकरण में भेद में पदान्त होने के कारण जश्त्व करने पर भी—इतना आदि

जश्त्वशास्त्रस्यासिद्धत्वेन पररूपस्यैव प्रवृत्तेः। "नाम्रेडितस्य-" (पा० सू० ६।१।९९) इति निषेधे पटत्पटदित्युदाहरणस्यासम्बद्धत्वापत्तेश्च। तत्र हि भवदुक्तरीत्या प्राप्तिरेव नास्ति, दान्तत्वात्। एतेनानुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षया विभक्त्यभावेन गवित्ययमाहेतिवदपदत्वात् पटत् इतीत्यत्र जश्त्वं नेति ग्रन्थोऽपि प्रत्युक्तः, उत्तरग्रन्थविरोधात्।

तया जश्त्वेऽपीत्यादिः। तदसिद्धत्वेनात एव सत्त्वादिति भावः। ननु पुनरद्ग्रहणाज्जश्त्वासिद्धत्वमपि बाध्यतामत आह—**नाम्रेडितेति**। **उदाहरणस्य-** वृत्त्यादिस्थस्य। **अनुकार्यानुकरणयोरिति**। सर्वत्र जश्त्वप्राप्त्योदाहरणासम्भवाशङ्कायां ह्येतदुक्तं तैरिति बोध्यम्। **उत्तरग्रन्थेति**। नाम्रेडितस्येत्यस्य पटत्पटदितीत्युदाहरणपरग्रन्थेत्यर्थः। ननु स ग्रन्थो जश्त्वासिद्धत्वेन

में जोड़कर [**मनो०**] जश्त्व के विधायक शास्त्र के असिद्ध हो जाने से 'अत्' ही रहता है अतः पररूप की ही प्रवृत्ति होती है। [**शब्द०**] [अनुवृत्ति से निर्वाह के सम्भव रहने पर भी] पुनः इस सूत्र में 'अतः' का ग्रहण करने से जश्त्व की असिद्धि का बाध करिये [अर्थात् जश्त्व को सिद्ध ही मानिये। अतः वहाँ 'अद्' का पररूप नहीं होगा]—इसके लिए [**मनो०** में] कहते हैं—'नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा' (पा० सू० ६।१।९९) इससे (पररूप का) निषेध होने पर पटत्पटदिति यह वृत्ति आदि में स्थित उदाहरण असम्बद्ध होने लगेगा। कारण यह है कि (प्राप्ति रहने पर ही निषेध होता है परन्तु) आपके अनुसार तो पटत्पटद्+इति में पररूप की प्राप्ति ही नहीं है क्योंकि यह दकारान्त है। [अतः उस सूत्र के उदाहरणरूप में इसको मानना ठीक नहीं है। सर्वत्र जश्त्व की प्राप्ति रहने के कारण उदाहरण ही असम्भव हो जायगा—इस शंका समाधान कर रहे हैं—) इस पूर्वोक्त कथन से—अनुकार्य एवम् अनुकरण में अभेदविवक्षा करने से विभक्ति नहीं आयेगी इसलिये 'गवित्ययमाह' इसके समान पद न होने से [पदान्त न होने से] पटत्+इति इसमें जश्त्व नहीं होगा—इस ग्रंथ=कथन का भी खण्डन हो गया। [**शब्द०**] सर्वत्र जश्त्व की प्राप्ति के कारण (दकारान्त हो जाने से) उदाहरण असम्भव होने की आशंका में प्राचीनों ने ऐसा कहा है—ऐसा समझना चाहिये। [**मनो०**] क्योंकि उत्तर ग्रन्थ का विरोध है। [**शब्द०**] 'नाम्रेडितस्य०' (पा० सू० ६।१।९९) इस सूत्र का पटत्-पटदिति—इस उदाहरणपरक ग्रन्थ से विरोध है—यह अर्थ है।

उस (शंका-समाधानपरक) ग्रन्थ को—जश्त्व के असिद्ध हो जाने से—लगाना चाहिए। (भाव यह है कि जश्त्व के असिद्ध होने में तकारान्त की विवक्षा में 'अत्' ही रहता है, जिससे पररूपविधि प्राप्त होती है, अतः उसका निषेध संगत

जश्त्वस्यासिद्धतया पररूपेणैव बाधाच्च ।

ननु तदपि नित्यं तथा च कथं पररूपविरहेण प्रयोग इति चेन्न । अलौकिक प्रक्रियावाक्यमिदमिति स्वयमेव व्याख्यातत्वात् । संहिताया अविवक्षायां तत्सम्भवाच्चेति दिक् ॥

योज्य इति चेत्तत्राह—जश्त्वेति । तस्यासिद्धतया पररूपेणैव भवितव्यमिति जश्त्वस्याप्रवृत्तिलक्षणो बाधः । एवं च यदा जश्त्ववशाद्दान्तत्वमिति ग्रन्थासंगतिरिति सेयमुभयतः स्पाशा रज्जुरिति भावः ।

दिगिति । दिगर्थस्तु अपदान्तादित्यनुवृत्त्यैव जश्त्वविषये व्यावृत्तिसिद्धेः पुनरद्ग्रहणं व्यर्थमेव । एतेन पुनरद्ग्रहणं श्रौततान्तत्वविवक्षाद्वारा जश्त्वाविषयेऽभेदविवक्षायामेव यथा स्यान्न तु भेदविवक्षायां जश्त्वविषय इत्यर्थ·

होता है—) ऐसा यदि कहते हो तो इस पर (मनोरमाकार) यह कहते हैं–[मनो०] और जश्त्व के असिद्ध हो जाने से पररूप के द्वारा ही जश्त्व का बाध हो जाता है । [शब्द०] जश्त्व के असिद्ध होने से पररूप ही होना चाहिए, इस प्रकार जश्त्व का अप्रवृत्तिलक्षण बाध होता है । और इस प्रकार (जश्त्व की प्रवृत्ति न होने पर) 'जब जश्त्व के कारण दकारान्त हो जाता है' इस ग्रंथ की संगति नहीं होती है, इसलिये दोनों ओर बांधने वाली रस्सी है, दोनों कथनों में आपत्ति है, यह भाव है ।

[मनो०] पूर्वपक्ष—वह पररूप भी नित्य है, तब पररूप के बिना कैसे प्रयोग होगा अर्थात् पररूप-घटित ही प्रयोग होगा ? [उत्तरपक्ष–] ऐसा यदि कहो तो नहीं कह सकते, क्योंकि उन्होंने स्वयं यह व्याख्या की है वह लौकिक प्रक्रिया वाक्य है । और संहिता की अविवक्षा में वह दकारान्त प्रयोग भी सम्भव हो जाता है, यह दिग्दर्शन है । [शब्द०] दिक् पद का अर्थ तो यह है कि 'अपदान्तात्' इसकी अनुवृत्ति से ही जश्त्व के विषय में (पररूप की) व्यावृत्ति सिद्ध हो जाने से पुनः 'अद्' का ग्रहण व्यर्थ ही है । (अर्थात् अपदान्त में 'अत्' का ही पररूप होता है । इस प्रकार अपदान्त में पररूप और पदान्त में जश्त्व—इन दोनों का क्षेत्र अलग-अलग हो जाता है । इस स्थिति में अनुवृत्ति द्वारा ही 'अत्' का ज्ञान संभव हो सकता था, पुनः 'अत्' का ग्रहण करना व्यर्थ सिद्ध होता है ।) इस (कथन) से (इस सूत्र में) पुनः 'अत्' का ग्रहण—श्रौत तकारान्तत्व की विवक्षा के द्वारा जश्त्व के अविषय में अभेद-विवक्षा में ही जिस प्रकार (पररूप) हो सके, जत्व के विषय में भेदविवक्षा में न हो सके—इस अभिप्राय वाला है –यह कथन निरस्त हो हो जाता है; क्योंकि हमारे (दीक्षितादि के) मत में तो 'अत्' का ग्रहण शब्दा-

"अकः सवर्णे" (पा० सू० ६।१।१०१) ।। अचि पर इति । यदा तूष्मणामीषद्विवृतत्वमाश्रित्य "नाज्झलौ" (पा० सू० १।१।१०) इति सूत्रं प्रत्याख्यायते तदा इहाचीति नानुवर्तनीयम् । 'अकोऽकि दीर्घ' इति सुवचम् ।

वर्णद्वयं द्विमात्रमिति । यत्तु प्राचा व्याख्यातं— दीर्घे प्राप्ते ह्रस्व ऋकारः लृकारश्च विधीयत इति तद्भाष्यकैयटादिविरोधादुपेक्ष्यम् ।।

कमित्यपास्तम् । ममाद्ग्रहणं तु शब्दाधिकारानित्यत्वज्ञापनार्थमिति दिक् ।।

सुवचमिति । जातिपक्षाश्रयणे यथासङ्ख्येनेष्टसिद्धेरिति भावः । एवं रीत्या यथासंख्यम् "इको यणचि" (पा०सू० ६।१।७७) इत्यत्रापि बोध्यमिति

अकः सवर्णे दीर्घः (पा० सू० ६।१।१०१) इति सूत्रे 'अचि' इत्यस्यानुवृत्तिं निराकरोति—नानुवर्तनीयमिति । ऊष्मणामीषदविवृतप्रयत्नत्वम्, स्वराणाञ्च विवृत-

---

धिकार की अनित्यता को ज्ञापित करने के लिये है, (किसी अन्य प्रयोजन की कल्पना व्यर्थ है) यह दिग्दर्शन है ।

[मनो०] सवर्ण अच परे रहते अक् का दीर्घ एकादेश होता है । परन्तु जब ऊष्म=श, ष, स, ह का ईषद्विवृतत्व मानकर 'नाज्झलौ' (पा० सू० १।१।१०) इसका प्रत्याख्यान कर दिया जाता है, तब इस सूत्र में 'अचि' इसकी अनुवृत्ति नहीं करनी चाहिये 'अकोऽकि' (अक् परे रहते अक् का सवर्ण दीर्घ होता है)—यही कहना ठीक है । [शब्द०] [व्यक्तिपक्ष में अनन्त होने से उनका ज्ञान सम्भव न होने पर भी] जातिपक्ष के आश्रयण में यथासंख्य से ही इष्ट की सिद्धि हो जाती है, यह भाव है । [अर्थात् अकारादि का क्रमशः आकारादि ही सवर्णदीर्घ हो जाता है, यह भाव है ।] इसी रीति से 'इको यणचि' (पा० सू० ६।१।७७) यहाँ भी यथासंख्य समझना चाहिये, यह सूचित किया है ।

विमर्श—मनोरमाकार का तात्पर्य यह है कि स्वरों तथा ऊष्म व्यञ्जनों का विवृत प्रयत्न मानने पर स्वर के समान प्रयत्नवाला होने से ऊष्म व्यंजन भी सवर्ण होने लगेगा—इस आपत्ति को रोकने के लिये 'अच् एवं हल् परस्पर सवर्ण नहीं होते हैं 'इत्यर्थक 'नाज्झलौ' यह सूत्र बनाया गया । परन्तु जब ऊष्म वर्णों का ईषद्विवृत प्रयत्न मान लिया जाता है तब तो भिन्न प्रयत्नवाला होने से ऊष्म व्यञ्जन आदेश प्राप्त ही नहीं होते हैं अतः अच् के ग्रहण की आवश्यकता नहीं है' अक् के बाद अक् रहने पर सवर्ण दीर्घ होता है' यही कहना पर्याप्त है ।

[मनो०] ['ऋति ऋ वा' लृति लृ वा' इन दोनों वचनों में] द्विमात्रिक दो वर्ण विधेय हैं । किसी प्राचीन आचार्य ने यह व्याख्या की है—दीर्घ प्राप्त रहने पर ह्रस्व ऋकार और लृकार का विधान किया जाता है'—यह उस भाष्य एवं कैयट

"एङः पदान्तात्" (पा० सू० ६।१।१०९) ॥ "ङसिङसोश्च" (पा० सू०

सूचितम् । तद्भाष्येति । "तुल्यास्य" (पा० सू० १।१।९) सूत्रस्थभाष्येत्यर्थः । तत्र हि "अकः सवर्णे–" (पा० सू० ६।१।१०१) इति सूत्रेणैतद्वार्तिकान्यथासिद्धिरुद्भविता ॥

प्रयत्नत्वमिति भाष्योक्तपक्षाङ्गीकारे कुमारी+शेते इत्यादौ ईकारशकारयोः प्रयत्नभेदेन सावर्ण्याभावादत्र सूत्रे 'अचि' इत्यस्यानुवृत्तिर्व्यर्थेति भावः । 'सवर्णे' इत्यस्य ग्रहणमनपेक्षितमिति प्रतिपादयति मूले—**'अकोऽकि' सुवचमिति** । यथासंख्यमन्वयाद् अकारादकारे, इकारादिकारे, उकारादुकारे ऋकारादृकारे, लृकाराद्लृकारे च परे पूर्वपरयोः दीर्घः एकादेशः स्यादित्यर्थेन जातिपक्षाश्रयणेन सकललक्ष्यसिद्धेः सवर्णग्रहणं न कर्त्तव्यं भवतीति मूलकाराभिप्रायः । अन्यत्रापीयं रीतिः सम्भवतीति प्रतिपादयति शब्दरत्ने—**इको यणचीत्यत्रापि** बोध्यमिति । एवञ्च तत्सूत्रप्रवृत्तिविषये विविधचर्चानपेक्षितेति तद्भावः ।

आदि के विरोध के कारण उपेक्षणीय है । **[शब्द०]** 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (पा०सू० १।१।९) इस सूत्र पर स्थित भाष्य से विरोध है, यह अर्थ है, क्योंकि वहाँ भाष्य में 'अकः सवर्णे' पा०सू० ६।१।१०१] इस सूत्र से उक्त वार्त्तिकों की अन्यथासिद्धि की उद्भावना की गई है ।

विमर्श—यहाँ भाव यह है कि 'ऋति सवर्णे ऋ वा' 'लृति सवर्णे लृ वा' ये दो वार्त्तिक हैं । इनका अर्थ है—'अक् के बाद सवर्ण ऋकार रहने पर विकल्प से 'ॠ' होता है ।' इसी प्रकार 'अक् के बाद सवर्ण लृकार रहने पर विकल्प से 'ॡ' होता है ।' यहाँ विलक्षण वर्णद्वय किये जाते हैं । यह नृसिंह के समान एक विलक्षण 'ॠ' होता है जिसमें दो रेफ रहते हैं इसी प्रकार एक विलक्षण 'ॡ' होता है । जिसमें दो ल् रहते हैं । इनमें विलक्षण ॠ के मध्य में दो रेफ होते हैं, उनकी आधी+आधी मात्रा मिलाकर एक मात्रा होती है । इन दोनों रेफों के दोनों ओर विधीयमान ह्रस्व ऋकारांशों की आधी+आधी मात्रा मिलाकर एक हो जाती है । इसी प्रकार दूसरे विधेयभूत 'ॡ' के मध्य में दो लकार होते हैं, उनकी आधी+आधी मात्रा मिलाकर एक मात्रा और दोनों ओर विद्यमान लृकारांशों की आधी+आधी मात्रा मिलाकर एक मात्रा हो जाती है । इस प्रकार दो दो मात्राओं वाले ये विलक्षण दो वर्ण विधेय समझने चाहिये ।

[मनो०] 'एङः पदान्तादति' (पा० सू० ६।१।१०९) [पदान्त एङ् से परे अत्=अ होने पर दोनों के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश होता है । 'ङसि' और ङस्' का अकार बाद में रहने पर पूर्वरूप एकादेश होता है—इस अर्थवाले] 'ङसिङसोश्च'

६।१।११०) इत्यस्यारम्भादस्य पदान्तविषयत्वे लब्धे उत्तरार्थं पदान्तादिति स्पष्टार्थमिहैव कृतम् ॥

"सर्वत्र विभाषा गोः" (पा० सू० ६।१।१२२) यद्यपि छन्दसीति न प्रकृतम्, तथापि "यजुष्युरः" (पा० सू० ६।१।११७) इत्यादिप्रक्रमाच्छन्दस्यं-वेदमिति सम्भाव्येत, अतः सर्वत्रेत्युक्तम् । तद्व्याचष्टे—लोके वेदे चेति । इह "एङ" इत्यनुवृत्त्यैङन्तस्य गोरिति व्याख्येयम् । तेनेह न—चित्रग्वग्रमिति ।

आरम्भादिति । अपदान्ताच्चेन् ङसिङसोरेवेति नियमादिति भावः । **उत्तरार्थमिति** । "इकोऽसवर्णे" (पा० सू० ६।१।१२७) इत्याद्यर्थम् । **स्पष्टार्थमिति** । विभक्तौ चेन्ङसिङसोरेवेति (विपरीत) नियमशङ्कावारणार्थमिति भावः ॥

एङः पदान्तादति (पा० सू० ६।१।१०९) इति सूत्रे पदान्तग्रहणं व्यर्थमत आह मूले—**उत्तरार्थमिति** ।

(पा०सू० ६।१।११०) इस सूत्र की रचना करने के कारण [अर्थात् इस सूत्र की प्रवृत्ति अपदान्त के विषय में ही होने के कारण] प्रस्तुत सूत्र पदान्तविषयक ही है, ऐसा सिद्ध हो जाने पर उत्तरवर्ती सूत्र 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य' (पा० सू० ६।१।१२७) में 'पदान्ताद्' की आवश्यकता होने से, स्पष्टता के लिये, इसी सूत्र में ['पदान्तात्' का] ग्रहण कर दिया गया है। **[शब्द०]** आरम्भसामर्थ्य से। अपदान्त से परे अकार का पूर्वरूप हो तो 'ङसि' तथा 'ङस्' के ही 'अ' का हो (अन्य 'अ' का नहीं)—इस नियम से [प्रस्तुत सूत्र की पदान्तविषयता सिद्ध हो जाती है] यह भाव है। **(मनो०)** स्पष्टता के लिये=**(शब्द०)** विभक्ति परे रहते यदि पूर्वरूप हो तो 'ङसि' तथा 'ङसि' के 'अ' का ही हो—ऐसे विपरीत नियम की शंका का वारण करने के लिये ('एङः पदान्तादति' इसी सूत्र में 'पदान्तात्' का ग्रहण) किया गया है--यह भाव है।

सर्वत्र विभाषा गोः । [पा० सू० ६।१।१२२ लोक और वेद में एङन्त गो शब्द का विकल्प से प्रकृतिभाव होता है, पदान्त में, अत् [अ] परे रहते । **मनो०]** यद्यपि इस सूत्र में 'छन्दसि=वेद में' इसका प्रकरण नहीं है तथापि 'यजुष्युरः' (पा० सू० ६।१।११७) इत्यादि अर्थात् 'यजुर्वेद में' ऐसा प्रकरण होने से वेद में ही इसकी प्रवृत्ति की सम्भावना होने लगेगी [इसको रोकने के लिये] 'सर्वत्र'=लोक वेद में—ऐसा कहा गया। इसी की व्याख्या [सिद्धान्तकौमुदी में] कहते हैं—लोक में और वेद में [एङन्त गो शब्द का अत् परे रहते विकल्प से प्रकृतिभाव होता है।] इस सूत्र में ['एङः पदान्तादति' पा०सू० ५।१।१०९ सूत्र से] 'एङः' इसकी अनुवृत्ति करके ऐङन्त 'गो' शब्द का प्रकृतिभाव होता है, ऐसी व्याख्या करनी चाहिये।

प्रतिपदोक्तस्य एङो ग्रहणान्नेह—हे चित्रगोऽग्रम् ।

इत्यनुवर्त्येति । षष्ठ्या विपरिणमय्येत्यपि बोध्यम् । **प्रतिपदोक्तस्येति** । एङ्ग्रहणावृत्येति भावः, प्रतिपदोक्तपरिभाषया वा । वर्णग्रहणे तदप्रवृत्तिज्ञापकस्य तदनित्यतामात्रज्ञापकत्वम् । ध्वनितं चेदम् "ओत्" (पा० सू० १।१।१५) सूत्रे भाष्ये । "एङः पदान्तात्" (पा० सू० ६।१।१९) इत्यत्र तु "हलोऽनन्तराः" (पा० सू० १।१।७) इत्यादिनिर्देशान्न प्रतिपदोक्तग्रहणम् ।

सर्वत्र विभाषा ।। शब्दरत्ने—**तदप्रवृत्तीति** । 'आदेच उपदेशेऽशिति' (पा० सू० ६।१।४५) इति सूत्रे उपदेशग्रहणस्येति भावः । **इदम्**=वर्णग्रहणे तत्प्रवर्तनम् ।

[**शब्द०**] पञ्चम्यन्त 'एङः' को षष्ठ्यन्त रूप से बदल कर [पूर्वोक्त अर्थ करना चाहिये]—यह भी समझना चाहिए । [**मनो०**] इस कारण यहाँ नहीं होता है—चित्रग्वग्रम् । [चित्रगु+अग्रम् यहाँ गो का ह्रस्व होने से एङन्त 'गो' शब्द नहीं है । अतः प्रकृतिभाव नहीं होता है ।] प्रतिपदोक्त 'एङ्' का ग्रहण होने से यहाँ नहीं होता है—हे चित्रगोऽग्रम् । [प्रतिपदोक्त=साक्षाद् उच्चारित एङन्त नहीं है, अपितु सम्बोधन में गुण करने पर चित्रगु का चित्रगो बना है । अतः पूर्वरूप ही होता है ।] [**शब्द०**] एङ्ग्रहण की आवृत्ति के द्वारा अथवा प्रतिपदोक्त परिभाषा के कारण [प्रतिपदोक्त एङन्त गो लिया जाता है]—यह भाव है । [भाव यह है कि जैसे 'दादेर्धातोर्घः' (पा० सू० ८।२।३२) इस सूत्र में 'दादेः' इसकी आवृत्ति के द्वारा यह अर्थ किया जाता है—उपदेश में दकारादि जो धातु उसके 'ह' का 'घ' होता है । उसी प्रकार यहाँ भी एङ् की आवृत्ति के द्वारा यह अर्थ होता है—प्रतिपदोक्त जो एङन्त गो शब्द उसी का प्रकृतिभाव होता है । अथवा 'लाक्षणिक=सूत्रादि की प्रवृत्ति से निष्पन्न और प्रतिपदोक्त के मध्य में प्रतिपदोक्त का ही ग्रहण होता है' इस परिभाषा के अनुसार प्रतिपदोक्त 'गो' एङन्त ही लिया जाता है ।] 'वर्णग्रहण में यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है' इसके ज्ञापक को इस परिभाषा की अनित्यता में ही ज्ञापक समझना चाहिए । [इस लिये कहीं-कहीं वर्णग्रहण में भी इस प्रतिपदोक्त परिभाषा की प्रवृत्ति होती ही है ।] 'ओत्' (पा० सू० १।१।१५) सूत्र पर भाष्य में इस आशय को ध्वनित किया गया है । [वहाँ भाष्य में 'अनदः अदः समभवत्—अदोऽभवत्' में प्रकृतिभाव का वारण करने के लिये 'ओतश्च्विप्रतिषेधः' इस वार्तिक की अन्यथासिद्धि इसी परिभाषा से की गयी है । अतः इस परिभाषा की अनित्यता स्पष्ट है ।] 'एङः पदान्तादति' (पा० सू० ६।१।१९) इसमें तो 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (पा० सू० १।१।७) आदि सूत्रों में [किये गये पूर्वरूप] निर्देश के कारण प्रतिपदोक्त एङ् का ग्रहण नहीं किया जाता है ।

प्रकृतिभाव इति। "प्रकृत्याऽन्तः पादम्" (पा० सू० ६।१।११५) इति सूत्रात्प्रकृत्येत्यनुवृत्तेः। यद्यपि भाष्ये "इको गुणवृद्धी", (पा० सू० १।१।३) इति सूत्रे "नान्तः पादम्" इति पाठः स्थितः। षाष्ठभाष्येऽप्येवम्। तथापि शाकलसूत्रे "ह्रस्वश्च" इति चकारेण "प्रकृत्या इत्यनुकृष्यते" इति भाष्यदर्शनात् "प्रकृत्यान्तः पादम्" इति पाठोऽपि साधुरेव। "न" इति पाठे तु "सर्वत्र" इति सूत्रेण पूर्वरूपमेव विकल्प्येतेत्यर्थ्यम् ॥

अत्र च स्थानिवत्सूत्रस्थ भाष्यं मानमित्यन्यत्र विस्तरः। पूर्वरूपमेवा। पूर्वरूपमपीत्यर्थः। गोशब्दस्य यद्यत्प्राप्तं तन्नेति व्याख्यानेन "नान्तः पादम्" इत्यनेनैव पूर्वत्वादिक विकल्पेन निषिध्येतेत्यर्थः। तेनावादेशोऽपि न।

नन्वेवम् 'एङः पदान्तादति' इति सूत्रेऽपि तत्प्रवृत्त्यापत्तिरत आह—इत्यादिनदंशाल्विधि। अत्र चेति। प्रकृतसूत्रे प्रतिपदोक्तपरिभाषायाः प्रवृत्तौ चेत्यर्थः। अन्यत्रेति। उद्द्योतादावित्यर्थः।

[अर्थात् उस पूर्वरूप के लिये सभी प्रकार का 'एङ्' लिया जाता है।] और यहां [प्रस्तुत सूत्र में प्रतिपदोक्त परिभाषा की प्रवृत्ति होने में] तो 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' (पा० सू० १।१।५६) इस सूत्र का भाष्य प्रमाण है, इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र [उद्द्योतादि में] किया गया है।

[मनो०] 'प्रकृतिभाव होता है। क्योंकि 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' (पा० सू० ६।१।११५) इससे 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति होती है। यद्यपि 'इको गुणवृद्धी' (पा० सू० १।१।३) इस सूत्र के भाष्य में यह पाठ है "नान्तः पादम्"। और षाष्ठ भाष्य (पा० सू० ६।१।११५) में भी "नान्तःपादगत्यायोः" ऐसा ही पाठ मिलता है तथापि 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (पा० सू० ६।१।१२७) इसमें चकार के बल 'प्रकृत्या' इसका अनुकर्षण होता है, ऐसा भाष्य में देखा गया है, इस लिये 'प्रकृत्यान्तः पादम्' यह पाठ भी शुद्ध ही है। (प्रकृत्या के स्थान पर) 'न' ऐसा पाठ मानने पर तो 'सर्वत्र विभाषा गोः" इस सूत्र से पूर्वरूप का ही विकल्प होने लगता—ऐसा समझना चाहिये। [भाव यह है कि पूर्वरूप के वैकल्पिक निषेध से उसका वैकल्पिक विधान फलित होता है।] [शब्द०] पूर्वरूप का ही विकल्प = पूर्वरूप का भी विकल्प होने लगेगा—यह अर्थ है। [एव=अपि के अर्थ में है।] गो शब्द का जो जो प्राप्त होता है वह वह नहीं होता है—इस व्याख्यान से 'नान्तः पादम्' (पा० सू० ६।१।११५) इसी से पूर्वत्व आदि का विकल्प से निषेध होता, यह अर्थ है, जिससे अव् आदेश भी नहीं होता है।

विमर्श—रहस्य यह है कि 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' ऐसा अथवा 'नान्तः

"अवङ् स्फोटायनस्य" (पा० सू० ६।१।१२९) अत्राप्येङन्तस्य गोरिति व्याख्येयम् । अगिति सूत्रयितुमुचितम् । विभाषानुवृत्तेः स्फोटायनग्रहणं

एङन्तस्य गोरिति । प्रतिपदोक्तस्यैङ इत्यपि बोध्यम् ।

ननु "गोरग्वचनं स्वरसिद्ध्यर्थमन्यथावङ् कदाचिदन्तोदात्तोऽपि स्याद्" इत्येतत्सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्याच्चित्रग्वग्रमित्यत्रावङभावोऽस्तु तत्रावङो रूपे विशेषस्य स्पष्टत्वात् । चित्रगोऽग्रमित्यत्रावङभावकल्पने किंमानमिति, चेन्न ।

अवङ् स्फोटायनस्य ॥ किं मानमिति । तस्यापि गवाग्रतुल्यत्वादिति भावः ।

पादमव्यपरे' ऐसा सूत्रपाठ है । भाष्य में 'नान्तः पादमव्यपरे' ऐसा ही मिलता है और काशिका आदि में 'प्रकृत्यान्तःपादमव्यपरे' ऐसा पाठ मिलता है । प्रथम पाठ के अनुसार ऋक्पादके मध्य में स्थित 'एङ्' का प्रकृतिभाव होता है अत् परे रहते, किन्तु वकारपरक और यकारपरक अत् परे रहने पर नहीं होता है । दूसरे पाठ के अनुसार 'पूर्व प्राप्त नहीं होता है' यह अर्थ है । इस पाठ के अनुसार जैसे इस सूत्र से पूर्व प्राप्त कार्य का निषेध होता है वैसे ही 'सर्वत्र विभाषा गोः' में भी 'न' का सम्बन्ध होने पर 'पूर्व प्राप्त विकल्प से नहीं होता है' यही अर्थ होगा । इस स्थिति में न पूर्वरूप होगा और न अव् आदेश । इस प्रकार निषेध का विकल्प करने पर विधान का विकल्प फलित होता है । इसी आशय से प्रौढ़मनोरमा में कहा गया है—'पूर्वरूपमेव विकल्प्यते ।' शब्दरत्नकार एव=अपि अर्थ में मानते हैं ।

[मनो०] "अवङ् स्फोटायनस्य" (पा० सू० ६।१।१२९) इस सूत्र में भी 'एङः' इसका सम्बन्ध होने से 'एङन्त गो शब्द का [अवङ् होता है]'—यह व्याख्या करनी चाहिये । [शब्द०] प्रतिपदोक्त 'एङ्' का (ही)—यह भी समझना चाहिये । [मनो०] 'अक्' इतना सूत्र बनाना उचित है । 'विभाषा' इसकी अनुवृत्ति होने के कारण 'स्फोटायन' का ग्रहण पूजा=सम्मानार्थ है । [शब्द] अवङ् आदेश न करके 'गो' का अक् आगम करना स्वरसिद्धि के लिये है, अन्यथा [अक् ऐसा न करने पर] अवङ् आदेश कभी अन्तोदात्त भी होने लगेगा [अर्थात् व्युत्पत्तिपक्ष और अव्युत्पत्तिपक्ष मानकर पर्याय से कभी आद्युदात्त होने लगेगा],—इस प्रकार के प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में स्थित प्रमाण के कारण 'चित्रग्वग्रम्' यहाँ अवङ् का अभाव हो, अवङ् न हो, क्योंकि अवङ् के रूप में अन्तर स्पष्ट है । [अर्थात् 'अवङ्' करने पर 'चित्रगवाग्रम्' और अक् करने पर 'चित्रग्वग्रम्' ऐसे भिन्न भिन्न दो रूप होने लगेंगे । अतः प्रतिपदोक्त एङ् ही लेना चाहिये ।] चित्रगो+अग्रम् यहाँ अवङ् के अभाव की कल्पना में क्या प्रमाण है [अर्थात् यह भी गवाग्रम् के समान ही है]—

उपदेशे आद्युदात्तत्वनिपातनेमावङन्यासस्थापनपरभाष्यस्य मानत्वात्। चित्रगोशब्द आमन्त्रिताद्युदात्तत्वेनान्तानुदात्तस्तत्राकि तस्यागमानुदात्तत्वे उभयोरनुदात्तयोरेव श्रवणं स्यात्। आद्युदात्तत्वनिपातने तु गकाराकारस्योदात्तस्येति विशेषः स्पष्टः।

न च गवाक्ष इत्यदाववङ आद्युदात्तस्य श्रवणं मा भूदिति तस्योपदेशिवद्भावो वाच्य इति समासान्तोदात्तादिवामन्त्रिताद्युदात्तादपि प्रागवङ्स्वरप्रवृत्तौ पश्चादामन्त्रितस्वरे स्वरभेदाभाव इति वाच्यम्, गवाक्ष इत्यादौ समानकालप्रवृत्तिकस्य परत्वेन प्रथमं प्राप्तस्य समासस्वरस्य प्रागप्रवृत्तौ उपदेशिवद्भाववचनचारितार्थ्येनाङ्गसञ्ज्ञासापेक्षबहिरङ्गगुणापेक्षयाऽन्तरङ्ग-

---

निपातनेति। एकश्रुत्या सूत्रपाठे न्याय्ये प्रकृतितः प्राप्ते स्वरे उच्चारणीये वा यत्नेनाद्युदात्तोच्चारणमन्तोदात्तत्वबाधकमिति भावः। एतदेवोपपादयति—**चित्रगोशब्द**—इत्यादिना। **आमन्त्रितेति।** षाष्ठेन 'आमन्त्रितस्य च' इति सूत्रेण आद्यु-

---

...ऐसा यदि कहते हो, तो ठीक नहीं, क्योंकि उपदेश में [अवङ् का] आदिउदात्त निपातन के द्वारा 'अवङ्' इस न्यास की स्थाना का समर्थक भाष्य ही प्रमाण है। 'चित्रगो' [सम्बोधनान्त=] आमन्त्रित आद्युदात्त होने से ['आमन्त्रितस्य च' (पा० सू० ६।१।१९७ सूत्र के द्वारा। अतः 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (पा० सू० ६।१।१५८ सूत्र से शेषनिघात से] अन्त अनुदात्त है, उस चित्रगो + अग्रम् में अक् आगम करने पर उस आगम के अनुदात्त होने पर [क्योंकि आगम अनुदात्त है अतः] दोनों [गव] अकारों का अनुदात्तों का ही श्रवण होगा, दोनों अकार अनुदात्त ही सुनाई देंगे। परन्तु आद्युदात्तत्व [भाष्योक्त अवङ् का आद्युदात्त] निपातन करने पर तो गकार के अकार का उदात्त श्रवण होगा, यह भेद=अन्तर स्पष्ट है, [अतः फलभेद के कारण वार्त्तिक का प्रत्याख्यान करना कहाँ तक उचित है ? अतः उक्त कल्पना आवश्यक है।]

[अवान्तर पूर्वपक्ष—] 'गवाक्षः' आदि में आद्युदात्त अवङ् का श्रवण न हो—इसके लिये उस का 'उपदेशिवद्भाव कहना चाहिये' इस कारण समासान्त उदात्त के समान आमन्त्रित आद्युदात्त से भी पहले अवङ् के स्वर की प्रवृत्ति हो जाने पर बाद में आमन्त्रित स्वर के होने पर स्वरभेद नहीं होता है, [उत्तरपक्ष] ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि 'गवाक्षः' इत्यादि में समानकाल में प्रवृत होने वाले, परवर्त्ती होने से पहले प्राप्त होने वाले समासस्वर की प्रवृत्ति न होने पर 'उपदेशिवद्भाववचन' के चरितार्थ हो जाने से, अंग संज्ञा की अपेक्षा रखने वाले [= जिस प्रत्यय के परे रहते अंग संज्ञा होती है, उसकी अपेक्षा रखने वाले] बहिरंग

त्वात्पूर्वमेवामन्त्रितस्वरप्राप्त्या तदप्रवृत्तिसंपादनेऽस्य सामर्थ्याभावात्। तद् ध्वनयन्नाह–**अगितोत्यादि** । यथान्यासे त्वाद्युदात्तनिपातनोपदेशिवद्भावयोः करणे गौरवादस्यौचित्यमिति भावः। स्थानिवत्सूत्रे भाष्येऽप्युक्तं "गोः पूर्वत्वे स्थानिवत्त्वप्रतिषेधो वक्तव्यः"। चित्रग्वग्रं "सर्वत्र विभाषा गोः" (पा० सू० ६।१।१२२) इति पूर्वत्वं प्राप्नोति। नैष दोषः, "एङः" इति वर्त्तते, तत्र "अनल्विधौ" इति प्रतिषेधो भविष्यति। एवन्तर्हि चित्रगोऽग्रमित्यत्र प्राप्नोति' इति। अत्र पूर्वत्वशब्देन तदपवादप्रकृतिभावावङौ, विनिगमनाविरहात्। "सर्वत्र"—(पा० सू० ६।१।१२२) इति "अवङ्—" (पा० सू०

[सम्बोधन–] गुण की अपेक्षा अन्तरंग होने से पहले ही आमन्त्रित स्वर की प्राप्ति रहने के कारण उस [आमन्त्रित] स्वर की अप्रवृति कराने में इस [उपदेशिवद्भाववचन=पहले अवङ्स्वर बाद में समासस्वर के कथन] में सामर्थ्य नहीं है। इसी को ध्वनित करते हुए (**मनो०**) में कह रहे हैं—'अक्' इसी को सूत्र बनाना उचित है। वैसा मूल रूप ['अवङ् स्फोटायनस्य' ऐसा] रखने पर तो आदि का उदात्तत्व-निपातन और उपदेशिवद्भाव करना इनमें गौरव है [अर्थात् पहले 'अवङ्' आदेश करने और दुबारा समासस्वर करने में गौरव स्पष्ट है।] इस लिये 'अक्' यह आगम करना उचित है, यह भाव है। 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' [पा० सू० १।१।५६] इस सूत्र पर भाष्य में भी कहा है—"गो शब्द के पूर्वत्व=पूर्वरूप करने में स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध करना चाहिये, 'चित्रग्वग्रम्' यहाँ 'सर्वत्र विभाषा गोः' [पा० सू० ६।१।१२२] इस सूत्र से पूर्वरूप प्राप्त होता है। [यहाँ भाष्य में 'पूर्व' शब्द से पूर्वरूप का अपवाद प्रकृतिभाव समझना चाहिये, यह प्रकृतिभाव वैकल्पिक है। अभावपक्ष में [पूर्वरूप प्राप्त होता है यह भाव है]। यह दोष [पूर्वरूप के अपवाद प्रकृतिभाव की और विकल्पपक्ष में पूर्वरूप की प्राप्ति रूप दोष] नहीं है, क्योंकि ['एङः पदान्तादति' इस सूत्र से] 'एङः' इसकी अनुवृत्ति होती है, इसमें 'अनल्विधौ' [अल्विधि में स्थानिवद्भाव नहीं होता है।] इससे प्रतिषेध हो जायेगा। [भाव यह है कि 'चित्रगु' में अल्विधि होने से अतिदेश द्वारा एङन्तत्व सम्भव नहीं है। अतः अलग से निषेध कहना अनावश्यक है।] यदि ऐसा है तो 'चित्रगो+अग्रम्' यहाँ [प्रकृतिभाव] प्राप्त होता है। [लाक्षणिक होने से इस गो शब्द का स्वतः प्रकृतिभाव प्राप्त न रहने पर भी स्थानिवद्भाव से प्राप्त होता है, उसका प्रतिषेध कहना चाहिये।] यहाँ भाष्य में 'पूर्वत्व' शब्द से पूर्वरूप के अपवाद प्रकृतिभाव और अवङ् दोनों समझने चाहिये; क्योंकि किसी एक के समर्थन में कोइ विनिगमना नहीं है। "सर्वत्र विभाषा गोः" [पा० सू० ६।१।१२२] यह 'अवङ् स्फोटायनस्य' [पा० सू० ६।१।१२३] इसका भी

पूजार्थम् । गवीति । यत्तु प्राचा-गवे इति प्रत्युदाहृतम् । तन्न । सत्यप्यवङि "अतो गुणे" (पा० सू० ६।१।७७) इति पररूपेण रूपसिद्धेः । न च सत्यवङि ङेर्यादेशः स्यात्, स्त्रियां तु टाप् स्यादिति वाच्यम् । सन्निपातपरिभाषया यादेशटापोः सुसमाधानत्वात् । न च साऽनित्येति वाच्यम्, तावताप्यौ-

६।१।१२३) इत्यस्याप्युपलक्षणम् । अत एव प्रकृतिभावे इति त्यक्त्वा पूर्वत्वे इत्युक्तं वार्तिके भाष्ये च । चित्रगोशब्दस्य लाक्षणिकत्वेऽपि स्थानिवत्त्वात्प्राप्तौ तत्प्रतिषेधः कृतः । एङः प्रतिपदोक्तत्वाश्रयणे तु तन्न कार्यमिति लाघवमिति दिक् । टाप्स्यादिति । ङीष उपलक्षणमिदम् । इष्टसिद्धेरिति ।

दात्ते कृते 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' इति सूत्रेणान्तानुदात्तत्वमिति बोध्यम् । तस्य= निपातनेन साधितायुदात्तत्वस्य । अस्य= उपदेशिवद्भाववचनस्य । यथान्यासे=

उपलक्षण=बोधक है। इसी कारण वार्तिक और भाष्य में 'प्रकृतिभाव' इसको छोड़कर 'पूर्वत्वे' ऐसा कहा गया है। चित्रगो इस शब्द के लाक्षणिक होने पर भी स्थानिवद्भाव से ['पूर्वत्व' की] प्राप्ति में ['अनल्विधौ' इसके द्वारा] उसका प्रतिषेध कहा गया है। एङ् के प्रतिपदोक्तत्व का आश्रयण करने पर तो वह ['गोः पूर्वत्वे प्रतिषेधो वक्तव्यः' यह वचन] नहीं करना चाहिये, यह लाघव है, यह दिग्दर्शन है। [इस प्रकार इस सूत्र में 'एङ्' की अनुवृत्ति और उसकी प्रतिपदोक्तता माननी चाहिये ।]

[मनो० पदान्त में—इसका क्या फल है–] गवि [गो + ङि = इ] । [यहाँ पदान्त 'ओ' नहीं है, अतः 'अवङ्' आदेश न होकर 'अव्' होता है ।] किसी प्राचीन आचार्य ने इसका प्रत्युदाहरण 'गवे' यह दिया है । परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि अवङ् आदेश हो जाने पर भी [गो + ङे = गव + ए में] 'अतो गुणे' (पा० सू० ६।१।७७) इस सूत्र से पररूप के द्वारा ['गवे' इस] रूप की सिद्धि हो जाती है। अवङ् होने पर [अकारान्त मान कर] 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश होने लगेगा और स्त्रीलिङ्ग में टाप् होने लगेगा। [शब्द०] यह ङीष् का उपलक्षण है—[मनो०] ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि 'सन्निपात' परिभाषा के बल से 'य' आदेश और 'टाप्' का समाधान करना सम्भव है। [भाव यह है कि गो + ङे यहाँ ङे=ए को निमित्त मानकर होने वाला अवङ् आदेश अपने उपजीव्य 'ए' के बिनाश का कारण नहीं बन सकता। परिभाषा का रूप यह है 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य'। अतः यह परिभाषा लागू होने से 'य' आदेश नहीं होता है।] प्रस्तुत परिभाषा अनित्य है—यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि औत्सर्गिक इसकी प्रवृत्ति से इष्टसिद्धि हो जाती है। [शब्द०] 'गवि' इसके स्थान पर 'गवे' यह होने लगेगा–

त्सर्गिकत्वात्प्रवृत्त्येष्टसिद्धेः। गवाक्ष इति। गवामक्षीवेति विग्रहः। "अक्ष्णोऽदर्शनात्" इत्यच् समासान्तः। वातायने रूढोऽयम्। पुंस्त्वं लोकात्॥

"इन्द्रे च" (पा० सू० ६।१।१२४)। आरम्भसामर्थ्यान्नित्यमिदम्। "इन्द्रे च नित्यम्" इति पाठस्तु भाष्यासम्मतत्वादुपेक्षितः॥

गवीत्यस्य स्थाने गवे इति स्यादिति तद्ग्रन्थव्याख्यानमपि न समञ्जसम्॥

भाष्यासंमतत्वादिति। "इन्द्रे इति सामर्थ्यान्नित्यम्" इति तदुक्तेरिति भावः॥

'अवङ् स्फोटायनस्य' इति रूपे इत्यर्थः। अस्य=अगागमस्य। मूले—पररूपेण रूपसिद्धेरिति। गो+ङे=गो+ए, ओकारस्यावङि गव+ए इत्यत्र वृद्धिं बाधित्वा पररूपेणेष्टरूपसिद्धेरिति भावः। सुसम्भाधानत्वादिति। अच्-परत्वमाश्रित्य जायमानोवङ् इत्यादेशः अचः=एकारस्य विघाते=यादेशे कर्तव्ये निमित्तं नैव भविष्यतीति भावः।

इन्द्रे च॥ सामर्थ्यादिति। 'अवङ् स्फोटायनस्य' इतिसूत्रेणैव निर्वाहसम्भवे-

---

यह प्रक्रियाकौमुदी का व्याख्यान भी ठीक नहीं है। [क्योंकि यहाँ सन्निपातपरिभाषा की प्रवृत्ति हो जाने से गुण नहीं हो सकता।]

[मनो०] गवाक्षः। गवाम् अक्षि इव-यह विग्रह है। [गो शब्द किरणों का वाचक है] 'अक्ष्णोऽदर्शनात्' [पा० सू० ५।४।७६] इससे समास के अन्त में 'अच्' प्रत्यय होता है। [इ का लोप करने पर गवाक्षः बनता है।] यह शब्द वातायन=झरोखा अर्थ में रूढ़ है। लोकव्यवहार से पुल्लिङ्गत्व है। [व्यवस्थित-विभाषा के कारण इसमें एक ही रूप होता है।]

इन्द्रे च। (पा० सू० ६।१।१२४) [और 'इन्द्र' शब्द परे रहते 'गो' के 'ओ' का अवङ् आदेश होता है।] [मनो०] इस सूत्र को बनाने के कारण इसे नित्य समझना चाहिये। [यदि विकल्प इष्ट होता तो 'अवङ् स्फोटायस्य' इसी से दोनों रूप बन जाते। अतः इसे नित्य विधायक मानना चाहिये।] 'इन्द्रे च नित्यम्' ऐसा न्यास तो भाष्य से असम्मत होने के कारण उपेक्षित कर दिया गया।" [शब्द०] 'इन्द्रे च' इस सूत्र बनाने के सामर्थ्य से यहाँ नित्य की प्रतीति हो जाती है,' ऐसा भाष्य में कहा गया है, यह भाव है।

विमर्श—यहाँ तक अच् के स्थान पर होने वाले सन्धिकार्यसम्बन्धी सूत्रों तथा लक्ष्यों पर चर्चा हो चुकी है। आगे प्रकृतिभाव-विषयक चर्चा की जा रही है। इसमें अच्-सन्धि-प्रयुक्त-कार्य प्राप्त होते हैं, परन्तु उन्हें रोक कर प्रकृति=अपना

[अथ प्रकृतिभावः]

एहि कृष्णेति। "दूराद्धूते च" (पा० सू० ८।४।८४) इति प्लुतः।

यत्तु—कृष्ण३ एहीति प्राचोक्तं, तन्न। "दूराद्धूते च" (पा० सू० ८।२।८४) इत्यादौ "वाक्यस्य टेः–" (पा० सू० ८।२।८२) इत्यधिकारात्।

प्लुत इति। प्रकृतिभाववचनसामर्थ्यादेव प्लुतस्य तत्र नासिद्धत्वमिति भावः।

मूलरूप, भाव=हो जाता है, कोई विकार नहीं होता है, इस प्रकृतिभाव के लिये प्रगृह्य तथा प्लुत संज्ञाओं की आवश्यकता होती है। अतः तत्सम्बन्धी सूत्र प्रस्तुत हैं–

[मनो० 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (पा० सू० ६।१।१२५ अच् परे रहने पर प्लुत तथा प्रगृह्य संज्ञावाले शब्दों का प्रकृतिभाव होता है। उदा०] एहि कृष्ण३ [=आगच्छ कृष्ण३+अत्र गौः चरति यह लक्ष्य है। दूर से बुलाने में प्रयुक्त वाक्य की टि=अन्तिम स्वर का प्लुत होता है–इस अर्थवाले] 'दूराद्धूते च' (पा० सू० ८।२।८४) सूत्र से प्लुत होता है।

किसी प्राचीन आचार्य ने 'कृष्ण३+एहि' यह उदाहरण दिया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि 'दूराद्धूते च' आदि सूत्रों में 'वाक्यस्य टेः' (पा० सू० ८।२।८२ वाक्य की टि का उदात्त होता है—) यह अधिकार है। [शब्द०] यहाँ प्रकृतिभाव-विधायक वचन के कारण ही प्लुत असिद्ध नही होता है, यह भाव है।

विमर्श—यहाँ यह ध्यान देने का विषय है कि प्लुत तथा प्रगृह्य संज्ञा के विधायक सूत्र त्रिपादी के हैं और प्रकृतिभाव का विधायक प्रस्तुत सूत्र सपादसप्ताध्यायी का है। अतः 'पूर्वत्रासिद्धम्' (पा० सू० ८।२।१) इस प्रसिद्ध सूत्र के अनुसार त्रिपादी द्वारा विहित प्लुत-प्रगृह्यसंज्ञक स्थलों पर सपादसप्ताध्यायी के सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव नहीं होना चाहिये, ऐसी शंका हो सकती है।

उक्त शंका का समाधान यह है कि त्रिपादी के सूत्रों द्वारा विहित प्लुत एवं प्रगृह्य को मानकर ही प्रकृतिभाव किया गया है, यह विधान व्यर्थ होने लगेगा। अतः विधान-सामर्थ्यवश असिद्धत्व नहीं माना जाता है। यही तात्पर्य ऊपर शब्दरत्न की पंक्ति से भी स्पष्ट है।

["इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च" (पा० सू० ६११२७) असवर्ण अच् परे रहते पदान्त दीर्घ इक का विकल्प से प्रकृतिभाव होता है और ह्रस्व होता है। इसका उदाहरण है—चक्री+अत्र। इसमें ह्रस्व और प्रकृतिभाव करने पर चक्रि अत्र यह रूप होता है, पक्ष में यण् होने पर चक्र्यत्र, ये दो रूप होते है।] [मनो०]

चक्रचत्रेति। इह "स्कोः-" (पा० सू० ८।२।२९) इति कलोपो न। यणः कार्यकालपक्षे बहिरङ्गपरिभाषयासिद्धत्वात्। स्थानिवद्भावाच्च। "पूर्वत्रासिद्धीये न" इति तु नास्ति। "तस्य दोषः संयोगादिलोप-"इत्याद्युक्तेः॥

"दूराद्धूते च" (पा० सू० ८।२।८४) हूतमाह्वानं तच्च सम्बोधनमात्रोपलक्षणमित्यभिप्रेत्याह-दूरात्सम्बोधन इति। उपलक्षणतया व्याख्यानस्य फलमुदाहरति—सक्तून् पिबेत्यादि॥

"गुरोरनृतः"। (पा० सू० ८।२।८६) अपिशब्दो गुरोरगुरोश्च टेः प्लुतार्थः। देवदत्तेति। अस्यैहीत्यादिः। एवमग्रेऽपि। सर्वः प्लुतः इति।

उपलक्षणेति। एवं चासत्यप्याह्वाने भवतीति भावः।

एहीत्यादिरिति। "वाक्यस्य टेः" (पा० सू० ८।२।८२) इत्युक्तेरिति

चक्रचत्र इसमे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' (पा० सू० ८।२।२९) से 'क' लोप नहीं होता हैं। [पदान्त में तथा झल् परे रहते जो संयोग उसके आदि में विद्यमान सकार तथा ककार का लोप होना चाहिये। इस लोप के न होने का उपपादन करते हैं—] क्योंकि कार्यकालपक्ष में अन्तरंग लोप की कर्तव्यता में, 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा से बहिरङ्ग यण् असिद्ध हो जाता है और स्थानिवद्भाव हो जाता है। [फलतः संयोगादि 'क' नहीं मिल पाता है।] यहाँ 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' [त्रिपादीस्थ कार्य की कर्तव्यता में स्थानिवत् नहीं होता है] यह वचन लागू नहीं होता है, क्योंकि 'संयोगादिलोप, लत्व और णत्व आदि करने में उक्त परिभाषा का दोष=बाध है,' ऐसा [भाष्यादि में] कहा गया है।

'दूराद्धूते च' [पा० सू० ८।२।८४ दूर से आह्वान में प्रयुक्त वाक्य की टि प्लुत होती है।] हूत=आह्वान, बुलाना—यह सम्बोधनमात्र का उपलक्षण है—इस आशय से [सिद्धान्तकौमुदी में] कहा है—दूर से सम्बोधन में। [शब्द०] उपलक्षण मानने पर आह्वान न होने पर भी प्लुत होता है, यह भाव है। [मनो०] उपलक्षण होने से किये गये व्याख्यान के फल का उदाहरण दे रहे हैं—सक्तून् पिब देवदत्त३। [देवदत्त३ ! सत्तू पिओ। यहाँ समीप में ही कहा जा रहा है तो भी प्लुत हो जाता है।]

'गुरोरनृतोऽनन्त्यस्यापि०' दूर से बुलाने में जो वाक्य उसके ऋकारभिन्न अनन्त्य भी गुरु वर्ण का विकल्प से प्लुत हो जाता है। [मनो०] सूत्रघटक—'अपि' शब्द गुरु तथा अगुरु टि का प्लुत करने के लिए है। देवदत्त३ इस उदाहरण के आदि में 'एहि' इसको, इसी प्रकार आगे भी, जोड़ना चाहिये। [शब्द०] यह 'एहि' जोड़ना इसलिए आवश्यक है क्योंकि इसमें 'वाक्य की टि का प्लुत' पा०

तथा च "अग्नीत्प्रेषणे परस्य च" (पा०सू० ८।२।९२) इति सूत्रे भाष्यम्—"सर्वः प्लुतः साहसमनिच्छताऽपि विभाषा कर्तव्यः" इति। साहसं=शास्त्रत्यागः तदनिच्छताऽपि—शास्त्रमनुरुन्धानेनापीत्यर्थ इति हरदत्तः। वैकल्पिकेष्वनुष्ठानक्लेशं धर्माधिक्यफलकमप्यशक्तत्वादनिच्छतेत्यर्थ इत्यन्ये। एतेन "द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव पुत्रेति" इति भागवतं व्याख्यातम्। प्लुतस्य वैकल्पि-

---

भावः।

हरदत्त इति। कैयटोऽप्येवम्। अत्र पक्षे "विभाषा पृष्ट—" इत्यत्र विभाषाग्रहणमवयुत्यानुवादः। "अविद्वांसः प्रत्यभिवादे·· " इत्यादि-

---

सू० ८।२।८२ यह अधिकार कहा गया है।। [इसलिए (१) एहि देवदत्त३, (२) एहि देवद३त्त, (३) एहि दे३वदत्त—ऐसे वाक्य ही प्लुत के उदाहरण हैं केवल देवदत्त पद नहीं।] [मनो०] [इस सूत्र के 'प्राचाम्' यह योग विभाग किया जाता है इससे] 'सभी प्लुत विकल्प से होते हैं।' जैसा कि 'अग्नीत् प्रेषणे परस्य च' [पा०सू०८।२।९२] इस सूत्र पर भाष्य है—"साहस को न चाहने वाले को भी सभी प्लुत विकल्प से करना चाहिए।" साहस=शास्त्रीयवचन का परित्याग, उसे न चाहने वाले=शास्त्र का परिपालन करने वाले को भी [विकल्प से करना चाहिए] यह अर्थ है—ऐसा हरदत्त ने लिखा है। [शब्द०] कैयट ने भी यही लिखा है। इस पक्ष में 'विभाषा पृष्टवचने' [पा० सू० ८।२।९३] इस सूत्र में विभाषा का ग्रहण अवयुत्या अनुवाद है। [अवयुति शब्द अवयव-अर्थवाची है। अतः सिद्ध ही विकल्प का किञ्चिदंशावच्छेदेन पुनः कथन है। यदि प्लुत करना सर्वत्र वैकल्पिक है तो निम्न भाष्योक्तवचन की सार्थकता कैसे ?]

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्॥

इत्यादि पस्पशाह्निक में स्थित भाष्य तो—विकल्प के स्थलों पर भाव का अनुष्ठान [पालन] करना ही उचित होता है इसलिए शास्त्र के अज्ञान की निन्दा का बोधक समझना चाहिये। [भाव यह है कि प्लुत करना और न करना—इनमें करना ही उचित है, इसी आशय का प्रतिपादक वह भाष्य है।] [मनो०] वैकल्पिक कार्यों में अनुष्ठान का क्लेश अधिक धर्म का साधक होता है, इसको अशक्त होने से न चाहने वाले को [भी सभी प्लुत विकल्प करना चाहिए]—यह अर्थ है—ऐसा दूसरे व्याख्याकार मानते हैं। [सभी प्लुत वैकल्पिक हैं यह सिद्धान्त है] इस से—'विरहकातर व्यास ने 'पुत्र' ऐसा (पुत्रेति) बुलाया।' (१।२।२) इस श्रीमद-

कत्वात्। किं चेह पुत्रशब्दस्य वाक्यान्तत्वं नास्तीत्यपि सुवचम्, आख्यात-प्राग्वर्तिनोऽप्यनुकरणसम्भवात्। अपि च, अस्तु प्लुतः, प्रकृतिभावस्तु वैकल्पिकत्वान्मास्तु। तथा च "ई चाक्रवर्मणस्य" (६।१।१३०) इति सूत्रे भाष्यम्—"ईग्रहणेन नार्थः। वशा इयं वशेयमिति'। प्लुतप्रकृतिभावः सर्वोऽपि

पस्पशास्थ भाष्यमपि वैकल्पिकेषु भावानुष्ठानौचित्येन शास्त्राज्ञाननिन्दापरं बोध्यम्। आख्यातप्रागिति। पुत्र एहीति वाक्यस्थस्येत्यर्थः। अनुकरणे दूरात्संबोधनत्वाभावाच्चेत्यपि बोध्यम्। वैकल्पिकत्वादिति। अस्य अप्लुतवद्भावस्येत्यादिः। अस्य अप्लुतवद्भावस्य वैकल्पिकत्वेन तत्पक्षेऽस्याभावेन तत्त्वमित्यर्थः[1]। प्लुतप्रकृतिभाव इति। तस्य मते अप्लुतवद्भावोक्तेरिति भावः। एतेन चाक्रवर्मणस्याचार्यस्याप्लुतवदित्येव भाष्योक्तेरिदं सर्वं

ऽस्य प्रणयनात् एतेन विहितस्यादेशस्य नित्यत्वमिति भावः।

गुरोरनृतः॥ मूले—एतेनेति। प्लुतमात्रस्य वैकल्पिकत्वेनेत्यर्थः। अस्येति 'ई चाक्रवर्मणस्येति विधेयस्य। अस्याभावेनेति। प्रकृतिभावस्याभावेनेत्यर्थः।

भागवत के प्रयोग की व्याख्या हो गयी, क्योंकि प्लुत विकल्प से होता है। [अतः प्लुताभावपक्ष में गुणसन्धि हो जाती है; प्रकृतिभाव नहीं होता है।] और भी, 'पुत्र' शब्द यहाँ वाक्य के अन्त में नहीं है क्योंकि आख्यात = तिङन्त के पूर्ववर्ती [पुत्र एहि इस वाक्य में स्थित का अनुकरण भी माना जा सकता है। [अतः प्लुत नहीं रह सकता।] [शब्द०] आख्यात से प्राग्वर्ती = पुत्र एहि—इस वाक्य में स्थित (पुत्र शब्द) का अनुकरण है, यह अर्थ है। और अनुकरण में दूर से सम्बोधन नहीं होता है—यह भी समझ लेना चाहिये। [मनो०] और भी, प्लुत हो जाय किन्तु वैकल्पिक होने के कारण प्रकृतिभाव न हो। [शब्द०] 'वैकल्पिक होने के कारण' इसके आदि में 'इस अप्लुतवद्भाव के' यह जोड़ लेना चाहिये। इस अप्लुतवद्भाव के वैकल्पिक होने के कारण उस पक्ष में इस प्रकृतिभाव के न होने से वैकल्पिकत्व फलित है—यह अर्थ है। [मनो०] जैसा कि "ई चाक्रवर्मणस्य" (पा० सू० ६।१।१३०) इस सूत्र पर भाष्य है—'ई' के ग्रहण का कोई प्रयोजन नहीं है, वशा इयम्—वशेयम्। (अप्लुतवद्भाव के कारण गुण हो जाता है।) सभी प्लुत और प्रकृतिभाव आचार्य चाक्रवर्मण के मत में नहीं हैं, यह भाष्य का अभिप्राय है। [शब्द०] उन चाक्रवर्मण के मत में अप्लुतवद्भाव कहा गया है, यह भाव है। (फलितार्थ-कथनपरक है—) इससे—'चाक्रवर्मण के मत में अप्लुतवत् इतना ही है क्योंकि भाष्य में यही कहा है—यह सब कथन चिन्तनीय है'—यह कहना निरस्त हो गया। अन्य प्रकार से भी यहाँ अप्लुतवद्भाव हो सकता है, इसलिए कहते हैं—

---

१. अयं पाठो भैरवीभावप्रकाशानुसारीति बोध्यम्।

चाक्रवर्मणमते नास्तीति भावः। अपि च, इह प्रकृतिभावोऽपि दुर्लभ एव। "अप्लुतवदुपस्थिते" इति सूत्रात्। उपस्थितं=नामावैदिक इतिशब्दस्तस्मिन्परे प्लुतोऽप्लुतवत्स्यादिति हि तस्यार्थः। एवं च चतुर्धापि निर्वाहे स्पष्टे आर्ष-प्रयोग इति श्रीधरोक्तिर्नादर्तव्या॥

चिन्त्यमित्यपास्तम्। प्रकारान्तरेणाप्यप्लुतवद्भावोऽत्रेत्याह--**अपि चेति। अवैदिक इति।** अस्य पुराणस्थत्वेनावैदिकत्वं स्पष्टमेव॥

तत्त्वमिति। फलितं वैकल्पिकत्वमित्यर्थः। **तस्य**=चाक्रवर्मणस्य। **श्रीधरोक्ति-र्नादर्तव्येति।** अत्र नवीनाः—तत्र श्लोके आदरार्थम् 'पुत्रा' इति बहुवचनान्तस्य सत्त्वेन, 'इति' शब्दे परे रुत्व-यलोपयोरसिद्धतया गुणसन्धेरप्राप्ततया आर्षत्वात् सन्धिः—इति श्रीधराभिप्रायेण 'नादर्तव्या' इत्युक्तिरेव नादर्तव्येत्याहुः।

[**मनो०**] और भी, यहाँ प्रकृतिभाव भी दुर्लभ है—क्योंकि 'अप्लुतवदुपस्थिते' [पा० सू० ६।१।११९] ऐसा सूत्र है। 'उपस्थित' का अर्थ है—अवैदिक=लौकिक 'इति' शब्द, इसके परे रहते प्लुत अप्लुतवत् होता है—यह उस सूत्र का अर्थ है। [**शब्द०**] भागवत पुराण में स्थित होने से इस (पुत्र+इति) का अवैदिक होना स्पष्ट ही है। [**मनो०**] इस प्रकार चार तरह से भी निर्वाह स्पष्ट रहने पर (पुत्रेति—यह) आर्ष प्रयोग है—ऐसा श्रीधरस्वामी का कथन (व्याख्या) स्वीकार करने योग्य नहीं है।

विमर्श—श्रीमद्भागवत में 'द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव, पुत्रेति तन्मयतया' (१।२।२) इत्यादि श्लोक है। व्यास जी 'पुत्र पुत्र ऐसा' बुला रहे थे। अतः पुत्र दूर से सम्बोध्य है। इसमें प्लुत और इसके फलस्वरूप प्रकृतिभाव होना चाहिये था, 'पुत्रेति' यह गुणसन्धि नहीं होनी चाहिए थी। यहाँ व्यास ऋषि ने सन्धिकार्य कर दिया है। अतः इसे आर्ष प्रयोग मानकर उपपत्ति करनी चाहिये। ऐसा प्रसिद्ध भागवत-व्याख्याकार स्वामी श्रीधर का कथन है।

परन्तु प्रौढमनोरमाकार और शब्दरत्नकार श्रीधर स्वामी के कथन से सहमत नहीं हैं। इनके अनुसार इस प्रयोग को आर्ष [अशुद्ध] न मानने में चार तर्क हैं—

(१) सभी प्लुत वैकल्पिक हैं। अतः प्लुताभावपक्ष में प्रकृतिभाव न करके सन्धि करना साधु है।

(२) 'पुत्र एहि' इस वाक्य का अनुकरण होने से 'पुत्र' शब्द वाक्य के अन्त में नहीं मिलता है, उसका प्लुत नहीं हो सकता क्योंकि वाक्य की ही 'टि' का प्लुत होता है। इसलिए भी प्रकृतिभाव नहीं होता है।

(३) यदि प्लुत करने का दुराग्रह है तो भी प्रकृतिभाव नहीं हो सकता क्योंकि

द्विवचनमिति। "सुप्तिङन्तम्" (पा० सू० १।४।१४) इति अन्तग्रहणेन "सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" इति ज्ञापितत्वादिति भावः। तेनेह न—कुमार्योर्वध्वोश्चागारं कुमार्यगारं वध्वगारमिति। स्पष्टं चेदं भाष्यादौ। द्विवचनान्तं प्रगृह्यं स्यादिति तु प्राचः प्रमाद एव।

कुमार्योरिति। अत्र हि प्रत्ययलक्षणेन द्विवचनान्तत्वं श्रुत्या चेदन्तत्व-मस्तीति भावः। इदं च द्विवचनान्तमीदन्तमित्यर्थे। ईदन्तं यद् द्विवचनं तदन्तमित्यर्थे तदन्तविध्यसम्भव एव दोषो बोध्यः।

ईदूदेद्द्विवचनम्॥ मूले—ज्ञापितत्वादिति। यदि संज्ञाविधावपि तदन्तविधिः स्यात्तदा पदसंज्ञाविधायके सूत्रेऽन्तग्रहणं व्यर्थं स्यात्, सुप्तिङोः प्रत्ययत्वेन तदन्त-स्य ग्रहणसम्भवात्। एवं च तदन्तग्रहणं व्यर्थीभूय मूलोक्तां परिभाषां ज्ञापयतीति भावः। प्रत्ययलक्षणेनेति। 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इति सूत्रेण द्विवचनस्य लोपेऽपि तद्बोधनाद् द्विवचनान्तप्रतीतिरिति भावः। मूले—प्रमाद इति। तदन्त-

---

यह वैकल्पिक है। आचार्य चाक्रवर्मण सभी प्लुतों का निषेध करते हैं। अतः हमलोगों के लिए विकल्प फलित होता है।

(४) वस्तुतः यहाँ प्रकृतिभाव दुर्लभ है क्योंकि 'अप्लुतवदुपस्थिते' (पा० सू० ६।१।१२९) यह सूत्र उपस्थित=अवैदिक=लौकिक 'इति' शब्द रहते प्लुत का अप्लुतवद्भाव करता है। भागवत पुराण है अतः यह 'इति' वैदिक प्रयोग न होने से अपितु लौकिक होने से अप्लुतवत् हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार 'पुत्रेति' इसमें न तो प्लुत होता है और न तदाश्रित प्रकृतिभाव। अतः आर्ष प्रयोग मानना उचित नहीं है।

ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। (पा० सू० १।१।११ ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त जो द्विवचन उसकी प्रगृह्य संज्ञा होती है।) [मनो०] द्विवचन—"सुप्तिङन्तं पदम्" इस सूत्र में 'अन्त' का ग्रहण करने से यह ज्ञापित होता है "प्रत्ययग्रहण रहने पर संज्ञा की विधि में प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं होता है।" इस कारण यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है—कुमार्योः अगारम्=कुमार्यगारम्, वध्वोः अगारम्=वध्वगारम्। यह भाष्यादि में स्पष्ट है। 'द्विवचनान्त प्रगृह्य होता है—' यह तो प्राचीन आचार्य का कथन प्रामादिक ही है। [शब्द०] 'कुमार्यगारम्' आदि में 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' इस के बल से द्विवचनान्त हो जाता है और [कुमारी+अगारम् में] श्रुति [साक्षात् सुनाई देने] से ईकारान्त भी है, यह भाव है। यह [कुमारी+अगारम् यहाँ अतिप्रसङ्ग] 'द्विवचनान्त ईदन्त प्रगृह्य होता है' इस अर्थ में है। परन्तु "ईदन्त जो द्विवचन तदन्त प्रगृह्य होता है'—इस अर्थ में तदन्तविधि का असम्भव होना ही दोष समझना चाहिये।

हरी एताविति । इह शाकलं न, "प्लुतप्रगृह्या-" (पा० सू० ६।१।१२५) इत्यत्र नित्यग्रहणादित्युक्तम् ।

अत्र वृत्तिकारः—"मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति पठित्वा मणीव, रोदसीव, दम्पतीव, जम्पतीवत्युदाजहार । तच्च मुनित्रयानुक्तत्वादप्रमाणमिति कयटहरदत्तादयः । एवं स्थिते—

इत्युक्तमिति । मूले इति शेषः ।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' यह परिभाषा है । इसके अनुसार शब्दस्वरूप विशेष्य हो जाता है और सुप् तथा तिङ् विशेषण बन कर तदन्तविधि हो जायगी । इसके फलस्वरूप 'सुप्=सुबन्त, तिङ्=तिङन्त' यह अर्थ सिद्ध ही हो जाता है । इस स्थिति में "सुप्तिङन्तं पदम्" (पा० सू० १।४।१४) इस सूत्र का 'अन्त' ग्रहण व्यर्थ हो जाता है और वह ज्ञापित करता है कि "संज्ञाविधि में प्रत्यय का ग्रहण रहने पर तदन्त [प्रत्ययान्त] का ग्रहण नहीं होता है ।' प्रस्तुत सूत्र भी संज्ञाविधि है । इसमें भी प्रत्यय=द्विवचन का ग्रहण है, अतः तदन्त=द्विवचनान्त का ग्रहण नहीं हो सकता । इस लिये 'कुमार्योः अगारम्'—कुमारी+अगारम् यहाँ प्रत्ययलक्षण से द्विवचनान्तत्व और श्रुत्या ईदन्तत्व मानकर प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती है । इसी लिये वृत्ति में 'द्विवचनम्' यह लिखा गया, 'द्विवचनान्तम्' ऐसा नहीं ।

[मनो०] हरी एतौ [यहाँ प्रगृह्यसंज्ञा करने पर] 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (पा० सू० ६।१।१२७) इसकी प्रवृत्ति [ह्रस्वसमुच्चित प्रकृतिभाव का विधान] नहीं होता है, क्योंकि 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" (पा० सू० ६।१।१२५) इसमें 'नित्य' का ग्रहण है [शब्द०] ऐसा मूल=सिद्धान्तकौमुदी में ['प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इस सूत्र की व्याख्या] में कहा गया है ।

[मनो०] प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने 'मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः' [मणी+इव आदि के प्रकृतिभाव का प्रतिषेध कहना चाहिये] यह पढ़कर मणीव [मणी+इव], रोदसीव [रोदसी+इव], दम्पतीव [दम्पती+इव], जम्पतीव [जम्पति+इव]—ये उदाहरण दिये हैं । [रोदसी=द्यावापृथिवी, दम्पती और जम्पती समानार्थक हैं, पति और पत्नी के वाचक हैं । अतः ईकारान्तद्विवचन होने से प्रगृह्य संज्ञा और प्रकृतिभाव प्राप्त है । उसका प्रतिषेध करना है ।] परन्तु मुनित्रय [पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि] द्वारा न कहा जाने के कारण अप्रामाणिक है—ऐसा कैयट तथा पदमंजरीकार हरदत्त आदि ने लिखा है । ऐसी स्थिति में—'ऊँट की

"मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम" ॥

इति भारतप्रयोगं समर्थयते—इवार्थ इति। वशब्द इति।

"वं प्रचेतसि जानीयादिवार्थे च तदव्ययम्"। इति मेदिनी ॥

"व वा यथा तथेवैवं साम्ये" इत्यमरग्रन्थव्याख्यावसरे "शास्त्रवं व पपुर्यशः" इति कालिदासप्रयोगस्याभियुक्तैरुदाहृतत्वात्, "कादम्बखण्डितदलानि व पङ्कजानि" इत्यादिदर्शनाच्चेति भावः। यत्तु पाठान्तरं

शात्रवं वेति। शात्रवं यश इवेत्यर्थः। व वेत्यादिकोशप्रदर्शनेन वशब्द इवपर्यायः स्वतन्त्र एव; न तु सत्या भामादिवत् एकदेश इति सूचयति। "विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वाच्यः" इति वचनेन तादृशस्थले तथाकल्पनेऽप्यखण्डे पदे तथात्वे मानाभावात्।

विध्यसम्भवेन द्विवचनान्तत्वस्य प्रतीत्यसम्भवादिति बोध्यम्। मूले—शाकलमिति।

मणियों के समान मेरे दो प्रिय बच्चे लटक रहे हैं।' [मणीव–]

इस महाभारतीय प्रयोग का समर्थन [सिद्धान्तकौमुदी में] कर रहे हैं—यहाँ 'इव' [=समान] के अर्थ में 'व' अथवा 'वा' शब्द समझना चाहिये। [अतः यहाँ 'इव' शब्द नही है।]

'प्रचेता=वरुण अर्थ में और सादृश्य अर्थ में 'व' अव्यय को समझना चाहिये।' यह मेदिनीकोश में लिखा है।

'व वा, यथा, तथा, इव और एवम्'–ये छह शब्द साम्य अर्थ में हैं। "[अमरकोश ३। अव्ययवर्ग ९]" इस अमरकोष की व्याख्या के प्रसंग में 'शात्रवं व पपुः यशः।' ('व' इवार्थक) इस कालिदासीय प्रयोग को उदाहरणरूप से प्रस्तुत किया गया है। और 'कादम्बखण्डितदलानि व पङ्कजानि।' ('व' इवार्थक) आदि देखा गया है। [शब्द०] शात्रव=शत्रुसम्बन्धी यश के समान—यह अर्थ है। 'व' 'वा' इत्यादि कोश में प्रदर्शन होने के कारण 'व' शब्द 'इव' का पर्याय स्वतन्त्र शब्द है, न कि [सत्यभामा के] 'सत्या' 'भामा' आदि के समान एकदेश=अवयव है—यह सूचित किया है। 'प्रत्यय के विना भी पूर्व तथा उत्तर पद का लोप कहना चाहिये।' इस वचन के द्वारा इस सखण्डस्थल [सत्यभामा आदि] में उस प्रकार [सत्यभामा आदि एक पद] की कल्पना सम्भव रहने पर पर भी ['इव' आदि] अखण्ड पद में उस प्रकार [पूर्वपद तथा उत्तर पद] की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं है। [मनो०] किसी ने [उक्त अमरकोश में 'व वा' के स्थान पर] 'वद्वा यथा तथा' इत्यादि पाठान्तर माना है,

"यद्वा यथा तथा" इत्यादि, तदयुक्तम्, नामलिङ्गानुशासनप्रक्रमे तद्धितवतेरननुगुणत्वात्। अपत्यसमूहादिपर्यायमध्येऽण्-फञ्वुञादीनामनुक्तेश्च ॥

"अदसो मात्" पा०सू० १।१।१२ ॥ इह एकारो नानुवर्तते, असम्भवात्। इत्यभिप्रेत्याह—ईदूताविति। ननु ऊकारानुवृत्तिर्व्यर्था, स्त्रियौ फले वा 'अमू आसाते' इत्यत्र पूर्वेणैव सिद्धेः, मुत्वस्यासिद्धत्वेऽप्येकारान्तत्वादत आह—रामकृष्णाविति। पुंसि पूर्वेण न सिध्यति, औकारान्तत्वादिति भावः। "अदसो मात्" (पा० सू० १।१।१२) इति सूत्रं प्रति तु मूत्वमीत्वे नासिद्धे, आरम्भसामर्थ्यात्।

आरम्भसामर्थ्यादिति। ननु कार्यकालपक्षेऽनुनासिकप्रतिषेधेन चारि-

---

'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' इति सूत्रेण ह्रस्वसमुच्चितः प्रकृतिभावो नेति भावः। **एकदेशः**=इव शब्दस्यावयवभूतः 'व' इति भावः। **अखण्डे**=विभागायोग्ये एकस्मिन् पदे। **तथात्वे**=पूर्वोत्तरपदयोः कल्पने तयोर्लोपे वा। मूले—

वह ठीक नहीं है क्योंकि नाम=प्रातिपदिकों और लिङ्ग के अनुशासन [कोश] में तद्धित के 'वति' प्रत्यय का कहना अनुपयुक्त है। और 'अपत्य' 'समूह' आदि शब्दों के पर्यायों के मध्य में [तदर्थ में विहित तद्धित प्रत्यय] 'फिञ्' 'वुञ्' आदि को नहीं कहा गया है। [अतः कोश में प्रत्ययों का पाठ मानना प्रामाणिक न होने से उक्त पाठान्तर की कल्पना भी अप्रामाणिक है।]

अदसो मात्। [पा० सू० १।१।१२ अदस् शब्दसम्बन्धी मकार से परे 'ईत्' तथा 'ऊत्' प्रगृह्य होते हैं। [मनो०] इस सूत्र में ['ईदूदेत्' सूत्र से] 'ए' कार की अनुवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि [अदस् शब्द के किसी भी रूप में 'म्' से परे ए] सम्भव नहीं है। इसी आशय से [सिद्धान्तकौमुदी में] कहा है—[अदस् के अवयव मकार से परे] 'ईत्' और 'ऊत्' प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं।

इस सूत्र में ऊकार की अनुवृत्ति व्यर्थ है क्योंकि 'स्त्रियौ अमू+आसाते' तथा 'फले अमू+आसाते' [इन स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग] में पूर्ववर्ती ['ईदूदेत्'] सूत्र से ही प्रगृह्यसंज्ञा सिद्ध हो जाती है। क्योंकि मुत्व के असिद्ध हो जाने पर भी [अदे-इस रूप में] एकारान्तत्व मिल जाता है—इसी लिये [पुंलिङ्ग में] उदाहरण देते है-'रामकृष्णौ' अमू+आसाते' यहाँ पुंल्लिङ्ग में पूर्ववर्त्ती सूत्र से नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि [मुत्व असिद्ध हो जाने पर 'अदौ' ऐसा] औकारान्त ही रहता है—यह भाव है। 'अदसो मात्' इस सूत्र के प्रति मूत्व तथा मीत्व असिद्ध नहीं होते हैं क्योंकि सूत्र बनाया गया है। [यदि ये असिद्ध हो जाते तो सूत्र व्यर्थ हो जाता।]

[शब्द०] [आरम्भ-सामर्थ्य से इस की दृष्टि में 'मूत्व और मीत्व' असिद्ध नहीं

तार्थ्यं, तत्पक्षे हि संज्ञाशास्त्रस्य न पृथग् बोधकत्वं, "पूर्वत्रासिद्धम्" (पा०सू० ८।२।१) इति चातिदेशः कार्यार्थः, कार्यज्ञानं वाक्यार्थबोधोत्तरमिति यद्देशे वाक्यार्थबोधस्तद्देशस्थत्वमेव तस्य ।

किं च अधिकारः सः । एवं च मुत्वदृष्टया अनुनासिकविधेर-

अननुगुणत्वात् =अननुकूलत्वात् । **अनुक्तेश्चेति** । तत्र यदि वति-प्रत्ययस्य ग्रहणं स्यात् तदा अपत्यादीनां पर्यायेषु तद्बोधकप्रत्ययानामुल्लेखः स्यात् । परन्तु तदभावान्न वतिग्रहणमिति बोध्यम् ।

अदसो मात् ॥ मूले—**असम्भवादिति** । 'मात्' इत्यस्य पञ्चम्यन्तत्वेन 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यस्याः परिभाषाया उपस्थित्या अदश्शब्दावयव-मकाराव्यवहितोत्तरस्य एकारस्य सर्वथा दुर्लभत्वेन फलाभावादेकारो नानुवर्त्तते इति बोध्यम् । मूले—

होते हैं । अन्यथा सूत्र का व्यर्थ होना स्पष्ट है । कार्यकालपक्ष में भी यह चरितार्थ नहीं है, इस बात का उपपादन करते हैं–] कार्यकाल पक्ष में ["अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः" पा० सू० ८।४।५७ से प्राप्त] अनुनासिकत्व का प्रतिषेध करने से प्रस्तुत सूत्र चरितार्थ है, क्योंकि कार्यकाल पक्ष में संज्ञाशास्त्र पृथक् स्वतन्त्ररूप से बोधक [=लक्ष्यसंस्कारक] नहीं होता है [प्रत्युत जिसके साथ एकवाक्यतापन्न होता है वही देश संज्ञा शास्त्र का भी मान लिया जाता है] और चूँकि 'पूर्वत्रासिद्धम्' यह अतिदेश शास्त्रकार्य के सम्पादनार्थ है और कार्य का ज्ञान वाक्यार्थबोध के बाद ही होता है इस लिये जिस देश में वाक्यार्थबोध होता है, उसी देश में संज्ञा शास्त्र का स्थित होना माना जाता है ।

विमर्श–संज्ञा एवं परिभाषा के विषय में दो पक्ष हैं–(१) 'यथोद्देशं संज्ञा परिभाषम्' और (२) 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' । कार्यकाल-पक्ष में प्रगृह्य-संज्ञाविधायक शास्त्र की पृथक् बोधकता नहीं रहती है । अतः अनुनासिक-विधायक 'अणोऽप्रगृह्यस्य' [पा०सू० ८।४।५७] इसी के साथ संज्ञाविधायक की एकवाक्यता होती है । इस लिये विधिसूत्र का जो देश, वही संज्ञा शास्त्र का भी मान लिया जाता है । फलतः संज्ञा ही असिद्ध हो जाती है । इसको 'पूर्व' शब्द से लेना सम्भव नहीं है, इस कारण इसकी दृष्टि में मूत्व और मीत्व सिद्ध ही हैं, असिद्ध नहीं । उन 'ई' तथा 'ऊ' की प्रगृह्य संज्ञा होने से अनुनासिक का प्रतिषेध करने में प्रस्तुत सूत्र चरितार्थ है ।

परन्तु शास्त्रासिद्धत्व-पक्ष ही सिद्धान्तभूत है कार्यासिद्धत्व नहीं । इस कारण उपर्युक्त समाधान के प्रति अपनी अरुचि प्रदर्शित करते हुए शब्दरत्नकार आगे लिख रहे हैं ।

[शब्द०] और भी, वह ['पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र] अधिकार है । इस प्रकार

सिद्धत्वेन तदेकवाक्यतापन्नसञ्ज्ञाया अपि तद्दृष्ट्याऽसिद्धतया मुत्वशास्त्रेऽनुवृत्तपूर्वत्रासिद्धमित्यत्रत्यपूर्वशब्देन तदेकवाक्यतापन्नस्य "अदसो मात्" (पा० सू० १।१।१२) इत्यस्य ग्रहीतुमशक्यत्वम्। एतेन—कार्यकालपक्षेऽपि पाठकृतपूर्वत्वस्यानपगमेन सञ्ज्ञां प्रत्यसिद्धत्वं दुर्वार-

---

आरम्भसामर्थ्यादिति। अयं भावः—'अदसोऽसेर्दादुदोमः' (पा० सू० ८।२।८०) इति उत्वमत्व-विधायकं सूत्रं त्रिपादीस्थम्, प्रस्तुतं प्रगृह्यत्व-विधायकं च सूत्रं सपादसप्ताध्यायीस्थम्। एवञ्च 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेनैतद्दृष्टया उत्वमत्वविधायकस्यासिद्धया तादृशरूपस्य क्वाप्यलाभात् प्रकृतसूत्र व्यर्थं स्यात्। अत अस्यारम्भसामर्थ्याद् एतद्दृष्टया नोत्वमत्वादेरसिद्धत्वमिति बोध्यम्। शब्दरत्ने—**हि**= यतः। **न पृथग्बोधकत्वम्**=लक्ष्यसंस्कारक-पृथग्बोधकत्वं नास्ति, विधिदेशस्यैव संज्ञादेशत्वादिति भावः। **सः**=पूर्वत्रासिद्धमिति अतिदेशः। **एतेनेति**। उक्त-

---

अधिकार सूत्र होने पर ['अदसोऽसेर्दादुदोमः' पा० सू० ८।२।८० से विहित] मुत्व की दृष्टि से [अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' पा० सू० ८।४।५७ से विहित] अनुनासिक विधि असिद्ध होती है, इस कारण इस [अनुनासिकत्वविधि सूत्र] के साथ एकवाक्यतापन्न प्रगृह्य संज्ञा भी मुत्व की दृष्टि से असिद्ध हो जाती है इस कारण मुत्वशास्त्र ['अदसोऽसेः'] में अनुवृत्त 'पूर्वत्रासिद्धम्' इस सूत्र के 'पूर्व' शब्द से, अनुनासिकविधि के साथ एकवाक्यतापन्न 'अदसो मात्' इस सूत्र का ग्रहण करना सम्भव नहीं है। [क्योंकि सिद्ध को ही 'पूर्व' अथवा 'पर' शब्दों से लिया जा सकता है।]

विमर्श—भाव यह है कि 'अदसो मात्' [१।१।१२] यह 'अणोऽप्रगृह्यस्य' [८।४।५७] के साथ एकवाक्यतापन्न होता है, दोनों मिलकर महावाक्य बनते हैं। मुत्वविधायक 'अदसोऽसेः' [८।२।८०] है। इसकी अपेक्षा संज्ञाशास्त्र ही परवर्त्ती है। इस कारण मुत्वविधायक शास्त्र में जब 'पूर्वत्रासिद्धम्' का सम्बन्ध होता है तो इसमें 'पूर्व' शब्द से 'अदसो मात्' यह नहीं लिया जा सकता क्योंकि पूर्वोक्त एकवाक्यता से यह संज्ञा शास्त्र ही परवर्त्ती हो जाता है, यही मुत्व की दृष्टि में असिद्ध होता है न कि इसकी दृष्टि में मुत्व। अतः मुत्व सिद्ध है, अनुनासिकत्व प्राप्त होता है, इसका वारण करने के लिये प्रगृह्यसंज्ञा सूत्र चरितार्थ है; व्यर्थ नहीं है।

[शब्द०] इससे [अर्थात् 'पूर्वत्रासिद्धम्' ८।२।१ की प्रवृत्ति में अष्टाध्यायीस्थ वास्तविक पूर्वत्व और परत्व न मानने से]—'कार्यकालपक्ष में भी [साथ ही यथोद्देशपक्ष में भी] अष्टाध्यायी का वास्तविक पाठकृत पूर्वत्व समाप्त नहीं होता है अतः [प्रगृह्य] संज्ञा के प्रति [उत्व और मत्व का] असिद्ध होना रोकना असम्भव

एकारोपीति। तथा च एकाराननुवृत्तितात्पर्यग्रहणफलकं मादग्रहणमिति भावः।

मित्यपास्तमिति चेन्न, 'अप्रगृह्यादस' इति न्यासेनैव सिद्धौ सामान्यसञ्ज्ञा-सूत्रकरणसामर्थ्येन "प्लुतप्रगृह्या" (पा० सू०६।१।१२५) इत्यत्राप्युपस्थित्या तत्सामर्थ्येनासिद्धत्वबाधात् । हेऽसुक, असुका इत्यादौ व्यवस्थितविभाषा-श्रयणात्, तयोरनभिधानाद्वा सूत्रमतेऽपि नानुनासिक इत्याशयात्। स्पष्टं चेदं भाष्ये ।।

भाष्याभिमतप्रागुक्तव्याख्याने संज्ञास्थले क्वचित् विद्यमानस्यापि पाठकृतपूर्वत्वस्य

है [असिद्ध होंगे ही]'—यह कहना परास्त हो गया—यदि ऐसा कहते हो तो नहीं कह सकते, क्योंकि ['अणोऽप्रगृह्यस्य' इस सूत्र में] 'अप्रगृह्यादसः' इस प्रकार के न्यास से ही [अनुनासिकत्व का वारण सिद्ध रहने पर सामान्य सूत्र बनाने के सामर्थ्य से 'प्लुतप्रगृह्याः' इस सूत्र में भी ['अदसो मात्' की] उपस्थिति होती है अतः उपस्थिति-सामर्थ्य से [मूत्व तथा मीत्व की] असिद्धि में बाध हो जाता है अर्थात् ये सिद्ध ही रहते हैं। हे असुका', असुका', इत्यादि में व्यवस्थित-विभाषा का आश्रयण करने से अथवा इन दोनों का अनभिधान होने से सूत्रकार के मत में भी अनुनासिक नहीं होता है, यह आशय है। यह विषय भाष्य में स्पष्ट है।

विमर्श—यहाँ भाव यह है कि पूर्वपक्षी के अनुसार अनुनासिकत्वविधायक शास्त्र में जैसे संज्ञा शास्त्र की उपस्थित होती है और संज्ञा शास्त्र परवर्त्ती हो जाता है मूत्वविधायक शास्त्र पूर्ववर्त्ती। इस लिये संज्ञा शास्त्र की दृष्टि में मूत्वादि असिद्ध नहीं होते हैं। इसी प्रकार संज्ञाविधायक 'अदसो मात्' यह शास्त्र प्रकृति-भाव-विधायक 'प्लुतप्रगृह्या' [पा० सू० ६।१।१२५] से भी सम्बद्ध होगा अतः ऊत्व, मत्व को असिद्ध नहीं किया जा सकता। अन्यथा इस सूत्र में उसकी उपस्थिति व्यर्थ होने लगेगी। पाणिनीय सूत्र-क्रमानुसार तो मूत्वविशिष्ट अदस् की प्रगृह्य संज्ञा होने से उसका अनुनासिकत्व वारित हो जाता है।

परन्तु नवीन कल्प्यमान 'अप्रगृह्यादसः' इस न्याय से तो 'हे असुका' असुका' यहाँ भी अनुनासिकत्व की आपत्ति है। इसलिये फलभेद के कारण इस न्यास की कल्पना सम्भव नहीं है—इस शंका का समाधान यह है कि व्यवस्थित-विभाषा अथवा अनभिधान मानकर इनमें अनुनासिकत्ववारण किया जा सकता है।

[मनो०] [यदि प्रस्तुत सूत्र में 'मात्' का ग्रहण नहीं रहेगा तो] एकार की भी अनुवृत्ति ['ईदूदेद् द्विवचनम्' सूत्र से] होने लगेगी, [क्योंकि "एकयोग-निर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः, सह वा निवृत्तिः"—यह नियम है। 'मात्' का ग्रहण करने पर तो अदस् के किसी भी रूप में 'म्' से परे 'ए' न होने से फलाभावात् 'ए' की अनुवृत्ति नहीं होती है।] इस प्रकार 'मात्' इसका ग्रहण 'ए' की अननु-

अत्रेदं चिन्त्यम्—ईदूत्सप्तम्यर्थे प्रगृह्यम्, अदसः, एच्च द्विवचनमित्येव कुतो न सूत्रितम्। एवं हि पूर्वसूत्रस्थमीदूद्ग्रहणं प्रकृतसूत्रे माद्ग्रहणं च मास्तु, एकदेशानुवृत्तिक्लेशोऽपि नेति॥

"शे" (पा० सू० १।१।१३)॥ छान्दसमपीदं सन्दर्भशुद्ध्यर्थमुक्तम्। वस्तुतस्त्वनुकरणार्थतया लोकार्थमपि सम्भवत्येव, 'त्वे रायो मे राय' इत्यादौ त्वे इति, मे इति, इत्यनुकरणे प्रयोजनलाभात्। अस्मे इति। अस्मभ्यमि-

---

छान्दसमिति। 'शे' आदेशस्य च्छान्दसत्वादिति भावः। मे इतीत्य-

'पूर्वत्र' इत्यादि-प्रवृत्तावनियामकत्वसूचनेनेत्यर्थः। **अपीति**। अपिना यथोद्देशपक्षस्य संग्रहः। **न्यासेनेति**। 'अणोऽप्रगृह्यादसोऽनुनासिकः' इति न्यासेनेत्यर्थः। **एवेन** प्रकृतसंज्ञा सूत्रनिरासः। **उपस्थित्येति**। 'अदसो मात्' इत्यस्येति भावः। **तत्सामर्थ्येनेति**। उपस्थितिसामर्थ्येनेत्यर्थः। कल्पितन्यासेऽनुपपत्तिं वारयति—**व्यवस्थितेत्यादिना**। मूले—**कुतो न सूत्रितमिति**। तथाभूतेन लघुसूत्ररूपेणापि निर्वाहसम्भवादिति बोध्यम्। शब्दरत्नकारस्यापि अत्र सहमतिः, तेनासमालोचित्वादिति बोध्यम्॥

वृत्ति में तात्पर्यग्रहण कराने वाला है, यह भाव है। यहाँ यह विचारणीय है—'ईदूत् सप्तम्यर्थे 'प्रगृह्यम्' 'अदसः' 'एच्च द्विवचनम्' ऐसे ही [तीन] सूत्र क्यों नहीं बनाये। क्योंकि ऐसा करने पर पूर्वसूत्र ['ईदूदेद्द्विवचनम्'] में स्थित ईदूदेद्ग्रहण और प्रस्तुत सूत्र ['अदसो मात्'] में 'मात्' ग्रहण न रहे, और एकदेश की अनुवृत्ति का क्लेश भी नहीं रहता है।

विमर्श—प्रौढमनोरमाकार के 'ईदूदेद्', अदसो मात्' तथा 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' इन तीन सूत्रों के स्थान पर (१) ईदूदेत् सप्तम्यर्थे प्रगृह्यम् [सप्तमी के अर्थ में पर्यवसन्न ईदन्त और ऊदन्त प्रगृह्य होते हैं।] (२) 'अदसः' [अदस् शब्द के अवयव 'ई' 'ऊ' प्रगृह्य होते हैं।] (३) 'एच्च द्विवचनम्' [ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचन शब्द प्रगृह्यसंज्ञक होते हैं।] इन सूत्रों को मानने से कई लाभ हैं, जो ऊपर प्रस्तुत किये जा चुके हैं॥

'शे' [पा० सू० १।१।१३ 'सुपां सुलुक्' पा० सू० ७।१।३९ से विहित शे=ए की प्रगृह्य संज्ञा होती है।] [मनो०] यद्यपि यह सूत्र वैदिक प्रयोग से सम्बद्ध है तथापि सन्दर्भशुद्धि=प्रकरणवश लिख दिया गया है। [शब्द०] 'शे' यह आदेश केवल वैदिक प्रयोगों में ही होता है, यह भाव है। [मनो०] वास्तव में अनुकरणार्थ होने के कारण यह लौकिक प्रयोगों के लिये भी हो ही सकता है, क्योंकि 'त्वे रायो मे राय' इनमें से अनुकरण करने पर 'त्वे+इति' 'मे+इति' ऐसे

स्यथ:। भ्यत: "सुपां सुलुक्" (पा० सू० ७।१।३९) इति शे आदेश:। "शेषे लोप:" (पा० सू० ७।२।९०)॥

"निपात" (पा० सू० १।१।१४) अनाङिति पर्युदासादेवाज्रूपनिपाते लब्धे निपातग्रहणमुत्तरार्थं स्पष्टार्थमिहैव कृतम्। आ एवमिति। पूर्वं प्रक्रान्तस्य वाक्यार्थस्यान्यथात्वद्योतकोऽयमाकार:। पूर्वमित्थं नामंस्था

नुकरणे इति। प्रकृतिवदनुकरणमित्यतिदेशेन पदत्वात्पदान्तत्वप्रयुक्त: प्रकृतिभावस्तत्र। तेनातिदेशेन प्रगृह्यत्वं तु न, त्वे राय इत्यादावनुकार्ये फलाभावेन प्रगृह्यत्वाप्रवृत्त्या तदनुकरणेऽतिदेशेनासिद्धचोपदेशप्रवृत्तिरेव वाच्येति भाव॥

प्रयोजनों की सिद्धि हो सकती है। [शब्द०] 'मे + इति' इस अनुकरण में प्रगृह्य संज्ञा प्रयोजन है क्योंकि 'अनुकरण प्रकृति के तुल्य ही होता है' इस अतिदेश के कारण पद हो जाने से पदान्तत्व को मान कर होने वाला प्रकृतिभाव यहाँ हो जाता है। परन्तु इस अतिदेश से प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है क्योंकि 'त्वे राय:' इस अनुकार्य में [अच् परे न होने से सन्धिकार्य रोकना आदि कोई भी] फल न होने के कारण प्रगृह्य संज्ञा की प्रवृत्ति नहीं होती है, इसीलिये उसके अनुकरण में [भी] अतिदेश से प्रगृह्य संज्ञा सिद्ध नहीं होती है; इस कारण उपदेश = सूत्र की ही प्रवृत्ति करनी चाहिए, अर्थात् प्रगृह्य संज्ञा के लिए सूत्र की प्रवृत्ति आवश्यक है, अनुकरण से काम नहीं चल सकता, यह भाव है। [मनो०] 'अस्मे' इसका 'अस्मभ्यम्' यह अर्थ है "सुपां सुलुक्" [पा० सू० ७।१।३९] इस सूत्र के द्वारा 'भ्यस्' के स्थान पर 'शे' यह आदेश होता है ['लशक्वतद्धिते' पा० सू० १।३।८ से 'श्' की इत्संज्ञा और लोप करने पर 'ए' बचता है। 'अस्मद् + ए' यहाँ] 'शेषे लोप:' [पा० सू० ७।२।९०] सूत्र से टि = अद् का लोप करने पर [अस्म् + ए =] 'अस्मे' रूप बनता है॥

"निपात एकाजनाङ्" [पा० सू० १।१।१४ 'आङ्' को छोड़कर एक अच् जो निपात उसकी प्रगृह्यसंज्ञा होती है।] 'अनाङ्' इस पर्युदास [निषेध] के द्वारा ही 'अच्रूप निपात' इस अर्थ का लाभ सम्भव होने पर 'निपात' का ग्रहण उत्तरवर्त्ती सूत्र के लिए है, यहाँ सूत्र में स्पष्टता के लिए ग्रहण कर दिया गया है। [पर्युदास नञ् के प्रयोग से—आङ्भिन्न और आङ्सदृश जो एकाच्—ऐसा अर्थ होने से 'निपात' की प्रतीति स्वत: हो जाती—यह भाव है।] आ एवं नु मन्यसे = पूर्व प्रकरण से प्राप्त = ज्ञात वाक्यार्थ के अन्यथात्व = अन्य प्रकार का होना [अनभिमत होना]—इस अर्थ का द्योतक यह 'आ' है। पहले ऐसा नहीं मानते थे, इस समय

इदानीं त्वेवं मन्यसे इत्यर्थः। आ एवं किलेति। **स्मरणद्योतकोऽयमाकारः।** [वाक्येत्यादि।] **तथा च भाष्यम्।**

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित्॥ इति।

अन्यथात्वेति। अनभिमतत्वेत्यर्थः। तदाह—**नामंस्था इति। स्मरणेति।** विस्मृतस्य स्मरणविषयताद्योतक इत्यर्थः। मर्यादाभिविधावित्यत्र मध्यमपदलोपी समासः। तत्सहितेऽभिविधावित्यर्थः। **सप्तम्यर्थेति।** तद्वृत्तित्वं च

---

१ निपात एकाजनाङ्॥ एकोऽज् निपात आङ्वर्जः प्रगृह्यः स्यादिति वृत्तिः। मूले—**उत्तरार्थमिति।** 'ओत्' (पा० सू० १।१।१५) इत्यादावनुवृत्त्यर्थमिति प्रतीतिर्भवतीति बोध्यम्। ननु भाष्ये 'मर्यादाभिविधौ' इत्यत्र कथमेकवचनमत आह शब्दरत्ने—**मध्यमपदलोपीति।** मूले—**अन्यस्य**=कारिकोक्तभिन्नस्य। भावः। **स्पष्टार्थमिति।** 'निपात एकाजनाङ्' इति सूत्रे निपातग्रहणाभावे 'आङ्भिन्न आङ्सदृशो य एकाच्' इत्यर्थे आङ्सादृश्यस्य कदाचिदर्थवत्त्वेनापि ग्रहणे 'चकारात्र' इत्यादौ णल् प्रत्ययस्यार्थवत्त्वादेकाज्रूपत्वाच्च प्रगृह्य-संज्ञापत्त्या प्रकृतिभावापत्तिः स्यात्। कृते तु तद्ग्रहणे 'निपातत्वेनैवात्र सादृश्यं गृह्यते' इति स्पष्ट-

---

तो ऐसा मान रहे हो—यह अर्थ है। **[शब्द०]** अन्यथात्व=अभिमत न होना। यही कह रहे हैं—नहीं मानते थे=नहीं अभिमत था। **[मनो०]** आ एवं किल तत्। [हाँ, ऐसा ही था।]—इसमें यह 'आ' स्मरण अर्थ का द्योतक है। **[शब्द०]** भूले हुए की स्मरणविषयता [याद आ जाने] का द्योतक 'आ' है, यह अर्थ है। **[मनो०]** वाक्य और स्मरण में अङित् होता है। ['आङ्' न मानकर 'आ' माना जाता है अतः 'अनाङ्' निषेध नहीं प्रवृत्त होता है। प्रगृह्य संज्ञा और प्रकृतिभाव हो जाता है।] जैसा कि भाष्य में कहा है—

(१) ईषत्=थोड़ा अर्थ में, [जैसे—आ+उष्णम्=ओष्णम्], (२) क्रिया-योग में [जैसे—आ+इतः=एतः] (३) मर्यादा और (४) अभिविधि—इन अर्थों में 'आ' को ङित्=आङ समझना चाहिए। किन्तु वाक्य तथा स्मरण अर्थों में अङित्=आ समझना चाहिए। [इन दो में पर्युदासनिषेध लागू न होने से प्रगृह्य-संज्ञा और प्रकृतिभाव होता है। "तेन विना मर्यादा। तेन सह अभिविधिः।" इसके अनुसार सीमा को छोड़ने पर 'मर्यादा' और सम्मिलित कर लेने पर 'अभि-विधि' होता है। अतः 'आ पाटलिपुत्रात् वृष्टो देवः' यहाँ पटना को छोड़ देने पर 'मर्यादा' और सम्मिलित कर लेने पर 'अभिविधि' होती है।]

[शब्द०] मर्यादाभिविधौ—यहाँ द्वन्द्व नहीं है अपितु मध्यमपदलोपी तत्पुरुष समास है—मर्यादासहिते अभिविधौ—यह अर्थ है।

अत्र अङित्लक्षण एव तात्पर्यं, लाघवात्। अन्यस्य ङित्त्वं त्वर्थसिद्धम्। ईषदर्थेत्यादिस्तु अवयुत्यानुवादः। एवं च 'अभ्र आँ अप' इत्यत्र सप्तम्यर्थ-वृत्तेरप्याकारस्य ङित्त्वात् "आङोऽनुनासिकश्छन्दसि" (पा० सू० ६।१।१२६) इति प्रवर्तत इति भावः॥

"ओत्"। (पा० सू० १।१।१५) निपातः किम्? देवोऽसि। वायवायाहि॥

"संबुद्धौ"॥ (पा० सू० १।१।१६) ऋषिः = वेदः "तदुक्तमृषिणा" इत्यादौ तथा दर्शनादित्यभिप्रेत्याह—अवैदिक इति। सम्बुद्धौ किम्? अहो इति। अत्र परत्वाद्विकल्पो मा भूत्।

तस्य निरुक्ते स्पष्टम्। अव्ययीभावाभावश्च श्रुतौ छान्दसत्वाद् बोध्यः॥

[मनो०] यहाँ भाष्य में अङित् के बोध कराने में ही तात्पर्य है क्योंकि लाघव है। अन्य अर्थों में ङित्त्व तो अर्थतः सिद्ध है। ईषदर्थे—इत्यादि तो अवयुति = एकदेश = अंशतः, अनुवाद कथन है।

इस प्रकार 'अभ्र आँ अपः' इसमें सप्तमी के अर्थ में विद्यमान भी 'आ' कार ङित् होता है अतः 'आङोऽनुनासिकश्छन्दसि' [पा०सू० ६।१।२६ अच् परे रहते वेद में आङ् का अनुनासिक होता है और प्रकृतिभाव होता है।] यह सूत्र प्रवृत्त होता है, यह भाव है। [शब्द०] सप्तमी के अर्थ में आङ् का होना निरुक्त में स्पष्ट है। और वैदिक प्रयोग होने के कारण [विभक्त्यर्थ में 'अव्ययं विभक्ति-समीप०" पा० सू० २।१।६ से] अव्ययीभाव समास का अभाव समझना चाहिये॥

"ओत्" [पा० सू० १।१।१५ ओकारान्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा होती है।] [मनो०] निपात—इसके ग्रहण का क्या फल है? देवोऽसि, वायवायाहि [देवो + असि, वायो + आयाहि—यहाँ दोनों ओकारान्त हैं किन्तु निपात नहीं हैं अतः प्रगृह्य संज्ञा न होने के कारण प्रकृतिभाव न होकर सन्धिकार्य होते हैं।]

'सम्बुद्धौ शाकल्यस्य' [पा० सू० १।१।१६ अवैदिक 'इति' शब्द परे रहते सम्बोधन एकवचननिमित्तक ओकार की प्रगृह्य संज्ञा होती है, शाकल्य आचार्य के मत में।] ऋषि = वेद, क्योंकि "जैसा कि ऋषि ने कहा है," इत्यादि में वैसा = वेद अर्थ ही देखा जाता है [आर्ष = वैदिक, अनार्ष = अवैदिक] इसी आशय से [सिद्धान्तकौमुदी में] लिखा है—अवैदिक 'इति' शब्द परे रहते, इत्यादि। सम्बुद्धि में = सम्बोधन एकवचन-निमित्तक ओकार रहने पर—इसके ग्रहण का क्या फल है? अहो + इति—इसमें परवर्त्ती सूत्र होने से ['ओत्' का बाध करके इसी सूत्र से] विकल्प न होने लगे। [यहाँ 'ओ' स्वाभाविक है सम्बुद्धिनिमित्तक नहीं है।]

अत्र परत्वादिति। न चैतदभावे नित्यविधिर्दुर्वारः। इतिशब्दातिरिक्ते "ओत्" (पा० सू० १।१।१५) इत्यस्य, निपातातिरिक्ते "सम्बुद्धौ–" (पा० सू० १।१।१६) इत्यस्य [च] चारितार्थ्येन सामर्थ्याभावात्, एवं च फलेऽविशेष इति वाच्यम्, परत्वेन विकल्पप्रवृत्तावभावपर्यन्तमप्यस्य व्यापारेण सकृद्गतिन्यायेन "ओत्" (पा० सू० १।१।१५) इत्यस्य तदभावेऽप्रवृत्तेः। अत एव "न यदि" (पा० सू० ३।२।११३) "विभाषा साकाङ्क्षे" (पा० सू० ३।२।११४) इति सूत्रे निषेधीयोभयत्र-विभाषेति सङ्गच्छते।

मूले—**अवयुत्यानुवाद** इति। एकदेशस्य कथनमात्रमिति भावः। मूले—**सप्तम्यर्थवृत्तेरिति**। सप्तम्यर्थे वर्तमानत्वस्य। शब्दरत्ने—**तद्वृत्तित्वमिति**। सप्तम्यर्थे वृत्तित्वमित्यर्थः। **निरुक्ते इति**। तत्र हि 'अभ्रे आँ अपः, अपोऽभ्रेऽधि' इत्याद्युक्तम्॥

ओत्। ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यादिति वृत्तिः। देवो+असि, वायो+आयाहि—इत्यादावोदन्तत्वेपि निपातत्वाभावान्न प्रगृह्यत्वम्। तेन न प्रकृतिभावादिकमिति बोध्यम्॥

सम्बुद्धौ शाकल्यस्य०। सम्बुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिके इतौ परे इति वृत्तिः। मूले—**परत्वादिति**। अस्य 'ओत्' इति सूत्रापेक्षया—

[शब्द०] अहो+इति यहाँ 'ओत्' की अपेक्षा परवर्त्ती होने से इसी सूत्र से विकल्प न होने लगे, इसके लिये 'सम्बुद्धौ' का ग्रहण है। इस 'इकोऽसवर्णे' सूत्र की प्रवृत्ति न होने पर 'ओत्' इस नित्य विधि की प्रवृत्ति रोकना कठिन है। कारण यह है कि 'इति' शब्द से भिन्न शब्द परे रहते 'ओत्' इसकी चरितार्थता है और निपात [ओकारान्त] से भिन्न में 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्य' इसकी चरितार्थता है, इस कारण आरम्भसामर्थ्य का अभाव है। इस प्रकार [अहो+इति इसमें 'ओत्' की प्रवृत्ति अवश्यम्भावी है अतः] फल में कोई अन्तर नहीं आता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परवर्त्ती होने के कारण विकल्प की प्रवृत्ति में अभावपर्यन्त भी प्रस्तुत [विकल्प] सूत्र की ही प्रवृत्ति होगी अर्थात् प्रगृह्यसंज्ञा भवति पक्षे प्रगृह्यसंज्ञा नापि भवति—यहाँ तक इसी सूत्र की प्रवृत्ति होगी] इस कारण 'एक बार प्रवृत्ति में जिसका बाध कर लिया, उसका सदैव के लिये के बाध हो गया' इस नियम से [इकोऽसवर्णे० इस सूत्र के] अभावपक्ष में 'ओत्' इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विकल्प के अभाव में नित्य शास्त्र नहीं प्रवृत्त होता है।] इसी लिये 'न यदि' 'विभाषा साकाङ्क्षे' इस सूत्र में निषेधीय [निषेधसम्बन्धी] उभयविभाषा यह

अन्यथा परत्वादेतत्प्रवृत्तात्र्प्यनेन निषेधाभावे पूर्वसूत्रस्य दुर्वारत्वेन सा दुर्लभा स्यात्। न च "आकडार" (पा० सू० १।४।१) सूत्रेणान्यत्र सञ्ज्ञानां वाध्यत्राधकभावाभावस्य ज्ञापितत्वात्परत्वाद्विकल्प इत्यसंगतमिति वाच्यम्, सञ्ज्ञाया एकत्वात्, ज्ञापकस्य च विशेषापेक्षत्वेन सञ्ज्ञाभेदविषयत्वादिति भाव इति केचित्।

परे तु-"ओत्" (पा० सू० १।१।१५) इत्यस्येतिशब्दनिरपेक्षत्वेनान्तरङ्ग-त्वमिति परत्वं न युक्तम्। "सम्बुद्धौ" (पा० सू० १।१।१६) इति तु निपात-पदाननुवृत्तये। अन्यथौदन्तनिपातस्यैवेतौ विकल्पापत्तिः। नित्यविकल्पवि-

इत्यादिः। सम्वुद्धिग्रहणाभावे 'अहो+इति' अत्रापि विकल्पप्रसङ्ग इति भावः। परत्वस्य शास्त्रद्वयचारितार्थ्ये एव प्रवृत्तिनियामकत्वमित्याशयेन तद्दर्शयति शब्दरत्ने—**इति शब्दातिरिक्ते** इति। एवञ्च विकल्पेन संज्ञाविधायकशास्त्र-सामर्थ्यं नास्तीति 'सम्बुद्धौ' इत्यस्य वैयर्थ्यमित्याशयः। **एवञ्चेति**। तस्य तत्र दुर्वारत्वे चेत्यर्थः। **परत्वेनेति**। तदंशभूतप्राप्तविभाषा-प्रवृत्तावित्यर्थः। **अस्य**=विकल्पस्य, **व्यापारेण**=तत्सम्भावनया। **अत एवेति**। विकल्पाभावे नित्यस्या-प्रवृत्तेरेवेत्यर्थः। **निषधीयेति**। निषेधसम्वन्धिनी - तत्प्राप्त्यप्राप्तिपूर्विकेत्यर्थः।

कथन संगत होता है। अन्यथा परवर्त्ती होने के कारण इस [विकल्प] की प्रवृत्ति में भी इससे निषेध न होने पर पूर्व सूत्र की प्रवृत्ति रोकना सम्भव न होने से वह [उभयत्र विभाषा] दुर्लभ हो जायगी। यह कहें 'कि आकडारादेका संज्ञा' इस सूत्र के कारण इसके अधिकार से अन्यत्र संज्ञाओं का परस्पर बाध्य-बाधकभाव नहीं होता है, यह ज्ञापित होने के कारण 'पर होने से विकल्प होता है' यह कथन असंगत है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संज्ञा एक है और ज्ञापन-विशेष की अपेक्षा करने वाला होने के कारण संज्ञा के भेद-विषयक है, यह भाव है, ऐसा कुछ लोग कहते है।

परन्तु अन्य [शब्दरत्नकार] तो यह कहते हैं—"ओत्" यह सूत्र 'इति' शब्द की अपेक्षा नहीं रखता है अतः ['सम्बुद्धौ' इस सूत्र की अपेक्षा] अन्तरङ्ग होने के कारण इसका परत्व कहना ठीक नहीं है। 'सम्बुद्धौ' यह सूत्र तो 'निपात' पद की अनुवृत्ति न हो, इसके लिये है। अन्यथा [=यदि 'निपात' की अनुवृत्ति मानते हैं तो] ओकारान्त निपात का ही 'इति' शब्द परे रहते विकल्प होने लगेगा। [इसलिये निरवकाश होने से यह प्राप्त-विभाषा ही होने लगेगा। यदि यह कहा जाय कि विनिगमना के अभाव में प्राप्तविभाषा ही हो, निपात की अननुवृत्ति तो व्याख्यान से हो सकती है, अतः 'परत्व' कहना ठीक नहीं है इस पर कहते हैं—]

यत्तु "ओत्" इत्यत्र निपातानुवृत्तेरिह च सम्बुद्धिग्रहणस्य प्रत्युदाहरणं वृत्त्यादावुक्तं गवित्ययमाहेति, तन्न। तत्र प्रगृह्यसञ्ज्ञासत्त्वेऽपि प्रकृति-भावाप्रसक्तेः। "इकोऽसवर्णे" (पा० सू० ६।१।१२७) इत्यत्र हि पदान्त-ग्रहणमनुवर्त्तते इत्याकरे स्पष्टम्। एवं च "प्लुतगृह्या" (पा० सू० ६।१।१२५) इति सूत्रे तत्सम्बन्ध आवश्यकः।

द्वयोर्युगपत्प्रवृत्तावपि विरोधाभावेन परत्वादित्यस्यासङ्गतेः। एवं परत्वा-दित्यस्योत्कृष्टत्वादपवादत्वादित्यर्थः। ओद्ग्रहणानुवृत्त्यैव सिद्धे पुनरोद्-ग्रहणेनापि तन्निवृत्तिसिद्धौ वैचित्र्यार्थमेव सम्बुद्धिग्रहणमित्याहुः। **आवश्यक इति।** अन्यथा "इकोऽसवर्णे" (पा० सू० ६।१।१२७) इत्यत्र मण्डूकानु-

---

नित्य विधि ['ओत्'] तथा विकल्प विधि ['सम्बुद्धौ'] इन दोनों की एक साथ प्रवृत्ति होने में भी कोई विरोध न होने से 'परत्व' कथन अ: [illegible] है। इस प्रकार [परत्व का कथन सर्वथा असंगत होने पर] परत्वात्=[निरवकाश होने से] उत्कृष्ट होने के कारण अपवाद होने के कारण [विकल्प न हो]—यही मनोरमा का अर्थ है। [यदि 'सम्बुद्धि' ग्रहण 'निपात' पद की अनुवृत्ति रोके के लिये ही है तब तो 'सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे' इस सूत्र में 'सम्बुद्धि' इसको हटाकर 'ओत् शाकल्यस्य' इस प्रकार का ही सूत्र बना देते, इससे 'निपात' पद की अनुवृत्ति रुक जाती—इस पूर्वपक्ष के लिये लिखते हैं—] 'ओत्' ग्रहण की अनुवृत्ति से ही सिद्ध रहने पर='निपात' की अनुवृत्ति रुकना सम्भव होने पर पुनः 'ओत्' के ग्रहण से भी निपात पद की अननुवृत्ति सिद्ध हो जाने पर 'सम्बुद्धि' का ग्रहण केवल वैचित्र्य के लिये ही है।"

[**मनो०**] किसी ने 'ओत्' इस सूत्र में 'निपात' इसकी अनुवृत्ति का और इस ['सम्बुद्धौ'] सूत्र में 'सम्बुद्धि' इसके ग्रहण का प्रत्युदाहरण [काशिकादि] वृत्ति में 'गवित्ययमाह' यह दिया है। [गो+इति अयम् आह—इस अनुकरण-स्थल पर ओकारान्त होने पर भी सम्बुद्धिनिमित्तक न होने से 'सम्बुद्धौ' इसका प्रत्युदाहरण है।] परन्तु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि उसमें [गवित्ययमाह-में] प्रगृह्य संज्ञा हो जाने पर भी प्रकृतिभाव-की प्रसक्ति नहीं है। कारण यह है कि 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य' [पा० सू० ६।१।१२७] इस सूत्र में 'पदान्त'-ग्रहण की अनुवृत्ति होती है—ऐसा भाष्य में स्पष्ट है। और इस प्रकार [मध्यवर्त्ती] 'प्लुतप्रगृह्या' [पा० सू० [६।१।१२५] इसमें भी 'पदान्त' का सम्बन्ध आवश्यक है। [**शब्द०**] मध्य में सम्बन्ध आवश्यक है। यदि 'प्लुतप्रगृह्या:' में 'पदान्त' का सम्बन्ध नहीं मानते हैं तो 'इकोऽसवर्णे' इसमें मण्डूकप्लुति से 'पदान्त' की अनुवृत्ति माननी होगी। और

गविति च न पदम्, अनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षया अर्थवत्त्वाभावेन विभक्तेरनुत्पादात् ॥

वृत्त्यापत्तिः। सा च सम्बन्धतदभावोभयकल्पनापत्त्याऽन्याय्येति भावः। अनुत्पादादिति। अत एव तस्याः श्रवणं न। अभेदविवक्षापदार्थश्चार्थवत्सूत्रे निरूपयिष्यते। न च लिङ्गसर्वनामनपुंसकताभ्युपगमेनोत्पन्नाया विभक्तेर्लुक्; ह्रस्वापत्तेः। न च सुप्सुपेति समासेन निर्वाहः, इतिशब्दस्य

अन्यथेति। वैकल्पिक-शास्त्राभावे नित्यस्य प्रवृत्तिस्वीकारे। **अन्यत्रेति**। तदधिकाराभावस्थले। **केचिदिति**। भट्टोजिदीक्षितस्यानुयायिनः।

ननु तर्हि कथमस्य मूलग्रन्थस्य सङ्गतिरित्यतः स्वमतमाह—**परे** त्वित्यादिना। **अन्तरङ्गत्वमिति**। परनित्यान्तरङ्गेति परिभाषया 'ओत्' इत्यस्यैव प्रवृत्तेरिति भावः। ननु तर्हि 'सम्बुद्धौ' इति व्यर्थमत आह—**सम्बुद्धाविति** त्विति। **अन्यथेति**। सम्बुद्धावित्यस्याभावे, निपातपदानुवृत्तिस्वीकारे वेत्यर्थः। **एवञ्चेति**। कथमपि परत्वादिति कथनस्य संगत्यभावे चेत्यर्थः। ननु यदि निपातपदाननुवृत्तितात्पर्यकं सम्बुद्धिग्रहणम्, तदा तन्न कार्यम्, सम्बुद्धिपदं त्यक्त्वा प्रकृतसूत्रेऽपि 'ओद्'

यह मण्डूकप्लुति, [पदान्त के] सम्बन्ध और सम्बन्ध के अभाव—इन दोनों की कल्पना का प्रसङ्ग होने से, अनुचित है, यह भाव है।

[मनो०] और अनुकरण 'गो+इति' इसका 'गो' यह पद नहीं है क्योंकि अनुकार्य और अनुकरण में अभेद की विवक्षा करने से इसमें अर्थवत्ता न होने के कारण विभक्ति उत्पन्न नहीं होती है। [और विभक्ति के अभाव में 'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र का लक्ष्य न बनने से पद और 'ओ' का पदान्तत्व सम्भव नहीं है।]

[शब्द०] विभक्ति उत्पन्न नहीं होती है। इसी लिये उसका श्रवण नहीं होता है। 'अभेदविवक्षा' पद के अर्थ का अभिप्राय 'अर्थवद्' [पा० सू० १।२।४५] इस सूत्र पर आगे कहा जाएगा। लिङ्गों का सर्वनाम जो नपुंसकत्व है, उसे मान लेने से उत्पन्न विभक्ति का लुक् हो जाता है। [भाव यह है कि लिङ्गसामान्य में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग होता है अतः नपुंसक भी सर्वनाम के समान समझना चाहिये। और नपुंसक के बाद आने वाली विभक्ति का लुक् हो जाता है। इसी लिये इसमें विभक्ति नहीं सुनाई देती है]— ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि [नपुंसक मान लेने पर 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' पा० सू० १।३।४७ इस सूत्र से 'गो' शब्द के] ह्रस्व होने का प्रसङ्ग आता है। यह कि—यहाँ भी 'सुप्सुपा' सूत्र से समास होने से [विभक्ति का लोप होने से उसका श्रवण नहीं होता है। इस प्रकार से] निर्वाह हो जाता है—यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यहाँ 'इति' शब्द

"उञः" (पा० सू० १।१।१७) "निपात एकाज-" (पा० सू० १।१।१४) इति प्राप्ते विभाषेयम् ।।

शब्दस्वरूपपरतातात्पर्यग्राहकत्वेन तेनैकार्थीभावरूपसामर्थ्यस्य दुरुपपादत्वात् । न च गोभ्यां गोक्षीरमित्याद्येकदेशगोशब्दानुकरणे "ऋलृक्" सूत्रभाष्योक्तेन "प्रकृतिवदनुकरणम्" इत्यतिदेशेन पदत्वं सुलभमिति वाच्यम्. "क्षियो दीर्घात्" (पा०सू० ८।२।४६) इति सूत्रभाष्योक्तेन तदतिदेशानित्यत्वेन तदप्रवृत्तिमाश्रित्यापि सुसाधत्वेनासाधारणप्रयोजनत्वाभावादिति भावः ।

ग्रहणं कार्यम्, तत्सामर्थ्यादेव निपातपदाननुवृत्तिः सिध्यतीत्यत आह—**ओद्ग्रहणेति** । मूले—**वृत्त्यादाविति** । काशिकादिवृत्तिष्वित्यर्थः । मूले **तत्र**= गवित्ययमाहेत्यत्र । मूले—**तत्सम्बन्ध** इति । 'पदान्त' इति सम्बन्ध इत्यर्थः । शब्दरत्ने—**लिङ्गसर्वनामेति** । सर्वनाम इव सर्वनाम, लिङ्गानां सर्वनाम—लिङ्गसर्वनाम, तस्य नपुंसकतापदेन कर्मधारयः । **ह्रस्वापत्तेरिति** । 'गो' इत्यस्यो-

---

शब्दस्वरूपपरता में तात्पर्यग्राहक है, [अर्थ का बोधक नहीं है] इस कारण उसके साथ [गो शब्द के] एकार्थीभावरूप सामर्थ्य का उपपादन करना कठिन है। 'गोभ्याम्' 'गोक्षीरम्' इत्यादि शब्दरूपों के एकदेश=अवयवभूत 'गो' शब्द के अनुकरण में 'ऋलृक्' इस सूत्र के महाभाष्य में कहे गये "अनुकरण प्रकृति के समान होता है" इस वचन के द्वारा अतिदेश से [गो का] पदत्व सुलभ है—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि 'क्षियो दीर्घात्' इस सूत्र पर भाष्य में कहे गये उस अतिदेश के अनित्य होने से उस [विभक्ति] की अप्रवृत्ति मानकर भी सरलतया सिद्ध किया जा सकता है अतः यह असाधारण प्रयोजन नहीं है, यह भाव है ।

विमर्श—यहाँ भाव है कि 'प्रकृतिवदनुकरणम्' यह परिभाषा अनित्य है। इसीलिये 'क्षि' इस धातु का अनुकरण करने भी पर 'क्षियो दीर्घात्' [पा० सू० ८।२।४६] इस सूत्र में 'क्षि' इसकी प्रातिपदिक संज्ञा और विभक्ति आती है । यदि यह परिभाषा नित्य मानी जायगी तब तो 'अर्थवदधातुः' [पा० सू० १।२।४५] इस सूत्र का 'अधातु' यह निषेध लग जाने से 'क्षि' धातु की प्रातिपदिक संज्ञा ही नहीं हो सकेगी, विभक्ति आने का प्रश्न ही नहीं उठेगा । इसलिए वहाँ के समान यहाँ भी परिभाषा की अप्रवृत्ति मानकर पदत्व का अभाव समझना चाहिए। इसलिये इस अनुकरणस्थल में प्रगृह्यत्व और प्रकृतिभाव की प्रवृत्ति नहीं होती है ।।

'उञः' [पा० १।१।१७ 'इति' शब्द परे रहते 'उञ्' विकल्प से प्रगृह्य होता है ।] [**मनो०**] 'निपात एकाजनाङ्' इस सूत्र से नित्य प्रगृह्य संज्ञा प्राप्त रहने पर यह विकल्प किया जा रहा है ।।

"ऊँ" (पा० सू० १।१।१८)। अनुनासिक इति। तेनास्मिन्परे "यरो- ऽनुनासिक—" (पा० सू० ८।४।४५) इति विकल्पः—यदेतनूँ इति पठसि, यदेतदूँ इति वा, तद्दीर्घमित्यादि। एतदर्थमेव तत्रानुनासिकग्रहणम्। अन्यथा 'यरो ञमि ञम्वा' इत्येवावक्ष्यत्॥

एतदर्थमेवेति। एतदर्थमपीत्यर्थः। अनितेः क्विपि सम्बुद्धावान् चिनो- षीत्यत्र "नश्छवि" (पा० सू० ८।३।७) इति रुत्वे "अत्रानुनासिकः" (पा० सू० ८।३।२) इति पूर्वस्यानुनासिके यदेतनांश्चिनोषि कमलँ् आँश्चि- नोषीत्यत्रापि फलसत्त्वात्। अवक्ष्यदिति। न चैवं न्यासे यथासंख्यापत्तिः।

'ऊँ' [पा० सू० १।११८ 'इति' शब्द परे रहते 'उञ्' का दीर्घ, अनुनासिक और प्रगृह्य 'ऊँ' यह आदेश विकल्प से होता है।] [मनो०] अनुनासिक होता है, इस- लिए इस ऊँ के परे रहते 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इससे विकल्प होता है— [यदेतद् + उ + इति यहाँ उक्त अनुनासिक आदेश करने पर] 'यदेतनूँ इति' पठसि, 'यदेतदूँ इति पठसि [यहाँ 'द्' का अनुनासिक 'न्' होता है। पक्ष में द्' ही रहता है।] वह [आदेश] दीर्घ होता है—इत्यादि समझना चाहिये। इसके लिए ही उस सूत्र में अनुनासिक का ग्रहण है। अन्यथा [यह फल न मानने पर] 'यरो ञमि ञम् वा' ऐसा ही सूत्र बना देते। [ञम् प्रत्याहार का कोई वर्ण बाद में रहने पर 'यर्' के स्थान पर विकल्प से ञम् प्रत्याहार का वर्ण हो जाता। इसी से निर्वाह सम्भव था।]

[शब्द०] इस रूप की उपपत्ति के लिए ही = भी—[अनुनासिक का ग्रहण है] यह अर्थ है। 'अन्' धातु से क्विप् प्रत्यय [इसका सर्वापहारी लोप और उपधा का दीर्घ करने पर 'आन्' यह होता है इसके] सम्बोधन = सम्बुद्धि [एकवचन] में 'आन् + चिनोषि' यहाँ पर 'नश्छव्यप्रशान्' इस सूत्र से [न् का] 'रु' करने पर 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इस सूत्र से पूर्ववर्ण का अनुनासिक करने पर 'यदेतनाँ- श्चिनोषि' [यत् एतद् आँश् + चिनोषि यहाँ अनुनासिक 'आँ' बाद में होने से 'द्' का अनुनासिक होता है।] 'कमलँ् आँश्चिनोषि' [यहाँ भी अनुनासिक 'आँ' बाद में होने से 'ल्' का अनुनासिक 'लँ्' हो जाता है।] इसमें भी फल है। [अतः मनोरमोक्त एक ही फल अनुनासिकग्रहण का नहीं।] [मनो०] अन्यथा 'यरो ञमि ञम् वा' इतना ही कहा होता। [शब्द०] इस न्यास को मानने पर [आदेश और स्थानी बराबर हैं अतः] यथासंख्य का प्रसङ्ग आता है—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि उक्त नियम ['यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' यह] सर्वत्र प्रवृत्त नहीं होता है, [जहाँ स्वरित प्रतिज्ञा होती है वहीं यह नियम माना जाता है।] और

तस्यासार्वत्रिकत्वात् "आन्महतः—" (पा० सू० ६।३।४६) इत्यादिनिर्देशाच्चेति भावः। पूर्वोक्ते कमलाँश्चिनोषीत्यत्र लस्य नकारापत्तिवारणाय विधेयकोटावनुनासिक इति। विधेयकोटौ यकारमारभ्य प्रत्याहारे तु विधेयविषये सवर्णग्रहणाभावेन पूर्वोक्ते निरनुनासिकलस्यैवापत्तिरिति यथान्यासमेव साधु।

कारस्य ह्रस्वत्वे उकारादेशापत्तिरिति भावः। **स्वरूपपरतेति**। गोशब्दस्य स्वरूपपरतेति भावः। **तेन**—इतिशब्देन। **तदतिदेशानित्यत्वेनेति**। इयङादेश-विधानेन पदत्वसत्त्वस्येव विभक्त्युत्पत्त्या तदनित्यत्वस्यापि तेन बोधनादिति भावः। अन्यथा धातुपर्युदासात् प्रातिपदिकत्वानापत्तौ 'क्षियः' इति निर्देशानुपपत्तिः॥

ऊँ। उञ इतौ दीर्घोऽनुनासिकः प्रगृह्यश्च ऊँ इत्ययमादेशो वा स्यादिति वृत्तिः। मूले **तेनेति**। अनुनासिकत्वस्वीकारे इत्यर्थः। फलमाह—**यदेतद्+ऊँ** इति इत्यत्र दकारस्यानुनासिकादेशेन 'न्' कृते 'यदेतनूँ इति' इति रूपसिद्धिः। मूले—**एतदर्थमेवेति**। अत्राप्यर्थे एवकारः, एतदर्थमपीति तदर्थः। फलान्तरमाह शब्दरत्ने—**अनितरीति**। **अन्यथेति**। एतद्विहितस्यानुनासिकत्वास्वीकारे इत्यर्थः। मूले—**अवक्ष्यदिति**। तेन अम्प्रत्याहार—घटकवर्णेषु परेष्वेव तादृशादेशः स्यादिति भावः।

'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ६।३।४६ इत्यादि निर्देश है, यह भाव है। [यदि यथासंख्यन्याय सार्वत्रिक होता तो 'आत्+महतः' में 'म' परे रहते 'त्' का 'म्' ही अनुनासिक होता है न कि 'न्'। अतः यह निर्देश अनित्यता में प्रमाण है।] पूर्वोक्त 'कमलांश्चिनोषि' इसमें 'ल्' का 'न्' आदेश रोकने के लिए विधेय कोटि में अनुनासिक है। (अन्यथा 'यरोऽनुनासिके अम्' इस न्यास में 'ल्' का 'न्' सादृश्यवश होने लगता।) विधेयकोटि में यकार से लेकर [मकार तक 'यम्') प्रत्याहार में तो विधेयविषय में सवर्ण का ग्रहण न होने से पूर्वोक्त [कमलाँश्चिनोषि] में निरनुनासिक ही 'ल्' आदेश होने लगेगा, इसलिए पाणिनि ने जैसा सूत्र बनाया वैसा ही ठीक है।

विमर्श—यहाँ का भाव यह है कि 'ऊँ' इस सूत्र में 'उञः, इतौ, शाकल्यस्य, प्रगृह्यम्' इनकी अनुवृत्ति होती है। और दीर्घ तथा अनुनासिक का इसी में उल्लेख है। इस प्रकार 'इति' शब्द परे रहते 'उञ्' के स्थान पर दीर्घ, अनुनासिक और प्रगृह्य 'ऊँ' यह आदेश विकल्प से होता है। यह सूत्र का अर्थ होता है। यहाँ प्रश्न यह है कि इस 'ऊँ' को अनुनासिक क्यों माना गया? उत्तर है इसको अनुनासिक मानने के कारण 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इससे विकल्प से अनुनासिक हो सके। इसीलिए 'यदेतद्+ऊँ+इति में 'द्' का वैकल्पिक अनुनासिक होकर 'यदेतनूँ इति' यह रूप होता है। इसी प्रकार 'अँश्चिनोषि' कमलाँश्चिनोषि आदि भी

"मय उञो वो वा" ।। (पा० सू० ८।३।३३) मयः परस्येति । परादिति तु प्राचः प्रमादः, "षष्ठीनिर्दिष्टस्य हि आदेशा उच्यन्ते" इति भाष्यात्, आदेशविधौ स्थानिनः षष्ठ्या एव न्याय्यत्वाच्च । असिद्धत्वादिति । अत एवेदं वत्वं त्रिपाद्यां विधीयते । प्रकृतिभावमात्रबाधनार्थत्वे हि "इको यण्-" (पा० सू० ६।१।७७) इत्यनन्तरं मय उञो वेत्येवावक्ष्यत् । यण चान्वव‍र्त्तयिष्यत् ।

शब्दरत्ने—तस्य=यथासंख्यत्वस्य । निर्देशाच्चेति । 'आत्+महतः' इत्यत्रानुनासिकत्वविधानं यथासंख्यत्वाभावे प्रमाणमिति भावः ।

मय उञो वो वा । मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि—इति वृत्तिः । ननु

फल है । इन फलों को न मानने पर तो 'यरो ञमि ञम् वा' यही न्यास पाणिनि ने बनाया होता । यथासंख्य की प्रवृत्ति सर्वत्र नहीं मानी जाती है अतः कोई दोष नहीं आता है ।

दूसरा प्रश्न यह है कि 'यरोनुनासिके ञम् वा' यही मान लिया जाता । निमित्ततया 'अनुनासिके' यह रहता किन्तु विधेय कोटि में 'अनुनासिकः' यह न रहे ? इसका उत्तर यह है कि इस कल्पित न्यास को मानने पर—अनुनासिक परे रहते यर् का=ञम्=ञमङणन' होगें । इसलिये 'कमलाँश्चिनोषि' यहाँ स्थानकृत सादृश्य के कारण 'ल्' का 'न्' प्रसक्त होता है, उसे रोकने के लिए विधेयकोटि में भी 'अनुनासिके' इसको रखा गया है । यदि इसके लिए 'यम्' प्रत्याहार मानकर 'यरोऽनुनासिके यम् वा' यह न्यास मान लिया जाय, इससे 'ल्' का 'न्' तो रुक सकता है विधेय 'ल्' निरनुनासिक ही हो सकेगा क्योंकि विधेय अपने सवर्ण का ग्राहक नहीं होता है, जैसा कि सूत्र है—'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः ।' इसलिए पाणिनिकृत 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' यही सूत्ररूप उचित है । 'ऊँ' को अनुनासिक मानने के पूर्वोक्त फल प्रामाणिक हैं ।

'मय उञो वो वा' [पा० सू० ८।३।३३ मय् प्रत्याहार के वर्ण के बाद आने वाले 'उञ्' का 'व्' आदेश विकल्प से होता है । मनो०] 'मय् से परवर्त्ती का' इसके स्थान पर किसी प्राचीन आचार्य ने [मयः] 'परात्' यह व्याख्यान किया है, वह प्रमादपूर्ण है' ऐसा भाष्य है और आदेश-विधि में स्थानी की षष्ठी ही उचित मानी जाती है । [इस सूत्र से विहित 'व' असिद्ध हो जाता है, अतः 'म्' का अनुस्वार नहीं होता है ।] इसी लिये इस 'वत्व' का विधान त्रिपादी में किया जाता है । [अतः 'किम्विति' में अनुस्वार नहीं होता है ।] क्योंकि केवल प्रकृतिभाव रोकना फल होता तब तो 'इको यणचि' [पा० सू० ६।१।७७] इसी के बाद 'मय् से परे 'उञ् का विकल्प होता है' ऐसा कह दिया जाता और 'यण्' का अनुवर्तन कर लिया

इह मय उञ इतौ परे अष्टाविंशतिरूपाणि। तथा हि—"उञः" इति प्रगृह्यत्वे किमु इति, वत्वपक्षे किम्विति। ऊँआदेशे किमूँ इति। आदेशस्य

इत्येवावक्ष्यदिति। न चात्रापि न्यासे सन्निपातपरिभाषयाऽनुस्वारप्राप्तिरिति वाच्यम्, त्रिपाद्यान्तथा पाठेन सन्निपातपरिभाषाऽनित्यत्वस्यापि ज्ञापनादिति भावः॥

किमु+उक्तम् इत्यत्र 'उञः' वकारादेशे 'मोऽनुस्वारः' इत्यनेन अनुस्वारापत्तिरित्यत आह परममूले—**वत्वस्यासिद्धत्वान्नानुस्वारः।** मूले—**अत एव।** वकारोऽसिद्धो भवत्यत एवेत्यर्थः। एवञ्च हल्परकत्वाभावे नानुस्वारस्य प्राप्तिरिति बोध्यम्। यदि केवलं प्रकृतिभावबाधनमेवेष्टं स्यात्तदा 'इको यणचि' पा० सू० ६।१।७७ इति सूत्रादनन्तरमेव प्रकृतसूत्रस्य पाठेनानुस्वारदृष्ट्याऽसिद्धत्वाभावेनानुस्वारो दुर्वारः स्यादिति बोध्यम्। शब्दरत्ने—**अत्रापि**=त्रिपाद्यामपीत्यर्थः। **सन्निपातेति।** 'सन्निपातलक्षणो हि विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इति परिभाषास्वरूपम्। एवञ्च मयः परस्य 'उ' इत्यस्य वकारादेशे कृते यदि मकारस्यानुस्वारादेशो विधीयते तदा मयः परत्वमुपजीव्यं विहतं स्यादिति अनुस्वारस्यापत्तिर्नेति भावः—इति निराकर्तुमाह—**त्रिपाद्यामिति। तथापाठेनेति।** 'मय उञो वो वा' इति पाठेनेत्यर्थः। मूले—**अष्टाविंशतिरूपाणीति।** किमु+इति 'उञः' इति सूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति सूत्रेण प्रकृतिभावे (१) किमु इति, पक्षे 'मय उञो वो वा' इति सूत्रेण 'उ' इत्यस्य 'व' आदेशे (२) किम्विति; 'ऊँ' इति सूत्रेण 'ऊँ' इत्यादेशे कृते (३) 'किमूँ इति', अत्र पक्षे अनुनासिके वकारादेशे (४) किम्वँति। 'मयः परस्य

जाता। [मय् से परे 'उञ्' का विकल्प से यण् होता है-यह अर्थ हो जाता। प्रकृतिभाव का बाध हो जाता।] [**शब्द०**] इस ['मय उञो वा'] न्यास में भी सन्निपात-परिभाषा से अनुस्वार की प्राप्ति नहीं है [अर्थात् मय् को निमित्त मान कर होने वाला 'व्' आदेश अनुस्वार करके मय्=म् के विघात का कारण नहीं बन सकता।]—इस प्रकार नहीं कहना चाहिये क्योंकि त्रिपादी में वैसे ['मय उञो वो वा'] पाठ से सन्निपात परिभाषा की अनित्यता भी ज्ञापित होती है, यह भाव है।

[**मनो०**] यहां मय् प्रत्याहार के वर्ण=म् से परे 'उञ्' के 'इति' परे रहते अट्ठाइस रूप होते हैं। ये इस प्रकार हैं—किमु+इति में "उञः' सूत्र से प्रगृह्य सज्ञा [और प्रकृतिभाव होने पर (१) किमु इति, ['मय उञो वो वा' सूत्र से वैकल्पिक] 'व' होने के पक्ष में (२) किम्विति, और ['ऊँ' सूत्र से] 'ऊँ' यह आदेश होने पर (३) किमूँ इति। [इस तीसरे रूप में] आदेश के स्थानिवद्-

स्थानिवत्त्वेन "मय उञः—" (पा० सू० ८।३।३३) इति प्रकृतिभावापवादभूते आन्तरतम्यादनुनासिके वकारे किम्वँ्वित । अनुनासिकाननुनासिकयोर्वकारयोः "मयो यण" इति द्वित्वस्य, मकारस्य "अनचि च" (पा० सू० ८।४।८७) इति द्वित्वस्य च विकल्पेन वत्वपक्षे रूपाष्टकम् । तदभावे द्वयमिति दशकम् । प्रगृह्यसञ्ज्ञाविरहपक्षे "मय उञः—" (पा० सू० ८।३।३३) इति वत्वस्यासिद्धत्वात् "इको यण्–" (पा० सू० ६।१।७७) इति यणेव, तस्य सिद्धत्वान्मोऽनुस्वारे "वा पदान्तस्य" (पा० सू० ८।४।५९) इति परसवर्णपक्षे अनुनासिकाननुनासिकवकारद्वयोपेतमेकादशं रूपम् । अनुनासिकस्य द्वित्वे

यणः द्वित्वमि' ति पक्षे अनुनासिकस्याननुनासिकस्य च वकारस्य विकल्पेन द्वित्वे 'अनचि च' इत्यनेन मकारस्य पाक्षिके द्वित्वे रूपाष्टकम् । यदा वत्वं न भवति तदा मकारस्यापि न द्वित्वम्, तेन रूपद्वयम् । एवञ्च सम्मेलने दशकम् । यदा 'उञः' इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञा न भवति तदा वकारस्य यणादेशे मकारस्यानुस्वारे कृते 'वा पदान्तस्य' इति इति विकल्पेनानुस्वारस्य परसवर्णे कृति सति अनुनासिकवकारोपेतमेकादशं रूपम् किँव्वुक्तम् । अनुनासिकवकारस्य' अनचि च' इत्यनेन द्वित्वे कृते सति वलोपाभावपक्षे त्रिवकारं द्वादशं रूपम्—किँव्ँव्वति, यदा 'वा पदान्तस्य' इत्यनेनानुस्वारस्य परसवर्णो न विधीयते तदा अनुस्वारं परं मत्वा तस्यापि विकल्पेन द्वित्वे कृते सति रूपद्वयम् । पूर्वोक्तैः द्वादशभिः सह सम्मेलने चतुर्दश

भाव के कारण [अर्थात् 'ऊँ' में 'उ' का अतिदेश हो जाने के कारण] 'मय उञो वो वा' इस से प्रकृतिभाव के अपवादभूत, सादृश्य के आधार पर अनुनासिक 'वँ' करने पर (४) किम्वँ्वित । अनुनासिक और अननुनासिक दोनों प्रकार के वकारों के 'मयो यणो द्वे वाच्ये' [मय् से परे यण् का द्वित्व होता है] इस वार्तिक से द्वित्व के और 'अनचि च' इस सूत्र से मकार के द्वित्व के विकल्प से वत्व-पक्ष में आठ रूप होते हैं । [अनुनासिक 'वँ' और अननुनासिक=शुद्ध 'व्' का द्वित्व होने पर दो और द्वित्व न होने पर दो—मिलाकर 'चार' रूप होते है । इनमें 'अनचि च' सूत्र से 'म्' के द्वित्व के चार और द्वित्वरहित चार मिलाकर आठ रूप होते हैं ।] 'व्' आदेश के अभाव में 'दो' रूप होते हैं [किमु इति, किमूँ इति]—ये मिलाकर दश रूप होते हैं । प्रगृह्यसंज्ञा जब नहीं होती है तब 'मय उञो वो वा' इससे होने वाले वत्व के असिद्ध हो जाने से 'इको यणचि' इससे यण् ही होता है यह यण्=व् सिद्ध ही रहता है अतः 'म्' का अनुस्वार करने पर 'वा पदान्तस्य' इससे परसवर्ण पक्ष में [परसवर्ण होने वाले] अनुनासिक और [यण्=व्] अननुनासिक इन दो वकारों से युक्त (११) किम्वँ्वित ऐसा ग्यारहवाँ रूप होता है। अनुनासिक 'वँ' का

"हलो यमाम्" (पा० सू० ८।४।६४) इति लोपस्य वैकल्पिकत्वादकरणे त्रिवकारं द्वादशं रूपम्। परसवर्णाभावपक्षे अनुस्वारस्य यत्वात्पाक्षिके द्वित्वे द्वे। संकलनया चतुर्दश। इतिशब्देकारस्य "अणोऽप्रगृह्यस्य-" (पा०

रूपाणि। इति—शब्दस्येकारस्य विकल्पेनानुनासिकादेशे कृते सति चतुर्दश, तदभावपक्षे च चतुर्दश रूपाणि मिलित्वाष्टाविंशति-रूपाणि जायन्ते इति मनोरमाकारमतम्।

शब्दरत्नकारस्तु—'मय उञो वो वा' इति सूत्रेण यो वकारादेशो विधीयते स विधीयमानत्वात् सवर्णग्राहको नैव भवति। तथाऽनेन सूत्रेण सानुनासिक-वकारस्य विधानमपि नैव भवति। अस्यां स्थितौ अनुनासिकवकारस्य कल्पनाऽनुचिता। यदि अत्र उकारस्यानुनासिको वकारादेशः क्रियते तदा इदमो मकारस्यापि अनुनासिकादेशापत्तिः।

एवञ्चैतन्मते विंशतिरूपाण्येव—किम् उ इति, किम् ऊँ इति, किम्विति, किंविति। अत्र 'उञः' प्रगृह्यत्वेपि 'मय उञो वो वा' इति वकारे वत्वस्यासिद्धत्वान्नानुस्वारः। प्रगृह्यत्वाभावपक्षे 'इको यणचि' इत्यनेन यणादेशे कृते मकारस्यानुस्वारः। अत्र 'अनचि च' इत्यनेन मकारस्य, 'यणो मयो द्वे वाच्ये' इत्यनेन च वकारस्य द्वित्वे पाक्षिकत्वाच्चत्वारि रूपाणि। अनुस्वारस्य परसवर्णेऽनुनासिकवकारे तस्य द्वित्वे वकारत्रयघटितमेकरूपम्—किव्ँव्ँवति। 'हलो यमां यमि' इत्यनेन वलोपे, द्वित्वाभावे च वकारद्वयोपेतमेकरूपम्। अनुस्वारस्यापि यरन्तर्गतत्वस्वीकारात् तस्यापि द्वित्वे दशरूपाणि। इति-शब्दस्येकारस्य 'अणोऽप्रगृह्यस्ये' ति सूत्रेण वैकल्पिकेऽनुनासिके कृते सति विंशति रूपाणि भवन्ति।

अच्सन्धिरिति। सन्धानम्=सन्धिः। सम्पूर्वकात् 'धा' धातोः भावार्थं 'उपसर्गे घोः किः' इत्यनेन किप्रत्यये ककारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'आतो लोप इटि च' इत्याल्लोपे, मकारस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते 'सन्धिः'। यद्यपि संहिता-सन्धिशब्दयोः समानार्थता तथाप्यत्र सन्धिपदं संहितानिमित्तककार्यपरमिति

द्वित्व करने पर 'हलो यमां यमि' इससे होने वाले लोप के वैकल्पिक होने से वलोप न करने पर तीन वकारों वाला [किव्व्विति यह] १२ वाँ रूप होता है। जब 'वा पदान्तस्य' इससे अनुस्वार का परसवर्ण नहीं होता है उस पक्ष में अनुस्वार के यर् होने के कारण [यर् प्रत्याहार में अनुस्वार को मान लेने के कारण 'अनचि च' इससे] अनुस्वार का द्वित्व करने पर और द्वित्व न करने पर दो, कुल मिलाकर १४ रूप होते हैं। 'इति' शब्द के 'इ' कार का 'अणोऽप्रगृह्यस्य' इस सूत्र से विकल्प से अनुनासिक होने से [१४ अनुनासिक + १४ अननुनासिक] मिलाकर २८

सू० ८।४।५७) इत्यनुनासिकविकल्पादष्टाविंशतिरिति ॥

॥ इत्यच्सन्धिः ॥

—*—

अनुनासिके वकारे इति । इदं कैयटानुरोधेन । "मय उञः—"(पा० सू० ८।३।३३) इत्यत्र विधीयमानस्य सवर्णग्राहकत्वाभावेनानेन सानुनासिक-विधानाभावेन कथमत्र सः । अन्यथेदमो मस्यानुनासिकोऽकारः स्यात् । अत एवेदृशे विषये गुणानामभेदकत्वपक्षानाश्रयणमिति चिन्त्यम् ।

॥ इति स्वरसन्धिः ॥

—*—

बोध्यम् । अचः अचोः वा सन्धिः=अच्सन्धिः, अचः सन्धिनिमित्तकं कार्यमिति तद्भावः । तत्प्रतिपादकत्वादत्र लक्षणया प्रकरणमपि 'अच्सन्धि' रित्युच्यते ।

नन्वत्र पदान्तत्वात् कुत्वेन भाव्यमिति 'अचसन्धिरि'त्यसाधु इति चेन्न, 'नाज्झलौ' इति सूत्रे 'कथमनच्त्वात्' इति भाष्यप्रयोगेण, 'अल्पाच्तरम्' इति पाणिनीय-प्रयोगेण समासादि-वृत्ति-घटकाच्पदे पदान्तकार्यस्य तत्सन्निधाने श्चुत्वस्य चाभावो बोध्यते इति समाधातुं शक्यत्वात् । अत एव शब्दरत्नकारोऽसन्दिग्धमेव प्रयुङ्क्ते 'इति स्वरसन्धि' रित्यलं पल्लवितेनेति दिक् ।

॥ इति जयशङ्कर-लाल-त्रिपाठिविरचितायां 'भावप्रकाशिका' व्याख्यायां स्वरसन्धि-प्रकरणं समाप्तम् ॥

—*—

अट्ठाइस रूप होते हैं [शब्द०] आदेश का स्थानिवद्भाव मानकर अनुनासिक वकार करने पर किम्व्ँति रूप होता है । यह कैयट के अनुसार कहा है । कारण यह है कि 'मय उञो वो वा' इस सूत्र में विधीयमान 'व्' अपने सवर्ण [अर्थात् अनुनासिक वकार] का ग्राहक=बोधक नहीं होता है इसलिये इस ['मय उञो वो वा' से] सानुनासिक 'व्' का विधान ही नहीं हो सकता तब इस लक्ष्य में वह [अनुनासिक व्] कैसे होगा । यदि ऐसा नहीं मानते हैं [अर्थात् विधेय में भी सवर्णग्राहकता मानते हैं] तब तो 'इदमो मः' [पा० सू० ७।२।१०२] से इदम् के मकार का अनुनासिक 'अ' आदेश होने लगेगा । इसी लिये ऐसे विषयों में 'गुण अभेदक होते हैं' इस पक्ष को नहीं माना जाता है, [भेदपक्ष हो जाता है] इस लिये यह [किम्व्ँति चौथा रूप] चिन्तनीय है ।

[मनो०] इस प्रकार अच्सन्धि समाप्त हुई ॥

[शब्द०] इस प्रकार अच्सन्धि समाप्त हुई ॥

विमर्श—भाष्यकार ने 'अचोऽक्षु हलो हल्षु' आदि में [अच्+सु में] कुत्व, षत्व, और क्षत्व जैसे किया है इसी प्रकार यहाँ भी कुत्वादि होकर 'अक्सन्धि' ऐसा होना चाहिये था। परन्तु 'अक्' और 'अच्' दोनों अलग-२ हैं। सन्देह न होने लग जाय—इस लिये 'अच्-सन्धिः' यह लिखा गया। इसी लिये शब्दरत्नकार ने यहाँ 'इति स्वरसन्धिः' ऐसा लिखा है। यहाँ 'प्रकृतिभाव' और 'स्वरसन्धि' इन्हें अलग-२ दो मानना चाहिये। इसी लिये 'भैरवी' और 'भावप्रकाश' व्याख्याओं में 'सन्धिद्वयं समाप्तम्' ऐसा उल्लेख है। इसी आधार पर 'पञ्चसन्धि' यह प्रसिद्ध व्यवहार उपपन्न होता है।

॥ जयशङ्कर-लालत्रिपाठि-विरचित 'भावबोधिनी' हिन्दी-व्याख्या में प्रौढमनोरमा का अच्-सन्धि प्रकरण समाप्त हुआ ॥

—*—

अथ हल्सन्धिप्रकरणम्

"स्तोः श्चुना" (पा० सू० ८।४।४०) ।। स्तोरिति समाहारद्वन्द्वः । सौत्रं पुंस्त्वम् । श्चुनेति । "सह युक्ते–" इति सूत्रे विनापि तद्योगं तृतीयेति वक्ष्यते । योग इत्येतदध्याहारलभ्यम् ।

विनापि तद्योगमिति । साहित्यं च योगक्रियायाम् । एतदिति । संयोग इति तदर्थः । सत्या भामेतिवन्निर्देशः । संयोगश्चाव्यवहितयोरेवेति 'चितं

स्तोः श्चुना श्चुः । सकारतवर्गयोः सकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्त इति– वृत्तिः । मूले—समाहारद्वन्द्व इति । इतरेतरयोगे द्विवचनापत्तिरिति भावः । ननु समाहार-द्वन्द्वे नपुंसकत्वात् पुंस्त्वप्रयोगोऽसङ्गत अत आह—सौत्रमिति । यथा 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यादौ समूहस्य समूहेऽन्वयं मत्वा द्वन्द्वस्य साधुत्वमुपपाद्य यथा-संख्यबलेनान्वयो भवति तथैवात्रापि समूहस्य समूहेऽन्वयं कृत्वा द्वन्द्व उपपाद्यः । अन्यथा सहविवक्षाया अभावेन द्वन्द्वो न स्यादिति भावः । 'सहयुक्ते' इति तृतीयाया

[मनो०] अब हल्सन्धि प्रकरण प्रारम्भ होता है। "स्तोः श्चुना श्चुः" [शकार तथा चकार के योग में सकार और तवर्ग का शकार और चवर्ग आदेश होता है ।] 'स्तोः' यह [स् च तुः च—इत्यनयोः समाहारः] समाहार-द्वन्द्व है । [यद्यपि समाहार-द्वन्द्व में नपुंसकत्व विहित है तथापि यहाँ] सौत्र पुंलिङ्ग है । [सूत्र भी वेद के सदृश होते हैं उनमें लिङ्गव्यत्यय हो जाता है । कुछ लोग यह मानते है कि लुप्त विभक्ति वाला 'स्' यह अलग पद है और इसी प्रकार 'श्' यह भी वैसा ही अलग पद है । अतः समाहार-द्वन्द्व की कल्पना और सौत्र पुंस्त्व मानने की आवश्यकता नहीं है ।] 'श्चुना' यहाँ तृतीया सहयोग के विना भी होती है, यह आगे 'सहयुक्तेऽप्रधाने' इस सूत्र के व्याख्यान के समय लिखेंगे । [शब्द०] यहाँ सकार और तवर्ग का साहित्य योगक्रिया में है । यहाँ ['स्तु' इस समुदाय का 'श्चु' इस समुदाय में एक-धर्मावच्छिन्न-निवर्त्य-निवर्त्तकभावसम्बन्ध से अन्वय होता है । अत एव 'आद्यन्तौ टकितौ' [पा० सू० १।१।४६] के समान यहाँ भी द्वन्द्व सम्भव हो जाता है ।] [मनो०] 'योग में' यह तो अध्याहार से लभ्य है । [शब्द०] योग इसका 'संयोग' यह अर्थ है, भामा सत्यभामा के समान एकदेश [अवयव] का निर्देश है । और संयोग अव्यवहित = व्यवधान-शून्य ही दो का होता है, इसलिये 'चितम्' [यहाँ च् और त् का] 'कटु तैलम्' आदि में [यहाँ 'ट्' और

अत्र स्थान्यादेशयोर्यथासंख्यं, निमित्तकार्यिणोस्तु न, "शात्" (पा० सू० ८।४।४४) इति ज्ञापकात्। "अल्पाच्तरम्" (पा० सू० २।२।३४) इत्यादौ तु सौत्रत्वात् श्चुत्वं न। तज्ज्ञानमित्यादौ तु भवत्येव।

कटु तैलमि' त्यादौ न दोषः। **यथासंख्यमिति**। तथदधनेत्यादेरप्यनादितया तमादाय "परस्मैपदानां णल्" (पा० सू० ३।४।८४) इत्यादौ सूत्रान्तरस्थक्रमेणैव यथासंख्यमिति भावः। चवादिशब्दैश्चानादिसिद्धलोकप्रसिद्धक्रमेणैवोपस्थितिरिति तात्पर्यम्। ननु तज्ज्ञानमित्यादौ श्चुयोगाभावान्न स्यादत आह—**तज्ज्ञानमिति**। जञ्योगे तथोच्चारणमात्रं न त्विदं वर्णान्तरमिति

अप्रधानस्य द्रव्यगुणक्रियासु आर्थान्वयित्वे एव विधानादत्रासङ्गरित आह शब्दरत्ने—**साहित्यं च योगक्रियायामिति। निमित्तकार्यिणोरिति**। निमित्तानाम् = परवर्तिनां पूर्ववर्त्तिनां वा शकारचवर्गीयाणाम्, अथच कार्यिणाम् = परवर्तिनां पूर्ववर्त्तिनां

'त्' का संयोग न होने से] दोष नहीं है।

[मनो०] इस सूत्र में स्थानी [सकार और तवर्ग] तथा आदेश [शकार और चवर्ग] का यथासंख्य है किन्तु निमित्त और कार्यी का यथासंख्य नहीं है क्योंकि 'शात्' [शकार से परे तवर्ग का चवर्ग नहीं होता है।] यह ज्ञापक है। [यहाँ 'श' तथा 'चवर्ग' निमित्त हैं और 'स्' तथा तवर्ग कार्यी हैं। यदि इनमें यथासंख्य होता तो 'श्' के साथ 'स्' का श्चुत्व प्राप्त होता 'श्' के साथ तवर्ग का नहीं। अतः 'शात्' इससे निषेध की आवश्यकता नहीं पड़ती। यही व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि निमित्त और कार्यी का यथासंख्य नहीं है। कोई भी निमित्त रहने पर किसी भी कार्यी का श्चुत्व होता है। अतः निषेध करना सार्थक होता है।] **[शब्द०]** स्थानी और आदेशों का ही यथासंख्य है। त थ द ध न—यह क्रम भी अनादि है और च छ ज झ ञ—यह क्रम भी अनादि है इस क्रम को मानकर यथासंख्य होता है, जैसे ['तिप् - तस् - झि०' ३।४।७८ इस] अन्य सूत्र के क्रम को मानकर ही 'परस्मैपदानां णलतुसुस्०' आदि सूत्र के आदेशों का यथासंख्य होता है। 'चु' आदि शब्दों से अनादिसिद्ध लोक-प्रसिद्ध क्रम से ही वर्णों की उपस्थिति=ज्ञान होता है, यह तात्पर्य है। **[मनो०]** 'अल्पाच्तरम्' आदि सूत्र में तो सौत्र [आर्ष] होने से श्चुत्व नहीं होता है। **[शब्द०]** तज्ज्ञानम् [तद्+ज्ञानम्] इत्यादि में शकार तथा चवर्ग के साथ योग न होने से श्चुत्व नहीं होना चाहिये—इस पर कहते है—**[मनो०]** 'तज्ज्ञानम्' इत्यादि में तो श्चुत्व होता ही है। **[शब्द०]** ज्+ञ् के योग में केवल 'ज्ञ्' यह विशिष्ट उच्चारण ही होता है, यह कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं है, [इसीलिये 'अइउण्' आदि के अन्तर्गत

स्तोः श्चौ श्चुरिति सुवचम्। न च "तस्मिन्निति-" (पा० सू० १।१।६६) इति परिभाषोपस्थानेन यज्ञः याच्ञा इत्यादि न सिध्येत्; "शात्" (पा० सू० ८।४।४४) इति लिङ्गेन तस्या इहानुपस्थानात् ॥

भावः। अनुपस्थानेति। पूर्वत्वांशानुपस्थानेत्यर्थः। तेन चिलमित्यादौ न दोषः।

वा सकारतवर्गीयाणामिति भावः। **ज्ञापकादिति**। यदि निमित्तकार्यिणोः यथासंख्यमिष्टं स्यात्तदा 'प्रश्+न' इत्यादौ श्चुत्वाप्राप्तेस्तन्निषेधाय 'शात्' इत्यादिसूत्रवैयर्थ्यापत्तिः। एतदेवैतेषां यथासंख्यत्वाभावं ज्ञापयति। मूले **सुवचमिति**। तथान्यासे 'श्चौ' इत्यत्र निमित्तसप्तमीं मत्वा सर्वत्र निर्वाहसम्भव इति भावः। अत एवात्र 'तस्मिन्निति' परत्वांशोपस्थापिकायाः परिभाषायाः प्रवृत्तिर्नेति मूले प्रतिपादितम्'।

एवञ्च-पूर्वे परे वा शकारचवर्गाः सन्तु, तथैव पूर्वे परे वा सकारतवर्गाः सन्तु, सकारतवर्गीयवर्णानां यथासंख्येन शकारचवर्गीयाः वर्णा आदेशा भवन्तीति स्पष्टम् ॥

इसका उल्लेख नहीं है।] यह भाव है।

[**मनो०**] 'स्तोः श्चौ श्चुः' [शकार तथा चवर्ग रहने पर सकार तथा तवर्ग के शकार और चवर्ग होते हैं।]—यही कहना ठीक है। [सप्तम्यन्त 'श्चौ' यह मानने पर] 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे' इस परिभाषा की उपस्थित होने से [शकार और चवर्ग का निमित्तरूप से बाद में रहना आवश्यक होने से] 'यज्ञः' 'याच्ञा' आदि नहीं सिद्ध हो सकते [यज्+न, याच्+न, यहाँ निमित्त चवर्ग बाद में न होकर पहले है अतः श्चुत्व नहीं हो सकेगा]—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि 'शात्' इस सूत्रप्रमाण के कारण उक्त परिभाषा इस सूत्र में नहीं उपस्थित होती है। [**शब्द०**] 'पूर्वत्व' इस अंश की उपस्थित नहीं होतीं है। [अतः परवर्त्ती भी 'न' का श्चुत्व होने में बाधा नहीं है क्योंकि केवल 'अव्यवहित' अंश की उपस्थिति होती है।] इस लिये 'चितम्' आदि में दोष नहीं है। [क्योंकि यहाँ अव्यवहित चवर्ग+तवर्ग नहीं हैं, बीच में 'इ' का व्यवधान है।]

विमर्श—'स्तोः श्चुना श्चुः' इसके स्थान पर 'स्तोः श्चौ श्चुः' यह सूत्र रखना अच्छा है, ऐसा मनोरमाकार का मत है। परन्तु 'श्चौ' यह सप्तमीनिर्दिष्ट है अतः 'अव्यवहित' और 'पूर्वत्व' इनकी उपस्थित कराने वाली 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' यह परिभाषा प्रवृत्त होगी। इसके फलस्वरूप यज्+न, याच्+न आदि में श्चुत्व नहीं हो सकेगा। यह शंका होती है। समाधान है कि यहाँ 'अव्यवहितत्व' इसी की उपस्थित होती है 'पूर्वत्व' की नहीं। इस कल्पना में प्रमाण है 'शात्'

"ष्टुना" (पा० सू० ८।४।४१)। इहापि कार्यिनिमित्तयोर्यथासंख्यं न। "तोष्षि" (पा० सू० ८।४।४३) इति ज्ञापकात्। ष्टौ ष्टुरिति सुवचम्। ईट्टे, ईष्टे इत्यादौ "न पदान्तात्-" (पा० सू० ८।४।४२) इति ज्ञापकान्न दोषः। सर्पिष्टममिति। "ह्रस्वात्तादौ-" (पा० सू० ८।३।१०१) इति षत्वम्।

ष्टुना ष्टुः। स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यादिति वृत्तिः। अत्रापि सूत्रे समाहार—द्वन्द्वः, सौत्रं पुंस्त्वमिति बोध्यम्। अत्रापि स्थान्यादेशयोरेव यथासंख्यं नतु कार्यि-निमित्तयोरत आह मूले—**ज्ञापकादिति**। षकारे परे तवर्गस्य टवर्गविधाननिषेधाय 'तोः षि' इति सूत्रम्। यदि कार्यिनिमित्तयोरपि यथासंख्यमभीष्टं स्यात्तदा 'सन्ष्षष्ठः' इत्यादौ तथाऽभावान्न टवगप्राप्तिरिति तद्व्यर्थीभूय तयोः यथासंख्याभावं

यह श्चुत्वनिषेधक सूत्र। यदि इसमें उक्त परिभाषा की उपस्थिति मानते हैं तो 'शात्' सूत्र व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि 'श्' से परे तवर्ग के श्चुत्व का निषेध करना है। परन्तु परिभाषा के अनुसार तो 'पूर्व' का ही श्चुत्व प्राप्त होगा, परवर्ती तवर्ग का प्राप्त ही नहीं होगा, तब उसके निषेध के लिये 'शात्' यह व्यर्थ होगा। व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करेगा कि यहाँ केवल 'अव्यवहितत्व' अंश उपस्थित होगा, 'पूर्वत्व' नहीं। अतः पूर्व तथा पर दोनों का श्चुत्व होने में बाधा नहीं है॥

'ष्टुना ष्टुः'। [सकार तथा तवर्ग का षकार तथा टवर्ग के योग में षकार और टवर्ग=ष्टुत्व होता है। **मनो०**] इस सूत्र में भी कार्यी=स्थानी और निमित्त का यथासंख्य नहीं होता है। [अपितु पूर्ववर्ती सूत्र के समान स्थानी और आदेशों का ही यथासंख्य है।] क्योंकि 'तोः षि' यह सूत्र ज्ञापक है। [षकार परे रहते तवर्ग का टवर्ग नहीं होता है—यह इस सूत्र का अर्थ है। यदि स्थानी और निमित्त में यथासंख्य माना जायगा तो 'सन्+षष्ठः' में ष्टुत्व की प्राप्ति ही नहीं है। अतः यह निषेधसूत्र व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि केवल स्थानी और आदेश का ही यथासंख्य है स्थानी=कार्यी और निमित्त का नहीं।] 'ष्टौ ष्टुः' [षकार और टवर्ग रहने पर सकार और तवर्ग का षकार और टवर्ग होता है, यह अर्थ है।] यह सूत्र कहना ठीक है। 'ईट्टे' और 'ईष्टे' इत्यादि में 'न पदान्तात्' इस ज्ञापक के कारण कोई दोष नहीं है। [ईट्+ते, ईष्+ते यहाँ ष्टुत्व होता है। कारण यह है कि पदान्त टवर्ग से परे सकार तथा टवर्ग का ष्टुत्व नहीं होता है—यह 'न पदान्तात्' सूत्र का अर्थ है। चूँकि यह निषेध पदान्त टवर्ग के बाद ही ष्टुत्व करने में प्रवृत्त होता है अतः अपदान्त टवर्ग एवं षकार के बाद ष्टुत्व करने में कोई बाधक नहीं है।] सर्पिष्टमम् [सर्पिष्+तमम्-] इसमें "ह्रस्वात् तादौ' इस सूत्र से षत्व होने से ष्टुत्व

'प्रत्यये भाषायाम्' इति । यत्तु प्राचा—मयटि नित्यमिति पठितम । यच्च हलन्तप्रकरणे षण्णां, षड्णामित्युदाहृतम् । यच्च "यरोऽनुनासिक—" (पा० सू० ८।४।४५) इति वाऽनुनासिक इति तत्र व्याख्यातम, तत्सर्वं भाष्यविरोधादुपेक्ष्यम् ।

यवादिगण इति । "यचि भन्तसौ मत्वर्थे" इति संहितया पाठे तसाविति

षत्वमिति । न च षस्य पदान्ते जश्त्वं भविष्यतीति वाच्यम्, षत्वस्यासिद्धत्वेनास्य जश्त्वाभावात् ।

भाष्येति । प्रत्यय इत्येव तत्र पाठादिति भावः । दकारमिति । चर्त्वेनेति

ज्ञापयति । ननु 'ष्टो ष्टुः' इति न्यासे 'ईट्+ते, ईष्+ते' इत्यादौ षकारटवर्णयोः परत्वाभावात्कथं ष्टुत्वमत आह मूले—ज्ञापकादिति । यदि पदान्तभिन्नेऽपि ष्टुत्वनिषेधः स्यात्तदा 'न पदान्ताद्' इति व्यर्थं स्यात् । एतदेव सर्वत्र ष्टुत्वं ज्ञापयति । पदान्तस्थले निषेधः, अन्यत्र ष्टुत्वमिति तद्भावः ।

हो जाता है । [शब्द०] 'सर्पिष्' के 'ष' का पदान्त में जश्त्व होगा [इसलिये षत्व व्यर्थ है]—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि [त्रैपादिक] षत्व के असिद्ध हो जाने से इस 'ष्' का जश्त्व नहीं होता है । [यहाँ 'सर्पिस्+तमम्' इसमें जश्त्व का बाध करके रुत्व, विसर्ग और पुनः सत्व करने के बाद 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' सूत्र से 'ष्' होता है । अतः यहाँ 'षत्व' असिद्ध होने का तात्पर्य है—विसर्ग, सत्व और षत्व इनका असिद्ध होना । रुत्व के पहले षत्व नहीं होता है क्योंकि रुत्व की दृष्टि में' षत्व असिद्ध है । अतः पहले रुत्व ही करना पड़ता है ।] .

[मनो०] 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' । भाषा=लौकिक संस्कृत में अनुनासिक प्रत्यय परे रहते यर् का नित्य अनुनासिक होता है ।] किसी प्राचीन आचार्य ने 'मयट् प्रत्यय परे रहते नित्य अनुनासिक होता है' यह पढ़ा है । और हलन्त प्रकरण में 'षण्णाम्' 'षड्णाम्' यह उदाहरण दिया है और जो वहाँ व्याख्या की है कि 'यरोऽनुनासिक' इस सूत्र से विकल्प से अनुनासिक हुआ है,—वह सब भाष्यविरुद्ध होने के कारण उपेक्षणीय है । [शब्द०] क्योंकि भाष्य में 'प्रत्यये' [प्रत्यय परे रहते] इतना ही पाठ है—यह भाव है ।

[यदि अनुनासिकादि प्रत्यय बाद में रहने पर 'यर्' का अनुनासिक होता है तो ककुद्+मतुप् में भी होना चाहिये ? इसका उत्तर सिद्धान्तकौमुदी में यह दिया गया है—] यवादि-गण में दकार का निपातन किया गया है अतः 'ककुद्मन्तः' में अनुनासिक नहीं होता है । [मनो०] 'यचि भन्तसौ मत्वर्थे' इस प्रकार संहिता से

तात्पूर्वं दकारं प्रश्लिष्य भत्वेनाप्येतत् समाधातुं शक्यम् ॥

"उदः स्थाः–" (पा० सू० ८।४।६१) ।

भावः । मृच्छब्दस्य यवादिगणे पाठे न मानमिति तत्र "झयः" (पा० सू० ८।२।१०) इति वत्वे मृद्वानित्येवेति तात्पर्यम्, अतः "इति केचित्, तन्न । मृन्मानित्यादावतिप्रसङ्गात्—" इति तु क्वाचित्कोऽसांप्रदायिकः पाठ ।

ननु सवर्णपदमधिकं "परसवर्णः" इत्यत्रैकार्थीभावापन्नस्यान्यत्र सम्बन्धो वक्तुमशक्यः । न च पूर्वस्येत्यस्य सम्बन्ध्याकाङ्क्षायां यत्किञ्चित्सम्बन्धि-कल्पनापेक्षया पूर्वत्रोपस्थितार्थवाचकपदाध्याहारौचित्यात्तल्लाभः । "चुटू"

उदःस्थास्तम्भोः पूर्वस्य । उदः परयोः स्थास्तम्भोः पूर्णसवर्णः स्यादिति—वृत्तिः । शब्दरत्ने—**अधिकमिति** । सूत्रे तदभावाद् वृत्तौ तल्लेखनमधिकमिति तद्भावः ।

पाठ में 'तसौ' इसमें 'त' से पहले 'द्' का प्रश्लेष करके भसंज्ञा के द्वारा भी इस रूप [ककुद्मान्] का समाधान किया जा सकता है । [भाव यह है कि 'यचि भन्तसौ मत्वर्थे' यहाँ मत्वर्थक प्रत्यय परे रहते तकारान्त और सकारान्त की 'भ' संज्ञा होती है । जिस 'द्' का प्रश्लेष किया गया है वह चर्त्व के कारण 'त्' हो गया है । अतः दकारान्त की भी भसंज्ञा हो जाती है । पदसंज्ञा नहीं रहती हैं । परसवर्ण की प्राप्ति नहीं है ।] [शब्द०] 'द' का प्रश्लेप चर्त्व करके 'त' रूप से है । [इस 'त' का लोप 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र से हो जाता है, यह भाव है ।] 'मृत्' शब्द का यवादिगण में पाठ होने में कोई प्रमाण नहीं है अतः उसमें 'झयः' इस सूत्र से 'म्' का व् होने पर 'मृद्वान्' यही होता है, यह ['द्' के प्रश्लेषकर्ता का] तात्पर्य है । [यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि मनोरमा का वास्तविक पाठ 'समाधातुं शक्यम्' इतना ही है । किसी विद्वान् ने प्रस्तुत पाठ के आगे "इति केचित्, तन्न, मृन्मान् इत्यादावतिप्रसङ्गात्' इतना पाठ जोड़ दिया है- इसी का स्पष्टीकरण शब्दरत्नकार कर रहे हैं]—"ऐसा कुछ लोग कहते हैं । वह ठीक नही है, क्योंकि 'मृन्मान्' इत्यादि में अतिप्रसङ्ग होता है" ऐसा कहीं पर पाठ है वह व्याकरणसम्प्रदाय से विरुद्ध है । [चूँकि 'झयः' सूत्र से 'व' का होना शास्त्र-सम्मत है अतः 'मृन्मान्' यह रूप मानना सम्प्रदायविरुद्ध ।]

'उदः स्थास्तम्भोः ।' [शब्द०] इस वृत्ति में 'सवर्ण' पद अधिक है क्योंकि 'पर-सवर्णः' इसमें एकार्थीभाव को प्राप्त अर्थात् समासघटक ['सवर्ण' इतने] का अन्यत्र [=इस सूत्र में] सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता । 'यह कि—'पूर्वस्य'=पूर्वका' इस (अवयव) को सम्बन्धी की आकाङ्क्षा होने पर जिस किसी को सम्बन्धी मानने की अपेक्षा पूर्ववर्त्ती सूत्र में उपस्थित अर्थवाचक पद का अध्याहार [=अनुवृत्ति]

"अनुस्वारस्य ययि-" (पा० सू० ८।४।५८) इत्यत्र समस्तमपि सवर्णग्रहणमिह निष्कृष्य सम्बध्यते। एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानादित्याशयेनाह—पूर्वसवर्णः स्यादिति।

(पा० सू० १।३।७) इत्यादावादेरप्येवमेव सम्बन्धोपपत्तौ तत्र तत्र स्वरितत्वप्रतिज्ञाया वैयर्थ्यापत्तेः। न च स्वरितत्वप्रतिज्ञासामर्थ्यादेकदेशानुवृत्तिः, "तोर्लि" (पा० सू० ८।४।६०) इत्यत्र समुदायानुवृत्त्या तस्याश्चारितार्थ्यादित्यत आह—**अनुस्वारस्येत्यादि**। **एकदेशे इति**। पकारमात्रे स्वरितत्वप्रतिज्ञयैव "तोर्लि" (पा० सू० ८।४।६०) इत्यादावनुवृत्तिसिद्धौ पुनः सकारांशे तत्प्रतिज्ञया तावतोऽप्यंशस्य उत्तरत्रानुवृत्तिरिति भावः।

ननु पूर्ववर्त्तिसूत्रादनुवर्ततेऽत आह—**एकार्थीभावापन्नेति**। **तल्लाभ इति**। सवर्णपदलाभ इत्यर्थः। **एवमेवेति**। भवदुक्तरीत्या 'उपस्थितं परित्यज्ये' त्यादिरीत्येति

उचित है इस कारण 'सवर्णः' इसका लाभ = ज्ञान हो जाता है—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि आपकी कल्पनानुसार तो] 'चुटू' इत्यादि सूत्रों में भी [आदि रूपी] सम्बन्ध की उपपत्ति सम्भव हो जाने पर उन उन सूत्रों में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा करना व्यर्थ होने लगेगा। यह कि—स्वरितत्व की प्रतिज्ञा के सामर्थ्य से एकदेश = सवर्ण की अनुवृत्ति हो सकती है—ऐसा भी नहीं कहना चाहिये क्योंकि 'तोर्लि'' इस सूत्र में पूरे समुदाय = परसवर्ण की अनुवृत्ति होने के कारण वह प्रतिज्ञा चरितार्थ हो जाती है, इस आशय से [मनो०] में कहते हैं—

[**मनो०**] 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इस सूत्र से समास वाले भी 'सवर्ण' को निकाल कर इस सूत्र में सम्बद्ध कर दिया जाता है। अर्थात् 'परसवर्णः' इसका एकदेश 'सवर्ण' यहाँ अनुवृत्त होता है। कारण यह है कि केवल एकदेश = 'सवर्णः' में ही स्वरितत्व की प्रतिज्ञा की गयी है—इस आशय से [सिद्धान्तकौमुदी में] कहते हैं—[उद् से परे स्था तथा स्तम्भ का] पूर्वसवर्ण होता है। [**शब्द०**] एकदेश में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा है। 'परसवर्ण' के केवल पकार में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा से ही 'तोर्लि' इत्यादि में 'परसवर्ण' की अनुवृत्ति सिद्ध है, फिर 'सवर्ण' के सकार अंश में भी स्वरितत्व की प्रतिज्ञा के कारण उतने = केवल 'सवर्ण' इस अंश की भी अग्रिम सूत्र में अनुवृत्ति होती है, यह भाव है। [भाव यह है कि 'परसवर्णः' इसमें 'प' और 'स' दोनों में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा है। इससे यही ज्ञात होता है कि कहीं सम्पूर्ण की अनुवृत्ति होती है जैसा कि 'तोर्लि' में है। और कहीं 'सवर्ण' इस अंश की भी अनुवृत्ति होती है जैसा कि प्रस्तुत सूत्र में है। इसी लिये 'पूर्वस्य सवर्णः = पूर्वसवर्णः' यह लिखा गया।]

अघोषस्येत्यादि। एतेन सस्य तकार इति प्राचां ग्रन्थाः त्प्रयुक्ताः। यदपीह "चयो द्वितीयाः शरि" इत्यस्योपन्यसनं, तदतिरभसात् ॥

तदतिरभसादिति। चयोऽभावात्। "दीर्घादाचार्याणाम्" (पा० सू० ८।४।५२) इत्युत्तरम् "अनुस्वारस्य ययि" (पा० सू० ८।४।५८) "वा पदान्तस्य" (पा० सू० ८।४।५९) "तोर्लि" (पा० सू० ८।४।६०) "उदः स्थाः" (पा० सू० ८।४।६१) 'झयो हो" (पा० सू० ८।४।६२) "शश्छोऽटि" (पा० सू० ८।४।६३) इति षट्सूत्रीपाठोत्तरं "झलां जश् झशि" (पा० सू० ८।४।५३) "अभ्यासे चर्च" (पा० सू० ८।४।५४) 'खरि च" (पा० सू० ८।४।५५) "वाऽवसाने" (पा० सू० ८।४।५६) "अणोऽप्रगृह्यस्य"

भावः। **एकदेशे** इति। 'सवर्णे' इत्यंशे इति भावः। अघोषस्य। उद्+स्थानम्

[मनो०] 'उद्+स्थानम्' यहाँ प्रस्तुत सूत्र से पूर्वसवर्ण करना है।] यहाँ अघोष तथा महाप्राण 'स्' के स्थान पर इसी प्रकार का अघोष महाप्राण 'थ्' ही होता है—इस कथन से 'स्' का 'त्' होता है—ऐसा प्राचीनों का ग्रन्थ=कथन खण्डित हो गया। [क्योंकि प्रयत्नसाम्य के आधार पर ही आदेश किया जाता है। अतः 'त' की प्राप्ति नहीं है।] और जो यहाँ चयो 'द्वितीयाः शरि पौष्कर-सादेरिति वाच्यम्' इसका उपस्थापन किया गया है वह भी अतिशीघ्रता के कारण [अविचारित] है। **[शब्द०]** क्योंकि यहाँ चय् प्रत्याहार का कोई वर्ण नहीं है। [भाव यह है कि 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' यह वार्त्तिक 'नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य' ८।४।८४ इस सूत्र पर पठित है। 'खरि च ८।४।५५ यह उससे परवर्त्ती सूत्र है। इस कारण इस सूत्र से होने वाला 'द्' का चर्त्व 'त्' उक्त वार्त्तिक की दृष्टि में असिद्ध रहता है क्योंकि त्रिपादी में भी पूर्व के प्रति पर को असिद्ध माना गया है। अतः वास्तव में 'द्' का चर्त्व 'त्' कर देने पर भी वार्त्तिक के लिये 'द्' ही रहता है, यह चय् में नहीं आता है। इस कारण 'त्' को पूर्वसवर्ण करके उसका द्वितीय वर्ण 'थ्' मानना अविचारपूर्ण है। प्रयत्नसाम्य के आधार पर 'स्' का 'थ्' ही करना चाहिये।]

भाष्यसम्मत अष्टाध्यायीसूत्र-पाठ-क्रम में 'दीर्घादाचार्याणाम्' ८।४।५२ इसके बाद में (१) 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' ८।४।५८, (२) 'वा पदान्तस्य' ८।४।५९, (३) 'तोर्लि' ८।४।६०, (४) 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' ८।४।६१, (५) 'झयो होऽन्य-तरस्याम्' ८।४।६२, (६) 'शश्छोऽटि' ८।४।६३—इन छह सूत्रों का पाठ करने के बाद में (१) 'झलां जश् झशि' ८।४।५३, (२) अभ्यासे चर्च' ८।४।५४, (३) 'खरि च' ८।४।५५, (४) 'वाऽवसाने' ८।४।५६, (५) 'अणोऽप्रगृह्यस्य' ८।४।५७—इन पाँच

तच्छिव इति। यत्तु प्राचा—तत् शिव इत्यत्र जश्त्वे कृते "खरि च" (पा० सू० ८।४।५५) इत्युक्तम्। तन्न। तदो दान्तत्वेन जश्त्वोपन्यास-वैयर्थ्यात्।

यत्तु तत्पौत्रेणोक्तं—तदो "वाऽवसाने" (पा० सू० ८।४।५६) इति चर्त्वं कृते पश्चाच्छिव इत्यनेन सम्बन्धे "झलां जशोऽन्ते" (पा० सू० ८।२।३९)

(पा० सू० ८।४।५७) इति पञ्चसूत्र्याः पाठे भाष्यसम्मते थस्य चर्त्वेऽपि तस्यासिद्धत्वाच्छर्परत्वाभावाच्चेति भावः॥

इत्यत्र पूर्वसवर्णे कर्त्तव्ये अघोषस्य महाप्राणस्य सस्य अघोषो महाप्राण एव थकार इति भावः। एतेनेति। सिद्धान्तकौमुद्युक्तपूर्वोक्तव्याख्यानेनेत्यर्थः। तकारस्य प्राप्तिरेव

सूत्रों के पाठ में 'थ्' का चर्त्व='त्' करने पर भी वह असिद्ध हो जाता है। [अतः द्वितीयवर्ण करना सम्भव नहीं है।] और शर् परे नहीं रह पाता है। [क्योंकि 'स्' का थ् हो जाने से उद्+थ्थानम्' हो जाता है। अतः द्वितीय वर्ण की संभावना कथमपि नहीं है।]

विमर्श—भाव यह है कि वृत्तिकारादि के अनुसार 'खरि च' ८।४।५५ है और 'उदः स्थास्तम्भोः' ८।४।६१, यह परवर्त्ती है। इस कारण इससे विहित थकार चर्त्वविधायक सूत्र की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है, स् ही रहता है, चर्त्व सम्भव नहीं है। परन्तु भाष्यकार ने सूत्रों का क्रम कुछ परिवर्तित माना है। उनके अनुसार 'उदः स्थास्तम्भोः' यह पूर्वसवर्ण करने वाला सूत्र पहले है और 'खरि च' यह चर्त्वविधायक सूत्र बाद में हैं। इस कारण 'थ्' का चर्त्व 'त्' हो सकता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि ८।४।४८ सूत्र पर पठित 'चयो द्वितीयाः' इस वार्त्तिक की दृष्टि में चर्त्व असिद्ध ही रहता है। अतः द्वितीय वर्ण की प्राप्ति नहीं है। यदि दुराग्रह करें तो उत्तर है कि 'स्' का 'थ्' हो जाने पर 'शर्' परे ही नहीं रहता है अतः इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है॥

'शश्छोटि'। [पदान्त झय् से परे श् का छ् विकल्प से होता है अट् परे रहते। उदा० तद्+शिवः। **मनो०**] तच्छिवः। किसी प्राचीन आचार्य ने—तत्+शिवः इस अवस्था में ['झलां जशोऽन्ते' इस सूत्र से] त् का जश् द् करने पर 'खरि च' इससे चर्त्व होता है—ऐसा कहा है—यह ठीक नहीं है क्योंकि 'तद्' शब्द मूलतः दकारान्त है अतः जश्त्व का उपन्यास व्यर्थ है।

और जो उस प्राचीन आचार्य के पौत्र ने यह कहा—'तद्' के 'द्' का 'वाऽव-साने' इस सूत्र से चर्त्व 'त्' करने के बाद 'शिव' इससे सम्बन्ध करने पर 'झलां जशोऽन्ते' इससे जश्त्व करने [त् का द् करने] पर 'खरि च' इससे चर्त्व होता

इति जश्त्वे "खरि च" (पा० सू० ८।४।५५) इति चर्त्वमिति तदतिस्थवीयः। जश्त्वं प्रति अवसाने चर्त्वस्यापवादत्वात्।

चर्त्वमिति। ततः श्चुत्वे "शश्छोऽटि" (पा० सू० ८।४।६३) इति प्रक्रियेति भावः। **चर्त्वस्यापवादत्वादिति**। एवं च तत्र कृते जश्त्वाप्रवृत्तिरिति भावः। न च जश्त्वे कृते चर्त्वस्य चारितार्थ्येन तस्यासिद्धत्वादपवादत्वे न मानमिति वाच्यम्, तत्कालेऽवश्यं प्राप्तत्वेन येन नाप्राप्तिन्यायेनापवादत्वस्य सुलभतयोक्तरीतेरसम्भवात्।

एतदेवाभिप्रेत्य "मिदचोऽन्त्यात्" (पा० सू० १।१।४७) सूत्र भाष्ये उक्तम्—'सत्यपि सम्भवे साधनं भवतीति'। अन्यथा 'कौण्डिन्याय तक्रमि'त्यनेन

नेति तद्भावः। **अतिरभसादिति**। ननु 'यदा 'उदः स्था' इति सूत्रेण सस्य

है। [शब्द०] चर्त्व के बाद श्चुत्व करने पर ['त्' का च् होने पर] 'शश्छोऽटि' इससे 'श्' का 'छ्' होता है—यह प्रकिया है—यह भाव है। [मनो०] यह कथन अति स्थूल है। कारण यह है कि जश्त्व के प्रति अवसान में चर्त्व अपवाद होता है। [शब्द०] इस प्रकार [चर्त्व के अपवाद रहने पर] चर्त्व कर लेने पर जश्त्व की प्रवृत्ति नहीं होती है, यह भाव है। यह कि—जश्त्व कर लेने पर चर्त्व चरितार्थ हो जाता है इस कारण यह चर्त्व असिद्ध होने से [जश्त्व का] अपवाद हो जाता है—इसमें कोई प्रमाण नहीं है—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि उस [अवसान] काल में जश्त्व के अवश्य प्राप्त होने से 'येन नाप्राप्ते' इस न्याय से उस चर्त्व की अपवादता सुलभ हो जाती है; इस कारण उक्त रीति सम्भव नहीं है। [भाव यह है अवसान में जश्त्व की अवश्यप्राप्ति है वहाँ चर्त्व करने के लिये 'खरि च' यह सूत्र बनाया गया है अतः जिस एक विधि की अवश्य प्राप्ति रहने पर जो दूसरी विधि बनाई जाती है वही बाधक हो जाती है' इस अभिप्राय वाले 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति' इस न्याय से चर्त्व को जश्त्व का अपवाद माना जाता है, 'तदप्राप्तियोग्ये विषयेऽचारितार्थ्यम्' यह अपवाद-बीज यहाँ है। अतः पहले चर्त्व ही होगा। तब पहले 'वाऽवसाने' इस सूत्र से चर्त्व, पुनः 'झलां जशोऽन्ते' इस सूत्र से जश्त्व और तब फिर 'खरि च' सूत्र से चर्त्व करके श्चुत्व और 'श्' का 'छ्' यह प्रक्रिया अविचारितरमणीय ही है।]

[उपर्युक्त स्थिति में अवश्यप्राप्तिपूर्वक बाधबीज माना जाता है] इसी आशय को लेकर 'मिदचोऽन्त्यात् परः' सूत्र पर भाष्य में कहा गया है—संभव रहने पर भी बाध होता है।' यदि ऐसा नहीं माना जायगा तब तो 'कौण्डिन्य के लिये तक्र—मट्ठा' इस वाक्य द्वारा 'ब्राह्मणों के लिये दही' इस वाक्य से प्राप्त दधिदान का भी

'ब्राह्मणेभ्यो दधी'ति प्राप्तदधिदानस्यापि बाधो न स्यात्। तद्दानोत्तरं तत्पूर्वं वा तद्दानस्य चारितार्थ्यात्। अत एव "अजादेर्द्वितीयस्य" (पा० सू० ६।१।२) इति सूत्रे प्रथमद्विर्वचनोत्तरमस्य चारितार्थ्येन प्रथमद्विर्वचनस्यानेन बाधो न स्यादित्याशङ्क्य 'सत्यपि सम्भवे' इति न्यायेन बाधकत्वमुक्तं भाष्ये। एवञ्च "दयतेर्दिगि--" (पा० सू० ७।४।९) इति सूत्रस्थकैयटादिग्रन्था 'असम्भवे एव बाधकता' इति वार्तिकानुसारेण प्रवृत्ता अयुक्ता एवेति बोध्यमिति भावः।

थादेशः थस्य च चर्त्वेन तकारादेशस्तस्य द्वितीयो वर्ण आदिश्यते इति प्राचामभिप्राय इत्याशङ्कायामाह—**दीर्घादिति**। इदानीं श्रूयमाणाष्टाध्यायीपाठपक्षे 'खरि च'

बाध नहीं हो सकेगा, क्योंकि दही देने से पहले या दही देने के बाद तक्र (मट्ठा) देना चरितार्थ हो सकता है। [अतः यह मानना आवश्यक है कि सम्भव रहने पर भी बाध होता है। इसी लिये कौण्डिन्य को कभी भी दही नहीं दिया जाता है। दधिदान का सर्वथा बाध हो जाता है। उसकी अप्राप्ति के योग्यविषय में अचरितार्थता अपवादत्व की प्रयोजक मानी जाती है।] इसी लिये 'अजादेर्द्वितीयस्य' इस सूत्र में—प्रथम एकाच् का द्वित्व करने के बाद यह सूत्र चरितार्थ हो जाता है. इस लिये प्रथम एकाच् के द्वित्व का बाध इस सूत्र से नहीं होगा— यह शंका करके 'संभव रहने पर भी बाध होता है' इस न्याय से बाधकता भाष्य में कही गयी है। [भाव यह है कि 'अजादि धातु के द्वितीय एकाच्' का द्वित्व होता है' इत्यर्थक 'अजादेर्द्वितीयस्य' इस सूत्र की चरितार्थता तो प्रथम एकाच् का द्वित्व करने के बाद भी द्वितीय एकाच् का द्वित्व करके संभव है, अतः यह निरवकाश नहीं होता। इस कारण यह प्रथम एकाच् के द्वित्व का बाधक नहीं हो सकता—इस शंका के समाधानार्थ भाष्य में यह कहा गया है कि संभव रहने पर भी बाध होता है। अतः अजादि धातु के द्वितीय एकाच् का ही द्वित्व होता है प्रथम एकाच् का नहीं।] उपर्युक्त स्थिति में 'दयतेर्दिगि लिटि' [लिट् परे रहते रक्षणार्थक देङ् धातु का दिगि आदेश होता है—] इस सूत्र भाष्य में 'असंभव रहने पर ही बाध होता है' इस वार्त्तिक के आधार पर प्रवृत्त होने वाले कैयट आदि के व्याख्यान असंगत ही हैं, ऐसा समझना चाहिये। [वहाँ कैयटप्रदीप में यह लिखा है कि द्वित्व के बाद 'दिगि' आदेश चरितार्थ हो जाता है अतः यह द्वित्व का बाधक नहीं होगा, यह कथन 'असम्भव रहने पर भी बाधक होता है' इस वार्त्तिक पर आधृत है और भाष्यकार ने आगे इस वार्त्तिक का ही खण्डन कर दिया है। इसी लिये वृत्तिकार आदि ने यह लिखा है 'दिग्यादेशेन द्वित्वबाधनमिष्यते।' अतः कैयटमत ठीक नहीं है।]

जश्त्वे शिवशब्दानपेक्षणाच्च। भाविन्यवसानभङ्गे "वाऽवसाने" (पा० सू० ८।४।५६) इत्यस्य पूर्वमप्रवृत्तेश्च। प्रवृत्तस्य वा निवृत्तिसम्भवात्। उक्तं च "अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः" इति "कृतमपि शास्त्रं निवर्तयन्ति" इति च। अन्यथा हरिरयमित्यत्रापि त्वदुक्तरीत्या प्रवृत्तो विसर्गः केन वार्यताम्।

केन वार्यतामिति। एवं चेदृशविषये वाक्यसंस्कारपक्षेणैव साधुत्वाऽन्वाख्यानमिति स्वीकृत्याकृतव्यूहपरिभाषा त्याज्येति चेदिष्टापत्तिरिति बोध्यम्।

इत्येतद्दृष्ट्या 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' इत्यस्यासिद्धत्वात्कथं थस्य स्थाने चर्त्वेन तकार इत्याशङ्कानुत्थानायाह— **इत्युत्तरमिति**। एवञ्च 'खरि च' इत्यस्य परत्वात् तस्य दृष्ट्या पूर्वसवर्णनिष्पन्नथकारस्यासिद्धत्वशंका नास्तीति भावः। **तस्य**= चर्त्ववशान्निष्पन्नतककारस्य ॥

मूले—**जश्त्वे** इति। 'तत्' इत्यस्य जश्त्वेन 'तद्' इत्यादेशे तदा चर्त्वेन दकारस्य चकारादेश इत्यर्थः। **तत्र कृते**—चर्त्वे कृते। **न मानमिति**। तत्र पश्चात् प्रवृत्तिसंभवे निरवकाशत्वरूपबीजं नास्तीति भावः। **उक्तरीतेरिति**। अवसाने चर्त्वे कृते जश्त्वं भवतीति रीतेरित्यर्थः। **एतदेवेति**। तत्कालावश्यं प्राप्तिपूर्वकमुक्तबीजमेवेत्यर्थः। **अत एवेति**। तदप्राप्तियोग्ये विषयेऽचारितार्थ्यस्याऽपवादत्वप्रयोजकत्वादेवेत्यर्थः। **ग्रन्था** इति। 'द्वित्वोत्तरं दिग्यादेशस्य चारिताऽर्थ्येन तेन तस्याबाध' इत्येवं रूपा इति बोध्यम्। **एवञ्चेति**। विसर्गापत्तौ चेत्यर्थः। **ईदृशे विषये**=पदान्तरसम्बन्धासम्बन्धाभ्यां विलक्षणरूपप्राप्तिविषये।

[मनो०] और जश्त्व में 'शिव' शब्द की अपेक्षा भी नहीं है। और ['शिव' के साथ सन्धि हो जाने से] अवसान का विनाश भावी रहने पर 'वाऽवसाने' इस सूत्र की पहले प्रवृत्ति नहीं होती है। और [यदि दुराग्रहवशात् प्रवृत्ति मान लें तो भी] प्रवृत्त की निवृत्ति भी संभव है। जैसा कि कहा गया है 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' [निमित्त को विनाशोन्मुख देखकर कार्य नहीं करते हैं।] और 'प्रवृत्त भी शास्त्र [शास्त्र-विहित कार्य] की निवृत्ति कर देते हैं।' यदि ऐसा नहीं मानोगे तो 'हरिरयम्' यहाँ भी तुम्हारी [प्राचीन आचार्य की] रीति से पहले हो चुका विसर्ग किस प्रकार वारित किया जा सकता है। **[शब्द०]** और [अन्य पद का सम्बन्ध करने पर दूसरा रूप और न करने पर दूसरा रूप होता है—] ऐसे विषय में 'वाक्य=पदसमूह का संस्कार होता है' इस पक्ष से साधुत्व का अन्वाख्यान होता है—यह मानकर 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' इस परिभाषा का परित्याग कर देना चाहिये'—यदि ऐसा कहते हो तो इष्टकल्पना है, ऐसा समझना चाहिये।

अथ तनोतीति तदिति क्विबन्तं ब्रूषे, एवमपि जश्त्वेन दकारोऽस्तु। चर्त्वे कृते श्चुत्वमिति तु न न्याय्यम्। श्चुत्वं प्रति चर्त्वस्यासिद्धत्वात्।

यत्तु "न मुने" (पा० सू० ८।३।३) इत्यत्र "न" इति योगं विभज्यासिद्धत्वमिह नेत्याहुः। तदपि न। असिद्धत्वेऽपि रूपसिद्धौ निर्बाधायां योगविभागस्यागतिकगतिभूतस्येहाश्रयणे प्रमाणाभावात ॥

अन्ये तु—पदसंस्कारे हरिः अस्तीति सविसर्गमपि साध्वेव सत्यभिधाने, परिभाषाया भाष्येऽदर्शनादित्याहुः।

प्रामाणाभावादिति। योगविभागस्य भाष्येऽदर्शनेनाप्रामाणिकत्वाच्चेत्यपि बोध्यम् ॥

सविसर्गमपोति। प्रथमं विसर्गस्य प्रवृत्तिस्तदनन्तरं तिङन्तपदस्य सम्बन्धः। एवञ्च तत्र जातविसर्गस्य न निवृत्तिरिति बोध्यम्। आहुरिति। अनेन तादृशप्रयोगाभिधानेऽरुचिः प्रदर्शितेति बोध्यम्।

दूसरे विद्वान् तो यह कहते हैं—पदसंस्कार-पक्ष में 'हरिः अस्ति' यह विसर्गसहित प्रयोग भी, अभिधान रहने पर, साधु माना जाता है, क्योंकि 'अकृतव्यूहाः' यह परिभाषा भाष्य में नहीं दिखाई पड़ती है।

[मनो०] 'तनोति' इस कर्तृ अर्थ में [क्विप् और सर्वापहारी लोप करके] 'तत्' यह क्विबन्त है—यदि ऐसा कहो तब भी जश्त्व से 'द्' [तद्] होना चाहिये। चर्त्व करने के बाद श्चुत्व होता है—यह तो ठीक नहीं है क्योंकि श्चुत्व ['स्तोः श्चुना श्चुः' ८।४।४०] के प्रति चर्त्व ['खरि च' ८।४।५५] असिद्ध रहता है।

विमर्श—उपर्युक्त विचार का निष्कर्ष यह है कि सिद्धान्त-कौमुदी में जो प्रक्रिया बतायी गयी है वही ठीक है—तद्+शिवः, पहले श्चुत्व से 'द्' का 'ज्' तज्+शिवः, तब चर्त्व से 'ज्' का 'च्' तच्+शिवः, तब 'शश्छोऽटि' सूत्र से वैकल्पिक 'श्' का 'छ्' करने पर (१) तच्छिवः, छ् न करने पर (२) तच्शिवः—ये दो रूप होते हैं।

[मनो०] जो आचार्य यह कहते हैं—'न मुने' इस सूत्र में 'न' यह योगविभाग करके यहाँ [चर्त्व] असिद्ध नहीं होता है—यह मानेंगे, वह भी ठीक नहीं है क्योंकि जश्त्व के प्रति चर्त्व के असिद्ध हो जाने पर [तब श्चुत्व और चर्त्व करने पर] भी 'तच्छिवः' इस रूप की सिद्धि में कोई बाधा नहीं है, फिर भी अगतिकगतिभूत योगविभाग का यहाँ आश्रयण करने में कोई प्रमाण नहीं है। [शब्द०] योगविभाग भाष्य में नहीं देखा जाता है अतः प्रामाणिक भी नहीं है, यह भी समझना चाहिये।

आक्रंस्यत इति। "आङ उद्गमने" (पा० सू० १।३।४०) इति तङ्। "स्नुक्रमोः—(पा० सू० ७।२।३६) इति नेट् ॥

समसम्बन्धी विधिरिति। समकर्मकं विधानमिति तु नोक्तम्। अनुवाद्ययोरपि यथासंख्यस्येष्टत्वात्। "समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः" (पा० सू० ३।४।३६) इत्यत्र यथा ॥

यथासंख्यस्येति। ख्यान्तैकदेशेन सूत्रस्य ग्रहणं बोध्यम् ॥

समूल-अकृत-जीव-इत्येतेषु शब्देषु कर्मसूपपदेषु यथासंख्यं हन्-कृञ्-ग्रह्— इत्येतेभ्यो धातुभ्यो णमुल् प्रत्ययो भवति। एवञ्चात्र णमुल् विधेयः, समूलादयः

[मनो०—नश्चापदान्तस्य झलि ८।३।२४ झल् परे रहते अपदान्त नकार और मकार का अनुस्वार होता है। उदा०] आक्रंस्यते। ['क्रमु पादविक्षेपे' यह परस्मैपदी है परन्तु] 'आङ उद्गमने' इस सूत्र से आत्मनेपद हो जाने के कारण 'तङ्' हुआ है। 'स्नुक्रमोरनात्मनेपदे' [आत्मनेपद में इट् नहीं होता है।] इससे इट् का निषेध होता है। [आक्रम् + स्य + ते प्रस्तुत सूत्र 'म्' का अनुस्वार कर देता है—आक्रंस्यते। आक्रमण किया जाएगा।]

[मनो०—'यवलपरे यवला वा' यह वार्त्तिक यवलपरक हकार रहने पर पूर्ववर्त्ती मकार के विकल्प से यवल करता है। यहाँ तीन विधेय हैं। अतः 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' १।३।१० यह सूत्र प्रवृत्त होता है। स्थानी और आदेश का साम्य संख्या के आधार पर लेना चाहिये। अनुदेश = विधान। एकत्व द्वित्वादि संख्या का अतिक्रमण न करके—यथासंख्यम्। 'समानाम्' में सम्बन्धसामान्य में षष्ठी है।] समसंबन्धी विधि यथासंख्य से होती है। समकर्मक विधान—ऐसा तो नहीं कहा गया अर्थात् 'समानाम्' यहाँ कर्म में षष्ठी नहीं है क्योंकि दो उद्देश्यों में भी यथासंख्य इष्ट है। जैसा कि 'समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' सूत्र में हैं। [समूल, अकृत और जीव ये शब्द कर्मरूप से उपपद रहने पर क्रमशः हन्, कृञ् और ग्रह् धातुओं से णमुल् = अम् होता है। यहाँ तीनों उद्देश्य ही हैं और णमुल् विधेय है।] [शब्द०] यथासख्य—इस एकदेश से पूरे सूत्र 'यथासंख्यमनुदेशः समानाम्' का ज्ञान करना चाहिये।

[यथासंख्यम्—यहाँ अव्ययीभाव समास है। और विभक्ति का लोप रहता है। तब मनोरमा में 'यथासंख्यस्य' यह षष्ठी क्यों प्रयुक्त है ? शब्दरत्नकार समाधान देते हैं कि यहाँ एकदेश से पूरे सूत्र को समझना चाहिये और यह भेदानुकरण है। अतः षष्ठी होना संभव है।]

"ङ्णोः" (पा० सू० ८।३।२८)॥ कुक्टुकोः पूर्वान्तत्वात् 'प्राङ्क्साये' इत्यत्र "सात्पदाद्योः" (पा० सू० ८।३।१११) इति षत्वं न। 'सुगण्ट्साये' इत्यत्र "न पदान्तात्" (पा० सू० ८।४।४२) इति ष्टुत्वं न।

पुष्करे=तीर्थविशेषे सीदतीति पुष्करसत् तस्यापत्यं पौष्करसादिराचार्यः। बह्वादित्वादिञ्। अनुशतिकादित्वादुभयपदवृद्धिः॥

"डः सि धुट्" (पा० सू० ८।३।२९)॥ "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्, परत्वात्" इत्यभिप्रेत्याह—सस्येति।

हनादयश्चोभयेऽपि उद्देश्यभूताः। एतेष्वपि यथासंख्यं प्रवर्तते एव। तेन समूलो-

---

[मनो० 'ङ्णो कुक् टुक् शरि'। शर् परे रहते ङ् और ण् को क्रमशः कुक् और टुक् आगम होते हैं। ये दोनों आगम कित् होने से पूर्व के अन्तावयव होते हैं—'आद्यन्तौ टकितौ' इस सूत्र से। यही लिखते हैं—] कुक् और टुक् ये दोनों पूर्व के अन्त अवयव होते हैं इस लिये 'प्राङ्क्साये' इसमें 'सात्पदाद्योः' इस सूत्र से षत्व का निषेध हो जाता है। और 'सुगण्ट्साये' यहाँ 'न पदान्ताट्टोरनाम्' इससे ष्टुत्व का निषेध होता है। [भाव यह है कि 'प्राङ्क्साये' यहाँ 'क्' पूर्ववर्त्ती का अन्तावयव होता है अतः 'साये' में पदादि 'स्' रहता ही है। प्राप्त षत्व का निषेध 'सात्पदाद्योः' से होता है। इसी प्रकार 'सुगण्ट्साये' यहाँ भी पूर्वपद का अन्तावयव 'ट्' है, इस पदान्त टवर्ग से परे 'स' है। ष्टुत्व का निषेध हो जाता है।]

['चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इस वार्त्तिक में प्रयुक्त 'पौष्करसादि' की व्युत्पत्ति—] पुष्करे=एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान में सीदति=ज्ञान प्राप्त करने वाला जो है वह 'पुष्करसत्'। उसका अपत्य=सन्तान पौष्करसादि=आचार्यविशेष। 'पुष्करसत्' शब्द से बह्वादिभ्यश्च' ४।१।९६ से इञ् प्रत्यय और 'अनुशतिकादीनाम्' ७।३।२० से दोनों पदों की वृद्धि करने पर—'पौष्करसादिः' बना है।

[मनो० 'डः सि धुट्'। यहाँ 'डः' यह पञ्चम्यन्त है और 'सि' यह सप्तम्यन्त है। अतः दोनों निर्देशों के कारण 'तस्मादित्युत्तरस्य' [१।१।६७] तथा 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' [१।१।६६] इन दोनों परिभाषाओं की उपस्थिति होने पर किसको मानकर कार्य किया जाय? इसका उत्तर दे रहे हैं—] 'सप्तम्यन्त तथा पञ्चम्यन्त इन दोनों का एक स्थल पर निर्देश रहने पर पञ्चम्यन्तनिर्देश अधिक बलवान् होता है' क्योंकि यह परवर्त्ती है, इसी से (सिद्धान्तकौमुदी में) कहा गया है—'ड्' से परे सकार को विकल्प से धुट् का आगम होता।'

सीति सप्तमीनिर्देशस्तु लाघवार्थः । षट्त्सन्त इति । धुटश्चर्त्वेन तकारः ।

यत्त्वाहुः—"चयो द्वितीया" इति पक्षे तस्य थ इति, तन्न । चर्त्वस्यासिद्ध-

---

परत्वादिति । "तस्मिन्" (पा० सू० १।१।६६) इति सूत्रापेक्षया "तस्मात्—" (पा० सू० १।१।६७) इत्यस्य परत्वादित्यर्थः । डकारात्सकारे धुडित्यर्थे "तस्मिन्—" (पा०सू० १।१।६६) इत्यस्य प्रवृत्तावुपस्थितसस्य तत्त्वमित्यसम्भवरूपविरोधे परत्वेन व्यवस्थेति सस्यागमित्वनिर्णय इति भावः । स्पष्टं चेदं "तस्मिन्" (पा० सू० १।१।६६) इति सूत्रे भाष्ये । लाघवार्थं इति । षष्ठ्याः प्रयोगे एव कर्तव्ये इत्यर्थः ।

पपदात् हन्धातोः णमुलि—समूलघातं हन्तीति सिध्यति ।।

[शब्द०] पञ्चमीनिर्देश बलवत्तर होता है क्योंकि यह परवर्त्ती है । तस्मिन्निति निर्दिष्टे' (१।१।६६) इसकी अपेक्षा 'तस्मादित्युत्तरस्य' (१।१।६७) यह परवर्त्ती है—यह (मनोरमा का) अर्थ है । ड' कार से 'स' कार परे धुट् होता है—इस अर्थ में 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे' इस परिभाषा की प्रवृत्ति में उपस्थित 'ड्' आगमी होता, [क्योंकि इस परिभाषा से पूर्वत्व, अव्यवहितत्व अंशों की उपस्थिति होती है ।] 'तस्मादित्युत्तरस्य' इसकी प्रवृत्ति में उपस्थित 'स्' आगमी भी होता है [क्योंकि इस परिभाषा से उत्तरत्व अव्यवहितत्व अंशों की उपस्थिति होती है]—इस प्रकार [कार्यित्व और निमित्तत्व का युगपत्] संभव न हो सकना रूप विरोध होने पर परत्व को मानकर ही व्यवस्था होती है, इस प्रकार 'स्' को ही आगमी होने का निर्णय होता है, यह भाव है । यह सब 'तस्मिन्निति' १।१।६६ सूत्रभाष्य में स्पष्ट किया गया है ।

[शब्द०] यदि स् आगमी है तो उसे षष्ठीनिर्दिष्ट 'सस्य' ही होना चाहिये था [न कि सप्तमीनिर्दिष्ट 'सि' ? इसका उत्तर यह है—[मनो०] 'सि' यह सप्तमीनिर्देश तो [अक्षर–] लाघव के लिये है । षट्त्सन्तः—षड् + सन्तः [धुट् = ध् आगम और] 'खरि च' इस सूत्र से चर्त्व के कारण 'ध्' का 'त्' होता है । [यहाँ 'ड्' का भी चर्त्व करके 'ट्' होता है । छः सज्जन—यह अर्थ है ।]

[मनो०] जो यह कहते हैं—'षट्त्सन्तः' यहाँ 'चयो द्वितीयाः' इस वार्तिक से विकल्प से 'त्' क 'थ्' होता है, परन्तु यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि [परवर्त्ती होने के कारण इस वार्तिक की दृष्टि में] चर्त्व असिद्ध हो जाता है । [शब्द०] चर्त्व असिद्ध होता है । इसी लिए 'डः सि तुट्' यह नहीं कहा गया । [यदि द्वितीय

त्वात्। अत एव धुडभावे षट सन्त इत्यत्र टस्य ठो न। टकारनकार-विसर्गाणां द्वित्वविकल्पात् षोडश। "खयः शर" इति सकारद्वित्वे द्वात्रिंशत्।

न च तत्र चर्त्वस्यासिद्धत्वं शङ्कयम्. "पूर्वत्रासिद्धीयमद्विवत्वे" इत्युक्तेः। न च "शरोऽचि" (पा० सू० ८।४।४९) इति द्वित्वनिषेधः शङ्कयः, तस्य सौत्रद्वित्वमात्रविषयत्वात। अत एव "शरः खयः" इति वार्त्तिकस्य वत्सरः, अप्सराः, इत्युदाहरणं भाष्ये स्थितम्।

चर्त्वस्यासिद्धत्वादिति। अत एव तुडिति नोक्तम्। अत एव=चर्त्वस्यासिद्धत्वादेव।

वर्ण करना इष्ट होता हो तो 'तुट्' आगम करके 'त्' का थ् कर दिया जा सकता था।] [मनो०] इसी लिये [शब्द०]=चर्त्व असिद्ध होता ही है इस कारण [मनो०] धुट् के अभावपक्ष में 'षट् सन्तः' यहाँ 'ट' का 'ठ्' यह द्वितीय वर्ण नहीं किया गया है। [इस 'षट्त्सन्तः' में 'अनचि च' इस सूत्र से] टकार, नकार और विसर्ग इन तीनों का वैकल्पिक द्वित्व होने से १६ रूप बनते हैं। [सर्वप्रथम 'ट्' के द्वित्व और द्वित्वाभाव में २ रूप होते हैं। दोनों में 'न्' के द्वित्व में दो और द्वित्वाभाव में दो—मिलाकर ४ रूप होते हैं। इन चार में विसर्ग के द्वित्व में चार और द्वित्वाभाव में चार मिलाकर ८ रूप हो जाते हैं। उपर्युक्त आठ रूप धुट् करने के पक्ष में होते है। जब धुट् नहीं होता है तब भी आठ रूप होते हैं। मिलाकर १६ रूप बन जाते हैं।] 'खय् से परे शर् का द्वित्व होता है' इससे 'स्' का द्वित्व करने और न करने पर मिलाकर ३२ रूप हो जाते हैं। ('खयः शरः' इसमें 'खयः' को पञ्चम्यन्त और 'शरः' को षष्ठ्यन्त मानने पर द्वित्व होता है। जब शर् को पञ्चम्यन्त और खय् को षष्ठ्यन्त मानते हैं तब द्वित्व नहीं होता है।)

यहाँ 'स्' का द्वित्व करने में चर्त्व [=ड् का त्] असिद्ध हो जाता है [फलस्वरूप षड्सन्तः में खय् ट् से परे शर्=स् नहीं मिल पाता है अतः द्वित्व नहीं होगा]—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि द्वित्व से भिन्न कार्य में ही 'पूर्वत्रासिद्धम्' इसकी प्रवृत्ति होती है' यह ['पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे] कहा गया है। यहाँ 'शरोऽचि' इस सूत्र से भी द्वित्व के निषेध की शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह सूत्र केवल वहीं द्वित्वनिषेध करता है जहाँ सूत्र से द्वित्व होता है। [यहाँ वार्त्तिक से द्वित्व है अतः निषेध नहीं हो सकता। सूत्र से ही होने वाले द्वित्व का निषेध 'शरोऽचि' से होता है] इसीलिये "शरः खयः" इस वार्त्तिक के 'वत्सरः,' 'अप्सराः' ये उदाहरण भाष्य में दिये गये हैं। [काशिकाकार ने भी ये उदाहरण दिये हैं। देखें ८।४।४७ सूत्र पर काशिका।]

धुटः परादित्वं "न पदान्तात्—" (पा० सू० ८।४।४२) इति ष्टुत्वनिषेधार्थम्। अत एव वक्ष्यमाणस्तुगिहैव न कृतः।

यस्त्वाहुः—एवमपि प्रक्रियालाघवार्थं तुडेव कर्तुमुचित इति, तन्न। "चया-

---

ननु 'धुक् ङः सि' इत्यस्तु सप्तमी च यथाश्रुतैव, ङ इति च षष्ठ्यन्तं, परमार्थतो वाक्यशक्त्यङ्गीकारेण पूर्वान्तत्वे परादित्वे वा न शक्ततावच्छेदक भेदोऽत—आह धुटः परादित्वमिति।

[शब्द०] यहाँ 'ङः सि धुक्' यह सूत्ररूप हो जाय, सप्तमी ['सि' में] जैसी सुनाई देती है, वैसी ही रहे किन्तु 'ङः' यह षष्ठ्यन्त हो जाय। [क्योंकि पञ्चमी तथा षष्ठी दोनों में 'ङः' ऐसा ही रूप होता है।] वास्तव में वाक्य में ही शक्ति मानी जाती है इसलिये पूर्व का अन्त अवयव हो या पर का आदि अवयव हो—दोनों स्थितियों में शक्तताबच्छेदक [आनुपूर्वी] का कोई भेद नहीं होता है—इस [शंका के समाधान] के लिये [मनो० में] कहते हैं—"'न पदान्ताट्टोरनाम्' इससे निषेध करने के लिये धुट् परवर्ती का आदि अवयव होता है। [पूर्ववर्ती का अन्तावयव होता तो 'षट्त्' में ष्टुत्व रोकना संभव नहीं हो पाता। परवर्ती का अवयव होने से 'षट्+त्सन्तः' में पदान्त टवर्ग से परे होने से 'नपदान्ताट्टोरनाम्' यह ष्टुत्वनिषेध कर देता है।] [ष्टुत्व का निषेध इष्ट है।] इसी लिये आगे ['शि तुक्' ८।३।३१ सूत्र में] कहा जाने वाला तुक् इसी सूत्र में नहीं कह दिया गया। [भाव यह है कि 'धुट्' करना फिर चर्त्व करना आदि की अपेक्षा तुक् करना लाघवमूलक था। परन्तु तुक् कित् होने से पूर्व का अन्तावयव होता है। फलतः 'षट्त्+सन्तः' में पदान्त टवर्ग से परे नहीं मिलता और' नपदान्तात्' से निषेध नहीं हो पाता। ष्टुत्व प्रसक्त होता। किन्तु धुट् करने पर वह परवर्ती का आदि अवयव होता है—षट्+त्सन्तः। पदान्त टवर्ग से परे मिलने के कारण ष्टुत्वनिषेध हो जाता है।]

जो यह कहते हैं कि ष्टुत्ववारण फल रहने पर भी प्रक्रिया के लाघव के लिये 'तुट्' आगम ही करना उचित है [क्योंकि धुट् करके 'ध्' का 'त्' करने के लिये चर्त्व करना पड़ता है। और तुट् आगम में स्वतः 'त्' शेष बचता है। टित् होने से पर का आदि अवयव होगा, अतः ष्टुत्ववारण भी हो जायगा।]—यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इस वार्तिक से वैकल्पिक द्वितीय वर्ण 'थ' होने लगेगा। ['धुट्' के 'ध्' का चर्त्व करके जो 'त्' होता है वह द्वितीय वर्ण विधायक वार्तिक की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है अतः द्वितीय वर्ण नहीं होता है।]

द्वितीया—" इति पक्षे थकारापत्तेः ॥

"श्चुत्वं धुटि सिद्धं वाच्यम्" अटतीत्यट्श्चोतति, इह धुड् न ॥

"शि तुक्" (पा० सू० ८।३।३१) शीति सप्तमी पूर्वत्र कृतार्थायाः "नः" इति पञ्चम्याः षष्ठीं कल्पयतीत्याह—नस्येति ।

श्चोतीति । श्चोततिरुपदेशे सादिः । श्चुत्वस्य धुटि सिद्धत्वेऽपि तुक्य-सिद्धत्वात्सन् श्चोततीत्यत्र तुग्नेति बोध्यम् ।

षष्ठीं कल्पयतीति । न च "शि" इति सप्तमीनिर्देशो लाघवार्थः । द्वयोरचरितार्थत्वे लाघवेनान्यविभक्त्युच्चारणं युक्तं न त्वन्यथेत्याशयात् ।

मूले—सौत्राद्वित्वेति । अत्र च 'चयो द्वितीयाः' इति वार्त्तिकेन द्वित्वमिति

'अटति' इस अर्थ में (क्विप् करने पर) 'अट्' बनता है । अट् + श्चोतति यहाँ धुट् नहीं होता है क्योंकि "धुट् की कर्त्तव्यता में श्चुत्व सिद्ध कहना चाहिये" यह वार्त्तिक है । [शब्द०] 'श्चोतति' यह उपदेशावस्था में सकारादि अर्थात् 'स्चु' ऐसा है । {अतः अड् + श्चोतति में 'ड' से परे 'स्' होने पर धुट् प्राप्त है । परन्तु श्चुत्व सिद्ध ही रहता है अतः 'श्' परे है । धुट् का प्रसङ्ग नहीं है ।] परन्तु धुट् की कर्त्तव्यता में श्चुत्व असिद्ध हो जाने से 'सन् + श्चोतति' यहाँ तुक् नहीं होता है यह समझना चाहिये । [भाव यह है कि 'श्चु' धातु मूलरूप में 'स्चु' है । 'धुट्' के लिये श्चुत्व सिद्ध रहता है अतः सकार परे न मिलने से धुट् नहीं होता है । परन्तु 'शि तुक्' ८।१।३१ से तुक् करने में श्चुत्व असिद्ध हो जाता है तब शकार परे नहीं मिलता है । अतः सन् + श्चोतति में तुक् नहीं होता है । लक्ष्य-सिद्धि ध्यान में रखकर श्चुत्व की सिद्धता और असिद्धता मानी गयी है ।]

[प्रकाशित संस्करणों में विना किसी प्रतीक के ही शब्दरत्न लिखा है । सम्भवतः किसी के प्रमाद से यहाँ का प्रतीक छूट गया है ।]

[मनो०] शि तुक् । [इस सूत्र में 'नश्च' ८।३।३० से 'नः' इसकी अनुवृत्ति होती है और पञ्चम्यन्त है । 'शि' यह सप्तम्यन्त है । यहाँ 'उभयनिर्देशे पञ्चमी निर्देशो बलीयान्' इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है । यही लिखते हैं—] 'शि' यह सप्तमी विभक्ति पूर्व सूत्र 'नश्च' में चरितार्थ हुइ 'नः' इसकी पञ्चमी को षष्ठी के रूप में बदल देती है—इसी आशय से [सिद्धान्तकौमुदी में] कहा गया है—पदान्त नकार को शकार परे रहते विकल्प से तुक् आगम होता है । [शब्द०] 'शि' यह सप्तमीनिर्देश लाघव के लिये है—ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि दोनों के चरितार्थ न होने पर लाघव से अन्यविभक्ति का उच्चारण ठीक होता है, न कि अन्य किसी कारण, यह आशय है । [यहाँ सप्तमीनिर्देश चरितार्थ है । अतः इसे लाघव के आधार पर षष्ठी के स्थान में नहीं माना जा सकता ।]

ननु प्रकृतो धुडबास्तु किं तुका ? मैवम् । "शश्छोऽटि" (पा० सू० ८।४।६३) इत्यस्य हि पदान्ताज्झयः परस्य शस्य छ इत्यर्थ आकरे स्थितः । एवं च धुटः परादित्वात् सञ्च्छम्भुरित्यत्र च्छो न स्यात् । विपूर्वाद्रपेरौणादिके शप्रत्यये "मध्वश्चोतन्त्यभितो विरप्शम्" इत्यादौ यथा । अतः पूर्वान्तस्तुक् कृतः ।

नन्वेवं कुर्वञ्च्शेते इत्यत्र "पदान्तस्य" (पा० सू० ८।४।३७) इति णत्वनि-

---

धुडेवास्त्विति । शीति च षष्ठ्यर्थे इति भावः । विरप्शमिति । छान्दसार्थमपि बहुशः सूत्रकृतो यत्नदर्शनादिति भावः ।

बोध्यम् । **पदान्ताज्झय** इति । धुटष्टित्वेन परादित्वं जायते । ततश्च पदान्ताज्झयः परः शो न लभ्यते इति न छत्वं सम्भवतीति बोध्यम् । अत एव पूर्वान्तत्वसम्पादनाय तुग् विहितः । **अत** इति । छत्वविधानेऽनुपपत्तिर्माभूदित्येतदर्थं पूर्वं बोध्यम् । मूले—**तुडेवेति** । एवञ्च 'षड् त् सन्तः' इत्यत्र र्णानन्तरं 'चयो द्वितीयाः' इति वार्तिकस्य प्रवृत्त्या तकारस्य थकारापत्तिरिति भावः ॥

मूले—**धुडेवास्त्विति** । एवञ्च धकारस्य चर्त्वेन तकारः सम्पत्स्यते इति

[मनो०] प्रकृत=प्रकरणप्राप्त धुट् ही क्यों न हो जाय, तुक् करने से क्या लाभ [क्योंकि चर्त्व के द्वारा 'ध्' का भी 'त्' सम्भव है?—**[शब्द०]** और 'शि' में सप्तमी षष्ठी के अर्थ में है, यह भाव है । **[मनो०]** ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'शश्छोऽटि' इस सूत्र का अर्थ भाष्य में यह है—'पदान्त झय् से परे श् का 'छ्' होता है ।' और इस प्रकार धुट् परवर्ती का आदि अवयव होता है । अतः 'सञ्च्छम्भुः' इसमें 'छ' नहीं हो सकता । [भाव यह है कि सन्+शम्भुः' में जब तुक् होता है तो पूर्व का अन्त अवयव होने से पदान्त झय् से परे 'श' मिलता है । किन्तु जब धुट् करेंगे तो वह 'सन्+ध् शम्भुः' में परवर्त्ती का आदि अवयव होगा । वह बीच में व्यवधान हो जायगा । अतः 'छ्' नहीं हो सकता ।] जैसा कि 'वि' पूर्वक 'रप्' धातु से औणादिक 'श' प्रत्यय करने पर 'मध्वश्चोतन्त्यभितो विरप्शम्' में श् का छ् नहीं होता है । [क्योंकि झय् से परे होने पर भी पदान्त झय् से परे 'श्' नहीं है ।] इसी लिये पूर्व का अन्तावयव तुक् आगम किया गया । [फलतः सनृत्+शम्भुः में छत्व, श्चुत्व आदि होने में बाधा नहीं है ।] **[शब्द०]** [इस 'विरप्शम्' में छान्दस होने से 'श्' का 'छ्' नहीं होता है अतः अन्यत्र होने में बाधा नहीं है—यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि] छान्दस प्रयोगों के लिए भी सूत्रकार पाणिनि का अनेक बार प्रयास देखा गया है, यह भाव है ।

[मनो०] इस प्रकार अर्थात् तुक् को पूर्व का अन्तावयव मान लेने पर 'कुर्वञ्च्शेते' यहाँ 'पदान्तस्य' इस सूत्र से णत्व का निषेध नहीं हो सकेगा [क्योंकि

बंधो न स्यादिति चेन्न । कार्यकालपक्षे बहिरङ्गत्वेन तुकोऽसिद्धत्वात् । यथो-द्देशपक्षे "स्तोः श्चुना" इति योगो विभज्यते 'न' इति वर्तते 'णः' इति च, स्तोः श्चुना योगे णत्वं न स्यात् । नकारार्थमिदम् । सकारग्रहणं वर्गग्रहणं चोत्तरार्थम् । ततः "श्चुः" इति । पूर्वमनुवर्तते ।

एवं "नश्च" (पा० सू० ८।३।३०) इति सूत्रे कुर्वन्त्सीदतीत्यत्र 'पदान्तस्य' (पा० सू० ८।३।३७) इति णत्वप्रतिषेधो धुटः परादित्वे प्रयोजनमिति प्राचां ग्रन्थोऽपि यथोद्देशपक्षे बोध्यः ।

णत्वं न स्यादिति । एतद्दृष्टया श्चुत्वस्यासिद्धत्वं तु न, वचनसामर्थ्या दिति भावः । त्रिपाद्यां सर्वथा परिभाषाऽप्रवृत्तौ पक्षद्वयेऽपीदमेव समाधानम् ।

स्यान्तो तुग् विहित इति भावः । एवमिति । पूर्वस्यान्तावयवे तुकि विहिते सति 'कुर्वन्त्च्शेते' इत्यत्र पदान्ते नकारस्याभावात् णत्वनिषेधाप्राप्त्या तादृशरूपा-सिद्धावित्यर्थः । इदमेवेति । योगविभागेन सिद्धात् स्तो श्चुना योगे णत्वं ने'ति वचनमेवेत्यर्थः ।।

तुक् पूर्व का अन्तावयव बन जाने से 'कुर्वन्त्' में पदान्त में 'त्' है, 'न्' नहीं है । अतः णत्व होना चाहिये ।]—ऐसा नही कहा जा सकता; क्योंकि कार्यकालपक्ष में [णत्व-निषेध की अपेक्षा] बहिरंग होने से तुक् असिद्ध हो जाता है । [णत्व को केवल एक पद के अन्त की अपेक्षा पड़ती है और तुक् को दो पदों के दो वर्णविशेषों की अपेक्षा होती है । अत. यह बहिरंग होने से असिद्ध हो जाता है । पदान्त में 'न्' मिलता है, णत्व नहीं होता है ।] यथोद्देशपक्ष में 'स्तोः श्चुना' इस योग का विभाजन किया जाता है 'न' और 'णः' इन दोनों की अनुवृत्ति होती है 'सकार तवर्ग को शकार और चवर्ग के साथ योग में णत्व नहीं होता है ।

[शब्द०] इस सूत्र की दृष्टि से (इस समय प्राप्त) श्चुत्व की असिद्धता नहीं मानी जा सकती क्योंकि इसी उद्देश्य के लिये यह बनाया गया है, यह भाव है । त्रिपादी में (बहिरङ्ग परिभाषा की) सर्वथा=कार्यकाल और यथोद्देश दोनों पक्ष में प्रवृत्ति न होने पर दोनों पक्षों में यही समाधान है ।

[मनो०] यह योग 'न' ही रखने के लिये है । शकार का ग्रहण और तवर्ग के अन्य वर्णों का ग्रहण अगले सूत्र में अनुवृत्ति के लिये है । इस सूत्र के बाद 'श्चुः' यह सूत्र है । इस सूत्र में पूर्व सूत्र 'स्तोः श्चुना' की अनुवृत्ति होती है ।

इस प्रकार—'नश्च' इस सूत्र में 'कुर्वन्त्सीदति' इसमें 'पदान्तस्य' इससे प्रतिषेध करना धुट् के परादि (परवर्त्ती का आदि अवयव होने) में प्रयोजन है— यह प्राचीन व्याख्याकारों का ग्रन्थ भी यथोद्देश पक्ष में समझना चाहिये । [शब्द०]

यत्तु वदन्ति—इदं प्रयोजनं बहिरङ्गपरिभाषया गतार्थत्वात्प्रत्युक्तमिति। तत्पाक्षिकम। त्रिपादीस्थेन्तरङ्गे बहिरङ्गपरिभाषेयं न प्रवर्तते इति सुद्ध्युपास्य इत्युदाहरणे स्वोक्त्या सह विरुद्धं चेत्यास्तां तावत्।

सञ्च्छम्भुरिति। इह श्चुत्वतुकोरसिद्धतामाश्रित्य "नश्छवि" (पा० सू० ८।३।७) इति रुत्वं न शङ्क्यम्। छत्वस्यासिद्धत्वात्।

"ङमो ह्रस्वात्" (पा० सू० ८।३।३२) ङम् प्रत्याहारः। सञ्ज्ञायां च

यथोद्देशपक्षे इति। कार्यकाले तु असिद्धत्वान्न दोषः पूर्वान्तत्वेऽपीति भावः।

पूर्व का अन्तावयव होने पर भी कार्यकालपक्ष में दोष नहीं है। क्योंकि (तुक् आगम) असिद्ध हो जाता है [अर्थात् धुट् न करके धुक् करने पर पूर्व का अन्तावयव मान लेने पर भी णत्व का प्रतिषेध सम्भव है क्योंकि पदान्तत्व का विधायक 'तुक्' आगम पूर्वोक्त रीति से असिद्ध हो जाता है।] यह भाव है।

[मनो०] जो यह कहते है—('कुर्वन्त्सीदति' यहाँ ' व' सूत्र से धुक् मान लेने पर वह पूर्व का अन्तावयव हो जाता है, फिर भी णत्वप्रतिषेध हो जायगा अतः) यह=णत्वप्रतिषेध प्रयोजन 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इस परिभाषा से गतार्थ (सिद्ध) हो जाने से प्रत्युक्त=निराकृत है। (अर्थात् असिद्ध हो जाने से ही णत्व नहीं हो पाता है अतः णत्वप्रतिषेध को धुट् करने का प्रयोजन नहीं मानना चाहिये।)—यह पाक्षिक (कार्यकालपक्ष को मानकर) है। और 'त्रिपादीस्थ अन्तरङ्ग की कर्त्तव्यता में बहिरङ्ग परिभाषा नहीं प्रवृत्त होती है'—यह 'सुद्ध्युपास्यः' इस उदाहरण में आपके अपने कथन से विरुद्ध भी है, अतः शान्त बैठिये। (भाव यह है कि प्राचीनों का कथन या तो केवल कार्यकालपक्ष मानकर उपपादित हो सकता है अथवा त्रिपादी में भी बहिरङ्ग परिभाषा की प्रवृत्ति मान कर आगम को असिद्ध करके उपपन्न हो सकता है।)

सञ्च्छम्भुः। इसमें श्चुत्व (ञ् च) और तुक् की असिद्धता मानकर (सन्+छम्भुः में) 'नश्छव्यप्रशान्' इस सूत्र से 'न्' के 'रु' होने की शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि (रुत्वविधायक सूत्र ८।३।७ की अपेक्षा छत्वविधायक सूत्र ८।३।३१ परवर्त्ती होने से) असिद्ध हो जाता है। (अतः अम्परक 'छव्' नहीं मिलता है रुत्वप्राप्ति नहीं है।)

ङमो ह्रस्वादचि०। (ह्रस्व से परे जो ङम्, तदन्त जो पद, उससे परे अच् को नित्य ङमुट् आगम होता है।) ङम् प्रत्याहार है (=ङ, ण, न ये तीन अक्षर हैं)। 'ङम्' इस प्रत्याहाररूपी संज्ञा में किया गया टित्व (विधान) सामर्थ्य से प्रत्येक संज्ञी ङ्, ण्, न् से सम्बद्ध होता है। इस कारण क्रमशः ङुट्, णुट् और नुट्

कृतं ङित्वं सामर्थ्यात् संज्ञिभिः सम्बध्यते। तेन यथासंख्यं ङुट्—णुट्—नुटः प्रवर्तन्ते। नित्यग्रहणं विस्पष्टार्थम्। "हे मपरे–" (पा० सू० ८।३।२६) इति "मय उञो वो वा" (पा० सू० ८।३।३३) इति च विकल्पद्वयस्य मध्ये पाठादेव नित्यत्वलाभात्।

सुगण्णीश इति। ण्यल्लोपौ न स्थानिवत्, पूर्वत्रासिद्धे तन्निषेधात्।

सञ्ज्ञायाम्—ङमिति प्रत्याहाररूपायाम्। विकल्पद्वयस्य मध्ये इति। 'विभाषामध्ये च ये विधयस्ते नित्या' इति "पूङः क्त्वा च" (पा० सू० १।२।२२) इति सूत्रे भाष्योक्तेरिति भावः। न च तन्मध्ये पाठेन नित्यत्वकल्पने तन्मध्यपतितानां "नपरे नः" (पा० सू० ८।३।२७) इत्यादीनामपि नित्यत्वापत्तिः। स्वरितत्वबलादनुवृत्तस्य पुनर्वाग्रहणान्निवृत्तौ कल्प्यमानायां स्वानन्तर एव तत्कल्पनेनोपपत्तावन्यत्र तत्कल्पने मानाभावात्। तस्मादुत्तरत्र वाग्रहणसामार्थ्यात्पूर्वसूत्रे एव वाग्रहणस्य निवृत्तिरिति भावः।

इनकी (आगम रूप से) प्रवृत्ति होती है। नित्य का ग्रहण विस्पष्टता के लिए है। कारण यह है कि 'हे मपरे वा' तथा 'मय उञो वो वा' इन दो विकल्पों के मध्य में प्रस्तुत सूत्र का पाठ होने से ही इसकी (स्वतः) नित्यता प्रतीत हो जाती है। (यदि सभी वैकल्पिक होते तो दूसरी बार आगे विकल्प लिखने की कोई आवश्यकता नहीं होती।) [शब्द०] क्योंकि 'दो विकल्पों के मध्य में पढ़ी गयीं जो विधियाँ हैं वे नित्य होती हैं' ऐसा 'पूङः क्त्वा च" इस सूत्र पर भाष्य में कहा गया है, यह भाव है। यह कि—दो विकल्पों के मध्य में पाठ होने से (इस सूत्र की) नित्यता की कल्पना करने पर इन दो विकल्पों के मध्य में आने वाले 'नपरे नः' इत्यादि सूत्र भी नित्य होने लगेंगे—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि स्वरितत्व-प्रतिज्ञा के बल से अनुवृत्त ('वा') की पुनः 'वा' ग्रहण द्वारा निवृत्ति की कल्पना करने पर उस समय अपने से अव्यवहित में ही उसकी निवृत्ति की कल्पना करने से उपपत्ति हो जाती है। इस स्थिति में अन्य सूत्रों में उस 'वा' की निवृत्ति की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है। इस कारण उत्तरवर्त्ती सूत्र में 'वा' के ग्रहण करने के सामर्थ्य से (उससे अव्यवहित) पूर्ववर्त्ती सूत्र में ही 'वा' ग्रहण की निवृत्ति होती है, (अन्य सभी व्यवहित पूर्ववर्त्ती सूत्रों में 'वा' ग्रहण की अनुवृत्ति रहती ही है) यह भाव है।

[मनो०] सुगण्णीशः। (सुगण् + ईशः यहाँ प्रस्तुत सूत्र से णुट् = ण् आगम होने पर यह रूप सिद्ध होता है। 'सुगण' इस से णिच् प्रत्यय करने पर 'ण' के अकार का लोप होता है—'सुगणि' यह णिजन्त धातु बनता है। 'सुगणयति' इस कर्ता अर्थ में क्विप् प्रत्यय करने पर 'णि' का लोप और क्विप् का सर्वापहारी लोप करने के बाद 'सुगण्' यह बनता है। इसकी 'ईशः' के साथ

ङमुटः परादित्वं कुर्वन्नास्ते इत्यत्र णत्वप्रतिषेधार्थम् । अत एव 'ङमो, ह्रस्वादचि द्वे' इति नासूत्रि । परं णत्वं प्रति पूर्वस्य सिद्धतया णत्वापत्तेरिति प्राञ्चः ।

तन्निषंगशद्विति । "तस्य दोषः" इत्यस्य तु न प्राप्तिः । लत्वसाहचर्येणादेशणत्वस्यैव ग्रहणात् । पञ्चमीसमास्यानित्यत्वाच्चेत्यपि बोध्यम् । परादित्वमिति । ततः परस्याच इति व्याख्यानेनेत्यर्थः । ङम इत्यस्य षष्ठचन्तत्वमाश्रित्य ङमन्तपदावयवस्य ह्रस्वात्परस्य ङमो ङमुडजादौ पदे

मूले—**विस्पष्टार्थमिति** । अत एव 'सुप्तिङन्तं पदम्' 'इको यणचि' 'सनाद्यन्ताः धातवः' इत्यादौ ङमुडागमाभावेऽपि न क्षतिरिति बोध्यम् । ननु कथं नित्यत्वप्रतीतिरत आह—**विकल्पद्वयस्येति** । एवञ्च परवर्त्तिनो विकल्पात् पूर्ववर्तिनो नित्यत्वं स्वत एव सिद्धमिति बोध्यम् । **आदेशणत्वस्येति** । अत्र च णुडिति आगमभूतं

सन्धि होती है ।) णिलोप और अलोप स्थानिवत् नहीं होते हैं । क्योंकि त्रिपादीस्थ कार्य करने मे स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है । [शब्द०] यहाँ "उस स्थानिवद्भाव का दोष है—संयोगादिलोप, लत्व और णत्व की कर्तव्यता में" इस वार्त्तिक की प्राप्ति नहीं होती है (अतः स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध हो जायगा) क्योंकि लत्व के साहचर्य से आदेशभूत णत्व का ही ग्रहण होता है (न कि आगमभूत 'ण्' का) । और ('अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' इस सूत्र के 'पूर्वविधौ' में 'पूर्वस्मात् विधौः' इस) पञ्चमीसमास अनित्य है, यह भी समझना चाहिये । (अतः यहाँ स्थानिवद्भाव की प्राप्ति ही नहीं है क्योंकि परवर्त्ती की ङमुट् आगमविधि कर्तव्य है ।)

[मनो०] 'कुर्वन्नास्ते' (कुर्वन्+आस्ते, नुट्=न् आगम) इसमें 'पदान्तस्य' इस सूत्र से णत्व का प्रतिषेध करने के लिये ङमुट् को परवर्त्ती का आदि अवयव किया गया है अर्थात् टित् आगम बनाया गया है । (णत्वप्रतिषेध संभव हो सके) इसीलिये 'ङमो ह्रस्वादचि' (ह्रस्व से ङम् के बाद अच् रहने पर ङम् का द्वित्व होता है) ऐसा सूत्र नहीं किया गया, क्योंकि णत्वविधायक परवर्त्ती (पदान्तस्य ८।४।३७) शास्त्र के प्रति पूर्ववर्त्ती (आगम अथवा द्वित्व का विधायक) शास्त्र सिद्ध रहता है, इस कारण णत्व की प्राप्ति का प्रसंग है, ऐसा प्राचीन लोग कहते हैं । [शब्द०] 'ङम्' से परवर्त्ती अच् का ङमुट् आगम होता है—इस व्याख्यान से ङमुट् को पर का आदि कहा गया है, यह अर्थ है । (अन्यथा) 'ङम' इसकी षष्ठ्यन्तता मान कर ('पदस्य' का विशेषण बनाकर) ङमन्त पद के अवयव, ह्रस्व से परवर्त्ती ङम् को ङमुट आगम होता है, अजादि पद परे रहते—इस प्रकार

यत्वाहुः—बहिरङ्गपरिभाषया गतार्थत्वादुभयमप्यमङ्गतमिति। तदपि

इत्यर्थेन पूर्वादित्वमेव कुतो न कृतम्? "पदस्य" (पा० सू० ८।१।१६) इति च "मादुपधाया" (पा० सू० ८।२।९) इत्यादाविवावयवषष्ठी। अजादौ पदे इत्युक्ते 'म्ना अभ्यासे' इत्यतः शतरि मननित्यादावनन्त्यस्य नेति भावः।

णत्वमिति न निषेधवचनस्य प्रवृत्तिरिति भावः। किञ्च 'पूर्वस्माद्विधिः' इति पञ्चमीसमासोऽप्यनित्यः। एवञ्च नात्र स्थानिवत्त्वस्य प्राप्तिरिति प्रतिपादयन्ति—**पञ्चमी**समासस्येति। मूले—**णत्वप्रतिषेधार्थमिति**। कुर्वन्+आस्ते=कुर्वन्नास्ते इत्यत्र 'नुट्' 'आस्ते' इत्यस्यावयवः, तेन पदान्ते 'न्' इत्यस्य विद्यमानतया 'पदान्तस्य' इति णत्वप्रतिषेध इति भावः। **अत एवेति**। णत्वनिषेधसिद्धयर्थमेवेति भावः।

के अर्थ के द्वारा पूर्ववर्ती (ङम्) का आदि अवयव ही क्यों नहीं बनाया? 'मादुपधायाः' इस सूत्र के समान ही 'पदस्य' इसमें भी अवयव अर्थ में षष्ठी है। अजादि पद परे रहते ऐसा कहने से 'म्ना अभ्यासे' इस धातु से शतृ प्रत्यय परे रहते (मन् आदेश करने पर भी) 'मनन्' इत्यादि में अनन्त्य (अन्त्य में न रहने वाले) को नुट् आगम नहीं होता है। (क्योंकि म्ना+शतृ=अत् में 'मन्' आदेश करने पर मन्+अत् यहाँ अजादि पद परे नहीं है अपितु उसी पद का अवयव प्रत्यय ही परे है। अतः यह आगम नहीं होता है।) यह भाव है।

विमर्श—भाव यह है कि 'ङमो ह्रस्वादचि' सूत्र में 'पदस्य' की अनुवृत्ति होती है और यह षष्ठ्यन्त है। (पञ्चमी और षष्ठी दोनों में एक सा रूप होने से) 'ङमः' यह षष्ठ्यन्त है। यहाँ परस्पर अवयव-अवयविभाव में षष्ठी है। अन्वय करने पर—'ङमन्त पदावयव, ह्रस्व से परे जो ङम् उसको ङमुट् का अगम होता अजादि परे रहते।' इस व्याख्यान में अनुवृत्त 'पदस्य' का विभक्ति-विपरिणाम नहीं करना पड़ता है। यह लाघव है। अतः ङमुट् को पूर्व अर्थात् ङम् का अवयव मानना चाहिये।

उपर्युक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हुये मनोरमाकार का यह कहना है कि 'कुर्वन्नास्ते' यहाँ णत्व का प्रतिषेध करने के लिये ङमुट् को परवर्त्ती का आदि अवयव माना गया है। क्योंकि पूर्वपक्षी के अनुसार ङ्, ण्, न् ये ही आगमी होते हैं अतः आगम होने वाले ङुट् णुट्, नुट् (ङ्, ण्, न्) इन्हीं के अवयव होंगे। इस स्थिति में आगम हो जाने पर 'कुर्वन्नास्ते' यहाँ पहला 'न्' पदान्त नहीं होगा। फलतः 'पदान्तस्य' सूत्र की प्रवृत्ति न हो सकने के कारण इसमें णत्ववारण सम्भव नहीं है। इस लिये परवर्त्ती 'अच्' का ही अवयव किया गया।

(मनो०) जो यह कहते हैं—बहिरंग परिभाषा से गतार्थ हो जाने के कारण

पाक्षिकम्। राज्ञ इत्यत्रेव यथोद्देशे त्रैपादिकेऽन्तरङ्गपरिभाषात्रिरहस्योक्तत्वेन प्राचां ग्रन्थस्य सौष्ठवात्। कथमन्यथा द्वियं त्रियं च स्वयमेवोक्तमिति दिक्।

बहिरङ्गपरिभाषयेति। नुटो बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वादित्यर्थः। उभयम्—ङमुटः परादित्वं 'द्वे' इति सूत्राकरणं च। पाक्षिकम—कार्यकालसम्बन्धि।

अन्यथेति। यदि त्रैपादिकेऽन्तरङ्गेऽपि बहिरङ्गपरिभाषायाः प्रवृत्तिः स्यात् तदा 'अनचि च' (८।४।४७) इति त्रैपादिके अन्तरङ्गे द्वित्वे कर्त्तव्ये बहिरङ्गस्य यणोऽसिद्धतया यकारस्याभावात् 'द्वियम्, त्रियम्' इत्यादि कथनस्यानुपपत्तिः स्पष्टैवेति बोध्यम्। एवञ्च प्रसादव्याख्यानुयायिभिरपि त्रैपादिकेन्तरङ्गे असिद्धत्वपरिभाषाया

(शब्द०) नुट् के बहिरङ्ग होने से असिद्ध हो जाने के कारण (मनो०) 'असिद्धं बहिरंगमन्तरङ्गे' इस परिभाषा से गतार्थ (कार्यनिर्वाह) हो जाने के कारण दोनों= (शब्द०) ङमुट् को परवर्त्ती का आदि अवयव होना और 'ङमो ह्रस्वादचि द्वे' यह सूत्र न करना (मनो०) असंगत हैं। [भाव यह भाव है कि णत्वप्रतिषेध के लिये दो मार्ग माने हैं—(१) ङमुट् को परवर्त्ती का आदि अवयव मानना अथवा (२) ङम् का द्वित्व कर देना। परन्तु इन दोनों की आवश्यकता नहीं है। कारण यह है कि ङमुट् आगम करना अथवा ङम् का द्वित्व करना—इन दोनों में अनेक निमित्तों की अपेक्षा होने से ये बहिरङ्ग हैं। और णत्वनिषेध को अल्पनिमित्त (पदान्तत्व) की अपेक्षा होने से अन्तरङ्ग है। अतः इसकी अपेक्षा उक्त दोनों असिद्ध हैं। णत्वनिषेध में बाधा नहीं है।] परन्तु यह कथन भी केवल कार्यकालपक्ष को मान कर है। 'राज्ञः' यहाँ के समान यथोद्देशपक्ष में त्रैपादिक कार्य में अन्तरंग परिभाषा की प्रवृत्ति का अभाव कहा गया है इस कारण प्राचीनों का ग्रन्थ ठीक है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो (सुद्ध्युपास्यः में) दो यकारों वाला, तीन यकारों वाला रूप स्वयं कैसे कहा है, यह दिग्दर्शन है।

विमर्श—'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' यह परिभाषा 'वाह ऊठ्' इस सपादसप्ताध्यायी के सूत्र से ज्ञापित है। अतः इसकी दृष्टि में त्रिपादी असिद्ध है। अतः वहाँ इसकी प्रवृत्ति नहीं होती है। राज्ञः–राजन्+अस् में 'अल्लोपोऽनः' ६।४।१८४ से होने वाला अलोप बहिरंग है और श्चुत्व (८।४।४०) त्रैपादिक और अन्तरङ्ग है। यथोद्देश पक्ष में इस परिभाषा के प्रति श्चुत्व असिद्ध है। तब उसकी अन्तरगता का प्रश्न नहीं उठता। इस कारण श्चुत्व की कर्त्तव्यता में बहिरंग भी अलोप असिद्ध नहीं होता है, सिद्ध ही रहता है, अतः श्चुत्व में बाधा नहीं है। इसी प्रकार 'कुर्वन्नास्ते' यहाँ भी यथोद्देश-पक्ष में णत्व (८।४।३७) अन्तरंग है

दिगिति। दिगर्थस्तु तत्परिभाषायास्त्रिपाद्यामभाव एव। किं च यदि 'यदागमा' इति न्यायेनागमानामागमिधर्मवैशिष्टचमपि बोद्ध्यते इति तेन नकाराद्यवयवनस्यापि पदान्तत्वाण्णत्वनिषेधसिद्धिरित्युच्यते; तर्हि ह्रस्वात्परस्य ङमन्तपदस्याचि परे ङमुडित्येवार्थस्तथासति स्यान्न प्रागुक्तः, स्याच्चातिमहदनिष्टमिति। स्पष्टं चेदं सर्वं भाष्ये।

अप्रवृत्तिरेव स्वीकार्येति बोध्यम्। **आगमधर्मेति**। यमुद्दिश्यागमो विहित स आगमीयधर्मवैशिष्ट्येन गृह्यते=तद्धर्मवैशिष्ट्येन गृह्यते—स आगमीयेन शब्देन गृह्यते, तेन शब्देनागमविशिष्टस्य ग्रहणमिति चार्थः। **यदेति**। अनेनारुचिः

ङमुट् (८।४।३२) बहिरंग है। परन्तु 'अन्तरग' परिभाषा की प्रवृत्ति न होने के कारण ङमुट् (नुट्) सिद्ध ही है, इस 'न्' का णत्व रोकना होगा। उसके लिए एक उपाय है आगम को परादि (परवर्त्ती अच् का आदि अवयव) मान लेना। इस लिये 'यत्तु' से प्रस्तुत मत केवल कार्यकाल पक्ष को मानकर ही समझना चाहिये। यथाद्देशपक्ष मे 'अन्तरग' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होती है। यह प्राचीनों ने स्वयं भी माना है। यदि त्रिपादी में भी इस की प्रवृत्ति मान लेते हैं तो त्रैपादिक अन्तरङ्ग 'अनचि च' ८।४।४ की दृष्टि में बहिरङ्ग यण् असिद्ध है, 'य्' है ही नहीं। पुनः 'सुध्युपास्यः' में दो और तीन यकारों वाला रूप कहा जाना संभव नहीं हैं। इस प्रकार यथोद्देशपक्ष में इस परिभाषा को प्रवृत्ति त्रिपादी में नहीं माननी चाहिये।

[शब्द०] मनोरमोक्त 'दिक्' का अर्थ तो यह है कि त्रिपादी में अन्तरङ्ग परिभाषा का सर्वथा अभाव ही है, कथमपि प्रवृत्ति नहीं होती है। और भी, 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' (जिसके आगम होते हैं उसी के अवयव हो जाते है, अतः उन्हीं के ग्रहण से आगम भी गृहीत होते हैं।) इस परिभाषा से आगमों का आगमी के धर्म का वैशिष्ट्य भी बोधित होता है। इस कारण (आगमी नकार का आदि अवयव=आगमभूत) नकार भी पदान्त हो जाता है इसलिये (आगम के न् के भी) णत्व के निषेध की सिद्धि हो जाती है—अर्थात् आगम अकेला नहीं अपितु आगमी नकार में रहने वाले पदान्तत्व का भी ज्ञान कराता है,—यदि ऐसा यदि कहा जाय, तब तो 'ह्रस्व से परे ङमन्त पद को, अच् परे रहते, ङमुट् आगम होता है' यही अर्थ 'पद' की विशेष्यता मानने पर होगा, न कि (शंकाकर्ता द्वारा) पहले कहा गया (—'ङमन्तपदावयव, ह्रस्व से परवर्त्ती ङम् को ङमुट् आगम होता है अजादि पर रहते)' और महान् अनिष्ट होने लगेगा। यह सब भाष्य में स्पष्ट है।

सूचिता। 'यदागमाः' इति परिभाषया आगममात्रे आगमिवृत्तिधर्मारोपे स्वीकारे 'रामाणामित्यादौ नुटि आम्वृत्तिपदान्तस्यारोपेण 'पदान्तस्य' इति निषेधेन णत्वाद्यना-पत्तेः। एवमेव 'सर्वेषाम्' इत्यत्र 'आम्' वृत्तिपदान्तत्वस्य सुडागमे आरोपे 'अपदा-न्तस्य' इति पर्युदासेन 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वाप्रवृत्त्यापत्तेः। अन्तत्वस्य चरम-वर्णे सत्त्वेपि 'अलोऽन्त्यस्य' इति सूत्रेऽन्त्यपदोपादानसामर्थ्यादल्समुदायेऽपि तत्त्वस्य संभवेन 'आम्' प्रत्यये पदान्त्वस्य सुलभत्वादित्याहुः।

इत्येवार्थ इति। मनोरमाकारः 'अचि' इत्यस्य पञ्चम्यन्तात् परत्वेन पञ्चम्य-न्तत्वेन प्रकल्प्य 'कुर्वन्नास्ते' इत्यादौ पूर्वनकारस्य णत्ववारणायावलम्बितस्य परा-दित्वस्योक्तरीत्यानावश्यकत्वाङ्गीकारे पूर्वोक्तस्य च 'ङम' इत्यस्य षष्ठयन्तत्वमाश्रित्य ङमन्तपदावयवस्य ह्रस्वात् परस्य ङमो ङमुड् अजादौ पदे परे इत्यर्थस्य ङमुडावृत्ति-पदे-इत्येतदनुवृत्तिक्लेशाभ्यां गौरवपराहतत्वोद्भावनेन च अनुवृत्तस्य पदस्य विशेष्य-त्वाश्रयणेन प्राधान्यात् तत्रैव ह्रस्वादित्यस्यावधित्वेन ङम इत्यस्य विशेषणत्वेनान्वया-श्रयणात् ह्रस्वात् परस्य ङमन्तपदस्य अचि परे ङमुडित्येवार्थः प्रतिपन्नो भवति। तथा चायं ङमुट् ङमन्तपदस्याद्यावयवीभूय भवति। अस्ति पराङ् आत्मा, अस्ति सुगण् ईश इत्यादावेव प्रवर्तेत न तु केवलं प्राङ् आत्मेत्यादौ ङम उत्तरं चेति महद-निष्टमित्याहुः।

विमर्श—रहस्य यह है कि 'यदागमाः' परिभाषा से आगम = प्रथम नकार में भी पदान्तत्व सम्भव है। परन्तु 'ङमन्त पदावयव, ह्रस्व से परे ङम् को ङमुट् होता है अजादि पद परे रहते'—यह प्राचीनोक्त अर्थ सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में 'पदस्य' ८।१।१६ की अनुवृत्ति होती है, और वह प्रधान होता है। अतः 'ह्रस्वात्' और 'ङमः' ये दोनों 'पद' के ही विशेषण बनेंगे। 'ङमः' की आवृत्ति करना और 'पदे' इसकी अनुवृत्ति मानना—इन दोनों में प्रमाण नहीं है। अतः उपर्युक्त सूत्रार्थ सम्भव ही नहीं है। तब 'ह्रस्वात् परस्य ङमन्तपदस्य अचि परे ङमुट्' यह कहना होगा किन्तु इस अर्थ में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दो दोष आते हैं। क्योंकि 'कुर्वन्नास्ते' 'सन्नच्युतः' आदि में ह्रस्व से परे ङमन्त (दूसरा कोई) पद नहीं है। अतः नुट् सम्भव नहीं होने से अव्याप्ति दोष हैं। और 'अस्ति पराङ् आत्मा' आदि में ह्रस्व से परे ङमन्त पद है—'पराङ्'। इसके बाद अच् है। ङुट् आगम की अतिव्याप्ति है। इसी कारण सिद्धान्तकौमुदी में प्रदर्शित अर्थ ही ठीक है—'ह्रस्वात् परो यो ङम्, तदन्तं यत् पदं तस्मात् परस्याचो नित्यं ङमुडागमः स्यात्।'

ननु परमदण्डिनावित्यादौ अन्तर्वर्तिविभक्त्या पदत्वान्नुट् स्यादिति चेन्न, "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ" इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधात्। अत एव परमवाचौ, परमगोदुहौ परमलिहावित्यादौ कुत्वघत्वढत्वादीनि न।

यत्तु प्राचा "उञि च पदे" (पा० सू० ८।३।२१) इत्यतः "पदे" इत्यनुवर्त्याजादेः पदस्येति व्याख्यानाद् ङमुण् नेत्युक्तं, तदनेन प्रत्युक्तम्। इहैव नलोपं वारयितुमुक्तरीतेरेव तेनाप्यनुसर्तव्यत्वात्॥

प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधादिति। इदं च प्रकृतसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्। अनुसर्त-

---

उत्तरपदत्वे चेति। ह्रस्वात् परो यो ङम् ततः परस्य पदाद्यवयवस्याचो ङमुडित्यर्थस्वीकारे 'अनिति' इत्यादौ दोषापत्तिः। यदि तु 'परमदण्डिनौ' इत्यादावन्तर्वर्त्ति-विभक्त्या पदत्वेन ङमुट् स्यादिति 'पदे' इत्यनुवर्त्त्य 'अचि' इत्यस्य विशेषण-

---

[मनो० सिद्धान्तकौमुदी का अर्थ मान लेने पर भी] 'परमदण्डिनौ' इत्यादि में अन्तर्वर्तिनी विभक्ति के द्वारा [अर्थात् समास के कारण लुप्त विभक्ति को भी 'प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र से मानकर] पद हो जाने के कारण 'दण्डिन्' को नुट् होना चाहिये—ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि "उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ'. इस वार्तिक से प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध हो जाता है। (शब्द०) यह प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है। (मनो०) प्रत्ययलक्षण नहीं होता है इसी लिये 'परमवाचौ, परमगोदुहौ, परमलिहौ' इन में क्रमशः (१) 'चोः कुः' ८।२।३० सूत्र से 'च्' का 'क्' (२) 'दादेर्धातोर्घः' ८।२।३२ से 'ह्' का घ और (३) 'हो ढः' ८।२।३१ से 'ह्' का 'ढ्' नहीं होता है।

['उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ' इस वार्तिक में 'उत्तर' यह षष्ठी-लुप्तवाला पद है, 'पदत्व' का अर्थ पदत्वप्रयुक्त कार्य। 'उत्तर' की 'उत्तरपद' में लक्षणा है। अपदादिविधौ=पदादिविधिभिन्न, जिस किसी के पदत्वप्रयुक्तकार्य की कर्त्तव्यता में उत्तरपद का प्रत्ययलक्षण=लुप्तप्रत्ययनिमित्तक कार्य नहीं होता है। 'परमदण्डिनौ' यहाँ पदत्वप्रयुक्त ङमुट् करना है इसलिये उत्तरपद 'दण्डिन्' का प्रत्ययलक्षण नहीं होता है, उसमें पदत्व नहीं आता है। अतः नुट् नहीं होता है—यह. भट्टोजिदीक्षित का मत है।]

किसी ने 'उञि च पदे' इससे 'पदे' इसकी अनुवृत्ति करके 'अजादि पद को (ङमुट् होता है)' ऐसे व्याख्यान से (उक्त उदाहरण में) ङमुट् नहीं होगा—'जो यह कहा है, वह इस ('उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ' इस वार्तिक की यहाँ प्रवृत्ति होने) से खण्डित हो गया क्योंकि 'परमदण्डिनौ' यहीं पर नलोप का वारण करने के लिये उक्तरीति (वार्तिक की प्रवृत्ति) का ही अनुसरण उस विद्वान को भी करना

व्यवायेति । यदि तु स निषेधः "अपदादिविधौ" इति पर्युदासेन पदान्तत्वनिमित्तके विधावेवेति "न लुमता—" (पा० सू० १।१।६३) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । किं चोत्तरपदस्य कार्यित्वे एव तत्प्रवृत्तिरतएव माषकुम्भवापेनेत्यादौ 'पदव्यवायेऽपि' (पा० सू० ८।४।३८) इति निषेधसिद्धिरित्युच्यते: तदा प्राचीनोक्तमजादेः पदस्येति व्याख्यानमेव शरणम् । स्पष्टं चैवं व्याख्यानं प्रकृतसूत्रे "उञि च पदे" (पा० सू० ८।३।२१) इत्यत्र च भाष्ये । 'तेन निषेधेन सिद्धमि'ति प्रकृतसूत्रभाष्योक्तिस्त्वेकदेशिन इत्यास्तां तावत् ॥

त्वेन तदादिविधौ अजादेः परस्येति वैयधिकरण्येन ङमा सम्बध्यते, तदा ह्रस्वात् परो यः पदावयवो ङम् ततः परस्याजादेः पदस्य 'ङमुड्' इत्यर्थेन 'अनिति' इत्यादौ दोषाभावः। परन्तु 'परमदण्डिनौ' इत्यत्रैव नलोपवारणाय 'उत्तरपदत्वे' इत्यस्यावश्याश्रयणीयतया तयैव ङमुटोपि वारणसंभवे 'पदे' इत्यस्यानुवृत्तिर्निष्फलेति मनोरमाकारमतम् । शब्दरत्नकारस्तु—'माषकुम्भवापेन' इत्येतदर्थं कार्यित्व—निवेशस्यावश्यकतया परिभाषया ङमुड्वारणं न संभवतीति 'पदे' इत्यनुवृत्तिरावश्यिकी । एवञ्च पदावयवो यो ह्रस्वात् परीभूतो ङम् ततः परस्याजादेः पदस्य ङमुडिति व्याख्यानेपि न दोषः ।

मनोरमाकारमतम्—'उत्तर' इति लुप्तषष्ठीकं पदम्, 'पदत्वे' इत्यस्य 'पदत्वप्रयुक्ते कार्ये' इत्यर्थः, 'उत्तर' इत्यस्य उत्तरपदे लक्षणा । एवञ्च पदादिविधिभिन्ने यस्य कस्यचित् पदत्वप्रयुक्ते कार्ये कर्तव्ये उत्तरपदस्य प्रत्ययलक्षणं नेत्यर्थः । एवञ्च

पड़ेगा । (**शब्द०**) (शब्दरत्नकाराभिमत व्याख्या—) यदि 'अपदादिविधौ' इसमें (प्रसज्यप्रतिषेध न कर) पर्युदास के द्वारा 'पदान्तत्वनिमित्तक विधि में ही उस प्रत्ययलक्षण का निषेध होता है—यह 'न लुमताङ्गस्य' इस सूत्र पर भाष्य में स्पष्ट हैं। (भाव यह है कि पदान्तत्वप्रयुक्त कार्य की कर्त्तव्यता में उत्तर पद का प्रत्ययलक्षण नहीं होता है, यही मानना होगा क्योंकि पर्युदास के कारण सादृश्य लेना है वह पदान्तत्वनिमित्तकत्व रूप से ही लेना चाहिये ।) और भी, उत्तरपद के कार्यी रहने पर ही उक्त वार्तिक की प्रवृत्ति होती है, इसीलिये 'माषकुम्भवापेन' इत्यादि में 'पदव्यवायेऽपि' इससे णत्वनिषेध की सिद्धि हो जाती है—ऐसा कहा जाय, तब तो प्राचीनोक्त (ह्रस्वात्परपदावयवङमः परस्य) अजादेः पदस्य' यह व्याख्यान ही शरण है । यह सब व्याख्या ही शरण है—ऐसी व्याख्या प्रस्तुत सूत्र के भाष्य में और 'उञि च पदे' इस सूत्र के भाष्य मे स्पष्ट है। "उस प्रत्ययलक्षणनिषेध से सिद्ध हो जाता है" ऐसा प्रस्तुत सूत्र पर कहा गया वचन तो एकदेशी भाष्य है, अतः (शान्त) बैठिये ।

'परमदण्डिनौ' इत्यत्र पदत्व-प्रयुक्ते ङमुटि कर्तव्ये 'दण्डिन्' इत्यस्य न पदत्वम्। एतत्सर्वं प्रकृतसूत्रे भाष्ये स्पष्टम्।

शब्दरत्नकारमतम्—पूर्वोक्तार्थस्वीकारे 'माषकुम्भवापेन' इत्यादौ कुम्भ-शब्दस्य पदत्वे प्रत्ययलक्षणनिषेधेन पदत्वाभावे 'पदव्यवायेऽपि' इति निषेधाप्रवृत्त्या णत्वाप्राप्तिरिति कार्यित्वनिवेश आवश्यकः। एवञ्च 'उत्तरपदत्वे'=पदसंज्ञाप्रयुक्ते कार्ये प्रत्ययलक्षणं न भवतीत्यर्थः। ततश्चानयाऽत्र नलोपस्य वारयितुं शक्यत्वेऽपि ङमुड् वारयितुं न शक्यते इत्येतदर्थं 'उञि च पदे' इति सूत्रात् 'पदे' इत्यनुवर्त्त्य ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्तं यत्पदम् तस्मात् परस्याजादेः पदस्य ङमुडित्यर्थेन 'औ' इत्यस्य पदत्वाभावेन परमदण्डिनावित्यत्र ङमुड् वारणीयम्।

ननु 'पदव्यवायेऽपि' इति सूत्रारम्भसामर्थ्यादेव 'माषकुम्भवापेन' इत्यादौ 'उत्तरपदत्वे च' इति निषेधो न प्रवर्तते इति कार्यित्वनिवेशो विफलः। एवञ्च परिभाषयैव 'परमदण्डिनौ' इत्यादौ ङमुड्वारणं संभवतीति 'पदे' इत्यस्यानुवृत्तिरनावश्यिकीति—चेदत्रोच्यते—अङ्गानां योगाः—अङ्गयोगाः, चत्वारोऽङ्गयोगा यस्मिन् तेन 'चतुरङ्गयोगेन' इत्यादौ अङ्गशब्दस्योत्तरपदत्वाभावेन वार्त्तिकाप्रवृत्त्या 'पदव्यवायेऽपि' इत्यस्य चारितार्थ्यात्।

न च पूर्वो दण्डी प्रियो यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ निष्पन्न-पूर्वदण्डिन् प्रिय' इत्यत्र दण्डिन् इत्यस्योत्तरपदरूपत्वादनेन प्रत्ययलक्षणनिषेधे पदत्वाभावान्नलोपो न

विमर्श—'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ न' इस वार्तिक की व्याख्या में मनोरमाकार और शब्दरत्नकार का मतभेद है। मनोरमाकार दीक्षित 'उत्तर' की 'उत्तरपद' में लक्षणा, पदत्वे=पदव्यपदेशे कर्त्तव्ये' यह मानते हुये 'पदादिविधिभिन्ने यस्य कस्यचित् पदत्वप्रयुक्ते कार्ये कर्त्तव्ये प्रत्ययलक्षणं न भवति'—यह अर्थ मानते हैं। अतः 'परमौ च तौ दण्डिनौ=परमदण्डिनौ' —आदि समास से पहले विग्रहवाक्य की विभक्ति को प्रत्ययलक्षण से मानकर 'दण्डिन्' यह भी पद बन जाता है। इस प्रकार ङमन्त पद दण्डिन् से परे 'औ' अच् है, नुट् होना चाहिये। किन्तु प्रस्तुत वार्त्तिक प्रत्ययलक्षण का निषेध करता है क्योंकि यहाँ—पदादि-विधि से भिन्न, उत्तरपद दण्डिन् के पदत्व को मानकर नुट् करना है। प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाने पर पदत्व नहीं है, नुट् अतिप्रसक्त नहीं होता है।

परन्तु शब्दरत्नकार के अनुसार—उत्तरपद के पदादिविधि से भिन्न पदत्व-प्रयुक्त कार्य करने की स्थिति में प्रत्ययलक्षण नहीं होता है।

दोनों के मतों में अन्तर यह है कि दीक्षित के अनुसार—पदादिविधिभिन्न, जिस किसी का पदत्वप्रयुक्त कार्य कर्त्तव्य हो, उत्तरपद का प्रत्ययलक्षण नहीं होता है। परन्तु शब्दरत्नकार के अनुसार—केवल उत्तरपद का पदादिभिन्न पदत्वप्रयुक्त

स्यात्तदर्थम् उत्तरपदत्वस्य मध्यमत्वानाक्रान्तत्वं विवक्षणीयम् । तथा च 'माषकुम्भवापेन' इत्यत्र 'कुम्भ' इत्यस्य मध्यमाक्रान्तत्वात् 'उत्तरपदत्वे' इति निषेधाप्रवृत्त्या णत्वनिषेधस्य सूपपादत्वेन कार्यित्वनिवशो विफल इति वाच्यम्, यद्वृत्त्यारम्भकसुब्निमित्तक-पदसंज्ञा चिकीर्षिता तद्वृत्तिविशिष्टत्वं मध्यमपदत्वमिति परिष्कारेणादोषात् । वैशिष्ट्यं च=स्वघटकार्थवदव्यवहितपूर्वत्वं स्वघटकार्थवदव्यवहितोत्तरत्वं स्वघटकत्वमेतत्त्रितय-सम्बन्धेन । तथाहि-'पूर्वदण्डिप्रिय' इत्यादौ पूर्वसु दण्डिन् सु प्रिय सु एतद्वृत्त्यारम्भक-सुब्निमित्तकपदसंज्ञा दण्डिन् इत्यस्य चिकीर्षिता तद्वृत्तिघटकप्रियाव्यवहितपूर्वत्वस्य तद्वृत्तिघटकपूर्वाव्यवहितोत्तरत्वस्य तद्घटकत्वस्य सत्त्वाद् दडिन् इति निरुक्तमध्यमात्वाक्रान्तत्वमेवेति न तत्र निषेधः । माषकुम्भ-

---

कार्य कर्त्तव्य होने पर उत्तरपद का प्रत्ययलक्षण नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि जब उत्तरपद कार्यी होता है तभी वार्तिक की प्रवृत्ति होना भाष्यसम्मत है। इसी कारण 'माषकुम्भवापेन' में णत्व का प्रतिषेध हो पाता है।

माषाणां कुम्भः, तस्य वापः—माषकुम्भवापः, इस से तृतीया एकवचन में टा=इन प्रत्यय करके 'माषकुम्भवापेन' बनता है। इसमें 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च' (८।४।११) इससे णत्व प्राप्त होता है। यहाँ 'न' उत्तर पद=समासचरमावयव 'वाप' का अवयव नहीं है अपितु 'माषकुम्भवाप' इस समुदाय का। अतः उत्तरपद नुट् आगम का कार्यी नहीं है। प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध नहीं होता है। प्रत्ययलक्षण हो जाने से पदव्यवधान सिद्ध हो जाता है जिसके फलस्वरूप 'पदव्यवायेऽपि' (८।४।३८) से णत्व का निषेध सम्भव होता है।

अब विचारणीय यह है कि 'परमदण्डिनौ' यहाँ भी उत्तरपद 'दण्डिन्' नुट् आगम का कार्यी नहीं है अपि तु 'अजादि' ही कार्यी है। अतः यहाँ भी प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होगा। तब ङमुट् आगम दुर्वार है। इसको रोकने के लिये 'उञि च पदे' इससे 'पदे' की अनुवृत्ति आवश्यक होगी। और इस प्रकार—'ह्रस्व से परे, पद के अवयव ङम् से परे अजादि पद को ङमुट् आगम होता है।' यही अर्थ मानना चाहिये। तभी 'परमदण्डिनौ' में ङमुट् रोकना सम्भव होगा क्योंकि अजादि पद बाद में नहीं मिलता है।

दीक्षित के अनुसार 'ङमो ह्रस्वात्' सूत्र में 'पदस्य' की अनुवृत्ति मानकर 'ङमः' को विशेषण बनाने के लिये सामानाधिकरण्य के आधार पर 'पदस्य' को पञ्चम्यन्त के रूप में बदल दिया जाता है। 'ङमः' यह 'ह्रस्वात्' से सम्बद्ध होता हुआ 'पद' का विशेषण बनकर 'तदन्त=ङमन्त का बोधक हो जाता है। 'ङमः' इस पञ्चमी के कारण 'अचि' यहाँ सप्तमी षष्ठी के रूप में बदल जाती है। फलतः—ह्रस्वात् परो

वापेन' इत्यादौ तु वृत्तिद्वयम्, तत्र कुम्भपदे माष आम् कुम्भ सु इत्येतद्घटकाव्यवहितपूर्वत्वस्याभावान्न पूर्वोक्तवृत्तिवैशिष्ट्यम्। माषकुम्भ अस् वाप-इत्याकारकवैशिष्ट्यस्य कुम्भपदे निरुक्तोभयसम्बन्धेन सत्त्वेऽपि न तद्वृत्त्यारम्भकसुब्निमित्तकपदसंज्ञा चिकीर्षितेति कुम्भेत्यत्र प्रत्ययलक्षणत्वार्थम् 'उत्तरपदत्वे' इति निषेधाप्रवृत्तेः 'कार्यित्व' निवेश आवश्यकः। न चैवमपि 'अतद्धिते इति वार्त्तिकप्रत्याख्यानाय 'पदे यो व्यवायः' इति सप्तमीसमास अश्रितो भाष्ये। तथा च 'माषकुम्भवापेन'

यो ङम् तदन्तं यत् पदं, तस्मात् परस्याचो नित्यं ङमुडागमः स्यात्—' यह सिद्धान्तकौमुदी का अर्थ संभव होता है।

इस अर्थ के अनुसार 'पदस्य' पञ्चम्यन्ततया परिवर्तित होकर 'ङमः' का विशेषण बनता है। 'परमदण्डिनौ' में अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति को मानकर 'दण्डिन्' का पदत्व लेकर 'औ' को नुट् आगम प्राप्त है। उसके निषेध के लिये 'उत्तरपदत्वे' वार्त्तिक है। इसमें प्रसज्यप्रतिषेध है। 'उत्तर' से 'उत्तरपदस्य' यह लक्षित होता है। अतः—उत्तरपदस्य पदत्वव्यपदेशे कर्तव्ये प्रत्ययलक्षणं न भवति, पदादिविधौ निषेधो न भवति, तत्र प्रत्ययलक्षणं भवति।' पदादिविधि में प्रत्ययलक्षण होने के फलस्वरूप 'दध्नः सेचौ'='दधिसेचौ' यहाँ 'सात्पदाद्योः' से षत्व नहीं होता है क्योंकि प्रत्ययलक्षण से 'सेच्' यह भी पद बन जाता है। 'परमदण्डिनौ' में प्रत्ययलक्षण नहीं होता है, क्योंकि पदादिविधि नहीं है।

शब्दरत्नकार के मतानुसार—'पदस्य' इस अनुवृत्त में पञ्चमीविभक्ति के परिवर्तन में गौरव है। अतः 'पदस्य' षष्ठ्यन्त का 'ङमः' पञ्चम्यन्त के साथ वैयधिकरण्य से अन्वय है—'पदावयवङमः परस्य अजादेः ङमुट्।' इसे मानने पर 'दण्डिन्+औ' में भी नुट् प्राप्त है। इसका वारण करने के लिये मण्डूकप्लुत्या 'उजि च पदे' इस सूत्र से 'पदे' इसकी अनुवृत्ति करके 'अजादेः पदस्य ङमुट्' यह अर्थ करना चाहिये। अन्यथा 'परमदण्डिनौ' में अन्तवर्त्तिनी विभक्ति को मानकर 'दण्डिन्' पद बन जाता है। 'उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ' इससे यहाँ प्रत्ययलक्षण नहीं रोका जा सकता क्योंकि 'माषकुम्भवापेन' में णत्व रोकने के लिये यह मानना आवश्यक है कि जहाँ उत्तर पद कार्यी हो वहीं प्रत्ययलक्षण का निषेध किया जाय। 'माषकुम्भवापेन' में उत्तर पद कार्यी नहीं है, समुदाय कार्यी है; अतः निषेध नहीं होता है प्रत्ययलक्षण से पदत्व हो जाता है। फलतः 'पदव्यवायेपि' इससे णत्वनिषेध हो जाता है। 'परमदण्डिनौ' में ऐसा नहीं है। प्रत्ययलक्षण-निषेध नहीं होगा। नुट् की आपत्ति है। इसको रोकने के लिये 'पदे' की अनुवृत्ति आवश्यक है। चूँकि 'परमदण्डिन्+औ' में 'औ' पद नहीं है अतः नुट् नहीं होता है।

"समः सुटि" (पा० सू० ८।३।५) ।। यद्यपि मोऽनुस्वारेण सिद्धम्; तथाप्यनुनासिकत्वत्रिसकारत्वसिद्ध्यर्थमिदम् ।।

"अत्रानुनासिकः" (पा० सू० ८।३।२) ।। अयमधिकारो विधिर्वेति द्वतम् । आद्येऽत्रग्रहणमनर्थकम्, अधिकारादेव रुप्रकरणलाभात् । तुशब्दस्त्व-

---

त्रिसकारत्वेति । न च पुनर्द्वित्वेन तदपि सिद्धम्, लक्ष्ये लक्षणस्येति न्यायात् । अत्र चेदमेव ज्ञापकं बोध्यम् ।।

अनर्थकमिति । इदमुपलक्षणं प्रतिसूत्रमावृत्तौ गौरवं चेत्यपि बोद्धयम् ।

'क्षीरपकुम्भेन' इत्यादौ फलभेदवारणाय पदपदं पदत्वयोग्योपलक्षणमित्यवश्यं वाच्यम्, अन्यथा 'गतिकारकोपपदानाम्' इति सुबुत्पत्तेः प्रागेव समासेन आद्योदाहरणे पदे परतो यो व्यवायस्तस्याभावेनारम्भप्रत्याख्यानयोः फलभेदो दुर्वारः स्यात् । तथा च 'मापकुम्भवापेन' इत्यादौ कुम्भेत्यत्र पदत्वयोग्यत्वस्य सत्त्वाण्णत्वनिषेधसिद्धया कार्यित्वनिवेशो विफल इति वाच्यम्, अटतीति 'अट्' परमश्चासौ अट् च—परमाट्, तस्मादाचारक्विबन्तात् क्तिचि 'तित्रुत्तथ'इति सूत्रेण इण्निषेधे 'परेमाट्ति' इत्यादौ ष्टुत्वनिषेधाय कार्यित्वनिवेशस्यावश्यकत्वादित्यन्यत्र विस्तरः ।।

अत्र चेति । 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' इति परिभाषायाम् । इदमेवेति । 'समः सुटि' इति सूत्रेण मस्य रुत्वविधानमेवेत्यर्थः ।।

प्रवृत्तिर्दुर्वारेवेति । अधिकार-सूत्राणान्तूत्तरसूत्रेष्वेव सम्बन्धो भवति, विधि-

---

इस सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा लघशब्देन्दुशेखर की व्याख्याओं में देखी जा सकती हैं इत्यलम् ।।

समः सुटि । ['सम्' के 'म्' का 'रु' होता है सुट् परे रहते ।] [मनो०] यद्यपि [सम्+स्कर्ता में] 'म्' का अनुस्वार करने से [और 'अनचि च' सूत्र में 'स्' के द्वित्व से] 'संस्स्कर्ता' रूप सिद्ध हो सकता है; फिर भी अनुनासिकत्व और तीन सकारोंवाला रूप बनाने के लिये यह सूत्र आवश्यक है । [शब्द०] संस्स्कर्ता में फिर दूसरी बार द्वित्व करके तीन सकारों वाला रूप बन सकता है— ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि 'एक लक्ष्य में एक सूत्र एक ही बार प्रवृत्त होता है' यह नियम है । [अतः दूसरी बार द्वित्व नहीं होता है ।] इस न्याय=नियम के बनाने में यह सूत्र ही ज्ञापक समझना चाहिये ।।

अत्रानुनासिकः । [इस रुप्रकरण में रु से पूर्ववर्त्ती का विकल्प से अनुनासिक होता है ।] यह सूत्र अधिकार है अथवा विधि है—ये दो पक्ष हैं । प्रथम में= अधिकार पक्ष में 'अत्र' इसका ग्रहण व्यर्थ है क्योंकि 'अधिकार' से ही रुप्रकरण का

धिकारपक्षे परस्मात्कार्यिणो विशेषद्योतनार्थः—परस्य नित्यं रुत्वं, पूर्वस्य तु वाऽनुनासिक इति।

विधिपक्षे व्यर्थः। वाग्रहणं स्पष्टार्थम्। "अनुनासिकात्परः—" (पा० सू० ८।३।४) इति ज्ञापकादेव सिद्धेः। न हि विकल्पं विनाऽनुनासिकाभाव-पक्ष इति सम्भवति। इदमेव ध्वनयितुं वृत्तौ तु वेति शब्दौ नोक्तौ॥

स्पष्टार्थमिति। अनेन तु ग्रहणमधिकारपक्षेऽपि परस्य रुस्ततः पूर्वस्यानुनासिक इत्यर्थस्य स्पष्टं बोधनार्थं वाशब्दवदिति सूचितम्। विधिपक्षेऽत्रग्रहणं तु एतद्रुप्रकरणे इत्यर्थलाभार्थम्।

वस्तुतोऽत्राधिकारत्वमेवोचितम्। "मतुवसो रु—"(पा० सू० ८।३।१) इति सूत्रे कृतयोः "वने उपसंख्यानं" "विभाषा भवत्—" इत्यनयोरुदाहरण-भाष्येऽनुनासिकाद्यनुच्चारणात्। विधित्वे तु तत्र प्रवृत्तिर्दुर्वारैव। अधिकार-त्वे तूत्तरत्रैव प्रवृत्तिः। स्पष्टं चेदं वृत्ताविति तत्त्वम्।

ज्ञान हो जाता है। [शब्द०] यह उपलक्षण है—प्रत्येक सूत्र में आवृत्ति में गौरव है—यह भी समझना चाहिये। [मनो०] अधिकारपक्ष में परस्थानी की अपेक्षा कार्यी=पूर्व का विशेष द्योतित करने के लिये 'तु' शब्द है—परवर्त्ती का नित्य रु होता है, किन्तु पूर्व का अनुनासिक विकल्प से होता है।

विधि-पक्ष में 'तु' ग्रहण व्यर्थ है। 'वा' ग्रहण स्पष्टता के लिये है, क्योंकि 'अनुनासिकात् परः' इस ज्ञापक से ही विकल्प सिद्ध है, क्योंकि विकल्प के विना अनुनासिकत्व का अभावपक्ष सम्भव नहीं है। ['अनुनासिकात्' इसमें ल्यब्लोप में पञ्चमी है—अनुनासिकं विहाय। इसी से अनुस्वार का विकल्प सिद्ध है।] इसी भाव को द्योतित करने के लिये [सिद्धान्तकौमुदी में प्रस्तुत सूत्र की] वृत्ति में 'तु' तथा 'वा' ये दोनों शब्द नहीं कहे गये हैं। [शब्द०] 'वा' का ग्रहण स्पष्टता के लिये है। इससे यह सूचित होता है कि—अधिकारपक्ष में 'तु' का ग्रहण—परवर्त्ती म् का रु, इससे पूर्ववर्त्ती का अनुनासिक—इस अर्थ को स्पष्ट बनाने के लिये 'वा' शब्द के समान ही है। [अर्थात् 'वा' और 'तु' दोनों स्पष्टतार्थ हैं।] विधिपक्ष में 'अत्र' इसका ग्रहण तो 'इस रुप्रकरण में' इस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये है।

वास्तव में यहाँ अधिकारपक्ष ही उचित है, क्योंकि 'मतुवसोः रुः सम्बुद्धौ छन्दसि' इस सूत्र में किये गये 'वने उपसंख्यायाम्' और 'विभाषा भवत्' इन दोनों वार्त्तिकों के उदाहरणों में अनुनासिक आदि का उच्चारण नहीं किया गया है। यदि प्रस्तुत सूत्र 'विधि' होता तब तो अनुनासिकत्व-प्रवृत्ति रोकना संभव नहीं था। किन्तु अधिकारसूत्र होने पर तो उत्तरवर्त्ती सूत्रों में ही इसकी प्रवृत्ति होती

"अनुनासिकात्" (पा० सू० ८।३।४) ।। ल्यब्लोपे पञ्चमीत्याह—अनुनासिकं विहायेति । एवं च संसर्गवद् विप्रयोगस्यापि विशेषावगतिहेतुत्वादवत्साऽऽनीयतामित्यत्रेव सम्भावितानुनासिक्यगुणक एव उपस्थितत्वादाकाङ्क्षितत्वाच्चावधित्वेन सम्बध्यत इत्यभिप्रेत्याह—रोः पूर्वस्मादिति । अनु-

---

ल्यब्लोपे इति । दिग्योगलक्षणा तु न, अत्रानुस्वारपरानुनासिकः पूर्वस्य तु वेति न्यासेन सिद्धौ "अनुनासिकात्पर-" (पा० सू० ८।३।४) इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेरिति भावः ।

सूत्राणां तु सर्वत्र । एवञ्चास्मात् पूर्ववर्त्तिनि 'मतुवसो' इति सूत्रेऽपि प्रवृत्त्यापत्त्याऽनुनासिकत्वोच्चारणं दुर्निवार्यम् । तथात्वे भाष्यासङ्गतिः स्पष्टैवेति भावः । वृत्ताविति । काशिकादावित्यर्थः । नन्वनुनासिक्यगुणक एव कथमवधित्वेन सम्बध्यते इत्यत आह—संसर्गवदिति । वाक्यपदीये भर्तृहरिणाऽर्थनिर्णायकेषु विप्रयोगस्यापि गणनत्वेनात्रार्थनिर्णयो विधेय । ते च संयोगादय -

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ।। (वा० प०)

[पूर्ववर्त्ती सूत्रों में नहीं । अतः 'अधिकार' मानना ठीक है ।] यह काशिकावृत्ति में स्पष्ट है । (वहाँ लिखा है "अधिकारोऽयम्······वाऽनुनासिको भवतीत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्············अधिकारपरिमाणाग्रहे हि सति 'ढो ढे लोपः' इत्यत्रापि पूर्वस्यानुनासिक आशङ्क्येत ।" काशिका ८।३।२ ।।

अनुनासिकात् परः । इसमें 'ल्यब्लोप' में पञ्चमी है—(शब्द०) यहाँ ("अन्यारादितर०" इस सूत्र से) दिशावाची के योग में पञ्चमी नहीं है, क्योंकि 'अत्रानुस्वारः परानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' (अर्थात् पूर्व को अनुस्वार से परे विकल्प से अनुनासिक हो जाता है ।) इस प्रकार के ही न्यास से कार्य सिद्ध हो जाने पर 'अनुनासिकात् परः' यह सूत्र ही व्यर्थ होने लगेगा, यह भाव है । [मनो०] इस लिये (सिद्धान्तकौमुदी में) कहा है—अनुनासिक को छोड़ कर (पक्ष में अनुस्वार होता है) । इस प्रकार संयोग के समान वियोग के भी विशेष ज्ञान का कारण होने से 'अवत्सा आनीयताम्' ('वत्सरहित को लाओ' इससे गाय का ही आनयन होता है क्योंकि वत्स का संयोग गाय के साथ देखा जाता है) इसी के समान आनुनासिक्य गुणवाला ही, उपस्थित होने से और आकाङ्क्षित होने से, अवधी रूप से सम्बद्ध होता है, इसलिये (सिद्धान्तकौमुदी में)

स्वारागम इति। आगमत्वं च परशब्देनैव लभ्यते "पूर्वौ तु ताभ्यामैच्—" (पा० सू० ७।३।३) इत्यत्र पूर्वशब्देनैचोरिवेति भावः॥

"विसर्जनीयस्य" (पा० सू० ८।३।३४)॥ खरीति। एतच्च मण्डूकप्लुत्या "खरवसानयोः" (पा० सू० ८।३।१५) इति सूत्रादनुवर्तते।

नन्वनुस्वारस्यानच्त्वात्ततः परस्य द्वित्वं न स्यादेवेत्यत आह—अनुस्वारविसर्गे। अकारोपरीति। यदि त्विकारोपरि पठ्येरन्, तर्हि पयःसु, यशःसु, इत्यादौ इणः परस्येति षत्वं स्यादिति भावः।

परशब्देनैवेति। प्रसिद्धावेवकारः॥

मण्डूकेति। एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञयेत्यपि बोद्धव्यम्। अत एवावसाने न सः। पूर्वेण संनिकर्षरूपा संहिता त्ववसानेऽप्यस्त्येव। अत एव संहिताधिकारेऽवसानकार्यपाठ सङ्गच्छते। षत्वं स्यादिति। अत एव

कहा गया है—रु से पहले (जो है उससे परे) अनुस्वार आगम होता है। यहाँ आगम होना तो 'पर' शब्द से ही ज्ञात हो जाता है, जैसे 'न य्वाभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्' इस सूत्र में 'पूर्व' शब्द से ऐच्=ऐ औ का आगमत्व प्रतीत होता है। [शब्द०] 'परशब्देन एव' यहाँ प्रसिद्ध अर्थ में 'एव शब्द का प्रयोग है॥

विसर्जनीयस्य सः। [मनो०] खर् परे रहते [विसर्ग का 'स्' होता है।) 'खर्' यह 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इस सूत्र से मण्डूकप्लुति से अनुवृत्त होता है। [शब्द०] एक अंश (केवल 'खर्') में स्वरितत्व की प्रतिज्ञा से (इसी की अनुवृत्ति होती है) यह भी समझना चाहिये। इसी कारण अवसान में (विसर्ग का) 'स्' नहीं होता है। [यह कहें कि अवसान में तो संहिता नहीं है, अतः वहाँ 'स्' होने का प्रश्न नहीं है? इसका उत्तर देते हैं—] पूर्ववर्त्ती के साथ संनिकर्षरूप संहिता तो अवसान में भी रहती ही है। (दोनों संज्ञाओं का समावेश होता है) इसी लिये 'संहिता' संज्ञा के अधिकार के अन्तर्गत अवसानसंज्ञासम्बन्धी कार्यों का पाठ संगत होता है।

[मनो०] अनुस्वार अचों के मध्य नहीं आता है अतः उस (अनच् अनुस्वार) से परे (संस्कर्ता के) 'स्' ('अनचि च से') का द्वित्व नहीं होना चाहिये—इसके लिये (समाधानार्थ सिद्धान्त-कौमुदी में) कहा है—अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और यमों का अकार के ऊपर तथा शर् प्रत्याहार में पाठ माना गया है। अतः अनुस्वार भी अच् हो जाता है। (अतः संस्कर्ता में अनुस्वार=अच् से परे स्=यर् का द्वित्व निर्बाध है।) अकार के ऊपर ही पाठ है। यदि इकार के ऊपर भी पाठ मान लिया जाय तब तो 'पयःसु, यशःसु इत्यादि शब्दों में इण् (=विसर्ग) से परे 'स्' का 'ष्' होने लगेगा, यह भाव है। [शब्द०] केवल

अच्त्वादिति। **न चैवं हरिः कर्त्ता, हरिं स्मरेदित्यादौ यणादिप्रसङ्गः; त्रिपादीस्थत्वेन विसर्गादीनामसिद्धत्वात्।**

पुंस्वित्यादावुकारं निमित्तीकृत्यानुस्वारव्यवधाने षत्वमाशङ्क्य नुम्स्थानिकानुस्वारस्यैव "नुम्विसर्जनीय" (पा० सू० ८।३।५७) इति सूत्रे ग्रहणान्नेति भाष्यं सङ्गच्छते। इकाराद्युत्तरं पाठे हि अनुस्वारमिणं गृहीत्वा षत्वं दुर्वारं स्यादिति भावः। **यणादीति।** पूर्वसवर्णदीर्घं आदिशब्दार्थः। अयं पाठोऽनित्यः, "अट्कुपु" (पा० सू० ८।४।२) इति सूत्रेऽनुस्वारोपलक्षणनुम्ग्रहणात्। अत एव हरिं जयतीत्यादौ "झलां जश् झशि" (पा० सू० ८।४।५३) इति नेति बोद्धयमिति कश्चित्।

नन्वनुस्वारस्यादेशत्वमेव कुतो नेत्यत आह मूले—**आगमत्वं चेति। अनुस्वारेति।** अनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयानामकारोपरि शर्षु च पाठस्योपसंख्यातत्वेनानुस्वारस्याप्यच्त्वात्। एवञ्च संस्स्कर्तेत्यादौ द्वित्वे नानुपपत्तिरिति बोध्यम्। **भवत्येवेति।** 'तल्लक्ष्ये तल्लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' इति स्वीकारादिति भावः।

अकार पर ही अनुस्वार आदि का पाठ है इसी लिये 'पुंसु' इत्यादि में (प्रथम) उकार को निमित्त मानकर अनुस्वार के व्यवधान में षत्व की आशंका करके—नुम् के स्थान पर होने वाले अनुस्वार का ही 'नुम्विसर्जनीय' इस सूत्र में ग्रहण है [अतः मकार के अनुस्वार के व्यवधान में] षत्व नहीं होता है—वह भाष्य संगत होता है। यदि इकार के बाद इस अनुस्वार का पाठ होता तब तो अनुस्वार=इण् को मानकर [पुंसु आदि में] षत्व का वारण अति कठिन हो जाता, यह भाव है।

[मनो०] अनुस्वार आदि भी अच् होते हैं, ऐसा मानने पर 'हरिः कर्ता' 'हरिं स्मरेत्' आदि में [विसर्ग तथा अनुस्वार के अच् होने पर) यण् आदि का प्रसंग होगा। **[शब्द०]** आदि शब्द का पूर्वसवर्णदीर्घ अर्थ है अर्थात् दोनों प्रसक्त होंगे। यह [अयोगवाहों का अकार के ऊपर और शर् में] पाठ अनित्य है क्योंकि 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इस सूत्र में अनुस्वार के उपलक्षण नुम् का भी ग्रहण है। [यदि यह पाठ नित्य होता तो अट् के अन्तर्गत ही नुम् भी आ जाता, उसके पृथग् ग्रहण का क्या प्रयोजन ? यही उक्त पाठ की अनित्यता ज्ञापित करता है।] (यह पाठ अनित्य है) इसी लिये 'हरिं भजति' आदि में 'झलां जश् झशि' इससे जश्त्व नहीं होता है, ऐसा समझना चाहिये, यह किसी विद्वान् का कथन है। **[मनो०]** यणादि का प्रसंग नहीं है क्योंकि [यण्विधायक 'इको यणचि' इस सपादसप्ताध्यायीस्थ सूत्र की दृष्टि में विसर्गादिविधायक सूत्रों के] त्रिपादी में स्थित होने से विसर्गादि असिद्ध हो जाते हैं। अतः' विसर्गादिरूप

अनुस्वारस्यापि द्वित्व इति। अपि शब्दात्ककारस्य। वचनान्तरेणेति। "अचो रहाभ्याम्" (पा० सू० ८।४।४६) इति कृतेऽपि "यणो मयः" इति भवत्येवेति भावः॥

"पुमः खयि" (पा० सू० ८।३।६)। पुंसः संयोगान्तलोपे कृतेऽवशिष्ट-भागस्येदमनुकरणम्। पर्युदासादिति। "इदुदुपधस्य—" (पा० सू० ८।३।४१) इति षत्वविधायके सूत्रे इति भावः। अप्रत्ययस्य यो विसर्ग

भवत्येवेति। एकस्य द्वितीयोच्चारणस्यैकेन साधुत्वबोधनं तयोर्मध्ये परस्य द्वितीयोच्चारणस्यान्येन साधुत्वबोधनमिति भावः॥

तत्र्—व्याख्यादर्शोक्त सामानाधिकरण्यम्। दोषापत्तेरिति। 'कविभिः कृतम्' इत्यादौ विसर्गस्य प्रत्ययरूपत्वाभावेन प्रत्ययावयवरूपत्वेन निषेधाप्रवृत्त्या

अच् न मिलने से यणादि संभव नहीं है।]

[सस्कर्ता में अनुस्वार और अनुनासिक सँस्कर्ता ये दो प्रकार के रूप होते हैं।] [मनो०] अनुस्वार वाले रूप में अनुस्वार का भी द्वित्व होता है। [क्योंकि शर् में भी पाठ होने से 'यर्' हो जाने पर 'अनचि च' सूत्र से अनुस्वार का भी द्वित्व होता है।] 'अपि=भी' शब्द से ककार का ग्रहण है अर्थात् 'क' का और अनुस्वार का इन दोनों का द्वित्व होता है। [संस्कर्ता में] 'अचो रहाभ्यां द्वे' इससे 'त्' का द्वित्व करने के बाद भी 'यणो मयो द्वे वाच्ये' इस दूसरे वचन से [वार्त्तिक से तकार का] फिर द्वित्व होता ही है, यह भाव है। [इसी लिये एक तकार वाला, दो तकारों वाला और तीन तकारोंवाला रूप होता है।] (शब्द०) एक [=प्रथम] द्वितीयोच्चारण= द्वित्व का एक शास्त्र ['अचो रहाभ्यां द्वे' इसी] से साधुत्व का ज्ञान होता, [द्वित्व-विधान से सम्पन्न] इन दोनों तकारों के बीच से दूसरे द्वितीयोच्चारण=द्वित्व के साधुत्व का अन्य शास्त्र ['यणो मयो द्वे वाच्ये'] से बोध कराया जाता है, यह भाव है। [चूंकि 'तल्लक्ष्ये तल्लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते' ऐसी परिभाषा है। अतः लक्ष्यभेद और शास्त्रभेद मानकर दो वार द्वित्व संभव है।] [संस्कर्ता के १०८ रूपों की प्रक्रिया सिद्धान्तकौमुदी में देखनी चाहिगे॥]

पुमःखय्यम्परे। [मनो० अम्परक खय् रहने पर 'म्' का रु होता है।] 'पुंस्' का संयोगान्तलोप करने पर वचे हुये [पुंम्] का यह अनुकरण है। अव्युत्पत्तिपक्ष में 'अप्रत्ययस्य' यह पर्युदास है, षत्वविधायक 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इस सूत्र मे 'अप्रत्ययस्य' यहाँ नञ् पर्युदास है, यह भाव है। [भाव यह है कि व्युत्पत्तिपक्ष में 'पातेर्डुम्सुन्' इस उणादिसूत्र से विहित प्रत्ययान्त 'पुंस्' शब्द है। अतः विसर्ग का, षत्व की प्राप्ति न होने से, 'कुप्वो ≍क≍ पौ च' से जिह्वामूलीय प्राप्त है, इसका

इति वैयधिकरण्येन व्याचक्षणानां प्राचां मतेनेदम् । वक्ष्यमाणरीत्या सामानाधिकरण्येनान्वये तु षत्वप्राप्ताविति बोध्यम् ॥

वक्ष्यमाणरीत्येति । प्रत्ययरूपो यो विसर्ग इति व्याख्यादर्शरीत्येत्यर्थः । वस्तुतस्तदसङ्गतम्, कविभिः कृतमित्यादौ दोषापत्तेः । एतच्च अन्वये "तु" इति तुनाऽरुचिबोधकेन सूचितम् । यदा तु सूतेः सस्य षकारोऽन्त्यस्य ह्रस्वो म्सुः प्रत्यय इति "स्त्रियाम्" (पा० सू० ४।१।३) इति सूत्रभाष्यकैयटोक्तव्युत्पत्तिस्तदा सस्य लोपे मस्यैव प्रत्ययत्वमिति व्याख्यादर्शो-

---

षत्वापत्तिरिति भावः । **एतच्चेति** । व्याख्यादर्शोक्तस्यासांगत्यञ्चेत्यर्थः । **सूचितमिति** । मनोरमाकारैणैवेति बोध्यम् । स्वसिद्धान्तरीत्या प्रतिपादयितुमाह—**यदा-**

भी बाध करके 'सम्पुकानां सो वक्तव्यः' से सत्व होता है—पुंस्कोकिलः] अप्रत्ययका जो विसर्ग उसका स्—इस वैयधिकरण्येन=भेदेन व्याख्या करने वालों के मतानुसार यह पूर्वोक्त कथन है। परन्तु 'प्रत्ययरूप जो विसर्ग उसका स् होता है' इस प्रकार से आगे कही जाने वाली रीति से सामानाधिकरण्येन अन्वय में तो षत्व की प्राप्ति रहने पर [उसके वारणार्थ 'सम्पुंकानाम्' वार्त्तिक में 'पुम्' का ग्रहण है] ऐसा समझना चाहिये।

[**शब्द०**] आगे कही जाने वाली रीति—प्रत्ययरूप जो विसर्ग—इस व्याख्यादर्श की रीति से [सामानाधिकरण्येन अन्वय में प्राप्त षत्व के वारणार्थ पुम् का ग्रहण है।]—यह अर्थ हैं। वास्तव में वह [सामानाधिकरण्येन अन्वय] असंगत है, क्योंकि 'कविभिः कृतम्' इत्यादि में दोष की आपत्ति है। [क्योंकि कविभिः कृतम् यहाँ प्रत्यय है भिस्, उससे भिन्न है विसर्ग, उसका ष् होने लगेगा। वैयधिकरण्येन अन्वय में—'अप्रत्ययस्य=प्रत्ययावयवभिन्नस्य विसर्गस्य सः' इस अर्थ में दोष नहीं है। विशेष व्याख्या आगे 'इदुदुपधस्य' सूत्र में देखें।] यह [दोष] "अन्वय में तो' इसमें अरुचि बोधक 'तु'='तो' शब्द से [मनोरमा में] सूचित किया है। परन्तु जब षूङ्=सू धातु के 'स्' का 'प्' और अन्त्य=ऊ का ह्रस्व 'उ' आदेश तथा म्सु=म्स् प्रत्यय (करके पुम्स्) ऐसी 'स्त्रियाम्' इस सूत्रभाष्य और कैयट द्वारा कही गई व्युत्पत्ति है तब तो 'स्' का (संयोगान्तलोप) लोप कर देने पर अकेला 'म्' ही प्रत्यय बचता है (उसी का रु और विसर्ग होता है) इस लिये व्याख्यादर्श में कहे गये सामानाधिकरण्येन अन्वय (=प्रत्ययरूपो यो यो विसर्गः तद्भिन्नस्य षत्वम्—इस अर्थ) में षत्व की प्राप्ति ही नहीं है। (क्योंकि उपर्युक्त व्युत्पत्ति के अनुसार प्रत्यय रूप विसर्ग है, भिन्न नहीं है। अतः षत्वप्राप्ति नहीं हो

ख्याञादेश इति। आदेशो हि उपदेशे खशादिः। असिद्धप्रकरणे णत्वानन्तरं ख्याञः शस्य यत्वं विकल्प्यते। तेन सुप्रख्येन निर्वृत्तं सौप्रख्यं तत्र भवः सौप्रख्यीयः। यत्वस्यासिद्धत्वात् "धन्वयोपधात्—" (पा० सू० ४।२।१२१) इति वुञित्यादिप्रयोजनान्याकरे स्थितानि। एवं च यत्वस्यासिद्धतयाऽम्परत्वाभावात् "पुमः खयि" (पा० सू० ८।३।६) इति रुत्वं नेत्यर्थः। पुंख्यानमिति। चक्षिङो ल्युट्। ख्याञादेशः।

नन्वादेश इह दुर्लभः। "वर्जने प्रतिषेधः" "असनयोश्च" इति वार्तिका-

---

क्तसामानाधिकरण्येऽपि षत्वाप्राप्तिरेव। पातेर्डुम्सुन्निति व्युत्पत्तिमादाय तु मूलमिति दिक्॥

त्विति। यस्यैव प्रत्ययत्वमिति। तस्य मस्य स्थाने जायमानस्य रोः विसर्गस्य च प्रत्ययत्वमतिदेशलभ्यमिति बोध्यम्।

सकती। इस लिए विसर्ग का जिह्वामूलीय न हो—इसी के लिये वार्तिक में 'पुम्' का ग्रहण है।) सिद्धान्तकौमुदी और मनोरमा तो 'पा' धातु से डुम्सुन् प्रत्यय है—यह व्युत्पत्ति मान कर है। (पा+डुम्सुन=उम्स् डित् होने से 'आ' का लोप प्+उम्स्=पुम्स्।' यहाँ विसर्ग प्रत्ययरूप नहीं, अपितु प्रत्ययावयव है। अतः षत्वप्राप्त है। उसके वारणार्थ वार्तिक में 'पुम्' है।)

[मनो०] 'ख्याञ्' आदेश में पुम् के म् का रु नहीं होता है। यह आदेश उपदेश अवस्था में ख्शादि है। 'पूर्वत्रासिद्धम्' ८।२।१ इस असिद्ध प्रकरण में णत्व के बाद 'ख्शाञ्' के 'श्' का 'य्' विकल्प से होता है। इस कारण सुप्रख्येन निर्वृत्तम्—सौप्रख्यम् (सुप्रख्य द्वारा बनाया गया।) 'उसमें होने वाला'—सौप्रख्यीयः। (सुप्रख्य द्वारा बनाये गये नगर आदि में' होने वाला पुरुष) इसमें 'यत्व' के असिद्ध हो जाने के कारण 'धन्वयोपधात्' ४।२।१२१ (धन्ववाची और यकारोपध देशवाची वृद्ध प्रातिपदिक से वुञ् प्रत्यय होता है।) सूत्र से वुञ् नहीं होता है (क्योंकि 'य' असिद्ध हो जाने से योपध नहीं रह पाता है। अतः 'वृद्धाच्छः' से छ=ईय ही होता है।)—आदि प्रयोजन (यत्वासिद्धि के) भाष्य में स्थित हैं। और इस प्रकार (ख्या के) य् के असिद्ध हो जाने पर (ख्शा-ऐसा हो जाने अम्परक खय् नहीं रहता है (क्योंकि 'श्' अम् में नहीं है,) अतः 'पुमः खय्यम्परे' सूत्र से 'म्' का 'रु' नहीं होता है। उदा० पुंख्यानम्। 'चक्षिङः ख्याञ्' २।४।५४ से ख्याञ् आदेश, ञ् का लोप। (पुम्+ख्यानम्, म् का रु नहीं होता है। अनुस्वार होता है।)

(पूर्वपक्ष—) यहाँ चक्षिङ् का ख्याञ् आदेश दुर्लभ है, क्योंकि "वर्जन अर्थ में ख्याञ् आदेश का प्रतिषेध है।' "अस् और अन इन दो प्रत्ययों के परे रहते भी ख्याञ्

ध्विति चेत्, सत्यम्। "बहुलं तणि" "अन्नवधकगात्रविचक्षणाजिराद्यर्थम्" इति वार्तिके बहुलग्रहणात्समाधेयम्। तथा च ख्शादित्वप्रयोजनगणनवार्तिकम्—रुविधिः—पुंख्यानमिति। णत्वं—पर्याख्यानमिति। निष्ठानत्वम्—

शकारेणेति। यत्वासिद्धत्वादिति भावः। न कर्तव्यमिति। यत्वासिद्ध्या यण्वत्ताविरहेण नत्वाप्राप्तेरिति भावः।

आदेश का प्रतिषेध है" ये वार्तिक हैं। [इसी लिये 'दुर्जनसः संचक्ष्याः' (दुर्जन वर्जनीय हैं) यहाँ ण्यत्=य प्रत्यय में ख्याञ् नहीं होता है। 'नृचक्षाः राक्षसः' यहाँ असुन् प्रत्यय में और 'विचक्षणः' इसमें 'अन' प्रत्यय में भी ख्याञ् नहीं होता है। इस लिये 'पुंख्यानम्' में भी 'ख्याञ्' नहीं हो सकता]—ऐसा यदि कहते हो तो सच है। (उत्तरपक्ष) अतः 'बहुलं तणिअन्न०" आदि वार्तिक में 'बहुल' के ग्रहण से समाधान करना चाहिये।

विमर्श—'बहुलम् तणि' तणि=संज्ञा और छन्दस् में ख्याञ् आदेश बहुलरूप होता है। इसके क्या प्रयोजन हैं? अन्न, वधक, गात्र' विचक्षण और अजिर आदि अर्थों के लिये है। ध्यान रखना चाहिये कि ये दो वार्तिक हैं। प्रथम में बहुल का ग्रहण है। दूसरे में उसके प्रयोजन बताये गये हैं। अतः 'पुंख्यानम्' में भी 'ख्याञ्' आदेश हो सकता है। ये वार्तिक सभी प्रकरणों के लिये है। अर्थात् संज्ञा और वेद में सभी आदेश विकल्प से होते है—ऐसा कैयट का कथन हैं।

[**मनो०**] और इस प्रकार ख्शादि होने के प्रयोजन की गणना करने वाला वार्तिक—(१) रुविधि—पुंख्यानम्। (२) णत्वविधि—पर्याख्यानम्, (३) निष्ठा का नत्व–आख्यात। (ये तीन कार्य प्राप्त होते हैं। वे बाहुलकात् नहीं होते हैं। रुविधि का उदा० पुंख्यानम् लिखा जा चुका है। अब अन्य दो के विषय में लिख रहे हैं–) पर्याख्यानम् इसमें [**शब्द०**] [य् के असिद्धहो जाने से प्रतीयमान] शकार के द्वारा व्यवधान हो जाने से 'कृत्यचः' इस सूत्र से न का ण नहीं हो पाता है। [क्योंकि 'श्' णत्वनिमित्तों में नहीं है। 'य्' रहने पर णत्व की प्राप्ति है।] और इसी प्रकार 'आख्यातम्' इस शब्द में 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' इस सूत्र से 'त' का 'न' नहीं होता है, क्योंकि 'य्' यण् असिद्ध होने से उसके स्थान पर 'श्' आ जाने से यण्वान् नहीं रह पाता है।]

[ख्या' में जब 'ख्शा' मान लिया जाता है तो 'य' को मानकर प्राप्त तीनों कार्य रुत्व, णत्व और नत्व नहीं होते हैं।] और इस प्रकार 'न ध्याख्यापृमूर्छिमदाम्' इस सूत्र में 'ख्या' का ग्रहण नहीं करना चाहिये। [**शब्द०**] क्योंकि यत्व के असिद्ध हो जाने से [ख्शा ऐसा हो जाने से] यण्वान् का अभाव हो जाता है, अतः निष्ठा 'त' का नत्व प्राप्त ही नहीं होता है, यह भाव है।

आख्यातमिति च। शकारेण व्यवधानात् "कृत्यचः" (पा० सू० ८।४।२९) इति णत्वं न। तथा आख्यातमित्यत्र "संयोगादेरात—" (पा० सू० ८।२।३) इति नत्वं न। यत्वस्यासिद्धत्वा यण्वत्त्वाविरहात्। एवं च "न ध्याख्या—" (पा० सू० ८।२।५७) इति सूत्रे ख्याग्रहणं न कर्तव्यमिति भावः।

न च 'ख्या प्रकथने'—इत्येतदर्थं तदिति वाच्यम्, तस्य सार्वधातुकमात्रविषयत्वात्। अत्र च "सस्थानत्वं नमः ख्यात्रे" इत्युत्तरवार्तिकं प्रमाणम्, सस्थान इति जिह्वामूलीयस्य प्राचां सञ्ज्ञा, स इह न, "शर्परे विसर्जनीयः" (पा० सू० ८।३।३५) इत्यस्य प्रवृत्तेरिति भावः। यदि स्वतन्त्रोऽपि धातुरार्द्धधातुके इष्येत, तदा जिह्वामूलीयस्य दुर्वारतयेदं वार्तिकमसङ्गतं स्यात्।

अत्र चेति। ख्यातेः सार्वधातुकमात्रविषयत्वे इत्यर्थः।

सञ्ज्ञेति। एवं च तदुत्तरभावप्रत्ययेन सस्थानशब्द उच्यते। तेन स्ववाच्यो जिह्वामूलीयो वार्त्तिके लक्ष्यते। कुत्वं कस्मान्न भवतीत्यत्रेवेति

इहेति। पुंख्यानमित्यत्र चक्षिङः ख्याआदेशो न, अस अनप्रत्यययोः तस्य

[मनो०] 'ख्या प्रकथने इस धातु के रूप में नत्व आदि की प्राप्ति का वारण करने के लिये उक्त सूत्र में 'ख्या' का ग्रहण है—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यह धातु केवल सार्वधातुक प्रत्ययों के लिये ही है। [अतः आर्धधातुक प्रत्यय-स्थल पर 'ख्शा' मिलने से उक्त कार्य सम्भव नहीं है।] [शब्द०] इसकी सार्वधातुक मात्रविषयता में [मनो०] अगला वार्त्तिक प्रमाण है—'सस्थानत्वं नमः ख्यात्रे' ['नमः ख्यात्रे' इस प्रयोग में सस्थानत्व=जिह्वामूलीय क्यों नहीं होता है।] प्राचीनों के अनुसार 'जिह्वामूलीय की 'सस्थान' यह संज्ञा है। वह जिह्वामूलीय उक्त लक्ष्य में नहीं होता है, क्योंकि 'शर्परे विसर्जनीयः' इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है, यह भाव है। [अर्थात् 'ख्यात्रे' इसमें 'श' आ जाने पर 'ख्शा' इसमें शर् मिल जाने से विसर्ग का विसर्ग ही रहता है, जिह्वामूलीय नहीं होता है।] यदि स्वतन्त्र 'ख्या' धातु भी आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते इष्ट होता तो उक्त लक्ष्य में जिह्वामूलीय का वारण करना कठिन हो जाता जिससे यह वार्त्तिक असंगत होने लगेगा। [क्योंकि 'ख्या' रहने पर शर्परे विसर्जनीयः' की प्राप्ति ही नहीं है जिह्वामूलीय रोकना कठिन होगा। तब वार्त्तिक की उपयोगिता ही नहीं रह पाती है।]

[शब्द०] प्राचीनों के मत में 'सस्थान' यह जिह्वामूलीय की संज्ञा है। इस प्रकार संज्ञावाची 'संस्थान' शब्द के बाद प्रयुक्त भावार्थक 'त्व' प्रत्यय से 'सस्थान' शब्द कहा जाता है। इससे वार्त्तिक में स्ववाच्य=सस्थान का वाच्य अर्थ जिह्वा-

---

टिप्पणी –३८४ पृ० १८ पंक्ति [मनो०] जोड़कर पढ़ें। मूल इसी पृष्ठ में देखें।

यत्तु हरदत्तमाधवादिभिरुक्तम्—ख्याधातुरपि ख्शादिर्यत्वविधिरप्युभयसाधारण इति। तच्चिन्त्यम्। भाष्ये चक्षिङ एवोपक्रमात्सार्वधातुकेऽपि ख्शादिप्रयोगापत्तेश्च। न चेष्टापत्तिः। माधवेनार्द्धधातुकेष्वेवायं ख्शादिरित्युक्तत्वात्। सार्वधातुकेऽनभिधानस्यैव शरणीकर्तव्यत्वापत्त्या गौरवग्रस्तत्वाच्चेत्यास्तां तावत्।

भावः। ख्शादिरिति। क्शादीति प्रयोगे चर्त्वप्रवृत्तिरिति भावः। इत्युक्तत्वादिति। एवं च माधवो नेष्टापत्तिं कर्तुमर्हं इत्यर्थः। अनभिधानस्यैवेति। ख्शादेरनभिधानस्यैवेत्यर्थः। गौरवेति। ख्शादित्वं स्वीकृत्यानभिधानस्वीकारापेक्षया तदस्वीकृत्यैव ख्यातेरार्धधातुकेऽनभिधानस्यैव स्वीकारे लाघवमिति भावः।

प्रतिषेधादिति कथं तद्रूपसंभव इत्यत आह—**बहुलग्रहणादिति**। ननु सस्थानत्वशब्देन संज्ञाप्रतीतिः कथमत आह—**प्राचां संज्ञेति**। **एवञ्चेति**। सस्थानशब्दस्य

मूलीय लक्षित होता है। जैसा कि 'कुत्व क्यों नहीं होता है?' यहाँ [कुत्व से कवर्ग लक्षित होता है। वैसे ही यहाँ भी सस्थानत्व इस प्रवृत्तिनिमित्त से सस्थान की प्रतीति होती है।] यह भाव है।

[मनो०] पदमंजरीकार हरदत्त और धातुवृत्तिकार माधव आदि ने जो यह कहा—'ख्या' धातु भी ख्शादि है, और यत्वविधि भी दोनों धातुओं में सामान्यरूप से होती है। [अर्थात् 'चक्षिङ्' के आदेश 'ख्या' और स्वतन्त्र 'ख्या' दोनों में 'ख्शा' और 'ख्या' समझना चाहिये।] [शब्द०] ख्शादि है। 'क्शादि' ऐसा प्रयोग [पाठ मिलने पर इसमें चर्त्व की प्रवृत्ति है, यह भाव है। [अर्थात् 'ख्शादि' न लिखकर 'क्शादि' लिखने पर चर्त्वसन्धि समझ लेनी चाहिये।]—[मनो०] परन्तु उक्त कथन चिन्तनीय है क्योंकि भाष्य में चक्षिङ् धातु का उपक्रम करके ही ख्शा का विधान है। और [इस ख्शा को सार्वत्रिक मान लेने पर] सार्वधातुक प्रत्ययस्थल पर भी ख्शादि का प्रयोग होने लगेगा। [जबकि वास्तव में ऐसा नहीं होता है।]—इसे इष्टकल्पना भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि माधवाचार्य ने 'आर्धधातुक प्रत्ययों में ही यह चक्षिङ् ख्शादि है'—ऐसा [स्वयं] कहा है। [शब्द०] अतः माधवाचार्य तो इष्टापत्ति नहीं मान सकते यह अर्थ है। [मनो०] और सार्वधातुक प्रत्ययस्थल पर [शब्द०] (ख्शादि के प्रयोग के) अनभिधान की ही [मनो०] शरण लेनी पडेगी जिससे यह गौरवग्रस्त हो जाता है। [शब्द०] ख्शादित्व को मानकर (फिर उसके) अनभिधान को स्वीकार करने की अपेक्षा उसको अस्वीकार करके 'ख्या' धातु के आर्धधातुक प्रत्ययस्थल में अनभिधान को ही मानने में लाघव है, यह भाव है। [मनो०] इसलिये अब (शान्त) बैठिये।

स्यादेतत्—बहवः पुमांसोऽस्मिन् कुले—बहुपुम् ख्यातीत्यत्र रुत्वं स्यात्; "उरः प्रभृतिषु" (पा०सू० ५।४।१५०) पुम्-शब्दस्यैकवचनान्तस्यैव पाठान्नेह कप्। सार्वधातुके च ख्शातेः प्रयोगो निर्बाध एवेति चेत्, इष्टापत्तेः। संहिताया अविवक्षायां तु रुत्वं नेति स्पष्टमेव।

यत्तु प्राचा—"ख्शाधातौ नेति केचित्" इत्युक्तं, तत्र यदि ख्शाञादेशे इत्यर्थस्तर्हि केचिदित्यनुचितम्। स्वतन्त्रे धातौ चेत्तर्हि सार्वधातुकविषयेऽपि निषेधः स्यात्। न चेष्टापत्तिः, निर्मूलत्वात्।

चक्रिँस्त्रायस्वेति। यत्तु प्राचा 'त्राहि' त्युक्तं तत्र परस्मैपदमपुक्तम्।

रुत्वं स्यात्। रुत्वमित्युपलक्षणं जिह्वामूलीयस्य षत्वस्य च—नमः ख्याति, निःख्यातीत्यादौ।

संज्ञात्वे चेत्यर्थः। **तदुत्तरेति**। सस्थानशब्दोत्तरेत्यर्थः। ननु कुत्रचित् क्शादिरिति पाठोऽप्युपलभ्यते तत्कथमत आह—**क्शादीति**। 'ख्शा' इत्यत्रापि चर्त्वस्य

यह हो—बहवः पुमांसः अस्मिन् कुले इति [बहुत से पुरुष हैं इसमें ऐसा कुल]—'बहुपुम्+ख्याति' यहाँ ['पुमः खय्यम्परे' सूत्र से] 'म्' का 'रु' होना चाहिये। [**शब्द०**] रुत्व हो—यह रुत्व 'नमः ख्याति, निःख्याति' इत्यादि में क्रमशः जिह्वामूलीय तथा षत्व का भी उपलक्षण है। [**मनो०** बहुव्रीहि होने से इसमें कप् होना चाहिये—ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि] 'उरः प्रभृतिषु' इस सूत्र के गणपाठ में 'पुम्' शब्द का एकवचनान्त का ही पाठ है अतः कप् नहीं होता है। और सार्वधातुक [प्रत्यय] में इस 'ख्या' के प्रयोग में कोई बाधा नहीं है—यदि ऐसा कहते हो तो यह इष्टकल्पना है। परन्तु संहिता की अविक्षा में तो रुत्व न होना स्पष्ट ही है। [अतः रुत्व नहीं भी होता है।]

किसी प्राचीन ने जो—'ख्या धातु परे रहते [रुत्व] नहीं होता है, यह कोई कहता है"—यह कहा है, यहाँ ख्याञ् आदेश में [रुत्व नहीं होता है]—ऐसा अर्थ यदि है तो अरुचिसूचक 'केचित्' यह ठीक नहीं है। और यदि स्वतन्त्र 'ख्या' धातु परे रहते रुत्व नहीं होता है —ऐसा अर्थ यदि है तो सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते भी रुत्वनिषेध होने लगेगा। यह इष्टकल्पना भी नहीं हो सकती क्योंकि कोई मूल नहीं है॥

[नश्छव्यप्रशान्। अम्परक छव् रहने पर नकारान्त पद का रु होता है. किन्तु 'प्रशान्' का नहीं।] [**मनो०**] चक्रिँस्त्रायस्व [चक्रिन्+त्रायस्व, न् का रुत्व, अनुनासिक और अनुस्वार, विसर्ग सत्व करने पर (१) चक्रिँस्त्रायस्व, (२) चक्रिंस्त्रायस्व-ये दो रूप होते हैं।] प्राचीन आचार्य ने जो 'चक्रिन्+त्राहि' ऐसा कहा है,

त्रायतेर्ङित्त्वात् । त्रायत इति त्राः, स इवाचरेत्यर्थे कर्तरि क्विबन्तादाचार-क्विपि वा बोद्धयम् ।

प्रशानिति । प्रपूर्वाच्छाम्यतेः क्विप् । "अनुनासिकस्य क्वि—" (पा० सू० ६।४।१५) इति दीर्घः । "मो नो धातोः" (पा० सू० ८।२।६४) इति नः । तस्यासिद्धत्वान्नलोपो न ।

त्रायतेर्ङित्त्वादिति । अत्र त्रायतेरित्युक्त्या सत्यपि परस्मैपदे त्रायेत्यस्य प्राप्त्या त्राहीत्यस्यासिद्धिः सूचिता । आचारक्विपि वेति । नामधातौ मूल-धात्वादेर्ङित्त्वाद्याश्रित्य "अनुदात्तङित" (पा० सू० १।३।१) इत्यादेः प्रवृत्ति-र्नेत्यभिमानः । अत एव "त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष" इति सङ्गच्छते इति भावः । आर्षं तत्र तदित्यन्ये । शाम्यतेरिति । न तु शान तेजने इत्यतः, तस्य पदान्ते

प्रवृत्त्या खकारस्य ककार इति भावः । उपलक्षणमिति । नमः ख्यातीत्यत्र जिह्वा-मूलीयस्य, निःख्यातीत्यत्र च षत्वस्य प्रसङ्ग इति बोध्यम् ।

इवाचरेत्यर्थ इति । 'त्राहि' इत्यस्य लोटि प्रयुक्ततया 'आचर' इत्यपि लोटि

वहाँ परस्मैपद का प्रयोग ठीक नहीं है, क्योंकि 'त्रैङ् पालने' यह धातु ङित् है। [शब्द०] यहाँ 'त्रायति' ऐसे कथन से परस्मैपदी हो जाने पर भी [लोट् मध्यम पुरुष एकवचन में] 'त्राय' इस रूप की प्राप्ति होने के कारण 'त्राहि' इस रूप की असिद्धि सूचित की गयी है। [मनो०] अथवा त्रायते–[इस कर्ता अर्थ में क्विप् और सर्वापहारी लोप कर देने पर] 'त्राः' यह रूप होता है। 'त्राः इवाचर' (त्राः = रक्षा करने वाले, इव = के समान, आचर = आचरण करो)—इस अर्थ में कर्ता अर्थ में क्विप् प्रत्ययान्त 'त्रा' से पुनः आचारार्थक क्विप् प्रत्यय करने पर परस्मैपद लोट् में 'त्राहि' यह रूप होता हैं—ऐसा समझना चाहिये। (अर्थात् यह नामधातु का परस्मैपद का रूप मान लेना चाहिये।) [शब्द०] नामधातु में मूल धातु के ङित्त्व आदि को मानकर 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इत्यादि आत्मनेपदविधायक की प्रवृत्ति नहीं होती है, यह (मनोरमाकार का) अभिमान है। इसीलिये 'त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष' (हे पुण्डरीकाक्ष विष्णु ! मेरी रक्षा करो।) आदि प्रयोग संगत होते हैं। वहाँ 'त्राहि' यह प्रयोग आर्ष है—ऐसा दूसरे लोग कहते हैं।

प्रशान्। [मनो०] प्रपूर्वक 'शम्' धातु से क्विप् [और उसका सर्वापहारी लोप होता है।] "अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति" इस सूत्र से उपधा का दीर्घ तथा 'मो नो धातोः' सूत्र से 'म्' का 'न्' करने पर 'प्रशान्' बनता है। यह 'न्' असिद्ध हो जाता है अतः 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य से 'न्' लोप नहीं होता है। [शब्द०] 'प्रशान्' यह 'शान् तेजने' इस धातु से नहीं निष्पन्न है क्योंकि उसके पदान्त में 'न्' का लोप हो

"नॄन्पे" (पा० सू० ८।३।१०)॥ पकारोपर्यकार उच्चारणार्थः। तेन नॄः+पुनातीत्यादि सिद्धम्। "उभयथर्क्षु-" (८।३।३) इत्यत 'उभयथा' इत्यनुवृत्तेर्विकल्पः फलित इत्याशयेनाह—रुः स्याद्वेति॥

नलोपेन नान्तत्वासम्भवादिति भावः। न च "अप्रशान्" इति पर्युदासेन नान्तग्रहणेन सिद्धे "नः" इति व्यर्थमिति वाच्यम्, अस्य लक्षणवशसंपन्न-नान्तत्वेन पर्युदासेनापि लक्षणवशसम्पन्ननकारान्तानामेवापत्तेः॥

ननु "कुप्वोः" (पा० सू० ८।३।३७) इत्यत्र जिह्वामूलीयस्य खर्त्वा-द्विसर्गे तस्य सत्वे सश्रवणापत्तिरत आह— सूत्रे इत्यादिशर्त्वादित्यन्तेन।

बोध्यम्। **तस्यासिद्धत्वादिति**। 'मो नो धातोः' इति सूत्रविहितस्य नकारस्य 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति' सूत्रदृष्ट्या परत्रैपादिकत्वेनासिद्धतया न नलोप इति भावः। **नान्तत्वासम्भवादिति**। 'शान्' धातोः प्रपूर्वकात् क्विपि निष्पन्नात् प्रशान्-शब्दात् सौ नलोपस्य दुर्वारत्वात्। **नकारान्तानामिति**। एवञ्च यथा 'प्रशाम्' इत्यस्य सूत्रवशात् 'प्रशान्' इति नकारघटितप्रयोगो भवति तथैव यत्र यत्र लक्षणवशात् नकारान्तत्वं तत्र तत्रैवास्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः, स्वभावतो नकारान्तेषु न

जाने से 'न्' अन्त में होना सम्भव ही नहीं है, यह भाव है। यह कि 'अप्रशान्' इस में नञ् पर्युदास के द्वारा [तद्भिन्न तत्सदृश का ग्रहण होने से] नान्तग्रहण से कार्यसिद्ध रहने पर [सूत्र में] 'नः' यह व्यर्थ है—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि यह 'प्रशान्' शब्द ['मो नो धातोः' इस] सूत्र की प्रवृत्ति से नकारान्त बना है अतः [अप्रशान् इस नञ्] पर्युदास से भी सूत्र की प्रवृत्ति से सम्पन्न नकारान्त [शब्दों] का ही रुत्व होने लगेगा। [स्वभावतः नकारान्त का नहीं हो सकेगा। अतः सर्वविध नकारान्तों के रुत्वविधानार्थ 'नः' का ग्रहण समझना चाहिये।]॥

नॄन् पे। ['नॄन्' यहाँ षष्ठी के अर्थ में द्वितीया है। **मनो०**] 'पे' इसमें पकार के बाद अकार स्वर उच्चारण के लिये है। [अतः प् व्यञ्जन ही अभीष्ट है।] इस कारण नॄँः पुनाति यह भी होता है। "उभयथर्क्षु" इस सूत्र से 'उभयथा' इसकी अनुवृत्ति के कारण विकल्प फलित होता है—इस आशय से [सिद्धान्तकौमुदी में] कहा है—'नॄन्' इसका रु होता है विकल्प से पकार परे रहते॥

[शब्द०] "कुप्वोः ≍क ≍पौ च" इस में जिह्वामूलीय=खर् है अतः (रु का) विसर्ग होने पर उसका 'स्' सुनाई देना चाहिये? [क्योंकि शर् में पाठ होने से उसके अन्तर्गत खर् होना सम्भव है। अतः 'ओस्' प्रत्यय के स् का रुत्व और खर्=जिह्वामूलीय परे मानकर उसका विसर्ग तथा विसर्ग का 'स्' होना संभव है]—इसके समाधानार्थ मनोरमा में 'सूत्रे' यहाँ से लेकर शर्त्वात्' तक कहा है—**[मनो०]** सूत्र में [जिह्वामूलीय=] खर् परे

"कुप्वोः" (पा० सू० ८।३।३७) ॥ सूत्रे खर्परत्वाद्विसर्गः, जिह्वामूलीयस्य खर्त्वात्। "खर्परे शरि" (वा०) इति विसर्गस्य लोपः, जिह्वामूलीयस्य शर्त्वात्। "वा शरि" (पा० सू० ८।३।३६)। इति विसर्ग एव वा। आदेशयोः कपावुच्चारणार्थौ।

चाद्विसर्ग इति। यत्तु—प्राचा चाद्विकल्प इत्युक्तम्; तन्न, कपाभ्यां मुक्ते विसर्गस्य सत्वप्रसङ्गात्॥

विसर्गलोपश्च सत्वापवादः। एवं च सूत्रे निर्विसर्गपाठ इति भावः। सविसर्गपाठेऽप्याह—"वा शरि" (पा० सू० १।३।३६) इति। स च सत्त्वापवादः। "खर्परे" इति च वैकल्पिकमिति भावः। उच्चारणार्थाविति। तयोरुच्चारणस्य तौ विना असम्भवेन नान्तरीयकतया तयोरुच्चारणं न तु तयोर्विधेयत्वम्। किंतु तन्मात्रे तयोर्लक्षणा, व्याख्यानादिति भावः। चाद्विकल्प इति। निपातानामनेकार्थत्वाच्चशब्दो विकल्पार्थं इति तदाशयः।

सत्वप्रसङ्गदिति। चानुकृष्टविसर्गस्तु सत्वापवाद इति नास्माकं दोष इति भावः॥

होने से विसर्ग होता है [क्योंकि शर् में पठित होने से] जिह्वामूलीय खर् हो जाता है। 'खर्परक शर् रहने पर विसर्ग का लोप हो जाता है' इस वार्त्तिक से विसर्ग का लोप हो जाता है क्योंकि जिह्वामूलीय को शर् माना गया है। (इस कारण सूत्र में 'स्' का श्रवण नहीं होता है।) [शब्द०] और विसर्ग का लोप सत्व का अपवाद है। इस प्रकार सूत्र में विसर्गरहित ही पाठ है। यदि विसर्गसहित पाठ मिलता है तो उसके लिये भी कहते हैं—[मनो०] अथवा "वा शरि" सूत्र से (विसर्ग का) विसर्ग ही रह जाता है। [शब्द०] और यह सूत्र सत्व का अपवाद है। और 'खर्परे शरि' यह वार्त्तिक वैकल्पिक है, यह भाव है। [मनो०] आदेश में 'क' तथा 'प' केवल उच्चारण की सुविधा के लिये हैं। [शब्द०] क्योंकि जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय का उच्चारण उन 'क' तथा 'प' के विना असंभव है इस स्थिति में नान्तरीयक (अनिवार्य) होने से उनका उच्चारण है, न कि वे दोनों विधेय हैं। किन्तु केवल जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय में उनकी लक्षणा मानी जाती है, क्योंकि वैसा व्याख्यान किया गया है, यह भाव है।

[मनो० सूत्र में प्रयुक्त] 'च' के प्रयोग से विकल्प फलित होता है। [शब्द०] निपात शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं अतः यहाँ 'च' शब्द विकल्प अर्थ वाला है, यह भाव है। [मनो०] किसी प्राचीन विद्वान् ने—"च के द्वारा विकल्प होता है" ऐसा कहा है, वह ठीक नहीं है क्योंकि 'क' 'प' न होने पर विसर्ग के सत्त्व का प्रसङ्ग होता है। [शब्द०] हमारे मत में तो 'च' से विसर्ग का अनुकर्षण होता है और यह सत्व का अपवाद है, अतः कोई दोष नहीं है, यह भाव है॥

"कानाम्रेडिते" (पा० सू० ८।३।१२) ।। कान् कानिति वाच्ये आम्रेडितग्रहणं यत्र द्विरुक्तिस्तत्रैव यथा स्यादिह मा भूत्—कान् कान् पश्यसि । अत्रैक. किंशब्दः प्रश्ने, द्वितीयः क्षेपे । कान् कुत्सितान् पश्यसीत्यर्थः ।।

'कस्कादिषु च" (पा० सू० ८।३।४८) ।। अत्र प्राचा 'विसर्जनीयस्य ⌣क⌣पौ ने'त्युक्तं, नासौ सूत्रार्थः । ⌣क⌣पयोरस्वरितत्वात्, अन्प्रकृतत्वात् । किंत्वार्थिकार्थकथनं तदिति ध्वनयन्नाह—⌣क⌣पयोरिति ।

कौतस्कुत इति । कुतः कुतः आगत इत्यर्थेऽव्ययात् (४।२।१०४) त्यपि प्राप्ते गणपाठसामर्थ्यादण् ।

गणपाठसामर्थ्यादिति । एतेन—पञ्चम्यन्तात्स्वार्थे तसिल्विधानेनाव्यय-

---

प्रवृत्तिरिति भावः । एवञ्च महदनुपपत्तिरिति भावः ।।

ननु जिह्वामूलीयोपध्मानीययोरुच्चारणे कपोः श्रवणं किमर्थमित्यत आह मूले—**आदेशयोरिति** । **तयोः**=जिह्वामूलीयोपध्मानीययोः । **तौ**=कपौ । **तयोः**=कुप्वोः । **तन्मात्रे**=जिह्वामूलीयोपध्मानीयमात्रे । **तयोः**=समुदितयोः । ननु 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति नियमविरोधोऽत आह—**व्याख्यानादिति** ।

[मनो०] कानाम्रेडिते । [आम्रेडित परे रहते कान् के 'न्' का 'रु' होता है ।] 'कान् कान्' ऐसा सूत्र कहा जा सकता था फिर भी 'आम्रेडिते' इसका ग्रहण इस लिये है कि जहाँ द्विरुक्ति=द्वित्व है वहीं पर [रु] हो, यहाँ पर न हो—कान् कान् पश्यसि । इनमें एक 'कान्' शब्द प्रश्न अर्थ में [प्रश्नवाची] है और दूसरा 'कान्' क्षेप=निन्दा अर्थ में है । 'किन् कुत्सितों को देखते हो ?' यह अर्थ है ।।

कस्कादिषु च । [कस्कादिगण में पठित शब्दों में इण् से उत्तरवर्त्ती विसर्ग का 'ष्' होता है अन्यत्र 'स्' होता है] यहाँ किसी प्राचीन विद्वान् ने—"विसर्ग के ⌣क ⌣प नहीं होते हैं'—ऐसा कहा है, यह इस सूत्र का अर्थ नहीं है, क्योंकि (अनुवृत्ति के लिये) ⌣क ⌣प इनमें स्वरितप्रतिज्ञा नहीं है । और 'न' [निषेध] का प्रकरण भी नहीं है । परन्तु वह [⌣क ⌣प नहीं होते हैं—ऐसा] तो आर्थिक अर्थ [अर्थतः प्रतीयमान अर्थ=अभिप्राय] का कथन है—इसको ध्वनित करते हुये [सिद्धान्तकौमुदी में] कहा गया है—⌣क ⌣प का अपवाद यह है ।

कौतस्कुतः । 'कहाँ कहाँ से आये ? इस अर्थ में, अव्यय होने से 'त्यप्' प्रत्यय प्राप्त रहते (कस्कादि-) गण में (ऐसा ही) पाठ होने के कारण अण् प्रत्यय होता है । (कुतः कुतः+अण्, टि का लोप और आदिवृद्धि करने पर 'कौतः कुत' में विसर्ग का सत्व प्रस्तुत सूत्र से होता है—कौतस्कुतः [कहाँ कहाँ से आया हुआ ।] [शब्द०] 'कस्कादिगण में पाठ होने के सामर्थ्य से अण् होता है,' इस कथन के

सर्पिष्कुण्डिकेति। "नित्यं समासे" (पा० सू० ८।३।४५) इत्येव सिद्ध इह पाठस्य प्रयोजनं तु तत्रैव वक्ष्यते ॥

"सेनासुरा-" (पा० सू० २।४।४५) इति। यदि हि च्छस्य तुक् स्यात्, तर्हि च्छस्य चर्त्वे सति चद्वयं स्यात्। सन्निपातपरिभाषया चर्त्वाप्रवृत्तौ तु छकारोपरि चकारः श्रूयेतेति भावः ॥

यादुत्सर्गतः प्रथमैकवचनोत्पादेन पञ्चम्यन्तत्वाभावात् "तत आगतः" (पा० सू० ४।३।७४) इत्यर्थे कथमणि' त्यपास्तम्। "अव्ययानाम्" इति टिलोपः।

सन्निपातेति। असिद्धविषयेऽपि सा प्रवर्तते। यद्वा पूर्वत्र कर्त्तव्येऽसिद्ध-

---

गणपाठेति। कुतः कुत आगत इत्यर्थे 'अव्ययात् त्यप्' (४।२।१०४) इति सूत्रेण त्यप् प्रत्ययः प्राप्नोति, एवमेव पञ्चम्यन्तात् स्वार्थे तसिल् प्रत्ययोऽपि प्राप्नोति, एतदुभयपि नात्र, गणपाठे 'कौतस्कुतः' इति पाठात्। अत एवात्र 'अण्' इत्यपि बोध्यम्।

चद्वयमिति। छकारस्याग्रे तुगागमे 'छ्+त्' इत्यत्र चर्त्वेन छकारस्य चकारे

द्वारा—पञ्चम्यन्त से स्वार्थ में तसिल् के विधान के कारण, अव्यय से उत्सर्गतः प्रथमा का एकवचन उत्पन्न होने से पञ्चम्यन्त नहीं रहता हैं इस लिये 'तत आगतः' इसके अर्थ में अण् प्रत्यय कैसे होगा ?—यह कथन खण्डित हो गया। [कौतस्कुतस्+अण् में] 'अव्ययों की भसंज्ञामात्र में ही टि का लोप हो जाता है" इस वचन से टि (=अस्) का लोप हो गया।

[मनो०] सर्पिष्कुण्डिका। 'नित्यं समासे' इसी सूत्र से इसमें षत्व के सिद्ध रहने पर इस गण में प्रस्तुत शब्द के पाठ का प्रयोजन तो वहीं ['नित्यं समासे ८।३।४५ सूत्र की मनोरमा में ही] कहा जायगा ॥

दीर्घात्। [दीर्घ से 'छ' परे रहते तुक् होता है और यह तुक् दीर्घ का होता है न कि 'छ' का क्योंकि] [मनो०] 'सेनासुराच्छाया' यह सूत्रनिर्देश ज्ञापक है। क्योंकि यदि 'छ्' का तुक् होता तो [छ् के बाद होता और] 'छ्' का चर्त्व करने पर ['च्' हो जाता, फलस्वरूप] दो चकार हो जाते। यदि 'सन्निपात' परिभाषा के कारण चर्त्व की प्रवृत्ति न होती तो भी 'छ्' के ऊपर=बाद में 'च्'–छ्च्' ऐसा सुनाई देता, यह भाव है। [शब्द०] [तुक् सपादसप्ताध्यायीस्थ है और चर्त्व त्रैपादिक है। अतः वह असिद्ध हो जाता है इसलिये 'सन्निपात' परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी—इस शंका का उत्तर देते हैं—] असिद्धविषय में भी वह 'सन्निपात' परिभाषा प्रवृत्त होती है। [यदि इसकी अप्रवृत्ति का दुराग्रह है तो

॥ इति हल्सन्धिः ॥

त्वेऽपि तत्र कृते उत्तरस्यासिद्धत्वे मानाभाव इति नासिद्धत्वेन सन्निपात-परिभाषाप्रवृत्तिप्रतिवन्धः शङ्क्य इति भावः। वैकल्पिकेष्वपि भावानुष्ठान-स्यैवौचित्यं फलाधिक्यायेति तात्पर्यम् ॥

॥ इति हल्सन्धिः ॥

श्चुत्वेन तकारस्य चकारे सति चद्वयस्य श्रवणमिति भावः। ननु छकारमुपजीव्य जायमानस्तुक् छकारस्य विघातके चर्त्वे कर्तव्ये निमित्तं न भविष्यतीत्यर्थिकया सन्निपात-परिभाषया चर्त्वं नैव भविष्यतीति चेत्, छकारोपरि चकारश्रवणे 'छ् च्' इति रूपापत्तिरिति बोध्यम्। ननु 'पदान्ताद् वा' इति विकल्पविषयतासत्त्वेन तुग-भावेन तादृशसौत्रनिर्देशस्योपपत्तिसंभवे कथं प्रकृते ज्ञापकतेत्यत आह—वैकल्पिके ष्विति। एवञ्च तस्य ज्ञापकतायां बाधाभाव इति बोध्यम् ॥

॥ इति जयशङ्कर-लाल-त्रिपाठिविरचितायां 'भावप्रकाशिका'-व्याख्यायां हल्सन्धि-प्रकरणं समाप्तम् ॥

भी दोष है—] अथवा पूर्व का कर्तव्यता में पर के असिद्ध होने पर भी; पूर्व के कर लेने के बाद पर के असिद्ध होने मे कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये असिद्ध हो जाने के कारण 'सन्निपात' परिभाषा की प्रवृत्ति के प्रतिबन्ध (प्रवृत्त्यभाव) की शंका नहीं करनी चाहिये, यह भाव हैं। (तुक् वैकल्पिक है अतः इसके अभावपक्ष में सूत्र का निर्देश उपपन्न हो सकता है अतः उसे ज्ञापक नहीं मानना चाहिये—इसका उत्तर देते हैं—) वैकल्पिक विधियों में भी अधिक फल के लिये भावपक्ष का अनुष्ठान ही उचित है (न कि अभावपक्ष का) यह तात्पर्य है।

विमर्श—भाव यह है कि यदि 'छ्' के बाद तुक्=त् होगा तो उसका श्चुत्व करने के बाद 'छ्+च्' इस स्थिति में 'खरि च्' सूत्र से 'छ्' का चर्त्व=च् होने से दो चकार ही रह जायेंगे। यद्यपि सन्निपातपरिभाषा से यह चर्त्व वारित किया जा सकता है क्योंकि जिस 'छ' को मानकर 'तुक्' हुआ है वही तुक् 'छ्' के विनाश (चर्त्व) का कारण नही बन सकता। फिर भी 'छ् च्' ऐसा सुनाई देगा न कि 'च्छ' ऐसा। अतः इस तुक् को पूर्व का ही अवयव मानना उचित है। तभी समस्त कार्य और निर्देश उपपन्न होते हैं ॥

[मनो०] इस प्रकार हल्सन्धि समाप्त हुई ॥

[शब्द०] इस प्रकार हल्सन्धि समाप्त हुई ॥

॥ इस प्रकार जयशङ्कर-लालत्रिपाठि-विरचित 'भावबोधिनी' हिन्दी-व्याख्या में प्रौढमनोरमा का हल्सन्धि-प्रकरण समाप्त हुआ ॥

अथ विसर्गसन्धिप्रकरणम्

"शर्परे" (पा० सू० ८।३।३५)।। सत्वादेरयमपवादः। यदि तु, शर्परे नेत्येवोच्येत, तर्हि प्रकृते सत्वे निषिद्धेऽपि कुप्वोः ≍क≍पौ स्याताम्—वासः क्षौमम्, अद्भिः ≍प्सातमिति। विसर्जनीयवचनात्तु विकारमात्रं बाध्यते इत्याशयेनाह—न त्वन्यदिति। तदेव स्फुटयति—इहेति।

नेत्येवोच्येतेति। "कुप्वोः" (पा० सू० ८।३।३७) इत्यत्रापि चेन सत्त्वं नेत्येवानुकृष्टव्यमिति भावः। स्यातामिति। सत्वनिषेधे "खरवसानयोः" (पा० सू० ८।३।१५) इति विहितविसर्गस्य सत्त्वादिति भावः। विकारमात्रमिति। तत्सामर्थ्याच्चानेन तस्यैव प्रत्यापत्ता[illegible]तावितिभावः।

अब विसर्गसन्धि प्रारम्भ होती है—

शर्परे विसर्जनीयः। [शर्परक खर् रहने पर विसर्ग का विसर्ग ही रहता है, 'स्' नहीं होता है।] [मनो०] यह सत्व आदि [जिह्वामूलीय और उपध्मानीय] का अपवाद है। यदि 'शर्परक खर् रहते नहीं होता है' इतना ही कहा जाय। [शब्द०] 'कुप्वो ≍क ≍पौ च' इस सूत्र में भी 'च' से 'स नहीं होता है' इसी का अनुकर्षण करना चाहिये, यह भाव है। [मनो०] तब तो प्रकृत=[प्रकरणप्राप्त] सत्व के निषिद्ध हो जाने पर भी कवर्ग, पवर्ग परे रहते (विसर्ग के) ≍क ≍प (=जिह्वामूलीय और उपध्मानीय) होने लगेंगे—वासः क्षौमम् (यहाँ विसर्ग का जिह्वामूलीय तथा) 'अद्भिः ≍प्सातम्' यहाँ [उपध्मानीय]। [शब्द०] क्योंकि सत्व का निषेध होने पर 'खरवसानयोः' इस सूत्र से विहित विसर्ग रहता ही है, यह भाव है। (अतः उक्त दोनों स्थलों पर विसर्ग का क्रमशः ≍क तथा ≍प अर्थात् जिह्वामूलीय और उपध्मानीय होने लगेगा।) [मनो०] किन्तु जब 'विसर्जनीय= विसर्ग ही होता है' ऐसा कह दिया गया तब तो सभी विकारों का बाध हो जाता है—इसी आशय से (सिद्धान्तकौमुदी में) कहा है—और कुछ नहीं होता है, विसर्ग ही रहता है। इसी को और स्पष्ट कर रहे हैं—(घनाघनः क्षोभणः) इसमें विसर्ग के स् और जिह्वामूलीय दोनों नहीं होते हैं। [शब्द०] विसर्ग के विकारमात्र का बाध करता है। 'विसर्जनीयः' इस वचन के सामर्थ्य से इस सूत्र द्वारा ('खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इस सूत्र से विहित) उसी विसर्ग की प्रत्यापत्ति [=प्राप्त विकारों का निरास करते हुए स्वरूप में अवस्थान होने] में भी वे दोनों [जिह्वामूलीय और उपध्मानीय) नहीं होते हैं, यह भाव है।

एतेन—'एतद्विहितस्य स्थानेऽपि तौ स्याताम्। किं चास्यैव तौ स्यातां "खरवसानयोः—" इति विहितस्य त्वेतयोरसिद्धत्वात् "विसर्जनीयस्य" (पा० सू० ८।३।३४) इति सत्वमेव स्यादि'त्यपास्तम्। अर्थाधिकारेण 'खरवसानयोः" (पा० सू० ८३१५) इति विहितविसर्गस्यैवातिदेशाच्च। "विसर्जनीयस्य सोऽशर्पर" इति तु न सूत्रं कृतम्, "वा शरि" (पा० सू० ८।३।३६) इत्यनेन सत्वस्य विकल्पेन सिद्धावपि "कुप्वोः—" (पा० सू० ८।३।३७) इत्यत्राशर्पर इत्यनुवृत्त्या तयोः शर्परेऽप्रवृत्तावपि "कुप्वोः—" (पा० सू० ८।३।३७) इति सूत्रे चाद्विसर्गलाभानापत्तेः॥

शर्परे इति। शर्परे खरि विसर्जनीयस्य विसर्जनीयः, न त्वन्यत्—इति सूत्रार्थः। स्यातामिति। प्रकृतात् कल्पितात् 'शर्परे न' इति सूत्राद् 'कुप्वोः' इति सूत्रे नकारेण 'सत्वं न स्यादिति' अनुवृत्त्या जिह्वामूलीयोपध्मानीययोः वारणं दुःशकम्! ननु पाणिनिकृतन्यासस्य किं फलमत आह—विसर्जनीयवचनात्त्विति। तत्सामर्थ्यादिति। विसर्जनीयग्रहणसामर्थ्यादित्यर्थः। अनेन='शर्परे' इति सूत्रेण। तस्यैव='खरवसानयो'रिति सूत्रविहितविसर्जनीयस्यैव। प्रत्यापत्ताविति। बाधनिराकरणपूर्वकस्वस्वरूपावस्थानेनापीत्यर्थः। एतेनेति। उक्तव्याख्यानेनेत्यर्थः। एतद्विहितस्य='शर्पर' इति सूत्रविहितस्येत्यर्थः। तौ=जिह्वामूलीयोध्मानीयो। विहितस्येति। सत्वं स्यादित्यत्रास्यान्वयः। असिद्धत्वादिति। सत्वदृष्ट्येति

इस (उपर्युक्त व्याख्यान) से—इस 'शर्परे विसर्जनीयः' सूत्र से किये गये (विसर्ग) के स्थान में भी (और 'खरवसानगोर्विसर्जनीयः' से विहित विसर्ग के स्थान में भी) वे दोनों (जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय) हो जांय। और भी, (शर्परे० सूत्र) से विहित विसर्ग के ही वे दोनों हों, क्योंकि 'खरवसानयोः' से विहित विसर्ग के स्थान पर तो 'स' ही हो जाय क्योंकि ये दोनों असिद्ध हो जाते हैं। (भाव यह है कि सत्वविधायक 'विसर्जनीयस्य सः' ८।३।३४ है और 'कुप्वोः' ८।३।३७ परवर्त्ती है। अतः इससे विहित दोनों आदेश विसर्ग के प्रति असिद्ध हो जाने से 'स्' ही हो जाय)—यह कथन निरस्त हो गया। और क्योंकि अर्थ का अधिकार होने से 'खरवसानयोः' इससे विहित विसर्ग का ही ('कुप्वोः' इससे) आदेश किया जाता है। [अतः प्रस्तुत सूत्र से विहित विसर्ग के ये दोनों नहीं हो सकते।] और "विसर्ग का 'स्' होता है, शर्परे रहते नहीं होता है' ऐसा सूत्र तो नहीं बनाया गया, क्योंकि 'वा शरि' इस सूत्र से सत्व की विकल्प से सिद्धि हो जाने पर भी 'कुप्वोः' इस सूत्र में 'अशर्पर' इसकी अनुवृत्ति के कारण शर् परे रहते उन दोनों आदेशों की प्रवृत्ति न होने पर भी 'कुप्वोः' इस सूत्र में 'च' के द्वारा विसर्ग का ज्ञान नहीं हो सकेगा। (भाव यह है कि 'विसर्जनीयस्य सः', 'शर्परे

"सोऽपदादौ" (पा० सू० ८।३।३८)।। अपदाद्योरिति। सूत्रे तु व्यत्ययेनैकवचनम्। यदि तु खर् विशेष्यतेऽपदादौ खरीति तदा यथाश्रुतं साधु। किं तु 'खरि' इति मण्डूकप्लुत्याऽनुवर्त्यमिति क्लेशः।

व्यत्ययेनेति। सौत्रत्वादिति भावः। इति क्लेश इति। किं च पूस्तरेत्यादौ षत्वादिवारणाय "कुप्वोः" (पा० सू० ८।३।३७) इत्यनुवर्त्य तदन्तर्गते खरीति व्याख्याने सुतरां क्लेश इत्यपि बोध्यम्।

भावः। किन्तु 'शर्परे' इति सूत्रविहितस्य तु न सत्वप्राप्तिरस्यासिद्धत्वादिति भावः। अपास्तमिति। अनेन विसर्गस्य विसर्गरूपोऽपूर्वं आदेशो न विधीयते, किन्तु 'खरवसानयोः' इति विहितस्यैवावस्थानं बोध्यते, एवञ्च 'कुप्वोः' इत्यस्य 'विसर्जनीयस्य सः' इत्यस्य च 'खरवसानयोः' इति विहितविसर्गादेशत्वमेवेति तदुक्तं परास्तमित्यर्थ इति भैरवीकाराः। प्रकृते शब्दाधिकारे मानाभाव इति प्रतिपादयति— अर्थाधिकारेणेति। आदेशाच्चेति। 'कुप्वोः' इति सू गेति शेषः। लाघवानु-

---

विसर्जनीयः', 'वा शरि', 'कुप्वोः ≍क ≍पौ च' यह क्रम है। अतः 'च' के द्वारा 'विसर्जनीयः' इस विधेय का ज्ञान होता है। यदि पहले के तीन सूत्रों की जगह 'विसर्जनीयस्य सोऽशर्परे' यह सूत्र होगा तो 'कुप्वोः' यहाँ 'च' किसका समुच्चायक होगा ? क्योंकि विधेय विसर्ग का उल्लेख न होने से उसका ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः पक्ष में 'विसर्ग' नहीं हो सकेगा।]।।

सोऽपदादौ। [अपदादि कवर्ग, पवर्ग परे रहते विसर्ग का 'स्' हो जाता है। मनो०] सूत्र में वचनव्यत्यय के कारण 'अपदादौ' यह एकवचन है [जबकि विशेष्य 'कुप्वोः' यह द्विवचनान्त है अतः विशेषण भी 'अपदाद्योः' यह द्विवचनान्त होना चाहिये।] [शब्द०] सौत्र प्रयोग होने से [वेदतुल्य होने से] एकवचन हो गया है, यह भाव है। [मनो०] परन्तु यदि इसे 'खरि' का विशेषण बना दें तब तो 'अपदादौ खरि' ऐसा यथाश्रुत (एकवचनान्त) भी ठीक ही है। किन्तु ('खरवसानयोः' इस सूत्र से एकदेश 'खर्' इस सप्तम्यन्त की) मण्डूकप्लुति से अनुवृत्ति करनी पड़ेगी—यह क्लेश है, यह भाव है। [शब्द०] और भी, अतिशयता पूः— 'पूस्तरा' इत्यादि में ('इणः षः' सूत्र से) षत्वादि का वारण करने के लिए 'कुप्वोः' इसकी अनुवृत्ति करके 'इसके अन्तर्गत खर् परे रहते' ऐसी व्याख्या में तो स्पष्टतः क्लेश है, यह भी समझना चाहिये। [भाव यह है कि वचनव्यत्यय न मानने पर यह क्लेश है—(१) 'खरवसानयोः' इससे 'खर्' इस सप्तम्यन्त की मण्डूकप्लुति से अनुवृत्ति, समास होने से एकदेश की अनुवृत्ति और 'पूस्तरा' में षत्ववारण के लिए 'कुप्वोः' में औपश्लेषाधिकरण में श्रूयमाण सप्तमी को प्रस्तुत सूत्र में निर्धारण अर्थ में—'कुप्वोर्विद्यमाने खरि'—ऐसा मानने पर क्लेश स्पष्ट है।]

न चानुवृत्तेरुत्तरत्राप्यावश्यकता। खरं विना विसर्गस्य दुर्लभत्वेन तदनुवृत्तेर्निष्फलत्वात्।

पाशकल्पककाम्येष्विति वृत्तिः। **सम्भवप्रदर्शनमेतन्न तु परिगणनम्, अन्यस्यासम्भवात्।**

अन्यस्यासम्भवादिति। अयं भावः—'अपदे' इत्येव "कुप्वोः" (पा० सू० ८।३।३७) इत्यनुवर्त्य "यस्मिन्विधिः---" इति परिभाषया कपवर्गादौ अपदे इत्यर्थेन सिद्धे आदिग्रहणमपदस्यैवादिरित्यर्थलाभार्थम्। तेनोरः कायतीति विग्रहे सुबुत्पत्तेः पूर्वं समासेऽप्युरःकेणेत्यादौ न सत्त्वम्। आदिग्रहणसामर्थ्येन तल्लब्धावधारणेन च पदत्वयोग्यप्रातिपदिकानवयवस्यैव ग्रहणादिति।

रोधिनीमन्यशंकां निरस्यति—**विसर्जनीयस्येति।** **अनुवृत्त्येति।** अशर्परयोः कुप्वोरिति व्याख्यानेनेति शेषः। **अनापत्तेरिति।** विधेयबोधकविसर्जनीयपदाभावादिति शेषः।

सोऽपदादाविति। विसर्जनीयस्य सः स्यादपदाद्योः कुप्वोः परयोरिति वृत्तिः। ननु खरीत्यस्यानुवृत्तिपक्षे क्लेशमात्राभिधानं मूलकारकृतमसङ्गतम्, पूस्तरेत्यादौ षत्वाद्यापत्तिदोषस्य स्फुटत्वादत आह शब्दरत्ने—**किंचेति।** आदिना 'पयः श्वः

[मनो०] 'खरि' इसकी अनुवृत्ति की आगे सूत्रों में भी आवश्यकता है—यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि खर् परे रहे विना विसर्ग ही दुर्लभ है (क्योंकि 'खरवसानयोः' यही विसर्ग-विधायक है) अतः 'खरि' इसकी अनुवृत्ति का कोई फल नहीं है।

'पाश, कल्प, क और काम्य—इनके परे रहते विसर्ग का 'स' होता है—' यह काशिकावृत्ति में लिखा है। यह उल्लेख सम्भव स्थलों का प्रदर्शन है, परिगणन नहीं है, क्योंकि अन्य सम्भव नहीं है। **(शब्द०)** भाव यह है—'अपदे' इतना ही सूत्र रहे, 'कुप्वोः' इसकी अनुवृत्ति करके 'जिसके परे रहते विधि होती है, अल्-ग्रहण में तदादि में माननी चाहिये' इस परिभाषा से 'कवर्गादौ पवर्गादौ पदे' (जिसके आदि में कवर्ग है, जिसके आदि में पवर्ग ऐसे पद के परे रहते)—ऐसा अर्थ करने से सिद्ध हो जाने पर (सूत्र में) 'आदि' का ग्रहण अपद का ही आदि परे रहते' इस (अवधारण) अर्थ का ज्ञान कराने के लिए है। इससे 'उरः कायति' इस विग्रह में सुप् की उत्पत्ति के पहले समास हो जाने पर भी पर 'उरः-केण' इत्यादि में 'स्' नहीं होता है क्योंकि (सूत्र में) 'आदौ' इसके ग्रहण के सामर्थ्य से और इस आदिग्रहण द्वारा ज्ञात अवधारण (अपदादौ एव) से पदत्व के योग्य प्रातिपदिक के अनवयव (कवर्ग, पवर्ग) का ही ग्रहण होता है। [भाव यह

प्रातःकल्पमिति । **अधिकरणशक्तिप्रधानस्यापि प्रातःशब्दस्येह वृत्तिविषये शक्तिमत्परत्वम्, दोषाभूतमहः, दिवाभूता रात्रिरितिवत् ।**

गीः काम्यतीति । **इह "इणः षः" (पा० सू० ८।३।३९) इति षत्वं न, तत्रापि "काम्ये रोरेव" इत्यस्यानुवृत्तेः ।**

शक्तिमत्परत्वमिति । अव्ययत्वं तु भूतपूर्वगत्या बोद्धव्यमिति भावः । षत्वं

पिबे'त्यादौ शादिपरिग्रहः । मूले—**अन्त्यस्य** = प्रत्ययान्त्यस्य । ननु सुबुत्पत्तेः प्राक् समासे 'उरःकेण' इत्यत्रान्यस्यापि संभवोऽस्तीतीदमसंगतमत आह शब्दरत्ने—**अयं भाव इति । तल्लब्धेति ।** सामर्थ्यलब्धेत्यर्थः । ननु ईषदसमाप्त्याद्यन्वयाय यदि शक्तिमत्परत्वंकल्प्यते तदाऽस्याव्ययत्वं कथमत आह—**भूतपूर्वेत्यादि** । मूले—**तत्रैवेति** । 'इणः षः' इति सूत्रे एवेत्यर्थः । **इदम्** = 'अनव्ययस्येति वाच्यम्' इति

है जिसमें पद बनने की योग्यता है उसी प्रातिपदिक का आदि अवयव कवर्ग या पवर्ग न होने पर 'स्' होता है। किन्तु जिसमें पदत्वयोग्यता ही नहीं है वहाँ तो यह सूत्र लागू ही नहीं होता है अतः 'उरःकेण' में इस सूत्र की प्राप्ति ही नहीं है क्योंकि 'केण' ये प्रत्यय हैं ।]

[मनो०] [अनव्यय के ही विसर्ग का 'स्' होता हैं इसलिये यहाँ नहीं होता है—] प्रातःकल्पम् । [ईषदसमाप्तः प्रातः कालः—इस अर्थ में 'कल्पप्' प्रत्यय हुआ है । यह 'प्रातः' शब्द तो अधिकरण-शक्तिप्रधान है—प्रातः = प्रातःकाले । अतः तद्धितवृत्ति = कल्पम् प्रत्यय नहीं होना चाहिये । इसका उत्तर दे रहे है—] अधिकरणशक्ति-प्रधान भी यह 'प्रातः' शब्द यहाँ तद्धितवृत्ति के विषय में उसी प्रकार शक्तिमान् (प्रातिपदिकार्थ) का बोधक होता है जिस प्रकार 'दोषाभूतम् अहः, दिवाभूता रात्रिः' में देखा जाता है। (जैसे—'दोषा' = रात्रौ, दिवा = दिने' अर्थवाले हैं किन्तु 'दिवाभूता' आदि में केवल प्रातिपदिकार्थ प्रतीत होता है, अधिकरण कारक अर्थ नहीं प्रतीत होता है। यही स्थिति 'प्रातःकल्पम्' में भी समझनी चाहिये । **[शब्द०]** प्रातिपदिकार्थ-प्रधान बन जाने पर भी भूतपूर्वगत्या अव्ययत्व समझना चाहिये, यह भाव है ।

[मनो०] ('काम्य परे रहते 'रु' से निष्पन्न विसर्ग का ही 'स्' होता है अन्य का नहीं । अतः) 'गीः काम्यति' यहाँ 'इणः षः' इस सूत्र से विसर्ग का 'ष्' नहीं होता है। **[शब्द०]** 'स' भी नहीं होता है अर्थात् 'स्' और 'ष्' दोनों नहीं होते है—यह समझना चाहिये । **[मनो०]** कारण यह है कि **[शब्द०]** उसमें = षत्व-विधायक 'इणः षः' में भी **[मनो०]** "काम्ये रोरेवेति वाच्यम्' 'काम्य परे रहते 'रु' के विसर्ग का ही स् होता है ।' इसकी अनुवृत्ति होती है ।

यदि तु तत्रैवेदं पठ्येत तर्हि षत्वमात्रप्रतिषेधेऽपि पूर्वेण सत्वं स्यात् ॥

"इणः षः" (पा० सू० ८।३।३९) ॥ पूर्वस्यापवादः । इदं सूत्रं "सः" इति च द्वयमपि उत्तरत्रानुवर्तते । यथासम्भवमिणः परस्य षोऽन्यस्य स इति विवेकः ।

पुरः प्रवेष्टव्या इति । पॄ पालनपूरणयोः 'भ्राजभास—" (पा० सू० ३।२।११७) इत्यादिना क्विप् । तदन्ताज्जस् । जसन्ततां स्फुटीकर्तुं पूः पुरावित्युपन्यस्तम् ॥

"इदुदुपधस्य" (पा० सू०३।४।४१) ॥ इदुतौ उपधे यस्य समुदायस्य

नेति । सत्वं नेत्यपि बोद्धव्यम् । तत्रापि=षत्वविधावपि । एवं चात्र पाठात्तत्रानुवृत्तेश्चोभयमपि नेति बोद्धव्यम् ।

वचनमित्यर्थः । शब्दरत्ने—एवञ्चेति । प्रकृतरीत्यङ्गीकारे च । अत्र= 'सोऽपदादावि'ति सूत्रे । तत्र='इण :षः' इति सूत्रे । उभयमपि=षत्वसत्वे इत्यर्थः ।

[शब्द०] और इस प्रकार पूर्वसूत्र में पाठ होने से और षत्वविधि में उसकी अनुवृत्ति से दोनों='स् तथा ष' नहीं होते हैं, यह समझना चाहिये । [मनो०] यदि 'इणः षः' इसी सूत्र पर यह वार्त्तिक पढ़ा जाता तब तो केवल षत्व का निषेध हो जाने पर भी ['सोऽपदादौ' इस] पूर्व सूत्र से 'स' होने लगता । (इस लिये पूर्ववर्त्ती सूत्र में पाठ और उत्तरसूत्र में अनुवृत्ति करके दोनों का निषेध सिद्ध होता है ।) ॥

इणः षः । [अपदादि कवर्ग, पवर्ग परे रहते इण् से उत्तरवर्त्ती विसर्ग का 'ष' होता है । मनो०] यह पूर्ववर्त्ती 'सोऽपदादौ' का अपवाद है । यह पूरा सूत्र और 'सोऽपदादौ' इस का 'सः' ये दोनों अगले सूत्र में अनुवृत्त होते हैं । इस लिये जहाँ तक सम्भव होता है इण् से परे विसर्ग का 'ष्' और इससे भिन्न विसर्ग का 'स्' होता है– यह विवेक करना चाहिये ।

[नमः पुरसोर्गत्योः । गतिसंज्ञक 'नमः' और 'पुरस्' के विसर्ग का 'स्' होता है कवर्ग, पवर्ग परे रहते । गतिसंज्ञक न होने से यहाँ 'स्' नहीं होता है मनो०] पुरः प्रवेष्टव्याः । 'पॄ' धातु पालन और पूरण अर्थ में है, इस धातु से 'भ्राज-भास०' आदि सूत्र क्विप् करता है । [उसका सर्वापहारी लोप हो जाता है । ॠ का उ और रपर करने पर पुर् बना है । यह यौगिक है अव्यय नहीं है ।] इस क्विप् प्रत्ययान्त से जस् [होकर 'पुरस्' बना है ।] जस् प्रत्ययान्तता को स्पष्ट करने के लिये ही यहाँ 'पूः, पुरौ, पुरः (ये तीन वचनों के रूप और विशेषण क्रिया) प्रवेष्टव्याः' लिखा है ॥

इदुदुपधस्य । [मनो०] 'इ' अथवा 'उ' है उपधा में जिस समुदाय के उसका

तस्यावयवो यो विसर्जनीय इति वैयधिकरण्येन सम्बन्धः । "अप्रत्ययस्य" इति तु 'अप्रत्यया यो विसर्गं' इति सम्बद्ध्यते। सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्यस्यान्याय्यत्वात् । न च विसर्गस्य प्रत्ययत्वमप्रसिद्धमिति वाच्यम्, अग्निः करोतीत्यादौ स्थानिवद्भावेन तत्प्रसिद्धेः । न चातिदेशं प्रति त्रिपाद्या असिद्धत्वं शङ्क्यम्, "अप्रत्ययस्य" इति निषेधेनैव सिद्धत्वज्ञापनात् ।

समुदायस्येति । "अलोऽन्त्यात्—" (पा० सू० १।१।६५) इति सूत्रे अवयववाचकान्त्यशब्देन समुदायस्याक्षेपेण उपधात्वस्य समुदायनिरूपितत्वादिति भावः। इदुदुपधस्य विसर्गान्तस्य पदस्येति सामानाधिकरण्येनान्वयः । षत्वं तु "अलोन्त्यस्य" (पा० सू० १।१।५२) इत्यनेन विसर्गस्येत्यन्ये । व्याख्यादर्शोक्तरीत्याऽऽह—**अप्रत्ययो य इति** । **तत्प्रसिद्धे**रिति। विसर्गस्य प्रत्ययत्वप्रसिद्धेरित्यर्थः ।

इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य । नन्वत्र बहुव्रीहिसमासेऽन्यपदार्थत्वेन विसर्गस्यैवोपस्थितत्वात् कथं समुदायस्य लाभ अत आह शब्दरत्ने—**अलोऽन्त्यादिति** । एवञ्च

अवयव जो विसर्ग (उसका 'ष्' होता है—) इस प्रकार वैयधिकरण्येन अन्वय है। [शब्द०] 'अलोऽन्त्यस्य' इस सूत्र में अवयव-वाचक 'अन्त्य' शब्द से समुदाय का आक्षेप होता है अतः उपधात्व=उपधासंज्ञा समुदाय-निरूपित है [अर्थात् समुदाय को मानकर है,] यह भाव है। [अतः विसर्ग की अपेक्षा भी समुदाय की उपस्थिति पहले रहती है क्योंकि पदार्थबोधकाल में ऐसा ही उचित है इसी कारण मनोरमा में समुदाय को अन्यपदार्थ कहा गया है ।] इकारोपध, उकारोपध विसर्गान्त पद का जो विसर्ग उसका 'ष्' होता है—इस प्रकार से सामानाधिकरण्य से अन्वय होता है। परन्तु षत्व तो 'अलोऽन्यस्य' इस सूत्र के आधार पर अन्त्य=विसर्ग का ही होता है—ऐसा दूसरे लोग कहते है। व्याख्यादर्शोक्त रीति से कहते हैं—[मनो०] 'अप्रत्ययस्य' यह तो 'अप्रत्यय जो विसर्ग उसका ['ष्' होता है]—इस प्रकार से अन्वित होता है, कारण यह है कि सामानाधिकरण्य सम्भव रहने पर वैयधिकरण्य मानना ठीक नहीं है। विसर्ग का प्रत्यय होना प्रसिद्ध नहीं है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'अग्निः करोति' आदि में स्थानिवद्भाव से वह प्रसिद्ध=[शब्द०] विसर्ग का प्रत्यय होना प्रसिद्ध है—यह अर्थ है। [[मनो०] स्थानिवद्भावातिदेश के प्रति त्रिपादी [=प्रस्तुत सूत्र] असिद्ध हो जाती है—ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि 'अप्रत्ययस्य' यह निषेध करना ही त्रिपादी की सिद्धता को ज्ञापित करता है। [क्योंकि यदि स्थानिवद्भावातिदेश की दृष्टि से त्रिपादी असिद्ध रहता तो 'षत्व' की प्राप्ति ही नहीं होती, पुनः उसके निषेध के लिये 'अप्रत्ययस्य'

अत एवाग्निरित्यादौ रोर्विसर्गः सिद्ध्यति । अन्यथाऽपदान्तत्वान्न स्यात् । विसर्गविधिस्तु पुनरित्यादौ चरितार्थः ।

न स्यार्दित । रोरसुप्त्वेन पदत्वाप्रवृत्तेरिति भावः ।

चरितार्थ इति । ननु तत्रापि पुनर् स् इत्यवस्थायां जातपदत्वस्यातिदेशेनैव सुलोपे कृते आनयनमिति को विशेषः । न चैकदेशविकृतन्यायेन सिद्धिः, अग्निरित्यत्रापि समत्वात् । न चाग्निरित्यत्रादेशस्यातिदेशलभ्यकार्यस्य चासिद्धत्वमत्र तल्लभ्यकार्यस्यैवेति विशेष इति वाच्यम्, सर्वथा अतिदेशापेक्षणेन तस्याकिञ्चित्करत्वात् । किञ्च—रुत्वासिद्धत्वेनाग्निरित्यत्र पदत्वं

विसर्गापेक्षया समुदायस्य शीघ्रोपस्थितिकत्वेन पदार्थोपस्थितिकाले तस्यैवान्यपदार्थत्वं कल्पनीयमिति भावः ।

आक्षेपणेति । स्वघटकत्व-स्वघटकवर्णप्रागभावानधिकरणक्षणवृत्त्युत्पत्तिमत्त्व-

---

इसके लिखने की आवश्यकता क्या थी । वही व्यर्थ होकर त्रिपादी की सिद्धता ज्ञापित करता है ।] इसी कारण 'अग्निः' आदि में रु का विसर्ग होता है । अन्यथा [यदि स्थानिवद्भावातिदेश नहीं मानते हो तो] पदान्त न होने से विसर्ग नहीं हो पाता (क्योंकि अग्निसु का पदान्तत्व अग्निरु में स्थानिवद्भाव से ही सम्भव है ।) [**शब्द०**] 'रु' तो सुप् नहीं है अतः ('अग्नि रु' यह सुबन्त न होने से) पदसंज्ञा की प्रवृत्ति नहीं होगी । (पदान्त रेफ न होने से विसर्ग सम्भव नहीं होगा ।) [**मनो०**] 'खरवसानयोः" यह विसर्गविधि तो 'पुनर्' के रेफ का विसर्ग करने में चरितार्थ हो चुकी है ।

[**शब्द०**] वहाँ 'पुनः' में भी 'पुनर्+स् इस अवस्था में की गयी पदसंज्ञा को सुलोप कर देने पर अतिदेश (स्थानिवद्भाव) के द्वारा ही लाया जाता है, इस कारण (दोनों में) क्या भेद है ? 'पुनः' यहाँ 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस परिभाषा से निर्वाह (सिद्धि) हो जाता है—यह नहीं कहना चाहिये क्योंकि 'अग्निः' यहाँ भी समान स्थिति है । (दोनों में कोई अन्तर नहीं है दोनों में उक्त परिभाषा से निर्वाह हो जाता है ।) 'अग्निः' यहाँ (रुत्व) आदेश और परम्परया अतिदेशलभ्य कार्य=विसर्ग (ये दो) असिद्ध होते हैं और 'पुनः' में केवल अतिदेशलभ्य कार्य अकेला असिद्ध होता है—यह अन्तर है—ऐसा नहीं जा सकता क्योंकि हर अवस्था में (कम या अधिक रूप में) अतिदेश की अपेक्षा होने से वह (एक बार या दो बार अतिदेश) कोई महत्त्व नहीं रखता है । और भी, (पदसंज्ञाप्रयोजक शास्त्र की दृष्टि से) रुत्व के असिद्ध होने से 'अग्निः' यहाँ पदसंज्ञा सुलभ है । ('सुप्तिङन्तम्' १।४।१४ है और 'ससजुषोः रुः' ८।२।६६ है । अतः पदसंज्ञा की दृष्टि में रुत्व असिद्ध होने से 'अग्नि स्' यही रहता है ।) और भी, विसर्ग के

सुलभम्।

किञ्च—विसर्गस्थान्यल्रूपरेफवृत्तिप्रत्ययत्वस्य स्थान्यल्धर्मत्वेन तदतिदेशाप्रवृत्तिरिति प्रत्ययरूपो विसर्गो दुर्लभः। स्पष्टा चेयं रीतिः "भोभगो-" (पा० सू० ८।३।१७) इति सूत्रे भाष्ये।

कत्वैतदुभयसम्बन्धेन समुदायविशिष्टत्वस्यान्यपदार्थतया तस्य समुदायांशे नित्यसांकाङ्क्षत्वेन समुदायस्याक्षेपः। **उपधात्वस्य**=उपधासंज्ञाया इत्यर्थः। ननु 'इदुदुधस्य' इत्यत्र वैयधिकरण्यमिव 'अप्रत्ययस्य' इत्यत्रापि स्यादित्यत आह मूले—**सम्भवति सामानेति**। **विसर्गस्य**=तन्मात्रस्येत्यर्थः। मूलासंगतिं ध्वनयितुमाह शब्दरत्ने—**इदुदुपधस्येति**। विसर्गपदस्य तदन्तविधिना इकारोकारोपधसमुदाये सामानाधिकरण्येनान्वयः, सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैयधिकरण्येनान्वयस्यानुचितत्वादिति भावः। **असुप्त्वेनेति**। पदसंज्ञाविधायके सुप एव ग्रहणात्। **तस्य**=तादृशलाघवस्य। **अकिंचित्करत्वादिति**। अयं भावः—'अग्निः' इत्यत्र 'पुनः' इत्यत्र चोभयत्र स्थानिवद्भावापेक्षायास्तुल्यत्वेपि पूर्वोदाहरणे स्थानिवत्सूत्रोद्देश्यस्य रुत्वरूपादेशस्यैवासिद्धतया उद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तिरेव नास्ति इति तत्सूत्रस्य प्रवृत्तिरेव न सम्भवति; 'पुनः' इत्यत्र तु सुपोऽव्ययाद् विहितत्वेन 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुकि लुग्रूपादेशस्य सिद्धतयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तिरस्ति इति तत्सूत्रस्य प्रवृत्तिसम्भव इति नातिदेशापेक्षणमात्रेणाकिञ्चित्करत्वं वक्तुं शक्यते—इत्यरुचेराह—**किञ्चेति**। **सुलभमिति**। अग्निस्—इत्यवस्थायां रुत्वे जातेऽपि 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति पदसंज्ञादृष्ट्या रुत्वस्यासिद्धत्वेन सुबुद्धेरेव सत्त्वाद् तत्प्रवृत्तेः सुलभतया पदत्वं सुलभमिति भावः।

नन्वत्र रुत्वस्यासिद्धत्वम् 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' इत्यभिप्रायेण 'यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम्' इत्यभिप्रायेण वा? नाद्यः, तत्पक्षे, संज्ञाशास्त्रस्य विधिदेशे एव सकलवाक्यार्थतया विधिदेशीयत्वेन विसर्गशास्त्रैकवाक्यतापन्न-पदसंज्ञाविधायकशास्त्रस्य रुत्वविधायकशास्त्रैकवाक्यतापन्न 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति शास्त्रस्यपूर्वपदेन ग्रहीतुमशक्यतया रुत्वासिद्धत्वात्। न द्वितीयः, तत्पक्षे पूर्वं जातपदसंज्ञयैव कार्यसिद्धे रुत्वासिद्धत्वेन पदत्वसुलभत्वोक्तेरसङ्गतत्वमित्यरुचेराह—**किञ्चेति**। अनेन स्थानिवत्सूत्रदृष्ट्या त्रिपाद्या नासिद्धत्वम्—इत्यत्र 'अप्रत्ययस्य' इत्यस्य ज्ञापकत्वं खण्डयति।

स्थानी अल्रूप रेफमात्र में वृत्ति (रहने वाला) प्रत्ययत्व स्थानी अल् का धर्म हो जाता है, इस लिये ('अनल्विधौ' इस निषेध के कारण) उस स्थानिवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होती है, इस कारण प्रत्ययरूप विसर्ग मिलना कठिन है। यह रीति 'भोभगोअघो' इस सूत्र पर भाष्य में स्पष्ट की गयी है।

किं चैवं सामानाधिकरण्ये "असोः" इति वक्तव्येऽप्रत्ययग्रहणं व्यर्थं स्यात्। किं चैवं "नित्यं समासे–" (पा० सू० ८।३।४५) इति सूत्रे "अनुत्तरपद-स्थस्य" इत्यस्य वैयर्थ्यम्, परमसर्पिःकुण्डिकेत्यादावनेन षत्वस्य दुर्वारत्वात्।

'भोभगो अघो—' इति सूत्रस्थभाष्योक्त्या अल्त्वव्याप्य-धर्मावच्छिन्न-स्थानिता-समानाधिकरणधर्मनिमित्तके कार्ये न स्थानिवत्'—इति 'अनल्विधौ' इत्यस्यार्थस्वीकारे प्रकृते विसर्गस्य रेफरूपाल्मात्रस्थानिकादेशतया अल्त्वव्याप्यो धर्मो रत्वं, तदवच्छिन्ना स्थानिता रेफे, तत्समानाधिकरणो धर्मः प्रत्ययत्वं, तन्निमित्तके षत्वपर्युदासे कर्तव्ये तन्निषेधेन स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तिरिति तदाशयः।

वस्तुतस्तु 'अनल्विधौ' इत्यस्य अल्त्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानितासमानाधिकरण-धर्मेण साक्षादवच्छिन्ना या स्थानिता तादृशोद्देश्यताके कार्ये कर्तव्ये स्थानिवन्नेत्यर्थस्य हल्ङ्याादिसूत्रभाष्यवार्त्तिकप्रामाण्येनावश्याङ्गीकार्यत्वस्य स्थानिवत्सूत्रव्याख्यानप्रसङ्गे उक्ततया प्रकृते षत्वस्य साक्षात् प्रत्ययत्वधर्मावच्छिन्नोद्देश्यकत्वाभावेन निषेधा-प्रवृत्तिरिति स्थानिवत्त्वेन रेफवृत्तिप्रत्ययत्वस्य विसर्गे सुलभतया प्रत्ययरूपविसर्गः सुलभ इत्यरुचेराह—**किञ्चेति**। **सामानाधिकरण्ये**=प्रत्ययभिन्नो यो विसर्गस्तस्य विसर्गस्य षत्वमिति व्याख्यादर्शोक्तरीत्याऽन्वये इत्यर्थः। **व्यर्थं स्यादिति**। प्रत्ययरूपस्य विसर्गस्य सुस्थानिकस्यैव संभवेन तस्य 'असोः' इत्युक्तेरेव वारण-सम्भवेन सामान्यस्य प्रत्ययग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तिरिति भावः।

ननु 'अत' धातोः कर्तरि क्विपि निष्पन्नाच्छब्देन षष्ठ्यन्तादश्शब्दस्य समासे 'षष्ठ्या आक्रोशे' इति षष्ठ्या अलुकि निष्पन्नात् 'अमुष्यात्' शब्दात् आचक्षाणणिचि टिलोपे 'अमुष्ययति' इति विग्रहे कर्त्तरि क्विपि निष्पन्नामुः शब्दघटिते 'अमुः करोती'त्यत्र

और भी, ऐसी रीति से सामानाधिकरण्य में 'असोः' ('सु का नहीं') यही कहना चाहिये था, 'अप्रत्ययस्य' का ग्रहण व्यर्थ हो जायगा। (क्योंकि 'प्रत्ययभिन्नो यो विसर्गस्तस्य षत्वम्' इस प्रकार की व्याख्यादर्शोक्त रीति से अन्वय में तो 'इदुदुप-धस्य च असोः' इसी से काम चल जाता है क्योंकि प्रत्ययरूप विसर्ग केवल 'सु' के स्थान पर ही संभव होता है। अतः 'अप्रत्यय' ग्रहण व्यर्थ होने लगेगा।)

और भी, ऐसा (उक्त रीति से सामानाधिकरण्य) मानने पर 'नित्यं समासेऽ-नुत्तर-पदस्थस्य' इस सूत्र में 'अनुत्तरपदस्थस्य' यह व्यर्थ होने लगेगा, क्योंकि 'परम-सर्पिः कुण्डिका' इत्यादि में प्रस्तुत सूत्र से षत्व का वारण कठिन होगा। [अव्युत्पत्तिपक्ष में 'सर्पिः' का विसर्ग प्रत्ययभिन्न है ही। व्युत्पत्तिपक्ष में भी यह प्रत्ययरूप नहीं है। तब 'परमसर्पिः कुण्डिका' में षत्व के वारण के लिये 'अनुत्तर-पदस्थस्य' का ग्रहण व्यर्थ है।]

किं चैवं "नित्यं समासे—" (पा० सू० ८।३।४५) इति सूत्रस्थ-भाष्यासङ्गतिः। तथा हि—"अथाव्युत्पन्नं प्रातिपदिकं सर्पिरादि ततो नित्ये प्राप्ते "इसुसोः सामर्थ्ये" (पा० सू० ८।३।४४) इति विभाषा आरभ्यत" इति तत्रोक्तम्। प्रत्ययत्वपर्याप्त्यधिकरणभिन्नस्येत्यर्थे तु व्युत्पत्ति-पक्षेऽपि नित्यषत्वप्राप्तेरथाव्युत्पन्नमित्यादेरसङ्गतिः स्पष्टैव। अत्र भाष्ये-ऽथेति यद्यर्थे। तेन सर्पिषा यजुषेत्यादौ षत्वसिद्धये व्युत्पत्तिपक्ष एव न त्वसाविति सूचितम्। तस्मादत्र प्रत्ययपदं तत्सम्बन्धिपरं प्रत्ययसम्बन्धि-

---

षत्ववारणाय 'अप्रत्ययस्य' इत्यावश्यकम्; 'असोः' इति न्यासे तु तन्निषेधो न स्यादत आह—**किञ्चैवं 'नित्यं समासे'** इति।

ननु 'अप्रत्ययस्य' इत्यस्य सामानाधिकरण्येनान्वय-वादिमते 'सर्पिष्कुण्डिका' इत्यादौ समासे व्युत्पत्तिपक्षे, अव्युत्पत्तिपक्षे च 'अप्रत्ययस्य' इति निषेधाप्राप्त्या 'इदुदुपधस्य' इत्यनेनैव नित्यषत्वसिद्धतया तदंशे 'नित्यं समासे' इत्यस्यानुवादकत्व-स्येष्टत्वेन उत्तरपदस्य विसर्गस्य षत्वनिषेधार्थमेव तस्यावश्यकत्वेन 'अनुत्तरपदस्थस्य' इत्यस्य सकलसूत्रस्य वा वैयर्थ्याभावोऽत आह—**किञ्चैवं 'नित्यं समासे' इति सूत्रस्थेति**। ननु 'प्रत्ययावयवेऽपि प्रत्ययत्वव्यवहारः' इति नियमेन व्युत्पत्तिपक्षे 'अप्रत्ययस्य' इति निषेधः प्राप्नोति, अव्युत्पत्तिपक्षे तु नेति भाष्याशयोऽत आह—**प्रत्ययत्वपर्याप्तीति**। प्रत्ययत्वप्रतियोगिकपर्याप्त्यनुयोगिकतावच्छेदकधर्मावच्छि-

---

और भी, ऐसा [सामानाधिकरण्येन अन्वय] मानने पर 'नित्य समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इस सूत्र के भाष्य की असंगति होने लगेगी। वह इस प्रकार है—"यदि 'सर्पिः' आदि अव्युत्पन्न प्रातिपादिक हैं तो उनसे (इदुदुपधस्य' से षत्व की) नित्य प्राप्ति रहने पर 'इसुसोः सामर्थ्ये' से विकल्प से विधान किया जा रहा है—"ऐसा वहाँ भाष्य में कहा गया है। 'प्रत्ययत्व के पर्याप्तिसम्बन्धेन अधिकरण (आधारभूत विसर्ग) से भिन्न विसर्ग का 'ष्' होता है'—इस अर्थ में तो व्युत्पत्तिपक्ष में भी नित्य षत्व की प्राप्ति है, अर्थात् दोनों ही पक्षों में नित्य षत्व की प्राप्ति होती है, इसलिये 'अथ अव्युत्पन्न-प्रातिपदिकम्' इत्यादि भाष्य की असंगति स्पष्ट है। यहाँ भाष्य में 'अथ' शब्द 'यदि' के अर्थ में है। इससे 'सर्पिषा, यजुषा' आदि में षत्व की सिद्धि के लिये व्युत्पत्तिपक्ष ही है न कि यह अव्युत्पत्तिपक्ष—ऐसा सूचित किया है। [इस भाष्य का यही निष्कर्ष है कि इसन्त और उसन्त में नित्य षत्व की प्राप्ति है। परन्तु सामानाधिकरण्येन अन्वयवादी के मत में भाष्याशय असंगत है।] इस [उक्तभाष्य-प्रामाण्य] से इस सूत्र में 'प्रत्यय' पद 'प्रत्ययसम्बन्धी' अर्थपरक है—प्रत्ययसम्बन्धी से भिन्न

ज्ञापकं च विशेषापेक्षम् । तेन "अचः परस्मिन्" (पा० सू० १।१।५७) इति त्रिपाद्यां न प्रवर्तते ।

भिन्नस्य विसर्गस्येत्यर्थ उचितः । अत एव कविभिः कृतमित्यादौ न दोषः । "नित्यं समासे—" (पा० सू० ८।३।४५) इति सूत्रस्थानुत्तरपदस्थस्येत्यस्य, कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिकाशब्दपाठस्य चैतदर्थज्ञापकतैवोचितेति चेत्, सत्यम्—व्याख्यादर्शानुसारेणैतद्ग्रन्थसत्त्वात्; तद् ध्वनयन्वक्ष्यति—नातीवादर्त्तव्यमिति ।

न्नानुयोगिताकपर्याप्तिप्रतियोगिभूतस्थानिताश्रयभिन्नविसर्गस्येत्यर्थ इति व्युत्पत्तिपक्षेऽपि 'सर्पिष्कुण्डिका' इत्यत्र विसर्गवृत्तिस्थानितायाः प्रत्ययत्वप्रतियोगिकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेकीभूत 'अस्' वृत्तिद्वित्वानवच्छिन्नतया निषेधाप्राप्त्या भाष्यविरोधो दुरुद्धर एवेति भाव—इत्युपाध्यायचरणाः । तस्मात्—उक्तभाष्यासङ्गतिरूपहेतोरित्यर्थः । सम्बन्धिपरमित्यस्याग्रे 'एवञ्चे'ति संयोज्यम् । अत एव—प्रत्ययावयवभिन्नस्येत्यर्थस्वीकारादेव । न दोष इति । षत्वापत्तिरूपदोषो नेति भावः । एतद्ग्रन्थेति । मनोरमायाः "अप्रत्ययस्य' इति तु" इत्यारभ्य "चरितार्थः" इति

विसर्ग का 'ष्' होता है, यही अर्थ उचित है, (अर्थात् प्रत्यय के अवयवमात्र से भिन्न जो विसर्ग है उसी का 'ष्' होता है ।) इसी लिये 'कविभिः कृतम्' इत्यादि में [षत्वापत्तिरूप] दोष नहीं है । 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इस सूत्र में स्थित 'अनुत्तरपदस्थस्य' इसका और 'कस्कादिगण में 'सर्पिष्कुण्डिका' शब्द के पाठ का इसी [प्रत्ययसम्बन्धिभिन्नस्य विसर्गस्य षत्वम्—] अर्थ में ज्ञापक होना ही उचित है, यदि ऐसा कहते हो, सच हैं, क्योंकि यह (पूर्वोक्त मनोरमा) ग्रन्थ व्याख्यादर्श में कही गयी रीति से है, इसी को ध्वनित करते हुए आगे कहेंगे—[हरदत्तद्वारा कहा गया) अधिक आदर के योग्य नही है । [इस लिये 'प्रत्यय' पद की प्रत्ययावयव में लक्षणा करके सामानाधिकरण्य से अन्वय करना ही उचित है । और 'प्रत्ययावयवस्य षत्वं न भवति' ऐसा प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही ठीक है । इसी लिये 'अग्निः करोति' इस प्रतिषेधात्मक कार्य की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव की प्रवृत्ति भी सुगम है ।]

[मनो० अतिदेश शास्त्र के प्रति त्रिपादी असिद्ध नहीं होती है—यह] ज्ञापक विशेष-सापेक्ष है । [अतः 'स्थानिवद्' इसी की दृष्टि में त्रिपादी असिद्ध नहीं होती है—अन्य की दृष्टि में असिद्ध ही रहती है] इस कारण "अचः परस्मिन्—' यह स्थानिवद्भावविधि त्रिपादी में नहीं प्रवृत्त होती है अर्थात् 'अचः परस्मिन्' के लिये तो त्रिपादी असिद्ध ही है ।

एवं च "पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्" इति सिद्धान्त उक्तयुक्तिमूलको न तु वाचनिक इति प्रपञ्चितं शब्दकौस्तुभेऽस्माभिः ।

न प्रवर्तत इति । अत एव तिरश्चेत्यादौ सस्य श्चुत्वसिद्धिः । एतच्चेष्टानुरोधेन संयोगादिलोपलत्वणत्वातिरिक्तविषयम् । तेन तत्र स्थानिवत्वं भवत्येवेति "तस्य दोष—" इत्याद्यपि न वाचनिकमिति भावः ।

पाठ इत्यर्थः । **अत एवेति** । 'अचः परस्मिन्' इत्यस्य त्रिपाद्यामप्रवृत्तेरेवेत्यर्थः । **एतच्चेति** । अयं च मूलीयप्रपञ्चितपदसूचितोऽर्थः ।

[**शब्द०**] इसी लिये 'तिरश्चा' इत्यादि में श्चुत्व की सिद्धि होती है । और यह [अतिदेश की त्रिपादी में प्रवृत्ति न होना] इष्ट के अनुरोध से ['संयोगादिलोप, लत्व तथा णत्व— इनके अतिरिक्त विषय में ही समझना चाहिये, अतः इनमें स्थानिवद्भाव होता ही है, इस कारण 'तस्य दोषः संयोगादिलोपलत्वणत्वेषु' इत्यादि को भी वचनरूपेण पढ़ने की आवश्यकता नहीं है, यह भाव है ।

[**मनो०**] और इस प्रकार [जब 'स्थानिवत्' इसकी प्रवृत्ति त्रिपादी में भी होती और 'अचः परस्मिन्' इसकी नहीं होती है—यह सिद्ध हो गया तो] 'पूर्वत्रासिद्धम्' के विषय में स्थानिवत् नहीं प्रवृत्त होता है'—यह सिद्धान्त [वचन] पूर्वोक्त युक्ति को मानकर ही बनाया गया है न कि वाचनिक [वचनरूपेण पठनीय] हैं, ऐसा हमने [भट्टोजि दीक्षित ने] शब्दकौस्तुभ में विस्तृतरूप से प्रतिपादित किया है ।

विमर्श—'तिरश्चा' आदि में श्चुत्व की सिद्धि होती है—इस शब्दरत्न का भाव यह है--'तिरः अञ्चति' इस विग्रह में क्विप् प्रत्ययादिप्रक्रिया के बाद तृतीया एकवचन में 'तिरस्+अञ्च्+टा=आ' यहाँ न्=ञ् के लोप के बाद 'अचः' ६।४।१३८ सूत्र से 'अ' का लोप होता । इसलिए 'तिरसस्तिर्यलोपे' इससे 'तिरि' आदेश नहीं होता है । अब 'तिरस्+च्+आ' यहाँ श्चुत्व करके 'श्' बनता है—'तिरश्चा' । यहाँ स्थानिभूत अच् से पूर्वत्वेन दृष्ट 'स्' का श्चुत्व करना है परन्तु नहीं होता है ? क्योंकि 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' इसकी प्रवृत्ति हो जाती है । क्योंकि त्रिपादीस्थ श्चुत्व की कर्तव्यता में सपादसप्ताध्यायीस्थ अलोप का स्थानिवद्भाव नहीं होता है । और तिरस् का 'स्' पदचरमावयव है उसकी श्चुत्वविधि करनी है । अतः 'न पदान्त०' से स्थानिवद्भाव का प्रतिषेध भी हो जाता है ।

अतः ज्ञापन को विशेष-सापेक्ष मानकर स्थानिवद्भाव और उसका प्रतिषेध लक्ष्यानुसार ही मानना चाहिये ।

नन्वेवं मातुः कार्यमित्यादौ षत्वं स्यादिति चेन्न,

मातुः कार्यमिति । सिद्धान्तव्याख्यानेऽप्यत्र दोषः । तथा हि—सकारसन्निधावकारो नैव प्रत्ययः, समुदायनिवेशितत्वात्प्रत्ययत्वस्येति तदादेशस्योरः प्रत्ययत्वाभावेन विसर्गस्य तत्सम्बन्धित्वाभावात् । यस्तूत्वे कृतेऽवशिष्टः सकारः प्रत्ययसञ्ज्ञकः, स लुप्त एव ।

न च "अन्तादिवच्च" (पा० सू० ६।१।८५) इत्यस्य पूर्वस्य परस्य समुदायस्यान्तादिभ्यां वर्णाभ्यां पृथगवस्थिताभ्यां ये व्यवहाराः प्रत्ययत्वादयस्ते एकादेशविशिष्टस्यापीत्यर्थादुर्सित्यत्र प्रत्ययत्वस्य सुलभतया एकदेशविकृतन्यायेनोरित्यस्य प्रत्ययतया न दोष इति वाच्यम्, त्रिपाद्या असिद्ध-

---

मूले—**नन्वेवमिति** । प्रत्ययभिन्नस्येति रीत्या सामानाधिकरण्येन व्याख्याने इत्यर्थः । **षत्वं स्यादिति** । विसर्गस्य प्रत्ययभिन्नत्वादित्यर्थः । शब्दरत्ने **तदादेशस्य**=अकारादेशस्य ।

[**मनो०**] शंका—ऐसा [सामानाधिकरण्येन अन्वय मानकर—प्रत्ययाभिन्न विसर्ग का 'ष्' होता है—ऐसी व्याख्या] मानने पर 'मातुः कार्यम् इत्यादि' में षत्व होने लगगा, [क्योंकि प्रत्ययरूप विसर्ग से भिन्न का षत्व होता है । इस पक्ष के अनुसार यहाँ प्रत्ययरूप विसर्ग नहीं है ।] [शब्द०] सिद्धान्तव्याख्यान [प्रत्यय की प्रत्ययावयव में लक्षणा करके प्रत्ययावयवभिन्न विसर्ग का 'ष्'-इस] में भी 'मातुः कार्यम्' में दोष है । वह इस प्रकार है—[अस् में] 'स्' के सन्निधान में केवल 'अ' प्रत्यय नहीं है क्योंकि प्रत्ययत्व तो पूरे 'अस्' इस समुदाय में रहने वाला है, इस कारण उस 'अ' के स्थान पर ['ऋत उत्' सूत्र से] होने वाला 'उर्' यह भी प्रत्यय नहीं हो सकता, इस कारण [रेफ के स्थान पर होने वाला] विसर्ग प्रत्यय का सम्बन्धी नहीं हो सकता । [इससे स्पष्ट है कि यहाँ विसर्ग न तो प्रत्ययरूप है और न प्रत्ययसम्बन्धी रूप किन्तु इससे भिन्न ही है । षत्व होना चाहिये ।] अकार का उकार करने पर शेष बचा हुआ जो 'स्' प्रत्ययसंज्ञक है उसका तो ['रात् सस्य" सूत्र से] लोप हो ही चुका है ।

यह कि 'अन्तादिवच्च' इस सूत्र का—पूर्व एवं पर समुदाय के पृथगवस्थित अन्त तथा आदि वर्णों से प्रत्ययत्व आदि जो व्यवहार होते हैं वे एकादेशविशिष्ट के भी होने चाहिए—यह अर्थ होने से 'उर्स्' इसमें प्रत्ययत्व सुलभ है [क्योंकि 'ऋत उत्' सूत्र मातृ+अस् में ऋ तथा अ दोनों का 'उ' एकादेश करता है और 'उरण् रपरः' से रपर होकर उर्स् बनता है । अतः "अस्" का प्रत्ययत्व 'उर्स्' में आ सकता है ।] इस लिये 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इस परिभाषा से 'उर्' यह भी प्रत्यय हो जाता है, इस कारण [षत्वापत्तिरूप] दोष नहीं है—ऐसा नहीं कहना चाहिए,

त्वेन तत्रान्तवत्त्वाप्रवृत्तेः ।

स्थानिवत्त्वेन तु न निर्वाहः, उपात्तस्य स्थानिनोऽकारस्य प्रत्ययत्वा-भावात् । प्रत्ययसम्बन्धित्वं तु न स्थानिवत्त्वलभ्यम्, अशास्त्रीयत्वात् । "सर्वे सर्वपदादेशा" इति न्यायेन मातृ असित्यस्य स्थानित्वेऽप्यसित्यस्य स्थानित्वा-लाभेनोर्सित्यस्य प्रत्ययत्वमलभ्यमिति । एतदेवाभिप्रेत्य प्रकृतसूत्रे "उरण् रपरः" (पा० सू० १।१।५१) इति सूत्रे च भाष्ये उक्तम् "इह कस्मान्न भवति—पितुः करोति, "अप्रत्ययस्य" इति षत्वं प्राप्नोति, अप्रत्ययविसर्ज-नीयस्येत्युच्यते, प्रत्ययविसर्जनीयश्चायं, लुप्यतेऽत्र प्रत्ययविसर्जनीयो "रात्सस्य" (पा० सू० ८।२।२४) इति । लुप्यतेऽत्रेत्यादेरयमर्थः— प्रत्यय-विसर्जनीयत्वेन यस्तवाभिमतः स लुप्यते=न दृश्यते, स्थानिनः प्रत्ययस्यैव

क्योंकि 'अन्तवद्भाव' की कर्तव्यता में त्रिपादी के असिद्ध हो जाने से उसमें अन्त-वद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होगी ।

स्थानिवद्भाव से [प्रत्ययत्व का] निर्वाह नहीं होता है, क्योंकि उपात्त स्थानी अकार प्रत्यय नहीं है । [अपि तु 'अस्' इतना प्रत्यय है । यह कि 'अ' प्रत्यय भले न हो किन्तु 'अस्' प्रत्यय का सम्बन्धी=अवयव तो है ही, ऐसा भी कहने से कोई लाभ नहीं है क्योंकि] प्रत्ययसम्बन्धित्व का लाभ तो स्थानिवद्भाव से नहीं हो सकता क्योंकि यह [प्रत्यय-सम्बन्धित्व] शास्त्रीय धर्म नहीं है । [और अशास्त्रीय धर्म का अतिदेश नहीं होता है ।] 'सभी आदेश सम्पूर्ण पद के स्थान पर ही होते हैं, अवयवों के स्थान पर नहीं' इस [भाष्योक्त] न्याय द्वारा 'मातृ+अस्' इसके स्थानी बन जाने पर भी केवल 'अस्' इतना तो स्थानी नहीं बन सकता, इस कारण 'उस्'' इतना प्रत्यय नही माना जा सकता । [भाव यह है कि 'मातुः' इस का स्थानी 'मातृ+अस्' इतना है न कि केवल 'अस्', अतः प्रत्ययत्व का अतिदेश नहीं हो सकता ।] उपर्युक्त आशय को मानकर ही प्रस्तुत सूत्र में और 'उरण् रपरः' इस सूत्र के भाष्य में यह कहा गया है—"पितुः करोति—इसमें ["इदु-दुपधस्य०' सूत्र से षत्व] क्यों नहीं होता है ? क्योंकि 'अप्रत्ययस्य' इसके द्वारा षत्व की प्राप्ति होती है । 'अप्रत्ययविसर्ग का' ष होता है—यह कहा गया है । और यह तो प्रत्यय विसर्ग है । [अतः षत्व कैसे होगा ?] यहाँ 'रात् सस्य' इस सूत्र से प्रत्यय विसर्ग का लोप हो जाता है । इस भाष्य में 'लुप्त हो जाता है' इत्यादि का यह अर्थ है—प्रत्ययविसर्गरूप से जो [विसर्ग] तुम्हारा अभिमत है, वह लुप्त हो जाता है=नहीं दिखाई देता है, क्योंकि स्थानी प्रत्यय 'स्' का ही

कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्र-शब्दस्य पाठेन ङसिङसोः अत उकारात्परस्य षत्वं नेति ज्ञापनात् ।

लोपादिति बोध्यम् । **ज्ञापनादिति** । त्रिपाद्यामप्यन्तवत्त्वप्रवृत्तिज्ञापनद्वारेति भावः । अत एवामी, क्षीरपेणेत्यादौ मीत्वणत्वे सिद्धचतः । अत्रैकारस्याद-स्सम्बन्धित्वं पे इत्यस्यैकाजुत्तरपदत्वं चान्तवद्भावाधीनमिति बोद्धयम् ।

'सर्वे सर्वपदादेशाः' इतिन्यायानुसारिणामाशङ्कां निराकर्तुमाह—न च **'अन्तादिवच्चे'** ति । **प्रत्ययत्वस्येति** । तदवयवसस्य प्रत्ययतया तदादेशस्य विसर्गस्य तत्त्वसत्त्वेनेति भावः । **न दोष** इति । विसर्गस्य प्रत्ययावयवत्वान्न षत्वापत्तिरित्यर्थः । **तत्रेति** । कर्तव्ये इति शेषः । **यः**=विसर्जनीयः । प्रत्ययस्यैव=सस्यैव । **ज्ञापनद्वारेति** । एतेन मुख्यं ज्ञाप्यमिदमेव, षत्वाभावस्त्वार्थिक इति मूलोक्तज्ञापनादित्यस्यार्थिकार्थबोधनादित्यर्थः सूचितः । एवञ्च 'उर्' इत्यस्य प्रत्ययतया तत्सम्बन्धित्वेन तद्भेदाभावेनान्यत्र षत्वाभावः, स्वस्मिन् चारितार्थ्यं च युक्तमेवेति भावः । **अत एवेति** । त्रिपाद्यामन्तादिवद्भावस्य प्रवृत्तिस्वीरादेव । **अत्र**=उभयत्र । **अनेनेति** । 'अतीवे' ति कथनेन, लक्षणया सामानाधिकरण्यस्यैवेत्यर्थः । **मूले**=सिद्धान्तकौमुद्यामित्यर्थः । **दिगिति** । दिगर्थस्तु पञ्चम्यन्तपाठो भाष्यसम्मत एवोचितः ॥

लोप होता; ऐसा समझना चाहिये । [इस भाष्यकथन से यह स्पष्ट है कि 'भातुः' पितुः' आदि का विसर्ग प्रत्ययविसर्ग नहीं है, उससे भिन्न है, अतः षत्व प्राप्त होता है । उसका वारण ज्ञापन के द्वारा करना चाहिये ।]

समाधान—[यहाँ तक षत्वापत्ति दोप स्थिर हो चुका । अब समाधान करते हैं—**मनो०**] 'कस्कादिगण में 'भ्रातुष्पुत्र' शब्द के पाठ से यह ज्ञापित होता है—ङसि तथा ङस् के अकार के स्थान पर होने वाले उकार के बाद वाले विसर्ग का 'ष्' नहीं होता है । [**शब्द०**] त्रिपादी में भी अन्तवद्भाव की प्रवृत्ति के ज्ञापनद्वारा उपर्युक्त ज्ञापन होता है—यह भाव है । [रहस्य यही है कि त्रिपादी में भी अन्तवद्भाव अतिदेश होता है । षत्व नहीं होता है—यह यो फलितार्थकथन समझना चाहिये । त्रिपादी में भी अन्तादिवद्भाव की प्रवृत्ति होती है ।] इसी लिये 'अमी' तथा 'क्षीरपेण' आदि में मीत्व तथा णत्व सिद्ध रहते हैं । इनमें 'ए' का अदस्सम्बन्धी होना तथा 'पे' इसका एकाजुत्तरपद होना अन्तवद्भाव के अधीन है, यह समझना चाहिये ।

[भाव यह है कि अदस् + जस् = अद + ई = अदे यहाँ 'ए' रूप एकादेश में पूर्वान्तवद्भाव से ही अदस्सम्बंधित्व आता है, तभी 'एत ईद् बहुवचने' इससे ईत्व

एवं च 'अप्रत्ययस्य' इत्येतदपि व्यधिकरणमेवेति हरदत्तेनोक्तं नातीवादर्तव्यम् ।

व्यधिकरणमेवेति । प्रत्ययस्य सम्बन्धी यो विसर्गस्तस्य नेत्यर्थं इति तद्भावः अगत्या च वाक्यभेदाऽसमर्थसमासवैयधिकरण्यान्वयरूपदोषत्रयसहनमिति तदभिमानः । नातीवेति । वैयधिकरण्यान्वयफलस्य कविभिः कृतमित्यादेः प्रत्ययसम्बन्धिभिन्नस्य विसर्गस्येत्येवं लक्षणया सामानाधिकरण्येनापि संग्रहसम्भवादिति भावः । व्याख्यादर्शोक्तसामानाधिकरण्ये तु

मत्वादि कार्य होते हैं । इसी प्रकार क्षीर पिवति—इस विग्रह में निष्पन्न 'क्षीरप' से टा=इन=क्षीरप=क्षीरपेण बनता है । यहाँ 'पे' इसमें 'पूर्वान्तवद्भाव द्वारा ही एकाजुत्तरपदत्व उपपन्न होने से णत्व हो पाता है । इसी प्रकार मातृ+अस्=मातुर्स् यहाँ परादिवद्भाव से 'उर्स्' में प्रत्ययत्व सम्भव है । इसलिये 'स्' लोप कर देने पर भी 'उर्' इसमें स्थानिवद्भाव से प्रत्ययत्व है । इसी का आदेशभूत विसर्गान्त 'उः' भी प्रत्यय है । इस प्रकार यह विसर्ग प्रत्ययावयव ही है, इसके लिये अतिदेश की आवश्यकता नहीं है]

[**मनो०**] और इस प्रकार [कस्कादिगण में पठित 'भ्रातुष्पुत्र' में विहित षत्व से अन्यत्र षत्व नहीं होता है—ऐसा ज्ञापन होने पर] 'अप्रत्ययस्य' यह भी व्यधिकरण ही है—यह पदमजरीकार हरदत्त का कथन अधिक आदरयोग्य नही है । [**शब्द०**] प्रत्यय का सम्बन्धी जो विसर्ग उसका 'ष्' नहीं होता है [यह व्यधिकरणान्वय में] अर्थ है, यह उसका भाव है । और [कविभिः कृतम् इत्यादि में षत्ववारण की] कोई गति=उपाय न होने से (१) वाक्यभेद, (२) असमर्थ-समास तथा (३) वैयधिकरण्येन अन्वय—इन तीन दोषों को सहन करना पड़ता है—यह [मनोरमाकार का] अभिमान है । [भाव यह है कि लक्षणा द्वारा प्रत्यय पद 'प्रत्ययसम्बन्धी' का बोधक हो जाता है इसलिये लक्षणाश्रयणरूप एक पददोष मानने में लाघव है । अन्यथा पूर्वोक्त तीन वाक्यदोष आते हैं । अतः जब लाघव से निर्वाह सम्भव है तब 'गत्यन्तराभावात् दोषत्रयसहनम्' यह कहना उचित नहीं है ।] व्यधिकरण है—आदि हरदत्त का मत अधिक आदरयोग्य नहीं है क्योंकि वैयधिकरण्येन अन्वय के फल 'कविभिः कृतम्' इत्यादि का संग्रह तो—'प्रत्ययसम्बन्धी से भिन्न विसर्ग का 'षत्व' होता है—इस प्रकार लक्षणा करके सामानाधिकरण्येन भी सम्भव हो जाता है, यह भाव है ।] [और पर्युदास नञ् मान लेने पर वाक्यभेद आदि तीन दोष भी मानने नही पड़ते हैं । व्याख्यादर्श में बतायी गयी रीति से सामानाधिकरण्य में तो लेशमात्र भी उस [हरदत्तोक्त व्यधिकरणान्वय] का आदर

मातुरिति। अत्र हि "ऋत उत्" (पा० सू० ६।१।१११) इत्येकादेशशास्त्रं विसर्गं प्रति परम्परया प्रयोजकम्। आकरे तु "एकादेशशास्त्रनिमित्तात्" इति प्रचुरः पाठः। तत्र एकादेशशास्त्रं निमित्तं यस्य उकारस्य तस्मादित्यर्थः॥

लेशतोऽपि तदादराभावादतीवेत्यसङ्गतमेव स्यादिति। अनेनोक्तव्याख्याया एव स्वाभिमतत्वं सूचितवानित्यलम्।

परम्परयेति। एकादेशशास्त्रसम्पन्नरेफस्थानिकत्वेन विसर्गस्यैकादेशशास्त्रनिमित्तकत्वमितिभावः। प्रचुरः पाठः इति। ओषधीस्कृधीत्यादौ शसैकादेशे "कः करत्करतिकृधि—" (पा० सू० ८।३।५०) इति षत्वनिवृत्तिश्च

नहीं होता है, इसलिये 'अतीव' यह [मनोरमा का कथन] असंगत होने लगेगा। ['नातीवादर्तव्यम्'] इस कथन से उक्त व्याख्या=लक्षणा द्वारा सामानधिकरण्येन अन्वय का स्वाभिमत होना [दीक्षित ने] सूचित किया है, विस्तार अनावश्यक है।

विमर्श—शब्दरत्नकार का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि यद्यपि मनोरमाकार ने व्याख्यादर्शोक्त रीति से सामानाधिकरण्य की स्पष्ट चर्चा की है परन्तु यदि इनको यह सामानाधिकरण्य स्वीकृत होता तो हरदत्तोक्त वैयधिकरण्य का स्पष्ट खण्डन कर देते। परन्तु ऐसा न करके 'नातीवादर्तव्यम्' इतना ही कहा है। इससे यह ध्वनित होता है कि दीक्षित को उक्त दोनों मत अभीष्ट नहीं हैं। इस स्थिति में 'प्रत्यय' पद की 'प्रत्ययावयव' में लक्षणा करके सामानाधिकरण्येन अन्वय ही उनका अपना मत प्रतीत होता है।

[मनो० एकादेशशास्त्रनिमित्तक विसर्ग का 'ष्' नहीं होता है क्योंकि कस्कादिगण में 'भ्रातुष्पुत्र' शब्द का पाठ है। इसलिये यहाँ ष नहीं होता है—] मातुः कृपा। मातृ+ङस्=अस् यहाँ 'ऋत उत्' यह एकादेशविधायक शास्त्र विसर्ग के विधान में परम्परया प्रयोजक होता है। [शब्द०] एकादेशशास्त्र के कारण होने वाले रेफ के स्थान पर होने वाले विसर्ग के प्रति एकादेश शास्त्र निमित्त हो जाता है, यह भाव है। [मनो०] महाभाष्य में तो 'एकादेशशास्त्रनिमित्त से' [परे विसर्ग का 'ष' नहीं होता है] ऐसा प्रचुर पाठ मिलता है। वहाँ 'एकादेशशास्त्र है निमित्त जिसका ऐसे उकार से परे' [विसर्ग का ष नहीं होता है, यह बहुव्रीहि मानकर] ऐसा अर्थ होता है। [शब्द०] प्रचुर पाठ है [अर्थात् 'इदुदुपधस्य' तथा 'उरण् रपरः' सूत्रभाष्य में अनेक स्थलों पर 'एकादेशशास्त्रनिमित्तात्' ऐसा पाठ है] 'ओषधीस्कृधि' इत्यादिमें [ओषधी+शस् में] शस्=अस् में ई के साथ पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश [तथा रुत्व, विसर्ग करने पर ओषधीः इस] में 'कः करत्करतिकृधि०'

तत्फलमुक्तम् ।

मूले तु तस्य फलस्य च्छान्दसत्वात् "छन्दसि वाऽप्र" (पा० सू० ८।३।४९) इत्यतः "इणः षः" (पा० सू० ८।३।३९) इत्यस्य निवृत्त्याऽदोषाच्च षष्ठ्यन्तमेव पठितमिति दिक् ॥

इत्यादि सूत्र से प्राप्त षत्व की निवृत्ति इस [भाष्यवचन] का फल कहा गया है।

[भाव यह है कि 'कः करत्' आदि सूत्र में 'इणः षः' तथा 'सः' इनका सम्बन्ध होता है। 'कः करत्' आदि शब्द परे रहते 'अदिति' से भिन्न शब्द के विसर्ग का 'इण्' से परे होने पर 'ष' अन्यथा 'स' होता है—यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार 'कस्कादिषु च' में होता है। अतः कौमुदी का कथन असंगत नहीं है।]

मूल [कौमुदी] में उस [पञ्चम्यन्त पाठ] का फल वेदसम्बन्धी है। इसलिये और 'छन्दसि वाऽप्राम्रे डितयोः' इस सूत्र से 'इणः षः' इसकी निवृत्ति हो जाती है, इसलिये [षत्वापत्ति] दोष नहीं है, इस कारण [एकादेशशा· मित्तकस्य—ऐसा] षष्ठ्यन्त ही पढ़ दिया, यह दिग्दर्शन है।

विमर्श—भाष्य में 'एकादेशशास्त्रनिमित्तात्' यह पञ्चम्यन्त पाठ है और सिद्धान्तकौमुदी में 'एकादेशशास्त्रनिमित्तकस्य' यह षष्ठ्यन्त पाठ है। इसकी संगति कैसे होती है? भाष्य में पञ्चम्यन्त पाठ का फल 'औषधीस्कुधि' में 'कः करत्' सूत्र से प्राप्त षत्व का वारण करना है। इसका उपपादन ऊपर किया जा चुका है। शब्दरत्नकार के मत में 'कस्कादिषु' इस सूत्र के समान 'कः करत्' सूत्र भी 'ष्' तथा 'स्' दोनों आदेश करता है। यहाँ भाष्यवचन से षत्व का वारण करने के बाद 'विसर्जनीयस्य सः' से 'स्' होकर उक्त रूप बनता है। परन्तु शब्दरत्नकार के इस कथन से 'कः करत्' इस सूत्र की सिद्धान्तकौमुदी की वृत्ति से विरोध होता है क्योंकि उसमें केवल 'स्' होना लिखा है।

इसका समाधान यह है कि उक्त सूत्र का सत्वविधान और षत्वाभावविधान रूप फल वैदिक प्रयोगों के लिये हैं। यहाँ 'छन्दसि वाऽप्र०' सूत्र से ही 'इणः षः' की निवृत्ति हो जाने के कारण केवल 'स' का विधान लिखा गया है। उस सत्व का का निषेध प्रस्तुत भाष्यवचन से होता है। इसके बाद 'विसर्जनीयस्य सः' से विसर्ग का 'स्' हो जाता है।

'एकादेश शास्त्र है निमित्त जिस विसर्ग का उसका 'स' नहीं होता' यह षष्ठ्यन्त का अर्थ उपपन्न हो जाता है। एकादेश शास्त्र है निमित्त जिसका ऐसे उकार से परे विसर्ग का 'स्' नहीं होता है—यह पञ्चम्यन्त पाठ भी उपपन्न हो जाता है। वास्तव में पञ्चम्यन्त पाठ ही उचित है। सिद्धान्तकौमुदी की वृत्ति प्राचीन काशिका आदि वृत्तिग्रन्थ पर आधृत समझनी चाहिये।

मुहुः कामेति । इह "कुप्वोः ≍क≍पौ" (पा० सू० ८।३।३७) इति प्रवर्तते । वृत्तौ मुहुस्कामेति सकारः क्वचित् पठ्यते, तत्प्रामादिकमिति हरदत्तः ।

"द्विस्त्रिश्चतुरिति" (पा० सू० ८।३।४३) इह द्वित्रिभ्यां सुजन्ताभ्यां साहचर्यात् चतुःशब्दोऽपि सुजन्त एव ग्रहीष्यते । कृत्वोऽर्थग्रहणं ज्ञापकम्— साहचर्यं न सर्वत्र व्यवस्थापकमिति ।

प्रामादिकमिति । पदादित्वेन "सोऽपदादौ" (पा० सू० ८।३।३८) इत्यस्याप्राप्तिरिति भावः ॥

साहचर्यमिति । न च रामलक्ष्मणावित्यादौ दृष्टसाहचर्यसम्बन्धस्याभिधानियामकत्वं दृष्टम् । न चैषां क्वापि साहचर्यसम्बन्धो गृहीत इति कथमेतदिति वाच्यम्, 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः" (पा० सू० २।३।१०)

[मनो०] 'मुहुष् के विसर्ग के षत्व का प्रतिषेध कहना चाहिये' इसका उदा० मुहुः कामा । इसमें 'कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च' इसकी प्रवृत्ति होती है । काशिका वृत्ति में कहीं-कहीं 'मुहुस्कामा' यह सकारघटित प्रयोग मिलता है, वह प्रामादिक है, ऐसा [पदमंजरीकार] हरदत्त का कथन है । [शब्द०] पदादि कवर्ग परे होने से 'सोऽपदादौ' इस (सत्वविधायक) की प्राप्ति ही नहीं है, यह भाव है ॥

[द्विस्त्रिः । ८।३।४३] कृत्वसुच् प्रत्यय का अर्थ = कृत्वोऽर्थ = क्रिया का बार-बार होना, इस अर्थ में विद्यमान द्विस्, त्रिस् तथा चतुर् शब्दों के विसर्ग का विकल्प से 'ष' होता है कवर्ग पवर्ग परे रहते ।] इस सूत्र में सुच्प्रत्ययान्त 'द्विः, त्रिः'—इनके साहचर्य के कारण 'चतुः' शब्द भी सुच्-प्रत्ययान्त ही लिया जायगा । कृत्वोर्थं—का ग्रहण ज्ञापक बनता है—'साहचर्य सर्वत्र व्यवस्थापक नहीं होता है ।' [द्विस्, त्रिस् शब्द सुजन्त ही हैं । चतुर् सुजन्त और असुजन्त दोनों प्रकार का है । साहचर्य के बल से 'चतुर्' भी सुजन्त ही लिया जायगा । 'कृत्वोऽर्थे' इसके ग्रहण का क्या फल है क्योंकि सुच् प्रत्यय उसी अर्थ में विहित है ? यहां 'कृत्वोऽर्थे' यह 'चतुर्' का विशेषण बनकर यह ज्ञापित करेगा कि 'साहचर्य सर्वत्र नियामक नहीं माना जाता है ।' इसीलिये 'चतुष्कपालः' में वैकल्पिक 'ष' न होकर नित्य 'ष्' "इदुदुपधस्य" से होता है ।] [शब्द०] 'राम-लक्ष्मणौ' इत्यादि में (लोक में) देखे गये साहचर्य सम्बन्ध को अभिधा (शक्ति) का नियामक होना देखा जाता है, किन्तु इन सुच् प्रत्ययान्तों 'द्विः' आदि का साहचर्य तो कहीं भी नहीं देखा गया है, अतः यह [साहचर्य का अर्थनियामकत्व] कैसे होगा ? यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इस सूत्र से लक्षण आदि अर्थों के

इत्यनेन लक्षणादिद्योतकपरियोगे पञ्चमीशङ्कायां "यद्यप्ययं परिर्दृष्टापचारो वर्जने चावर्जने च, अयं खल्वपशब्दोऽदृष्टापचारो वर्जनार्थ एव कर्मप्रवचनीयस्तस्य कः सहायो भवितुमर्हति अन्यो वर्जनार्थात्। यथाऽस्य गोः सहायेनार्थ इति गौरेवानीयते नाश्वो न गर्दभः" इति "कर्मप्रवचनीययुक्ते" (पा० सू० २।३।८) इति सूत्रस्थभाष्येण सदृशानामेव प्रयोगे सहायत्वमित्यर्थस्य प्रतिपादनेनाक्षतेः। परिभाषायां सहचरितशब्देन सदृशस्यैव ग्रहणं सहचरस्य भावः साहचर्यम्। सहचरणं च सदृशयोरेवेति साहचर्यशब्देन सादृश्यमुच्यते। सदृशयोरेव सहविवक्षा तयोरेव च सहप्रयोगः। रामलक्ष्मणावित्यादावपि सादृश्यमेव नियामकमिति दिक्।

अभिधानियामकत्वमिति। तदुक्तं हरिणा—

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥

द्योतक 'परि' शब्द के योग में पञ्चमी की शंका में—'यद्यपि यह परि शब्द [अनियतार्थक कर्मप्रवचनीय] दृष्टापचार=व्यभिचरित अर्थवाला देखा गया है—वर्जन में और वर्जन से भिन्न [लक्षणादि] अर्थों में। परन्तु यह 'अप' शब्द अव्यभिचरित अर्थ वाला केवल वर्जन अर्थ में है। [अन्य अर्थ में नहीं।] यह 'अप' शब्द वर्जन अर्थ में ही कर्मप्रवचनीय है। इस कारण इस 'अप' का वर्जनार्थक 'परि' को छोड़कर दूसरा [किस अर्थ वाला] सहायक हो सकता है? जैसे 'बैल को सहायक से काम है'–यह कहा जाने पर [दूसरा] बैल ही लाया जाता है न कि घोड़ा या गधा"—इस प्रकार के 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' इस सूत्र पर स्थित भाष्य के द्वारा—सदृशों के प्रयोग में ही सहायत्व है' इस अर्थ का प्रतिपादन होने से कोई दोष नहीं रहता है। [सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्—इस] परिभाषा में 'सहचरित' शब्द से 'सदृश' का ही ग्रहण होता है, सहचर का भाव=साहचर्य [साथ में चलने वाला होना], और साथ में चलना तो सदृश (वस्तुओं) का ही होता है, इस कारण 'साहचर्य' शब्द से 'सादृश्य' अर्थ कहा जाता है। [इसी कारण लोक में यह प्रसिद्ध है—'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'।] दो सदृश पदार्थों की ही सहविवक्षा [=एक साथ कहने की इच्छा] होती है, और उन सदृश अर्थवालों का ही एक साथ में प्रयोग होता है। 'रामलक्ष्मणौ' [राम और लक्ष्मण] इत्यादि में भी सादृश्य ही (अर्थ=दशरथापत्य का) नियामक होता है, यह दिग्दर्शन है।

तेन "दीधीवेवीटाम्" (पा० सू० १।१।६) इत्यत्र धातुसाहचर्येऽपि आगमस्येटो ग्रहणम्। उभयत्रविभाषा चेयम्। चतुरित्यस्य "इदुदुपधस्य—" (पा० सू० ८।३।४१) इति प्राप्ते, इतरयोस्त्वप्राप्ते। न च तयोरपि इसुसोः सामर्थ्ये" (पा० सू० ८।३।४४) इत्यनेन सिद्धिः शङ्क्या, इसः प्रत्ययस्य अर्थवतश्च तत्र ग्रहणात्।

चतुष्कपाल इति। 'इदुदुपधस्य" (पा० सू० ८।३।४१) इति नित्यं षः।

अर्थवतश्चेति। प्रतिपदोक्तस्य चेत्यपि बोद्धव्यम्। नित्यं ष इति। भाष्य-प्रामाण्येनात्राव्युत्पत्तिपक्षस्यैवाङ्गीकारेण व्युत्पत्तिपक्षे प्रत्ययसम्बन्धित्वात्

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेपस्मृतिहेतवः॥ (वा.प. २।३१५-१६)

एषाम=सुजन्तद्विरादीनाम्। **दृष्टापचारः**=दृष्टव्यभिचारः' अनियतार्थकः कर्मप्रवचनीय इत्यर्थः। **तयोरेव**=सदृशयोरेव।

(रहस्य यह है कि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अर्थनियामक 'संसर्गो विप्रयोगश्च' इत्यादि कारिका द्वारा बताये हैं उसकी व्याख्या में हेलाराजादि ने 'पञ्चम्यपाङ्परिभिः' इस सूत्र को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है और कहा है कि वर्जनार्थक 'अप' शब्द के साहचर्य के कारण यहाँ 'परि' शब्द भी वर्जनार्थक ही लिया जाता है। शब्दरत्न का विवेचन इसी पर पर आधृत है।)

[मनो०] साहचर्य सर्वत्र व्यवस्थापक नहीं होता है, इसी लिये 'दीधीवेवीटाम्' इस सूत्र में धातु के साहचर्य रहने पर भी आगम 'इट्' का ही ग्रहण होता है, धातु का नहीं। प्रस्तुत सूत्र उभयत्रविभाषा है, क्योंकि 'चतुः' शब्द के विसर्ग का तो षत्व 'इदुदुपधस्य' से प्राप्त है (क्योकि इसमें अप्रत्यय रेफ का विसर्ग है।) किन्तु 'द्विः' तथा 'त्रिः' इन दोनों का षत्व अप्राप्त है (क्योंकि इनमें प्रत्यय विसर्ग है।) इस स्थिति में इसमें विभाषा प्राप्त होती है। यह कि इन दोनों द्विस् तथा त्रिस् के विसर्ग का भी षत्व 'इसुसोः सामर्थ्ये' से होता है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि इस सूत्र में 'इस्' प्रत्यय हो और वह भी अर्थवान हो, वही लिया जाता है। (और इनमें केवल 'स्' प्रत्यय है।) [शब्द०] अर्थवान् और प्रतिपदोक्त 'इस्' प्रत्यय का ग्रहण समझना चाहिये।

[मनो०] चतुष्कपालः। (कृत्वसुच् अर्थ में वर्तमान चतुर् आदि के विसर्ग का ही वैकल्पिक ष होता है। अतः यहाँ नहीं होता है। अपितु) "इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' इससे नित्य 'ष्' होता है। [शब्द०] भाष्य के प्रामाण्य से इस 'चतुः शब्द में—या सूत्र में अव्युत्पत्तिपक्ष ही स्वीकार किया गया है' इसलिये—

व्यपेक्षाविरहेऽपीति । तिष्ठतु सर्पिष्कुण्डिकामानयेत्यादावित्यर्थः । व्यपेक्षायामिति । इदं सर्पिष्कुण्डिकाया इत्यत्रेत्यर्थः ।

यत्तु पारायणिका आहुः—"कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिकादीनां पाठ उत्तरपदस्थत्वेऽपि षत्वार्थः" इति, तद् भाष्यविरोधादुपेक्ष्यम् ।

अयःसहितेति । न त्वयसो विकारः, "जानपद—" (पा० सू० ४।१।४२) इति ङीष्प्रसङ्गात् । अयस्कर्णीति । अय इव कर्णौ यस्याः । "नासिकोदरौष्ठ—" (पा० सू० ४।१।५५) इत्यादिना ङीष् ।

कथ षत्वमिति न शङ्कयम् । अतएव "चतुष्पाद्भ्यो ढञ्" (पा० सू० ४।१।१३५) इत्यादिनिर्देशसंगतिः । इत्यर्थ इति । अत्रत्यन्तत्त्वं पूर्वं सूचितम् ।

तद्भाष्येति । "अनुत्तरपदस्थस्य" इति किं परमसर्पिःकुण्डिकेति "नित्यं समासे—" (पा० सू० ८।३।४५) इति सूत्रस्थभाष्येत्यर्थः ।

'व्युत्पत्तिपक्ष में प्रत्ययसम्बन्धी होने से कैसे 'ष्' होता है—यह शंका नहीं करनी चाहिये । (अव्युत्पत्तिपक्ष माना गया है) इसी लिये 'चतुष्पाद्भ्यो ढञ्' आदि निर्देश संगत होते हैं । (इसी प्रकार 'चतुष्पञ्चाशत्' इस की संगति है ।) (कस्कादिगण में सर्पिष्कुण्डिका' शब्द का पाठ यह ज्ञापित करने के लिये है कि असमास में और) व्यपेक्षा के अभाव में भी [मनो०] 'तिष्ठतु सर्पिष्कुण्डिकामानय' इत्यादि में षत्व के लिये है, यह अर्थ है । और व्यपेक्षा में—'इदं सर्पिष्कुण्डिकायाः' यहाँ नित्य षत्व होता है, यह अर्थ है । [शब्द०] यहाँ का तत्त्व पहले ('इदुदुपधस्य' इस सूत्र की व्याख्या में) सूचित किया जा चुका है ।

[मनो०] पारायणिकों ने जो यह कहा है ।—"कस्कादिगण में 'सर्पिष्कुण्डिका' आदि शब्दों का पाठ, उत्तरपदस्थ रहने पर भी, षत्व के लिये हैं" वह कथन भाष्यविरोध के कारण उपेक्षणीय है । [शब्द०] 'अनुत्तरपदस्थ का' इसके ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? परमसर्पिः कुण्डिका' (इसमें ष न हो)—ऐसा 'नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इस सूत्र पर स्थित भाष्य से विरोध के कारण [पारायणिकों का कथन उपेक्षणीय है,]—यह अर्थ है ।

('अतः कृकमिकंस० ८।३।४६ अकारोत्तरवर्त्ती अनव्यय विसर्ग का नित्य 'ष' होता है समास में करोति आदि शब्द परे रहते । किन्तु उत्तरपदस्थ का नहीं होता है ।) [मनो०] अयः सहिता कुशा—इस अर्थ में 'अयस्कुशा' बना है, [शब्द०] 'अयस्कुशा' इस आबन्तप्रयोग से सूचित अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिये लिखा है—[मनो०] न कि 'अयस् का विकार है' क्योंकि विकार अर्थ में 'जानपदकुण्ड०" इस सूत्र से ङीष् का प्रसंग है । अयस्कर्णी—अयः के समान हैं कान

"अधःशिरसी" ॥ (पा० सू० ८।३।४७) एतयोरिति । सूत्रे तु षष्ठ्याः स्थाने प्रथमा बोद्धव्या । अधस्पदमिति । मयूरव्यंसकादित्वात्समासः । शिरस्पदमिति । षष्ठीसमासः ।

॥ इति विसर्गसन्धिः ॥

———*———

आबन्तप्रयोगसूचितार्थं स्फुटप्रतिपत्तये आह—नत्वयस इत्यादि ॥

॥ इति विसर्गसन्धिः ॥

———*———

आबन्तेति । आबन्तं यत्सूत्रे "अतः कृकमि" इत्यत्र 'कुशेति, तदनुवादः ारममूले कुशेति कृतो विशेष्यबोधनाय न त्वयसो विकार इत्यर्थः ।

॥ इति जयशङ्करलालत्रिपाठि-विरचितायां 'भावप्रकाशिका'-व्याख्यायां विसर्गसन्धिः ॥

जिसके वह । यहाँ 'नासिकोदरोष्ठ'० इत्यादि सूत्र से ङीप् होता है ।

विमर्श—अयः सहिता कुशा—इस विग्रह में 'शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपो वक्तव्यः' से समास और 'सहिता' का लोप हो जाता है । यज्ञ में उद्गाताओं की स्तोत्रगणना के लिये गूलर [उदुम्बर] की लकड़ी से बनी शलाका 'कुशा' कही जाती है । आयस् = लोह-सहित कुशा = गणना की शलाका—यह अर्थ है । 'अयसः विकारः कुशा' इस अर्थ में तो ङीप् होने के कारण 'अयस्कुशी' ऐसा होना चाहिये था । अतः यहाँ टाप् प्रत्यय के कारण 'सहित अर्थ वाली' लेना है, विकार अर्थवाली नहीं ॥

[अधश्शिरसी पदे । ८।३।४७ अधस् तथा शिरस् के विसर्ग का 'स्' होता है ['पद' शब्द पर रहते ।] [मनो०] 'एतयोः' इस षष्ठी के अर्थ में सूत्र में 'अधश्शिरसी' यह प्रथमा का प्रयोग है । 'अधस्पदम् । [पदस्य अधः इस अर्थ में] 'मयूरव्यंसकादयश्च' इससे समास होता है । [और 'अधः' का पूर्वनिपात होता है ।] शिरस्पदम् [शिरसः पदम्—यह] षष्ठी-समास है । [अथवा शिरसि पदम्—इस सप्तमी अर्थ में 'सह सुपा' से समास है ।]

(मनो०) ॥ इस प्रकार विसर्गसन्धि समाप्त हुई ॥

(शब्द०) ॥ इस प्रकार विसर्गसन्धि समाप्त हुई ॥

विमर्श—यद्यपि 'सन्धानम् = सन्धिः, संहिता यह अभिप्राय है तथापि लक्षणा से सन्धि शब्द सन्धिनिमित्तक कार्य का भी प्रत्यायक होना है । इसलिये विसर्गसन्धि-का तात्पर्य है—विसर्गसंहितानिमित्तक कार्य, वह यहाँ समाप्त हुआ, यह तात्पर्य है ।

॥ इस प्रकार जयशङ्करलाल त्रिपाठि-विरचित 'भाव-बोधिनी' हिन्दी-व्याख्या में सशब्दरत्न प्रौढमनोरमा की विसर्गसन्धि समाप्त हुई ॥

———*———

अथ स्वादिसन्धिप्रकरणम्

"ससजुषो रुः" (पा० सू० ८।२।६६) पदस्येत्यनुवृत्तं ससजूर्भ्यां विशेष्यते, विशेषणेन तदन्तविधिः। न च सजूःशब्दांशे 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' इति निषेधः शङ्क्यः, तस्य प्रत्ययविधिविषयत्वात्।

तस्य प्रत्ययविधौति। अतएव "येन विधिः" (पा० सू० १।१।७२) इति सूत्रे भाष्ये प्रत्ययविधिभिन्ने "अप्तृन्" (पा० सू० ६।४।११) इत्यादौ गृह्यमाणप्रातिपदिकेनापि तदन्तविधिप्रतिपादनं स्वसा परमस्वसेत्युदाहृतं च सङ्गच्छते। अस्य "समासप्रत्ययविधौ—" इति निषेधानुवादकताया एव

ससजुषोः रुः। पदान्तस्य सस्य 'सजुष्' शब्दस्य च रुः स्यादिति वृत्तिः। मूले—अनुवृत्तमिति। 'पदस्य' (८।१।१६) इति सूत्रमिति भावः। ग्रहणवतेति। सूत्रादौ पठ्यमानं प्रतिपदिकमात्मान्तस्य बोधकं न भवतीत्यर्थः। तस्य=ग्रहणव-

---

[मनो०] अब स्वादिसन्धि प्रारम्भ होती है—

[प्रातिपदिकसंज्ञक 'शिव' शब्द से 'स्वौजसमौट् ४।१।२ से 'सु'=स् प्रत्यय करने पर 'शिवस्+अर्च्यः' इस स्थिति में—]

ससजुषोः रुः। इसमें 'पदस्य' ८।१।१६ यह अनुवृत्त होता हुआ स् तथा सजुष् से विशेषित किया जाता है [अर्थात् 'पदस्य' यह विशेष्य बनता है और स् तथा 'सजुष्' विशेषण बनते हैं।] और विशेषण से तदन्तविधि होती है। [क्योंकि 'येन विधिस्तदन्तस्य' यह परिभाषा है।] 'ग्रहणवाले=पठित प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होती है' इस परिभाषा से 'सजुष्' शब्दांश में तदन्तविधि नहीं होगी, यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह परिभाषा केवल प्रत्ययविधि के विषय में प्रवृत्त होती है। [यहाँ प्रत्ययविधि न होने से इस परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होने से तदन्तविधि में बाधा नहीं है।] [शब्द०] इसी कारण 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र पर भाष्य में प्रत्ययविधि से भिन्न 'अप्तृन्' इत्यादि [उपधादीर्घविधायक] सूत्र में गृह्यमाण प्रातिपदिक से भी तदन्तविधि का प्रतिपादन और 'स्वसा' 'परमस्वसा' ये उदाहरण संगत होते हैं। [यदि निषेध सार्वत्रिक होता तो 'परमस्वसा' में भी दीर्घ नहीं हो पाता।] और इस [तदन्तविधिनिषेधक उक्त] परिभाषा को "समास तथा प्रत्ययविधि में तदन्त विधि नहीं होती है" इस निषेधवचन का अनुवाद [पुनः कथन] करने वाली

सान्तं सजुष्शब्दान्तं च यत्पदं तस्य रुः स्यात्, स चालोऽन्त्यस्य। एवं स्थिते फलितमाह—पदान्तस्येति। सजुष्शब्दस्येति। तदन्तस्य पदस्येत्यर्थः। तेन 'सजुषः' इत्यादौ नातिप्रसङ्गः। न च सजूरित्यत्राव्याप्तिः 'व्यपदेशिवद्-

युक्तत्वाच्च।

यत्तु—अस्य ज्ञापकं "सपूर्वाच्च" (पा०सू० ५।२।८७) इति सूत्रम्। अन्यथा "पूर्वादिनिः" (पा० सू० ५।२।८६) इत्यत्र तदन्तविधिनैव सिद्धे किं तेन? तत् "प्रत्ययविधौ प्रतिषेधः" इत्यस्यैव ज्ञापकमिति वक्तुं शक्यम्। अत एव तदन्तविधिसूत्रभाष्ये "समास—"इत्यादिनिषेधवदस्य न कथनमिति

तेति वचनस्य। शब्दरत्ने—अत एव=ग्रहणवतेति वचनस्य प्रत्ययविधिमात्रविषयत्वादेवेत्यर्थः। संगच्छते इति। यदि तस्य वचनस्य सर्वत्र प्रवृत्तिः स्यात्तदा भाष्योक्तं 'परमस्वसा' इत्युदाहरणं संगतं न स्यादिति भावः। अस्य=ग्रहणवतेति वचनस्य। अन्यथा—तत्परिभाषानङ्गीकारे। तेन='सपूर्वाच्च' इति सूत्रेणे-

मानना ही ठीक है।

जो यह कहते हैं कि—'सपूर्वाच्च' यह इस [ग्रहणवता०] परिभाषा में ज्ञापक है। क्योंकि ऐसा न मानने पर तो 'पूर्वादिनिः' इसमें तदन्तविधि मानने से ही [कृतपूर्वी कटम् आदि में 'पूर्व' शब्दान्त से भी इनि प्रत्यय] सिद्ध हो जाने पर इस 'सपूर्वाच्च' सूत्र की क्या आवश्यकता? परन्तु यह ['सपूर्वाच्च'] सूत्र 'प्रत्ययविधि में तदन्तविधि नहीं होती है' इसी का ज्ञापक है, यह कहा जा सकता है। [न कि सर्वत्र तदन्तविधि नहीं होती—इसका ज्ञापक है। 'प्रत्ययविधौ तदन्तविधिर्न' इसी वचन से 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न' यह वचन भी गतार्थ है, अतिरिक्त नहीं है।] इसी लिये 'येनविधिस्तदन्तस्य' (१।१।७२) इस सूत्र पर भाष्य में 'समास और प्रत्ययविधि में तदन्तविधि नहीं होती है।' इस निषेध के समान 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न' यह वचन नहीं कहा गया है, यह समझना चाहिये।

[मनो० पूर्वोक्त रीति से 'सजुष्' प्रातिपदिक में भी तदन्तविधि हो जाने से] सकारान्त और सजुष्शब्दान्त जो पद उसका 'रु' होता है, [और यह सम्पूर्ण पद के स्थान पर न होकर] 'अलोऽन्त्यस्य' (१।१।५२) के अनुसार अन्त्य अल् वर्ण [स्, ष्] का ही होता है। ऐसा हो जाने पर जो अर्थ फलित हुआ उसे [सिद्धान्तकौमुदी में] लिखा है—पदान्त 'स्' का 'रु' होता है। और 'सजुष' शब्द का=सजुष्शब्दान्त पद का 'रु' होता है—यह अर्थ है। इस लिये सजुषः' में [इस सजुष्+अस् में 'ष्' के रुत्व की] अतिव्याप्ति नहीं है। ऐसा मान लेने पर 'सजूषः' इसमें अव्याप्ति होने लगेगी क्योंकि [यहाँ तो अकेला 'सजुष्' शब्द है और]

द्भावोऽप्रातिपदिकेन' इति निषेधादिति वाच्यम्, "येन विधिः" इति सूत्र शब्दकौस्तुभेऽस्य प्रत्याख्यातत्वात् ।

बोद्धयम् । प्रत्याख्यातत्वादिति । अस्याः फलाभावात् । "सूत्रान्ताट्ठक्" (पा०सू० ४।२।६०) "दशान्ताड्डः" (पा० सू० ५।२।५२) इत्यादावन्तग्रहण-सामर्थ्येन व्यपदेशिवद्भावाप्रवृत्तेरिति भावः ।

ननु "एकगोपूर्वात्—" (पा० सू० ५।२।११) इत्यस्य केवलैकशब्दगो शब्दयोरप्रवृत्त्यर्थं साऽऽवश्यकी, "सूत्रान्तात्—" (पा० सू० ५।२।४४) "दशान्तात्" (पा० सू० ५।२।४५) इत्यर्थं च । तत्रान्तग्रहणं तु प्रत्यय-विधौ तदन्तग्रहणनिषेधात्तदन्ते प्रवृत्त्यर्थमावश्यकमिति न तत्सामर्थ्याद्व्यपदे-शिवद्भावाप्रवृत्तिर्वक्तुं शक्या ।

त्यर्थः । तत् = 'सपूर्वाच्च' इति सूत्रम् । अस्य = ग्रहणवतेति वचनस्य । मूले— अस्य = 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेनेति वचनस्य । शब्दरत्ने - अस्याः = 'व्यप-

---

'प्रातिपदिक से व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता है' इस परिभाषा से व्यपदेशिवद्भाव का निषेध हो जाने से केवल 'सजुष्' 'सजुष्शब्दान्त' नहीं है अर्थात् तदन्तविधि का निषेध हो जाता है—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि 'येन विधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र की व्याख्या में 'शब्दकौस्तुभ' में इस वचन ['व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन'] का प्रत्याख्यान किया गया है । [शब्द०] क्योंकि इस वचन का कोई फल नहीं है । कारण यह है कि ['क्रतूक्थादि–] सूत्रान्ताट्ठक्' (४।२।६०) और 'दशान्ताड्डः' ५।२।४५ आदि सूत्रों में 'अन्त'-ग्रहण के सामर्थ्य से (प्रातिपदिक में) व्यपदेशिवद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होती है, यह भाव है ।

[यदि प्रातिपदिक के ग्रहण में भी तदन्तविधि होती तो केवल 'सूत्र' ही 'सूत्र और सूत्रान्त दोनों का बोधक हो जाता, 'दश' ही दश और दशान्त दोनों का बोधक हो जाता । इन सूत्रों में 'अन्त' ग्रहण व्यर्थ हो जाता है वही ज्ञापित करता है कि प्रातिपदिक ग्रहण में व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता है ।]

यह कि—'एकगोपूर्वाट्ठञ् नित्यम्' यह सूत्र केवल 'एक' तथा 'गो' शब्द में [ठञ् के लिये] प्रवृत्त न हो, इसके लिये वह ['व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन'] परिभाषा आवश्यक है । [अन्यथा केवल 'एक' भी 'एकपूर्व' और 'गो' भी 'गोपूर्व' बनने लगेगा ।] और 'सूत्रान्ताट्ठक्' तथा 'दशान्ताड्डः' इनके लिये भी वह आवश्यक है । (तब अन्तग्रहण का क्या फल है ?) इन सूत्रों में अन्तग्रहण तो प्रत्ययविधि में तदन्तविधि का निषेध होने से तदन्त = सूत्रान्त और दशान्त में प्रत्ययविधान करने के लिये आवश्यक है, इस लिये 'अन्तग्रहणसामर्थ्य से व्यपदेशि-वद्भाव की प्रवृत्ति नहीं होती है' यह नहीं कहा जा सकता । [अर्थात् 'अन्तग्रहण

न च भयाढ्यादाविव "सूत्रान्तात्—" इत्यादौ विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासेन सिद्धेऽन्तग्रहणसामर्थ्यं सूपपादमिति कौस्तुभोक्तरीत्या निर्वाहः। "समासप्रत्ययविधौ—" इत्यादीनां सूत्रशब्दादेर्विशेष्यत्वे तात्पर्यग्राहकत्वस्य सत्त्वेन विपरीतस्य तस्य वक्तुमशक्यत्वात्।

न चास्यां मानाभावः। "पूर्वात्सपूर्वादिनिः (पा० सू० ५।२।८६)

चरितार्थ है, ज्ञापक नहीं बन सकता।]

यह कि 'भय' 'आढ्य' आदि के समान 'सूत्रान्ताट्ठक्' इत्यादि में विशेषण-विशेष्यभाव के व्यत्यास [वैपरीत्य] से सिद्ध हो जाने पर अन्तग्रहण का सामर्थ्य सरलतया उपपादित किया जा सकता है—इस प्रकार की शब्दकौस्तुभोक्त रीति से निर्वाह हो जाता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'समास और प्रत्ययविधि में तदन्त का प्रतिषेध होता है' इत्यादि वचनों की 'सूत्रादि' शब्दों की विशेष्यता में तात्पर्यग्राहकता है, इस कारण विपरीत विशेष्यविशेषणभाव नहीं कहा जा सकता।

विमर्श—यहाँ आशय यह है कि 'मेघर्तिभयेषु कृञः' (३।२।४३) यह सूत्र 'मेघ, ऋति, और भय' शब्द उपपद रहते 'कृ' धातु से खच् प्रत्यय करता है। इसमें 'कर्मणि' की अनुवृत्ति होती है और यह विशेष्य बनता है, भय आदि विशेषण बनते हैं। इस प्रकार विशेषणभूत 'भय' से तदन्तविधि करके 'भय' और भयशब्दान्त 'अभय' दोनों का ग्रहण होने से 'भयङ्करः' तथा 'अभयङ्करः' ये रूप होते हैं। किन्तु 'मेघ' तथा 'ऋति' विशेषण नहीं बनते हैं, अतः उनसे तदन्तविधि नहीं होती है।

इसी प्रकार 'आढ्य सुभग०' आदि सूत्र में भी अनुवृत्त 'कर्मणि' यह विशेष्य होता है और 'आढ्यादि' विशेषण। विशेषण से तदन्तविधि करके आढ्य उपपद 'कृ' से ख्युन् करने पर 'आढ्यङ्करणम्' तथा तदन्त 'स्वाढ्य' उपपद 'कृ' से भी ख्युन् करके 'स्वाढ्यङ्करणम्' ये दोनों शब्द बनते हैं।

उक्त विवेचन का सारांश यह है कि अनुवृत्त पद भी कभी विशेष्य होता है और कभी विशेषण। इसलिये सूत्र को विशेषण बनाकर तदन्तविधि करके 'सूत्रान्त' [सग्रहसूत्र, कल्पसूत्र आदि] से प्रत्यय होता है। इसलिये अन्तग्रहण व्यर्थ है। उसके ग्रहणसामर्थ्य से 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती—यह कहना तर्कसंगत नहीं है, क्योंकि 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः' 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' आदि विधियाँ यही ज्ञान कराती हैं कि 'सूत्र' आदि शब्द विशेष्य ही रहते हैं विशेषण नहीं बनते हैं। अतः 'सूत्रान्त' और 'दशान्त' में अन्तग्रहण चरितार्थ है, इसको ज्ञापक नहीं माना जा सकता।

[शब्द०] 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इसमें कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा नहीं

इत्येकयोगेन सिद्धे पृथग्योगकरणस्य मानत्वात्। न च "इष्टादिभ्य" (पा० सू० ५।२।८८) इत्यत्रानुवृत्त्यर्थं तथा पाठः। अत एवानिष्टीत्यादिसिद्धिरिति वाच्यम्, ज्ञापकपरभाष्यप्रामाण्येनानिष्टीत्यादिप्रयोगाणाम-निष्टत्वात्। एकयोगेऽपि तत्रैव स्वरितत्वबलेन तावत एवोत्तरत्रानुवृत्तौ बाधकाभावाच्च। व्यपदेशिवद्भावस्य प्रातिपदिके निषेधस्वीकारादेव "नान्तादसंख्यादेः-" (पा०सू० ५।२।४९) इति चरितार्थम्। अन्यथा पञ्चमः इत्यादावपि व्यपदेशिवद्भावेन संख्यादित्वात्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्यरुचेराह—

देशिवद्भाव' इति परिभाषाया इत्यर्थः। **सा**=व्यपदेशिवदिति परिभाषा। **तत्र**=उक्तसूत्रयोः। **तस्य**=विशेष्यविशेषण - भावस्य। **अस्याम्**=व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेनेति परिभाषायामित्यर्थः। **तथा पाठः**=पृथक् सूत्रपाठ इत्यर्थः। **अत एव**='सपूर्वादि'त्यस्यानुवृत्तेरेवेत्यर्थः। ननु तत्र तादृशोक्त्य-

---

कहना चाहिये, क्योंकि 'पूर्वात्सपूर्वादिनिः' इस प्रकार के एक सूत्र से ही सम्भव रहने पर 'सपूर्वाच्च' यह अलग सूत्र बनाना ही इसमें प्रमाण है। [यदि प्रातिपदिक मे भी व्यपदेशिवद्भाव होता तो 'पूर्व' को ही पूर्वसहित भी मानकर कृतपूर्वी' आदि सिद्ध हो जाते। यह सूत्र व्यर्थ होकर उक्त परिभाषा में ज्ञापक होता है।] यह कि—'इष्टादिभ्यश्च' इस सूत्र में अनुवृत्ति के लिए 'सपूर्वात्' यह पृथक् पाठ है। इसीलिये [इष्टी के समान] 'अनिष्टी' आदि प्रयोगों की सिद्धि होती है, [अतः पृथग्योगकरण सार्थक है, व्यर्थ नहीं है। वह इस परिभाषा में ज्ञापक नहीं बन सकता]—ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि ('येन विधिस्तदन्तस्य' इस) ज्ञापक, सूत्र पर स्थित भाष्य के प्रामाण्य से 'अनिष्टी' इत्यादि प्रयोग ही इष्ट नहीं है। और ['एकयोगनिर्दिष्टानामेकदेशोऽप्यनुवर्तते' इसके अनुसार] एक सूत्र होने में भी 'सपूर्वात्' इतने अंश में ही स्वरितत्व की प्रतिज्ञा के कारण इतने अर्थात् 'सपूर्वात्' की ही अग्रिम सूत्र में अनुवृत्ति में कोई बाधक नहीं है। [अतः यह योगविभाग परिभाषा का ज्ञापक होता है।] प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव का निषेध माना ही जाता है, इसी कारण "नान्तादसंख्यादेर्मट्" यह सूत्र चरितार्थ है, अन्यथा 'पञ्चमः' इत्यादि में भी व्यपदेशिवद्भाव से संख्यादि [संख्या है आदि में जिसमें ऐसा] होने से इस सूत्र का वैयर्थ्य स्पष्ट ही है। [यदि प्रातिपदिक में भी व्यपदेशिवद्भाव होता तो केवल 'पञ्चन्' भी संख्यादि [संख्यावाची है आदि में जिसके ऐसा] बन जाता। असंख्यादि नहीं मिलता, सूत्र व्यर्थ होने लगता है। वही प्रातिपदिक में व्यपदेशिवद्भाव के निषेध को सूचित करता है]—इसी अरुचि के कारण

'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इति; 'ग्रहणवता—' इति च परिभाषाद्वयमपि प्रत्ययविधिविषयकमिति "दिव उत्" (पा० सू० ६।१।१३१) सूत्रे कैयटहरदत्ताभ्यामुक्तत्वाच्च । एवं च परमसजूर्भ्यामित्याद्यपि निर्बाधम् । एवं स्थिते 'इह सजुष्शब्देन तदन्तविधिर्ने'ति प्राचामुक्तिरापातत इत्यवधेयम् ॥

व्यपदेशिवद्भाव इत्यादि । दिव उत्सूत्रं यत्रेति बहुव्रीहिणा तत्सूत्रघटिते पादे इत्यर्थः । एवं च "दिव उत्" (पा० सू० ६।१।१३१) इति सूत्रे हरदत्तेन "इन्द्रे च" (पा० सू० ६।१।१२४) इति सूत्रे कैयटेनोक्तमिति भावः । "येन विधिः—" (पा० सू० १।१।७२) इति सूत्रे कैयटेन सूत्रोपात्तान्तादिशब्दविषयतास्येति वदता स्पष्टमेव प्रत्ययविधिविषयतोक्ता । "असमासे निष्कादिभ्यः" (पा० सू० ५।१।२०) इति सूत्रे भाष्ये कैयटे च स्पष्टमनयोः प्रत्ययविधिविषयतोक्तेति दिक् । इत्याद्यपीति । आदिना सजूर्भ्यामिति ॥

भावात् कैयटहरदत्तमतकथनमसङ्गतमत आह—'दिव उत्' सूत्रं यत्रेति बहुव्रीहिणेत्यादि ॥

[मनो०] में कहा है—'प्रातिपदिक से व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता है' और 'ग्रहणवान् = गृह्यमाण प्रतिपादिक से तदन्तविधि नहीं होती है' ये दोनों ही परिभाषायें प्रत्यय-विधि-विषयिणी हीं हैं, यह 'दिव उत्' इस सूत्र पर कैयट और हरदत ने कहा है ।

[शब्द०] 'दिव उत्' सूत्रे'='दिव उत्' सूत्र है जिसमें' इस बहुव्रीहि के द्वारा इस सूत्र से घटित पाद में– यह अर्थ है । क्योंकि 'दिव उत्' इस सूत्र [की काशिकावृति की पदमञ्जरी] में हरदत्त ने और 'इन्द्रे च' इस सूत्र के भाष्य पर कैयट ने कहा है, यह भाव है । 'येनविधिस्तदन्तस्य' इस सूत्र (के भाष्य) में कैयट ने—'सूत्रान्तात्' आदि सूत्र में उपात्त 'अन्त' 'आदि' शब्दों का विषय यह [व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन] है' ऐसा कहते हुये इस न्याय की प्रत्ययविधि-विषयता स्पष्ट रूपेण कही है । 'असमासे निष्कादिभ्यः' इस सूत्र में और भाष्य में स्पष्ट रूप से इन दोनों परिभाषाओं की प्रत्ययविधिविषयता [प्रत्ययविधि में ही प्रवृत्ति] कही है, यह दिग्दर्शन है । [मनो० इस प्रकार प्रत्ययविधि न होने से 'सजुष्' से भी तदन्तविधि होती है ।] इस स्थिति में 'सजूर्भ्याम्' 'परमसजूर्भ्याम्' इत्यादि सभी शुद्ध हैं । [परमसजुष्+भ्याम् 'ससजुषोः रुः' इससे 'ष्, का 'रु'=र करने पर 'रेफान्त की उपधा का दीर्घ र्वोरुपधायाः' सूत्र से होता है ।] इस स्थिति में 'इस सूत्र में सजुष्' शब्द से तदन्तविधि नहीं होती है' यह प्राचीन आचार्यों की उक्ति आपाततः [अविचारपूर्वक शीघ्रता में] है, यह समझना चाहिये ॥

"भोभगो" (पा० सू० ८।३।१७)। 'असन्धिः सौत्र इति । भगो-अघोशब्दयोरोकारस्याकारस्य च पूर्वरूपं सौत्रत्वान्नेत्यर्थः। यदि तु भोस्, भगोस्, अघोस् इति सान्तं रान्तं वा अनुकृत्य भो इत्यादीनां त्रयाणामलोऽन्त्यस्य यः स्यादपूर्वस्य रोश्चेति व्याख्यायते, तर्हि असन्धिर्न्याय्य एव।

ननु सान्तानुकरणे 'विभाषा भवत्—" इति वार्तिकनिष्पन्नानां ग्रहणं न स्यादत आह—रान्तं वेति। कृतरुत्वानुकरणमित्यर्थः। अलोऽन्त्यस्येति। न च भो राजसे इत्यादौ "रो रि" (पा० सू० ८।३।१४) इति लोपे कृते एकदेशविकृतन्यायेन भोः शब्दत्वादन्त्यस्यौकारस्य यत्वापत्तिरिति वाच्यम्, तेषामभिधाने एषां रोरपूर्वस्य च रोरिति व्याख्यानेनादोषो बोद्धव्यः। अत्र पक्षेऽघोशब्दान्तद्वंद्वे षष्ठ्याः सौत्रो लुक् बोद्धव्यः।

भो-भगो० [भो. भगो, अघो—ये जिसके पूर्व में है ऐसे 'रु' का 'य्' होता है, अश् परे रहते ।] [मनो०] 'भगो' तथा 'अघो' इन शब्दों के ओकार तथा अकार [इसी प्रकार 'अघो' तथा 'अपूर्वस्य' के ओकार और अकार] का पूर्वरूप सौत्र प्रयोग होने से नहीं होता है, यह अर्थ है। ['सूत्रे कृतः' अथवा 'सूत्रेण निर्वृत्तः' इस अर्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'सौत्रः' बना है।] भोस्, भगोस्, अघोस्—ऐसे सकारान्त का अथवा भोर्, भगोर्, अघोर्—ऐसे रेफान्त का अनुकरण करके 'भो' आदि तीन शब्दों के अन्त्य अल् [स् या र] का य् होता है और अपूर्वक रु सम्बन्धी रेफ का य् होता है [अश् परे रहते]—यह व्याख्या यदि की जाय तब तो सन्धि न होना ही उचित है।

[शब्द०] सकारान्त का अनुकरण मानने पर 'विभाषा भवद्भगवदघवच्चास्यान्यतरस्याम्' इस वार्तिक से निष्पन्न शब्दों का ग्रहण नहीं हो सकेगा, इस कारण मनोरमा में लिखा है—'अथवा रान्त का अनुकरण' इत्यादि। किया गया है रुत्व जिसका उसका अनुकरण—यह अर्थ है। अन्त्य अल् का य् होता है। यह कि— भोर् + राजसे' यहाँ 'रो रि' सूत्रसे 'र्' का लोप कर देने पर 'एकदेश से विकृत अन्य के समान नहीं हो जाता है' इस परिभाषा से अन्त्य अल् 'ओ' का यत्व प्रसक्त होता है—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि [आवश्यक होने से] इसके अभिधान में इन तीनों के 'रु' का तथा अपूर्वक 'रु' का 'य्' होता है इस व्याख्यान से दोष नहीं है। [क्योंकि य् का लोप हो जाता है। अतः 'ओ' के यत्व की आपत्ति नहीं आती है।] इस [कृतरुत्व के अनुकरण] पक्ष में 'अघो' शब्द के अन्त में अर्थात् 'भोभगोअघो' इस द्वन्द्व में षष्ठी विभक्ति का सौत्र अलुक् समझना चाहिये। [अर्थात् दो अर्थ करने के लिये दो पद मानने होंगे—(१) 'भो भगो अघो' इस द्वन्द्व में सौत्र षष्ठीलुक् है, (२) अपूर्वस्य। ऐसा मानकर ही उक्त अर्थ सम्भव है।]

युक्तं चैतत् । अन्यथा विभोरिदं, सुप्रभा गौर्यस्य स सुप्रभगुस्तस्य सुप्रभगोरिदं, रघोरिदमित्यत्रापि यत्वापत्तेः । भवति ह्ययं भोशब्दादिपूर्वो रुः । न चात्र भोशब्दादेर्लाक्षणिकत्वादग्रहणम् । "विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्य" इति वार्तिकेन निष्पन्नानां भवदादिप्रकृतिकानां भोकब्दादीनामपि लाक्षणिकत्वाविशेषात् । अनर्थकत्वमप्युभयत्र तुल्यम्, रुविशिष्टानामेवार्थवत्त्वात् ।

ननु रोरुकारस्यानुबन्धत्वाद्रफमात्रं विसर्गस्य स्थानि; तथा च "अनल्विधौ" इति स्थानिवद्भावो न स्यादित्याशङ्क्याह—न ह्ययमिति ।

[मनो० भो भगो अघो में सान्त अथवा रान्त का अनुकरण मानकर इन तीनों के अन्त्य अल् का 'य्' और अपूर्वक रु का 'य्' होता है—अर्थ करना चाहिये ।] और यह ठीक भी है । अन्यथा (षष्ठ्यन्त) 'विभोर् इदम्' तथा 'सुप्रभा गौः यस्य सः [सुन्दर प्रभा वाली गाय है जिसकी वह] सुप्रभगुः, उसका 'सुप्रभगोर् इदम्' और 'रघोर् इदम्' इनमें भी यत्व की आपत्ति होगी क्योंकि इनमें भो-भगो-अघोपूर्वक 'रु' हो जाता है । [अतः इन शब्दों का अनुकरण मानना ही उचित है ।] यह कि--इनमें 'भो' शब्द आदि लाक्षणिक [सूत्र द्वारा निष्पन्न] हैं, इस कारण ['लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा के कारण] इनका ग्रहण नहीं होगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्य' इस वार्त्तिक से निष्पन्न, भगवद् आदि शब्दरूप प्रकृति वाले 'भो' आदि शब्द भी लाक्षणिक हो जाते हैं, अतः इनमें कोई अन्तर नहीं है, अनर्थकता भी दोनों की समान है, क्योंकि रुविशिष्ट ही अर्थवान् होते हैं । [अतः केवल 'भो' आदि अनर्थक ही है । अतः सान्त अथवा कृतरुत्व वाले रान्त भोर् भगोर् अघोर् का अनुकरण ही मानना तर्कसंगत है । इनका अन्त्य अल् वह 'स्' हो या 'र्', उसका 'य्' और अपूर्वक रु का 'य्' होता है—यही अर्थ ठीक है ।]

यह कि, 'रु' का उकार तो अनुबन्ध है अतः केवल 'र्' विसर्ग का स्थानी है । इस प्रकार [अल्-मात्र-स्थानिकविधि होने से] यह अल्विधि है 'अनल्विधौ' इससे स्थानिवद्भाव नहीं हो सकता—इस प्रकार की शंका करके [सिद्धान्तकौमुदी में] कहा गया कि—यह अल्विधि नहीं है । [क्योंकि 'रु' इस समुदाय का 'यू' किया जा रहा है । अश् परे रहते ही यह 'य्' होता है । यदि 'अशि' यह नहीं होगा तो देवास्+सन्ति यहाँ भी स् का रु और इसका 'य्' होने लगेगा । यह 'यत्व' त्रिपदीस्थ है और विसर्ग सपादसप्ताध्यायीस्थ । अतः इस की दृष्टि में यत्व असिद्ध हो जायेगा, विसर्ग मिलने लगेगा । इस विसर्ग का

यथाऽग्रहीदित्यत्र "ग्रहोऽलिटि" (पा० सू० ७।२।३७) इति दीर्घस्य स्थानिवद्भावेनेट्त्वात् "इट ईटि" (पा०सू० ७।२।२८) इति प्रवर्तते। एवमिहापि विसर्गस्य रुत्वाद्यत्वं प्रवर्ततेति भावः। तथा च स्थानिवत्सूत्रे भाष्यम्—"विशिष्टं ह्ययेषोऽनलमाश्रयते इट नाम" (म० भा० १।१।५६) इति। इतोऽपि हेतोर्धात्वङ्गेत्यादिपरिगणनमशुद्धमित्यवधेयम्।

अवधेयमिति। यदि "ग्रहोऽलिटि" (पा० सू० ८।२।२८) इति सूत्रे इटः स्थानित्वेन निर्देश इति तत्रानलाश्रयणम्, प्रकृते तु विसर्गे रेफस्यैव स्थानित्वाद्वैषम्यम्, "अनल्विधौ" इत्यस्य स्थान्यल्वृत्तिधर्माश्रये स्थानि-

---

भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य योऽशि। एतत्पूर्वकस्य रोर्यादेशः स्यादशि परे—इति वृत्तिः। मूले—अत्र=भोभगो इति सूत्रे। अत्र सूत्रे 'अशि' इति ग्रहणस्य फलं—'देवास्सन्ति' इति परममूले उक्तम्। अत्र सस्य रुत्वे विसर्गे सत्त्वे च रूपं सिध्यति। अश्परक-रोरभावाद् यत्वं न भवति। ननु 'देवार् सन्ति' ति दशायां यत्वस्या-

---

स्थानिवद्भाव करके रुत्व करने से 'य्' की अतिप्रसक्ति होती है। वह न हो, इसके लिए सूत्र में 'अश्परे' यह है। 'देवास् सन्ति' में अश् नहीं है। यत्व की आपत्ति नहीं है। चूंकि 'रु' इस समुदाय का यत्व करना है अतः अल्मात्रविधि न होने से स्थानिवद्भाव में कोई बाधा नहीं है, ऐसा समझना चाहिये।]

जिस प्रकार 'अग्रहीत्' इस में 'ग्रहोऽलिटि' इस सूत्र से विहित दीर्घ 'ई' का स्थानिवद्भाव से इट्त्व मानकर 'इट ईटि' यह सूत्र प्रवृत्त होता है। [और अग्रह् ई+स् ईत् में 'स्' लोप करता है।] इसी प्रकार यहाँ 'देवास्सन्ति' [देवाः सन्ति] में भी विसर्ग का [स्थानिवद्भाव करके] रुत्व करके यत्व की प्रवृत्ति होने लगेगी, [वह न हो सके इसके लिये सूत्र में 'अशि' इसका ग्रहण है] यह भाव है। जैसा कि 'स्थानिवदादेशः' (१।१।५६) सूत्र पर भाष्य है—"यह ['इट ईटि' सूत्र सकार का लोप करने में] विशिष्ट अनल् इट् का आश्रयण करता है।" इससे भी (अर्थात् इट् के आदेश ईट् का संग्रह न हो सकने के कारण भी) 'धात्वङ्गकृत्तद्धिताव्ययसुप्तिङ्पदादेशाः स्थानिवत्' यह प्राचीनोक्त परिगणन अशुद्ध है, ऐसा समझना चाहिए।

[शब्द०] प्राचीनोक्त परिगणन अशुद्ध समझना चाहिए। यदि 'ग्रहोऽलिटि' इस सूत्र में 'इट्' का स्थानीरूप से निर्देश है इसलिये उसमें अल्मात्र का आश्रयण नहीं है परन्तु प्रस्तुत स्थल पर [देवाः सन्ति में] तो विसर्ग में रेफ [अल्मात्र] का ही आश्रयण होने से भेद है। [दृष्टान्त में इट्=अल्-समुदाय स्थानी है और विसर्ग में अल्मात्र रेफ स्थानी है। अतः भेद स्पष्ट है।]—'अनल्विधि में' इसके

सम्बन्ध्यल्वृत्तिधर्माश्रये च नेत्यर्थं तत्र स्थान्यल्रेफवृत्ति रुत्वं स्थानिवत्त्वेन दुर्लभमल्विधित्वात् । स्पष्टं चेदं प्रकृतसूत्रे भाष्ये इत्युच्यते–तदा पयःस्वित्यत्र यत्ववारणायाशीति । तत्र हि "रोः सुपि" (पा० सू० ८।३।१६) इति विसर्गः । नियमशास्त्राणां च विधिमुखेनैव[1] प्रवृत्तिरिति तत्र रुविशिष्टः

सिद्धतया विसर्ग एव स्यादिति 'अश्' ग्रहणं व्यर्थमिति शंकां निराकर्तुं परममूले उक्तम् – 'यद्यपीह यत्वस्याद्धित्वाद् विसर्गो लभ्यते, तथापि विसर्गस्य स्थानिवद्भावेन रुत्वाद् यत्वं स्यात् ।' अयं भावः–स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' इति सूत्रेण उकारेत्संज्ञक-रुत्वरूपस्य विसर्ग-स्थानिवृत्तधर्मस्य विसर्गे तदभावति तत्प्रकारक ज्ञानविषयत्वरूपाति-देशाद् विसर्गस्यापि रो रूपत्वाद् यत्वं स्यात्तद्वारणाय 'अशि' इति ग्रहणं बोध्यम् । **न ह्ययमल्विधिः**, रोरिति समुदायरूपाश्रयणात् । तेन 'अनल्विधा'विति निषेधो न प्रवर्तेत, उक्त लक्ष्ये यत्वापत्तिः स्यादिति तद्वारणार्थम् 'अश्' इत्यस्य ग्रहणमावश्यकम् । मूले **धात्वङ्गेत्यादि** । 'स्थानिवत्' सूत्रे प्राचोक्तम् 'धात्वङ्गकृत्तद्धिताव्ययसुप्तिङ्प-दादेशाः' इतिपरिगणनमशुद्धम् । शब्दरत्ने––**तत्र**=='इट ईटि' इति सूत्रे । **प्रकृते**= भोभगो–इति सूत्रे । **वैषम्यमिति** । अत्र अल्मात्राश्रयणमिति भावः । **नेत्यर्थं** इति । स्थानिवद्भावो नेत्यर्थः । **तत्र**–देवाः सन्तीति लक्ष्ये । **दुर्लभमिति** । एवञ्च प्रकृतलक्ष्ये स्थानिवत्त्वस्याप्रसक्त्या 'अशि' इत्यस्य ग्रहणं व्यर्थमिति भावः । **तदा**=उक्तलक्ष्ये स्थानिवद्भावाप्रवृत्त्या दोषाभावे इत्यर्थः । **तत्र**=पयः सु इति

(१) 'स्थानी अल्वृत्ति धर्म का आश्रय लेकर होने वाली विधि में' और (२) 'स्थानी का सम्बन्धी=अवयव जो अल् तद्वृत्ति धर्म को मानकर होने वाली विधि में स्थानि-वद्भाव नहीं होता है'—ये दो अर्थ हैं, इनमें स्थानी अल् रेफ में रहने वाला धर्म रुत्व स्थानिवद्भाव से लाना दुर्लभ है, क्योंकि अल्मात्रविधि है, यह सब प्रस्तुत सूत्र पर भाष्य में कहा गया है—ऐसा यदि कहा जाय तब तो—'पयः सु' इसमें यत्व का वारण करने के लिए [सू० में] 'अशि' इसका ग्रहण है । क्योंकि यहाँ 'रोः सुपि' इस सूत्र से विसर्ग होता है । [इसलिये यहाँ अनल्विधि होने से स्थानिव-द्भाव करके 'यत्व' की अतिप्रसक्ति है । उसके वारण के लिए 'अशि' का ग्रहण है ।] और नियमशास्त्रों की विधिमुखेन [विधान करते हुए] ही प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार वहाँ 'पयः सु' में 'रु' यह उत्वविशिष्ट रेफ ही स्थानी है इसलिए

१. विधिमुखेनैवेति । नियामकशास्त्राणां द्विधाप्रवृत्तिः–1. विधिमुखेन, २. निषेधमुखेन च तत्र यदि नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यम्, नियामकशास्त्रीयोद्देश्य-तावच्छेदकव्यापकञ्च यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यता-वच्छेदकावच्छिन्ने सङ्कोच'तदा नियामकशास्त्रस्य विधिमुखेन प्रवृत्तिः, यथा

स्थानीति तद्वृत्तिरुत्वस्य स्थानिवत्त्वेन लाभः सुकरः। यदि तु "रोः सुपि"

स्थानिवद्भाव से उस रु में रहने वाले रुत्व का लाभ सरलतया हो जाता है। किन्तु

पदत्वयोग्यपूर्वोत्तरभागघटितसमुदायत्वावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन अर्थवत्-सूत्रीयार्थवत्त्वावच्छिन्ने संकोचे वाक्यस्येव समासस्यापि प्रातिपदिकत्वाप्राप्त्या विधिमुखेन प्रवृत्तिः। निषेधमुखेन प्रवृत्तौ तु नियामकशास्त्रीयोद्देश्यताप्रयोजकपदस्य स्वार्थभिन्नं यत् नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यनियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकरूपाच्छिन्नं तत्र भवतीत्यस्य न भवतीत्यर्थे लक्षणा, यथा समासभिन्नं यत् पदत्वयोग्यपूर्वोत्तरभागघटितसमुदायत्वावच्छिन्नं तत्प्रातिपदिकसञ्ज्ञं न भवति इत्यर्थेन वाक्यस्य प्रातिपदिकत्वाभावः समासस्य च तत्त्वं सिद्ध्यति। तत्र सति सम्भवे विधिमुखेनैव प्रवृत्तिः।

निषेधमुखेन प्रवृत्तेः स्वार्थहानि-परार्थकल्पना-शास्त्रबाधरूपदोषत्रयग्रस्तत्वात्। विधिमुखेन प्रवृत्तौ, निषेधार्थकत्वं तु उक्तरीत्या सङ्कोचेनफलितार्थमादायैव।

यत्र तु विधिमुखेन प्रवृत्तौ शास्त्रवैयर्थ्यम्, स्नुषाश्वश्रून्यायप्रसङ्गः, तत्रागत्या, निषेधमुखेनैव प्रवृत्तिः। यथा "हन्तेः, 'अत्पूर्वस्य" इत्यत्र अत्पूर्वस्येति नियमस्य। 'हन्तेः' इति शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं नियामक—"अत्पूर्वस्य" इत्येतच्छास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदक-व्यापकश्च रूपं हन्-धात्ववयवनत्वम्, हन्धात्ववयवाकारपूर्वकनत्वं वा। तत्राद्यधर्मावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन सङ्कोचे "हन्ते;" इति शास्त्रस्य लक्ष्यमेव किमपि न स्यादिति तद्वैयर्थ्यापत्तिः। द्वितीयधर्मावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन तु 'प्रहण्यात्' इत्यादौ 'हन्तेः' इत्यस्य प्राप्तिं वारयित्वा 'अत्पूर्वस्य' इत्यनेन णत्वं, नतु प्रघ्नन्ति इत्यत्रेति 'हन्तेः' इति प्राप्तिणत्ववारणान्नान्यत् किमपीति "स्नुषाश्वश्रून्यायविरोधः"। तथा चोभयथाऽपि संकोचासम्भवेन विधिमुखेन प्रवृत्तिसम्भवो नास्ति अतस्तत्रागत्या निषेधमुखेन प्रवृत्तिः। तत्र च "अत्पूर्वस्य" इत्यस्य अत्पूर्वभिन्नहन्धात्ववयवनस्य णत्वं नेत्यर्थ इति 'प्रघ्नन्ति' इति सिद्धम्, 'प्रहण्यात्' इत्यत्र तु 'हन्तेः' इत्यनेन णत्वमिति उभयोर्योगयोः सार्थक्यम्।

यत्र तु विधिमुखेन प्रवृत्तिः सम्भवति तत्र न निषेधमुखेन प्रवृत्तिः स्वीकार्या दोषत्रयापत्तेः। किन्तु विधिमुखेनैव। एवञ्च प्रकृते "रोः सुपि", इत्यत्र सप्तमीबहुवचनाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टरेफातिरिक्तत्वेन "खरवसानयोः" इत्यत्र संकोचेन विधिमुखेन प्रवृत्तिः सम्भवतीति "रोः सुपि" इत्यस्य विधिमुखेनैव प्रवृत्तिः स्वीकार्येति शब्दरत्नकाराणामाशयः।

निपाता इति। "भोभगो—" इति सूत्रे निर्दिष्टाश्चादेराकृतिगणत्वात्तत्र बोद्धयाः। तथा च "विभाषा भवद्भगवत्" इति वार्तिकं नाश्रयणीयम्।

(पा० सू० ८।३।१६) इत्यत्रापि "रः" इत्यनुवर्त्य रोः रेफस्यैव तेन विसर्गस्तदाऽश्ग्रहणमुत्तरार्थं सत्स्पष्टार्थमिहैव कृतमित्यवधेयम्।

तत्रेति। चादिष्वित्यर्थः। वार्त्तिकं नाश्रयणीयमिति। भो इत्यादिप्रयोगाणां निपातैरेव सिद्धेः। निपातानामपि सम्बोधनान्तभवदादिसमानार्थकत्वात् सम्बोधनविभक्त्ययन्तत्वेनामन्त्रितत्वमस्ति। "भवदादि" इत्यत्र भोः शब्द·

सप्तमीवहुवचनरूपे इत्यर्थः। **सुकर** इति। एवञ्च तत्र 'रोर्यत्वापत्तिवारणार्थम्' 'अशि' इत्यस्य ग्रहणं बोध्यम्। **उत्तरार्थम्**='हलि सर्वेषाम्' इति सूत्रेऽनुवृत्त्यर्थम्। मूले—**निर्दिष्टाः**=भो भगो अघो—इति शब्दा इत्यर्थः। **न सिध्येदिति**। भो

यदि 'रोः सुपि' इस सूत्र में भी ('रो रि' ८।३।१४ से) 'रः' इसकी अनुवृत्ति करके—रु के रेफ का ही विसर्ग उस सूत्र से होता है—(यह व्याख्या करें) तो 'अश्' इसका ग्रहण उत्तरवर्त्ती सूत्र ('हलि सर्वेषाम्' ८।३।२२) के लिए होता हुआ स्पष्टता के लिये इसी सूत्र में कर दिया गया है, ऐसा समझना चाहिये।

विमर्श—नियमशास्त्र की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है—(१) विधिमुखेन और (२) निषेधमुखेन। कभी विधान कराते हुए और कभी निषेध कराते हुए। इनमें विधिमुखेन प्रवृत्ति में ही लाघव है। नियम्य शास्त्रीय उद्देश्यतावच्छेदक व्याप्य और नियामक शास्त्रीय उद्देश्यतावच्छेदक व्यापक जो रूप होता है तद्रूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन (=उस रूप को छोड़ते हुए) नियम्य शास्त्रीय उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्न में संकोच (कमी) करने पर विधिमुखेन प्रवृत्ति होती है। प्रस्तुत स्थल पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' यह नियम्य और 'रोः सुपि' यह नियामक है। सप्तमीबहुवचनाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टरेफातिरिक्तत्वेन 'खरवसानयोः' इसमें संकोच से विधिमुखेन प्रवृत्ति होती है। इसका विशेष विवेचन संस्कृत टिप्पणी में देखें।

[मना०] भोस्, भगोस् तथा अघोस्—ये सकारान्त निपात हैं। 'भो-भगो-अघो-' इस सूत्र में निर्दिष्ट ये शब्द ['चादयोऽसत्त्वे' में] चादिगण के आकृतिगण होने से इन्हीं 'चादि' में इनको भी समझना चाहिये और इस प्रकार 'विभाषा भवद्भगवद्' आदि वार्त्तिक की आवश्यकता नहीं है। **[शब्द०]** क्योंकि 'भो' इत्यादि प्रयोगों की निपातों से ही सिद्धि हो जाती है। ये निपात भी सम्बोधनान्त भवत् आदि के समानार्थक हैं इसलिये सम्बोधन-विभक्त्यन्त होने से आमन्त्रित भी हैं। ['इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' इस सूत्र में 'दृशिग्रहणाद् भवदादियोगे एवेष्यते' यह लिखा है। यहाँ] 'भवदादि' इसमें आदि शब्द से 'भोः' इसका भी ग्रहण हो जाने से 'तत्र

अन्यथा पुंल्लिङ्गैकवचनमात्रे 'भो हरे' इत्यादिसिद्धावपि 'भो हरिहरौ', 'भो विद्वद्वृन्द', 'भो गङ्गे'—इत्यादि न सिद्धयेदिति भावः। एतच्च वृत्तिहरदत्तादिमतेनोक्तम्।

भाष्यस्वरसरीत्या तु "विभाषा—" इत्यादिवार्तिकमारब्धव्यमेव।

स्याप्यादिना ग्रहणात्तत्र भो इत्यादिसिद्धिरिति भावः। अन्यथा = साधारणानामभावे। भो विद्वद्वृन्देति। नपुंसके सोर्लुका लुप्तत्वेन वार्तिकाप्रवृत्तेरिति भावः। भो गङ्गे इति। विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणान्ङीपा व्यवधानाद्भवतः सम्बुद्धिपरत्वाभावेनेति भावः।

हरिहरौ—इत्यत्रैकवचनसम्बुद्धयभावात्, भो विद्वद्वृन्द इत्यत्र पुंल्लिङ्गत्वाभावात्, भो गङ्गे—इत्यत्रापि पुंल्लिङ्गत्वाभावाद् वार्त्तिकस्याप्रवृत्तिरिति शब्दरत्ने स्पष्टम्। शब्दरत्ने— **अत एवेति**। तस्य निपातस्य भवच्छब्दसमानार्थकत्वादेवेत्यर्थः। **अर्थत इति**। विनिगमनाविरहादुभयमत्र विवक्षितमिति भावः। **अन्यत्र** = मतुप्सूत्रस्थभाष्यकैयटयोः स्पष्टमित्यर्थः। सहप्रयोगास्यप्युपपत्तिमाह—**किञ्च**

भो' आदि प्रयोग भी सिद्ध हो जाते हैं, यह भाव है। [मनो०] 'विभाषा भवद' इस वार्त्तिक की आवश्यकता नहीं है। अन्यथा [शब्द०] साधारणनिपातरूप में स्वीकार न करने पर [मनो०] पुंल्लिङ्ग एकवचनमात्र में 'भो हरे' इत्यादि की सिद्धि होने पर भी 'भो हरिहरौ, भो विद्वद्वृन्द, भो गङ्गे'—इत्यादि [द्विवचन और स्त्रीलिङ्ग] की सिद्धि नहीं होगी, यह भाव है। यह वृत्ति और हरदत्तादि के मत से कहा है। [शब्द०] 'भो विद्वद्वृन्द' इसमें 'सु' का लुक् द्वारा लोप हो जाने से ['विभाषाभवद्' इस] वार्त्तिक की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह भाव है। 'भो गङ्गे' इसमें, विभक्ति में लिङ्गविशिष्ट का ग्रहण न होने से ङीप् के व्यवधान से 'भवद्' से सम्बोधन पर न होने से [वार्त्तिक की प्रवृत्ति नहीं होगी] यह भाव है।

[मनोरमाकार का आशय यह है कि 'भतुवसो रुः सम्बुद्धौ छन्दसि' (८।३।१) सूत्र पर 'विभाषा भवद्' यह वार्त्तिक पठित है। सम्बुद्धि = सम्बोधन एकवचन। सूत्र के समान वार्त्तिक भी सम्बोधन एकवचन में ही प्रवृत्त होकर इन शब्दों को व्युत्पादित करता है। अतः द्विवचन में ये शब्द प्रयुक्त नहीं हो सकते। 'भो हरिहरौ' नहीं हो सकता। एकवचन नपुंसक लिंग में 'सु' का लुक् हो जाने पर सम्बुद्धि परे नहीं है। अतः 'भो विद्वद्वन्द' नहीं बन सकता। और स्त्रीलिङ्ग में बीच में टाप् आ जाने से और विभक्तिग्रहण में लिङ्गविशिष्ट का ग्रहण न होने से सम्बुद्धि परे नहीं मिलता है। अतः 'भो गङ्गे' यह भी नहीं बन सकता।]

[मनो०] परन्तु भाष्य के स्वारस्य के अनुसार तो 'विभाषा भवद्' आदि

किं तु निपातोऽपि भोः शब्दोऽस्ति, तेन द्विवचनादौ स्त्रीनपुंसकयोश्च न दोषः। युक्ततरं चैतत्, हे भवन्निति वत् हे भो इति प्रयोगस्यापीष्टत्वात्। तस्य च वार्तिकारम्भ एव सिद्धेः। "स्युः प्याट्पाडङ्ग-हैहेभो" [अ० को० ३] इत्यमरोक्तानां सम्बोधनार्थानां निपातानां सह प्रयोगात्।

स्युः प्याड् इति। अस्य निपातमात्राङ्गीकारे इत्यादिः।

ननु निपातोऽप्ययं भवच्छब्दसमानार्थ एवेति हे भो इत्यस्य नासङ्गतिः। अत एव भाष्यकैयटयोर्वार्त्तिकसिद्धविभक्त्यन्तप्रतिरूपकमव्ययमित्युक्तं, विभक्त्यन्तप्रतिरूपकत्वं च शब्दतोऽर्थत इत्यन्यत्र स्पष्टम्।

किं च व्यतिलुनीत इत्यादिवदेतयोरपि सहप्रयोग सम्भव इत्यरुचेराह—

वार्त्तिक बनाना ही चाहिए। परन्तु निपात भी 'भोः' शब्द है। इस कारण द्विवचन और बहुवचन में तथा स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक लिङ्ग में कोई दोष नहीं है। और यह [निपात मानना] अधिक ठीक भी है, क्योंकि 'हे भवन्' इसके समान 'हे भो' यह प्रयोग भी इष्ट ही है। और यह तभी सिद्ध हो सकता है जब वार्त्तिक आरम्भ किया जाय। [इसको केवल निपात मानने पर] "प्याट् पाट् अङ्ग, है, हे, भो'— ये सम्बोधनार्थक हैं।" [अमरकोश ३। अव्ययवर्ग ७] इन अमरकोशोक्त सम्बोधनार्थक निपातों का एक साथ प्रयोग नहीं हो सकता। [इसलिये 'हे भो' दोनों का एक साथ प्रयोग उपपादित करने के लिये 'भो' को यौगिक बनाने के लिये वार्त्तिक की आवश्यकता है।]

[शब्द०] 'स्युः प्याट्' इसके पहले 'निपातमात्र मानने पर' यह जोड़ना चाहिये।

यह निपात भी 'भो' शब्द 'भवत्' शब्द का समानार्थक ही है अर्थात् भो तथा भवत् दोनों समानार्थक पर्याय ही हैं, इसलिए 'हे भो' इस प्रयोग की असंगति नहीं है। [जैसे 'हे भवन्' होता है वैसे 'हे भो' यह भी हो सकता है। 'भो' यह भवत् का समानार्थक है] इसीलिए भाष्य तथा उसके कैयटप्रदीप में वार्त्तिक से सिद्ध विभक्त्यन्त का प्रतिरूपक [समान] अव्यय कहा गया है, और यह विभक्त्यन्तप्रतिरूपकता—तुल्यता शब्द तथा अर्थ दोनों की दृष्टि से ली जाती है, यह अन्यत्र ['तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' ५।२।९४ इस सूत्र पर भाष्य और कैयटप्रदीप में] स्पष्ट है।

[एक साथ प्रयोग का समर्थन—] और भी, 'व्यतिलुनीते के समान इन 'हे भो' शब्दों का भी एक साथ प्रयोग सम्भव है। [जैसे व्यतीहारविशिष्ट क्रियावाचक लूञ् लुधा के द्योतक आत्मनेपद और उपसर्ग इन दोनों का सहप्रयोग है, वैसा ही 'हे भो'

किं चात्रभवान् हरिः, तत्रभवान् इतिवत् 'तत्र भो' इत्याद्यपि वार्तिके सत्येव सिद्धयति। "इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते" (पा० सू० ५।३।१४) इति सर्वविभक्त्यन्तात्त्रतसोर्भवदादियोग एवेष्टत्वात्।

किञ्चामन्त्रितत्वे पदात्परस्याष्टमिकनिघातः। "आमन्त्रितं पूर्वम्—" (पा० सू० ८।१।७२) इत्यविद्यमानवद्भावः। "आम एकान्तरम्—" (पा० सू० ८।१।५५) इति विधिः। "वाक्यादेरामन्त्रितस्य—" (पा० सू० ८।१।८) इति द्विर्भावः। "सुबामन्त्रिते" (पा० सू० २।१।२) इति पराङ्गवद्भावश्चेत्यादि सर्वं सिद्धयति, न त्वन्यथेति दिक्।

किं चेन्नि।

पदात्परस्येति। इदं च न भोःशब्दे फलम्, उभयोरपि भोःशब्दयोः सम्बोधनप्रथमान्तत्वेनामन्त्रितत्वात्। किं तु तिष्ठसि भगो, 'तिष्ठसि अघो' इत्यादौ

में भी सम्भव है]—इस अरुचि के कारण कह रहे हैं—[मनो०] और भी, 'अत्रभवान् हरिः, तत्रभवान् हरिः' इसी के समान 'तत्रभो' इत्यादि भी वार्त्तिक रहने पर ही सिद्ध हो सकता है ; क्योंकि 'इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते' इस सूत्र से सर्वविभक्त्यन्त से होने वाले 'त्रल्' तथा 'तस्' प्रत्यय केवल भवत् आदि के प्रयोग में इष्ट हैं [अन्यत्र नहीं]। [अतः 'तत्रभवान्' के समान 'तत्रभोः' इसकी सिद्धि के लिये वार्त्तिक आवश्यक है।]

और भी, आमन्त्रित [सम्बोधनान्त] होने पर पद से परे रहने वाले का अष्टमाध्याय के 'आमन्त्रितस्य च' इससे [तिष्ठसि भगो आदि में] निघात=अनुदात्त होता है। [भगो तिष्ठसि आदि में] 'आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' इस सूत्र में पूर्ववर्ती आमन्त्रित का अविद्यमानवद्भाव होता है। ['आम् देवदत्त भगो' आदि में] 'आम एकान्तरितमामन्त्रितमनन्तिके' [आम् से परे एकपद से व्यवहित आमन्त्रित अनुदात्त नहीं होता है। इससे निषेध—] विधि होती है। और '[असूया आदि में वाक्य के आदि आमन्त्रित का द्वित्व होता है—इत्यर्थक] 'वाक्यादेरामन्त्रितस्य'' इस सूत्र से 'भगो भगो आगच्छ' आदि में द्वित्व होता है। और [आमन्त्रित परे रहते सुबन्त का पराङ्गवद्भाव होता है—इत्यर्थक] 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' इस सूत्र से 'धनेन भगो' आदि में 'धनेन' का पराङ्गवद्भाव सिद्ध होता हैं। अन्य किसी रीति से ये कार्य नहीं हो सकते। [अतः वार्त्तिक की आवश्यकता है।]

[शब्द०] आमन्त्रित होने पर पद से परे का निघात होता है। और यह निघात करना 'भोः' शब्द में फल नहीं है। [अर्थात् निपात और वार्त्तिकनिष्पन्न दोनों पक्षों में 'भो' यह फल नही है।] क्योंकि दोनों प्रकार के 'भो' शब्द सम्बोधन

भगो, अघो इति निपातावपि यदि प्रामाणिकौ तर्हि स्तान्नाम्। आमन्त्रितकार्यसिद्धिस्तु वार्त्तिकाऽऽयत्तैवेति सुधीभिराकलनीयम्।

भगवन्, अघवन् तिष्ठसीत्यर्थके "आमन्त्रितस्य—" इति निघातसिद्धिः। निपातयोस्तु तयोः सम्बोधने शक्तौ मानाभावेन सम्बोधनप्रथमान्तत्वाभावेनामन्त्रितत्वाभावात्। भगो तिष्ठसीत्यादौ अविद्यमानत्वम्। 'आम् देवदत्त भगो' इत्यादौ एकान्तरता। 'भगो, भगो आगच्छ' इत्यादौ द्विर्भावः। 'धनेन भगो' इत्यादौ पराङ्गवत्त्वमिति भावः। **यदि प्रामाणिकावित**। यदीत्यनेनेदं

व्यतीति। **अरुचेरिति**। यद्यद् वार्त्तिकारम्भस्य फलमुक्तं तत्तदन्यथासिद्धिरुक्तैव ऋलादिसिद्धिरपि 'भवदादी'त्यत्रादिशब्दोपादानेन साधितैवेत्यरुचेरित्यर्थः। **एकान्तरता**=एकव्यवधानम्। मूले—**विधिरिति**। आमन्त्रितस्यानुदात्तनिषेधविधि-

---

प्रथमा-विभक्त्यन्त होने से आमन्त्रित हो जाते हैं। [और आमन्त्रित के अविद्यमानवत् हो जाने से पद से परे न मिलने से निघात की प्राप्ति नहीं है। परन्तु 'भगवन् तिष्ठसि' इस अर्थ वाले "तिष्ठसि भगो" और "तिष्ठसि अघवन्" इस अर्थवाले 'तिष्ठसि अघो' इत्यादि [तिष्ठसि पद से परे अपदादि] में आमन्त्रित 'भगो' तथा 'अघो' का निघात सिद्ध हो जाता है। किन्तु निपात 'भगो' तथा 'अघो' इन शब्दों की सम्बोधन अर्थ में शक्ति होने में कोई प्रमाण नहीं है, इस कारण सम्बोधन-प्रथमान्त न होने से [ये दोनों शब्द] आमन्त्रित नहीं हैं। [परन्तु वार्त्तिक से निष्पन्न ये दोनों आमन्त्रित हैं, अतः इनमें निघात करना वार्त्तिक का फल है।] 'भगो तिष्ठसि' यहाँ ['आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवद्' से] 'भगो' अविद्यमानवत् हो जाता है। [अतः इसमें निघात नहीं होता है।] 'आम् देवदत्त भगो' इत्यादि प्रयोगों में एक आमन्त्रित [=देवदत्त] का अन्तर=व्यवधान है। (अतः प्राप्त निघात का निषेध 'आम एकान्तरम्' सूत्र से हो जाता है।) 'भगो, भगो आगच्छ' इत्यादि में ('वाक्यादेरामन्त्रितस्य' सूत्र से आमन्त्रित 'भगो' का) द्वित्व हो जाता है। और 'धनेन भगो' इत्यादि में ('सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे' सूत्र से सुबन्त 'धनेन' का) पराङ्गवद्भाव=आमन्त्रित का अङ्ग होना—(सिद्ध हो जाता है) यह भाव है।

[मनो०] यदि 'भगो' तथा 'अघो' ये निपात भी प्रामाणिक हो जाते हैं तो रहें। परन्तु आमन्त्रित मानकर जो कार्य होता है वह तो वार्त्तिक के ही अधीन है। (क्योंकि वार्त्तिक ही सम्बोधन में इन दोनों की सिद्धि करता है।) यह विद्वानों को सोंचना चाहिये। [शब्द०] मनोरमा के 'यदि' शब्द से यही सूचित होता कि

यत्तु वदन्ति—सकारान्तानेवैतान् निपातानास्थाय रुत्वौत्वे भाष्ये प्रत्या-ख्याते इति, तदतिरभसात्।

स्यादेतत्—निपातानामभ्युपगमे यत्वविधौ त एव गृह्येरन् प्रतिपदोक्तत्वात्। न तु सम्बुद्ध्यन्ताः, लाक्षणिकत्वादिति चेन्मैवम्; "स्वरितेनाधिकारः" (पा० सू० १।३।११) इत्यत्राधिकः कारोऽधिकार इति व्याख्यानमाश्रित्य लक्ष्यानुरोधेन स्वरितत्वमाश्रित्योभयग्रहणात्।

सूचितं—तौ न प्रामाणिकौ। अत एव भाष्ये "विभाषा भवत्—" इति व्याख्याय 'भो ब्राह्मणाः, भो ब्राह्मणी'त्यस्यैवासिद्धिमाशङ्क्याव्ययमेष भोः शब्दो विभक्तिप्रतिरूपकत्वादित्येवोक्तम्। एवं च भगो हरिहरावित्याद्यसाध्वेव।

तदतिरभसादिति। "भोभगो—" (पा० सू० ८।३।१७) "मतुवसोः—" (पा० सू० ८।३।१) इति सूत्रयोरस्यार्थस्य भाष्येऽस्पृष्टत्वादिति भावः।

ये दोनों (भगो, अघो निपात) प्रामाणिक नहीं है। (क्योंकि गणपाठ और कोश में ऐसा नहीं दिखाई देता है।) इसी लिये ('मतुवसोः ८।३।१७ इस सूत्र पर) भाष्य में 'विभाषा भवत्' इस वचन की व्याख्या करके 'भो ब्राह्मणाः' 'भो ब्राह्मणि' इसी की असिद्धि की शंका करके—'यह भो शब्द अव्यय है क्योंकि विभक्तिप्रतिरूपक (विभक्ति के समान अर्थवाला) है' इतना ही कहा है। (यदि भगो और अघो भी निपात होते तो बहुवचन 'अव्ययानि' ऐसा कहा जाता।) इस कारण 'भगो हरिहरौ' इत्यादि प्रयोग असाधु ही हैं।

[मनो०] जो यह कहते हैं—'सकारान्त ही इन निपातों को स्वीकार करके रुत्व तथा ओत्व का प्रत्याख्यान भाष्य में किया गया है'—वह तो अतिशीघ्रता से (अविचारपूर्वक) कहा गया है। [शब्द०] क्योंकि यह (पूर्वोक्त) "भो-भगो-अघो' तथा 'मतुवसो रुः' इन दोनों सूत्रों के भाष्य में स्पृष्ट तक नहीं किया गया है, यह भाव है।

[मनो०] यह हो—[भो-भगो-अघो इन] निपातों को स्वीकार करने पर यत्व की विधि में इन निपातों का ही ग्रहण होगा क्योंकि ये प्रतिपदोक्त हैं, न कि [वार्त्तिकनिष्पन्न] सम्बुद्ध्यन्तों का, क्योंकि वे लक्षण द्वारा निष्पन्न हुए हैं—यदि ऐसा कहते हो तो नहीं कह सकते, क्योंकि 'स्वरितेनाधिकारः' इस सूत्रभाष्य में 'अधिक कार=अधिकार' इस प्रकार के व्याख्यान का आश्रय लेकर लक्ष्यानुरोध से स्वरितत्व मानकर [इस यत्वविधि में] दोनों का ग्रहण होता है अर्थात् निपात तथा वार्त्तिकनिष्पन्न दोनों के रु का य् होता है।

"भुवश्च महाव्याहृतेः" (पा० सू० ८।२।७१) इति सूत्रे महाव्याहृतिग्रहणं लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाया अनित्यत्वज्ञापनार्थमिति हरदत्ताद्युक्तेश्च।

उभयग्रहणादिति। वार्त्तिकबोधितसाधुत्वानामपि "कुलटाया वा" (४।१।१२७) इत्यादौ कार्यान्तरबोधनाय सूत्रकृताऽनुवादस्य करणादिति भावः। हरदत्तेति। एवं चानित्यत्वात्तदप्रवृत्तौ उभयोर्ग्रहणसिद्धिरिति भावः।

रित्यर्थः। शब्दरत्ने--अत एव=भगोस्, अघोस्--इति निपातयोरप्रामाणिकत्वाद्वेवेत्यर्थः। एवेति। न तु अव्ययानि एते शब्दा इत्युक्तमिति भावः।

प्रकाशकारमतं खण्डयितुं प्रस्तौति-यत्त्विति। ननु सूत्रकार-पाणिनिसमये वार्त्तिककारकात्यायनस्य स्थित्यभावेन एतद्बोधितोभयानुवादस्यैवासम्भवेनाशङ्का

[शब्द०] यत्वविधि में दोनों का ग्रहण होता है, क्योंकि वार्त्तिक से जिनके साधुत्व का बोध होता है उनका भी 'कुलटाया वा' इत्यादि सूत्रों में [प्रत्ययविधान आदि] अन्य कार्य का बोध कराने के लिये सूत्रकार पाणिनि ने अनुवाद किया है, यह भाव है।

[यद्यपि पाणिनि पहले हुए हैं और वार्त्तिककार कात्यायन बाद में। अतः कात्यायन के वार्त्तिक पर आधृत कोई कार्य सूत्र से नहीं होना चाहिये था। अतः 'मतुवसोः' आदि वार्त्तिक से निष्पन्न 'भोस्' आदि के 'रु' का य् सूत्र से कैसे होगा? इसका समाधान यह है कि 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' वार्त्तिक से ही पररूप करने पर 'कुलटा' शब्द बनता है। यह वार्त्तिक पाणिनि के बाद बना है। अतः 'कुलटा' शब्द पाणिनि को नहीं प्रयुक्त करना चाहिये था, परन्तु उन्होंने 'कुलटाया वा' इस सूत्र में उसी का प्रयोग किया है। अतः यह मान लेना चाहिये कि वार्त्तिक के अन्य लक्ष्य भी सूत्र के विषय बन सकते हैं। अतः यत्व होता है।]

[मनो०] और 'भुवश्च महाव्याहृतेः' इस सूत्र में 'महाव्याहृति' शब्द का ग्रहण करना 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्' इस परिभाषा की अनित्यता को ज्ञापित करने के लिये है, ऐसा हरदत्त आदि ने कहा है। ['भुवश्च महाव्याहृतेः' इस सूत्र में क्विप्प्रत्ययान्त पृथ्वीवाचक 'भू' शब्द की षष्ठीविभक्ति के रूप का ग्रहण है या 'भुवरित्यन्तरिक्षम्' इस 'भुवः' का? इस सन्देह में लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा के द्वारा महाव्याहृति 'भुवर्' का ही ग्रहण होता। तब सूत्रस्थ 'महाव्याहृति' व्यर्थ होकर इस परिभाषा की अनित्यता ज्ञापित करता है। तब इसका ग्रहण चरितार्थ हो जाता है।] [शब्द०] और इस प्रकार अनित्य होने के कारण यहाँ भी लक्षणप्रतिपदोक्त परिभाषा की प्रवृत्ति न होने पर दोनों प्रकार के [भो आदि] शब्दों का ग्रहण सिद्ध हो जाता है, यह भाव है। कारण यह है कि

न चैवमपि प्रभोरित्यादावतिव्याप्तिः, परस्परसाहचर्येण निपातानां वार्तिकोक्तानां च ग्रहणेऽप्यन्येषामग्रहणात् ॥

"विभाषा भवत्—" इतिवार्तिके भो ब्राह्मणा भो ब्राह्मणीत्यसिद्ध्याशङ्कायामव्ययमेष भोः शब्द इति सिद्धान्तेनोभयोरत्र ग्रहणलाभादिति बोद्धयम्। **परस्परसाहचर्येणेति**। तेन चार्थवतामेव ग्रहणमिति भावः। अर्थवत्परिभाषयेत्यपि बोद्धयम्। **अन्येषाम्**=अनर्थकानाम्। सान्तरान्तान्यतरानुकरणमिति पक्षे प्रसिद्ध्या भो इत्यादिपूर्वकरेफान्तानामेवार्थवतां ग्रहणस्य न्याय्यतया भो इत्याद्योकारान्तानुकरणपक्षेऽपि वार्त्तिकनिष्पन्नानां निपातानां चैकदेशभूतभोशब्दादीनामेव ग्रहणमिति भावः। अत्रेदन्तत्त्वं—रान्तानामेवा-

---

समाधिश्चासङ्गते अत आह—**वार्त्तिकबोधितेति**। **कार्यान्तरेति**। 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इति वार्त्तिकाधीनकुलटासिद्धिमाश्रित्यैव पाणिनिना 'कुलटाया वा' इति सूत्रे प्रयोगप्रदर्शनात् तस्यापि तदनुवादकता नासंगतेति बोध्यम्। **ज्ञापनार्थमिति**। 'भू' शब्दस्य स्वत एव महाव्याहृतिरूपत्वेन तद्ग्रहणाभावेऽपि तद्ग्रहण-

---

'विभाषा भवत्' इस वार्तिक में 'भो ब्राह्मणाः' 'भो ब्राह्मणि' इत्यादि की असिद्धि की आशंका में 'यह भो शब्द अव्यय है' इस प्रकार के सिद्धान्त से यहाँ दोनों [निपात और वार्त्तिकनिष्पन्न] शब्दों के ग्रहण का लाभ होता है, ऐसा समझना चाहिये।

[**मनो०**] ऐसा अर्थात् दोनों प्रकार के शब्दों का ग्रहण मानने पर भी 'प्रभोः' इत्यादि में अतिव्याप्ति होने लगेगी, ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि परस्पर साहचर्य [= सहप्रयोग] के कारण [**शब्द०**] और इससे अर्थवानों का ही ग्रहण होता है, यह भाव है। 'अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता है' इस परिभाषा से, यह भी समझना चाहिये। इस कारण [**मनो०**] निपात शब्दों का और वार्तिक में कहे गये शब्दों का ग्रहण होने पर भी और दूसरे—अनर्थक [भो आदि] शब्दों का ग्रहण नहीं होता है। [**शब्द०**] सकारान्त या रेफान्त किसी भी एक का अनुकरण है—इस पक्ष में प्रसिद्धि के कारण 'भो' इत्यादि जिनके पूर्व में हैं ऐसे रेफान्त अर्थवान् शब्दों का ही ग्रहण उचित है, इसलिये 'भो' इत्यादि ओकारान्त के अनुकरणपक्ष में भी वार्तिकनिष्पन्न तथा निपात शब्दों के एकदेशभूत 'भो' आदि शब्दों का ही ग्रहण होता है [अन्य शब्द के अवयवभूत का नहीं], यह भाव है। यहाँ [इस विषय में] यह तत्त्व है—रान्त [वार्तिकनिष्पन्न भोर, भगोर्, तथा अघोर्] शब्दों का ही अनुकरण है। (अतः दोनों

"व्योर्लघु" (पा० सू० ८।३।११)   लघुप्रयत्नतरः = लघूच्चारणतरः ।

नुकरणं सूत्रे सन्ध्यभावो न्याय्य एवेति भाष्यस्वरसः ॥
लघूच्चारणतरः । लघुतरोच्चारणः ।

सम्भवे महाव्याहृतिग्रहणं लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाया अनित्यत्वे प्रमाणमिति तदभावः । शब्दरत्ने **एवञ्चेति** । तत्परिभाषाया अनित्यत्वे चेत्यर्थः । **तेन चेति** । साहचर्येणापीत्यर्थः । न केवलं साहचर्यमात्रं साधकमपितु परिभाषापीति प्रतिपादयति—**अर्थवत्परिभाषेति** । नन्वेवमपि सिद्धान्तस्य निर्णयो नेत्यत आह—**अत्रेदन्तत्त्वमिति** । **रान्तानामेवेति** । लक्षणवशनिष्पन्न-रान्तानामेवेत्यर्थः । एवञ्च लाक्षणिकत्वाविशेषात् निपातवार्त्तिकनिष्पन्नयोर्ग्रहणसिद्धिः । प्रभोरित्याद्येकदेश-व्यावृत्तिस्तु अनर्थकत्वेन माधितैव । एवकारेण सान्तौकारान्तपक्षयोर्व्यावृत्तिरिति भैरवीकाराः ॥

व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य । (८।३।१८) पदान्तयोर्वकारयकारयोर्लघूच्चारणौ वयौ वा स्तोऽशि परे । यस्योच्चारणे जिह्वाग्रोपाग्रमध्यमूलानां शैथिल्यं जायते, स लघूच्चारण इति वृत्तिः ॥

लिये जाते हैं । 'प्रभोः' का 'भोः' अनर्थक होने से नहीं लिया जाता है । इसमे सान्त तथा ओकारान्त पक्षों की व्यावृत्ति हो जाती है ।) सूत्र में सन्धि का न होना उचित ही है, यह भाष्य का स्वारस्य है ।

विमर्श—१. ओकारान्त, २. सान्त अथवा ३. रान्त भो, भगो तथा अघो–इनमें से किसका अनुकरण सूत्र में है ? शब्दरत्नकार रान्त का ही समर्थन करते हैं । इससे लाक्षणिक हो जाने से वार्त्तिकनिष्पन्न और निपात दोनों लिये जाते हैं । परन्तु जब रान्त मानते हैं तब अपने विषय में भी यह सूत्र प्रवृत्त होता है । अतः 'र्' का 'य्' कर देने पर 'ओतो गार्ग्यस्य' (८।३।२०) से 'य्' का लोप हो जाता है । चूंकि दोनों कार्य [यत्व और यलोप] त्रैपादिक हैं और पूर्वरूप (६।१।१०९) सपादसप्ताध्यायीस्थ है । अतः इसके लिए उक्त दोनों कार्य असिद्ध हैं । अतः सन्धि न होना ही ठीक है । परन्तु इस पक्ष में (१) वाक्यभेद—'भोर्, भगोर् अघोर् इनके अन्त्य का 'य्' होता है और अपूर्वक 'र्' का 'य्' होता है'—ये दो वाक्य मानने पड़ते हैं और (२) अघो शब्द तक द्वन्द्व करके षष्ठी का सौत्र लोप मानना पड़ता है ॥

व्योर्लघुप्रयत्नतरः । [पदान्त वकार और यकार के लघूच्चारण 'व्' तथा 'य्' होते हैं अश् परे रहते विकल्प से ।] लघुप्रयत्नतर = लघूच्चारणतर । **[शब्द०]** लघुतर उच्चारण वाला । (जिसके उच्चारण में ताल्वादि उच्चारण-स्थानों

स चान्तरतम्याद् वस्य वो यस्य य इत्याह—वयाविति ।

"ओतो गार्ग्यस्य" (पा० सू० ८।३।२०) ओकारादिति । यत्तु—ओकारान्तादङ्गादिति प्राचा व्याख्यातम् । तन्न, अङ्गस्याप्रकृतत्वात् असम्भवाच्च । न ह्युदाहरणेऽत्रोकारान्तमङ्गमस्ति ।

"हलि सर्वेषाम्" (पा० सू० ८।३।२२) यकारस्येति । वकारस्तु नानुवर्तते, भोभगोअघोपूर्वस्यासम्भवात् । अपूर्वस्तु यद्यपि सम्भवति—वृक्षव् करोतीति । तथापि तत्र लोपाप्रसङ्गः । अशीत्यनुवर्त्याशा हलो विशेषणात् । वृक्षव् हसतीत्यादि तु ऽनभिधानादसाध्वित्याहुः । गव्यमित्यत्र तु पदान्तत्वं

हलो विशेषणादिति । स्पष्टं भाष्ये । इत्याहुरिति । हरदत्तादयः । वकारलोपे ततस्तदर्थानवगतेरित्यर्थः । एवं च करोत्यादिपरेऽपि तत एव

की और जीभ के अग्र, उपाग्र, मध्य और मूल के प्रयत्नों की मन्दता होती है, उसे लघुप्रयत्नतर समझना चाहिये । यहाँ लाघव के प्रकर्ष को प्रयत्न में आरोपित करके तरप् प्रत्यय हुआ है । अतः लघुतर प्रयत्नवाला समझना चाहिये ।] [मनो०] और अत्यन्त सादृश्य के कारण 'व्' का 'व्' और 'य्' का 'य्' होता है, यही [कौमुदी में] कहा है—व और य होते हैं ।।

ओतो गार्ग्यस्य । [ओकार से परे पदान्त अलघुप्रयत्न वाले य् का नित्य लोप होता है । मनो०] ओकार से । जिस किसी प्राचीन ने—'ओकारान्त अंग से परे'—यह व्याख्या की है, वह ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ अंग का प्रकरण नहीं है और सम्भव भी नहीं है । क्योंकि उदाहरणों में ओकारान्त अंग नहीं है ।।

हलि सर्वेषाम् । [भो, भगो और अघो जिसके पूर्व में है और अकार जिसके पूर्व में है उस] यकार का [लोप होता है सभी के मत में ।] वकार की अनुवृत्ति नहीं होती है क्योंकि भो, भगो और अघो जिसके पूर्व में है ऐसा 'व' सम्भव नहीं है । (अतः 'व' लोप नहीं होता है ।) यद्यपि अ जिसके पूर्व में है ऐसा 'व्' तो सम्भव है—वृक्षव् करोति । तथापि यहाँ उसके लोप का प्रसंग नहीं है, क्योंकि 'अशि' इसकी अनुवृत्ति करके 'अश्' से हल् को विशेषित करते हैं—(अश् रूप जो हल्, उसके परे रहते य्लोप होता है ।) (शब्द०) यह भाष्य में स्पष्ट है । [मनो०] 'वृक्षव् हसति' इत्यादि तो अनभिधान के कारण असाधु हैं, ऐसा (हरदत्त आदि ने) कहा है ।

[शब्द०] 'वृक्षव् हसति' आदि में 'व' लोप करने पर उस (अवशिष्ट शब्द) से अभीष्ट अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, यह अर्थ है । इसी तर्क के अनुसार 'करोति' आदि परे रहने पर भी [वलोप] नहीं होगा । अतः (वृक्षव् करोति आदि में लोपवारण के

नास्ति। गव्यूतिरित्यत्र तु वकारप्रश्लेषान्न वलोप इत्युक्तम्।

ननु 'देवा नम्या' इत्यादौ "लोपो व्योः—" (पा० सू० ६।१।७६) इत्येव सिद्धम्। मैवम्, तं प्रति यत्वस्यासिद्धत्वात्। देवा यान्तीत्यत्र वल्परत्वाभावाच्च।

अहोरात्र इति। "रात्राह्नाहाः-" (पा० सू० २।४।२९) इति

लोपो न भविष्यतीत्यशा हलो विशेषणं व्यर्थमिति सूचितम्। भाष्यमपि तदेकदेशयुक्तिरेव, "न पदान्ता परेऽणः सन्ति" इति "लण्" सूत्रस्थभाष्यविरोधाच्च।

लिये) अश् से हल् को विशेषित करना व्यर्थ है, यह सूचित किया है। (वृक्षव् करोति आदि में वलोप का प्रतिपादक) भाष्य भी एकदेशी का कथन ही है। और क्योंकि 'लण्' इस सूत्र के भाष्य में यह कहा गया है "कहीं भी परवर्त्ती ण् से होने वाले अण् पदान्त नहीं होते हैं।" (अतः 'व्' कहीं भी पदान्त सम्भव नहीं है। अतः उसके लोप का प्रश्न नहीं है।)

[मनो०] 'गव्यम्' इसमें पदान्त नहीं है। और 'गव्यूतिः' यहाँ तो वकार के प्रश्लेष के कारण 'व्' का लोप नहीं होता है—यह पहले (अच्सन्धि में 'गव्यूतिः' के प्रसंग में) कहा जा चुका है।

यह कि, 'देवा नम्याः' (=देवास्=देवारु=देवाय्+नम्याः) आदि में तो 'लोपो व्योर्वलि' इसी से (यलोप) सिद्ध है, (अतः इसके लिए 'हलि सर्वेषाम्' की क्या आवश्यकता)?—ऐसा मत कहो, क्योंकि उस लोपविधायक के प्रति यत्वविधि असिद्ध है। (क्योंकि यत्व त्रैपादिक है और लोप सपादसप्ताध्यायीस्थ।) और 'देवा यान्ति' इत्यादि में वल् परे भी नहीं है। (क्योंकि 'य' वल् में नहीं आता है। अतः सर्वत्र लोप के लिये प्रस्तुत सूत्र आवश्यक है।)

[रोऽसुपि। ८।२।६९। अहन् के न् का रेफ होता है सुप् परे न रहने पर। इस सूत्र पर अपवाद वार्त्तिक है 'रूपरात्रिरथन्तरेषु वाच्यम्।' इन रूपादि के परे रहते ही अहन् के 'न्' का रुत्व अन्त्यादेश होता है। 'एकदेश के विकार से अन्यवत् नहीं होता है' इस परिभाषा के बल से रात्रि और रात्र=अच् प्रत्ययान्त दोनों परे रहते रेफादेश होता है। मनो०] अहोरात्रः (अहश्च रात्रिश्च—यह समाहारद्वन्द्व करके 'अहन् रात्रि' इसमें "अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः' से अच् प्रत्यय और 'इ' का लोप हो जाता है। 'अहन् रात्र' में वार्त्तिक से 'न्' का रुत्व और 'हशि च' से 'रु' का 'उ' करने पर 'अहोरात्रः' बना है। यहाँ नपुंसकत्व न

पुंस्त्वम् ।

अहरादीनामिति । उभयत्राप्यादिशब्दः प्रकारे । तेन "स्वर्चक्षो रथिरः सत्यशुष्मः" । "विप्रः कविः काव्येन स्वर्चनः" इत्यादि ग्राह्यम् ।

तृढो वृढ इति । ऊदित्त्वेन वेट्कत्वात् "यस्य विभाषा" (पा० सू० ७।१।१५) इति निष्ठायां नेट् । ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपाः ।

ओतो गार्ग्यस्य । (८।३।२०) ओकारात् परस्य पदान्तस्यालघुप्रयत्नस्य यकारस्य नित्यं लोपः स्यात् । गार्ग्यग्रहणं पूजार्थम्—इति वृत्तिः ।।

हलि सर्वेषाम् । (८।३।२२) भो-भगो-अघो-अपूर्वस्य लघ्वलघूच्चारणस्य यकारस्य लोपः स्याद् हलि सर्वेषां मतेन—इति वृत्तिः । **अशा हलो विशेषणा-दिति** । अश्रूपे हलि परे इत्यर्थस्वीकारादिति भावः । शब्दरत्ने-**एवञ्चेति** । अत्रोक्तरीत्या लोपाभावस्य सिद्धौ चेत्यर्थः । **तत एवेति** । अर्थानवगतेरेवेत्यर्थः । **विरोधाच्चेति** । भाष्यविरोधात् हरदत्तोक्तमपि चिन्त्यमेवेति बोध्यम् । **मूलं-तं प्रतीति** । 'लोपो व्योर्वली'ति सप्तादमाध्यायीस्थसूत्रं प्रति त्रिपादीस्थप्रकृतसूत्र-विहितयत्वस्यासिद्धत्वमिति भावः ।

करके) 'राज्ञाह्नाहाः पुंसि' इस सूत्र से पुंल्लिङ्ग होता है ।

'पत्यादि शब्द परे रहते अहन् आदि के रेफ का विकल्प से रेफ ही आदेश होता है ।' इसमें दोनों 'आदि' शब्द प्रकार=सदृश अर्थ में हैं । इसलिये 'स्वर्चक्षो रथिरः सत्यशुष्मः' । 'विप्रः कविः काव्येन स्वर्चनः' इत्यादि का ग्रहण करना चाहिये । [इनमें स्वर्चक्षः और स्वर्चनः में रेफ का रेफ ही रहता है विसर्ग नहीं होता है । यह वैकल्पिक है, अतः पक्ष में यथासम्भव विसर्ग और उपध्मानीय भी होते हैं ।।]

[ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । ६।३।१११ । ढ् तथा रेफ के लोप के निमित्तभूत ढ तथा रेफ के परे रहते पूर्ववर्त्ती अण् का दीर्घ होता है । अण्ग्रहण का फल बताते हुए सिद्धान्तकौमुदी में लिखा है । [मनो०]—तृढः, वृढः । [तुदादिगण की हिंसार्थक तृहू और उद्यमनार्थक वृहू धातुओं के] ऊकार की इत्संज्ञा होने से वैकल्पिक इट्वाली हो जाती है अतः निष्ठा क्त परे रहते 'यस्य विभाषा' इससे इट् का निषेध हो जाता है। [तृह् + त, वृह् + त इस स्थिति में "हो ढः" से] ह् का ढ् ["झषस्तथोर्धोऽधः" से] 'त्' का ध्—तृढ् + ध, वृढ् + ध, ['ष्टुना ष्टुः' से] ष्टुत्व करके ध् का ढ्-तृढ् + ढ, वृढ् + ढ, [यहाँ 'ढो ढे लोपः' से ढ् को मानकर पूर्व] 'ढ्' का लोप हो जाने पर तृढः, वृढः । [इनमें प्रस्तुत सूत्र से दीर्घ नहीं होता है क्योंकि 'ऋ' अण् में नहीं आती है ।]

यत्तु प्राचा प्रत्युदाहृतं 'दृढः' इति, तन्न। तत्र ढलोपस्यैवाभावात्। तथा हि—"दृढः स्थूलबलयोः" (पा० सू० ७।२।२०) इति सूत्रेण दृंहेर्नकारहकारयोर्लोपः, तकारस्य ढत्वं च निपात्यते। न त्वसिद्धकाण्डस्थढत्वस्येह प्रवृत्तिः, 'दादेर्धातोः—" (पा० सू० ८।२।३२) इति घत्वेन बाधात्। न च इडभावो ढत्वं च निपात्यतां, धत्वष्टुत्वढलोपास्तु भविष्यन्त्येवेति वाच्यम्, तथा सति परिद्रढय्येत्यत्र "ल्यपि लघुपूर्वात्" [पा० सू० ६।४।५६] इति णेरयादेशो न स्यात्। पारिदृढो कन्येत्यत्र "अणिञोः—" (पा० सू०

इडभावो ढत्वं चेति। चेन नलोपसङ्ग्रहः। ढलोपा इति। "ढो ढे लोप" (पा० सू० ८।३।१३) इत्येतद्दृष्ट्या ष्टुत्वं तु नासिद्धं सामर्थ्यादिति

'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः' इति वचनं प्रस्तौति—अहरायीति।

ढलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः। (पा० सू० ६।३।१११) इति सूत्रस्य प्रत्युदाहरणं प्रस्तौति—तृढो, वृढ इति। ऊदित्वेनेति। 'तृहू हिंसायाम्,' 'वृहू उद्यमने' अनयोरुकारः इत्संज्ञकः, तेन 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' इत्यनेन वैकल्पिक इट्। ननु ष्टुत्वविधायकं परत्रिपादीस्थम्, लोपविधायकं च 'ढो ढे लोपः' इति पूर्वत्रिपादी-

---

किसी प्राचीन ने जो यह उदाहरण दिया है—'दृढः'। परन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ ढलोप ही नहीं होता है। वह इस प्रकार है—"दृढ—यह स्थूल और बल अर्थों में निपातित होता है" इस सूत्र से [दृंह् + क्त = त में] दृंह् धातु के नकार = अनुस्वार का और हकार का लोप तथा तकार का ढत्व निपातित किया जाता है। यहाँ असिद्धकाण्ड त्रिपादी में स्थित ["हो ढः" ८।२।३१ से होने वाले] ढत्व की प्रवृत्ति नहीं होती है, क्योंकि 'दादेर्धातोर्घः' इससे होने वाले 'घ' से 'ढ' का बाध हो जाता है। [अतः 'ढ्' का लोप सम्भव नहीं है।] यह कहें कि—इट् का अभाव तथा ढत्व [च के बल से नलोप का भी संग्रह हो जाता है इन] का निपातन किया जाय। धत्व, ष्टुत्व और ढलोप तो होंगे ही। [शब्द०] 'ढो ढे लोपः' इस की दृष्टि से ष्टुत्व ["ष्टुना ष्टुः" ८।४।४१] तो असिद्ध होता नहीं, क्योंकि [ढलोप के] विधान का सामर्थ्य है, [अर्थात् यदि ष्टुत्व असिद्ध होगा तो कहीं भी ढ परे नहीं मिलेगा, लोप संभव न होने से 'ढो ढे लोपः' व्यर्थ होने लगेगा। अतः ष्टुत्व असिद्ध नहीं होता है।] यह भाव है। [मनो०]—ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ऐसा दीर्घ मानने पर तो 'परिदृढय्य' इसमें 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इस सूत्र से णि = इ का अय् आदेश नहीं हो सकेगा। [क्योंकि अत्र पूर्व में लघु न मिल कर दीर्घ मिलने लगेगा।] और 'परिदृढी कन्या' यहाँ 'अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः

४।१।७८) इति ष्यङ् च स्यात्। ढलोपस्यासिद्धत्वेन गुरूपोत्तमत्वादिति भाष्ये स्थितम्।

यत्तु प्राचा व्याख्यातं—दृंहेरेवेदं निपातनं, दृहवृद्धाविति तु प्रकृत्यन्तरम्। तस्य निष्ठायामागशास्त्रस्यानित्यत्वादिडभावे "वा द्रुह—"(पा० सू०

भावः। **भाष्ये स्थितमिति।** "दृढः स्थूल—"(पा० सू० ७।२।२०) इति सूत्रे [इति] शेष.।

स्थम्, पूर्वं ढलोपं प्रति परस्य ष्टुत्वस्यासिद्धत्वेन ढत्वाभावात् कथमत्र ढलोप इत्यत आह—**सामर्थ्यादिति।** यदि सर्वत्र ष्टुत्वमसिद्धं स्यात्तदा लोपविधायकं शास्त्रं व्यर्थं स्यात्। अतो न तस्यासिद्धत्वमिति भावः। **णेरयादेश** इति। त्रिपादीस्थलोपविधायकं शास्त्रं सपादसप्ताध्यायीस्थ-णेरयादेशविधायकं प्रति असिद्धं स्यादिति भावः। एवञ्च लघुपूर्वत्वाभावात् णेरयादेशो न स्यादिति भावः। ढकारद्वयस्य संयोगेन गुरूपोत्त-

---

ष्यङ् गोत्रे' इस सूत्र से ष्यङ् होने लगेगा, क्योंकि ढलोप के असिद्ध हो जाने से गुरु उपोत्तम [अन्त्य से पूर्व] हो जाता है, यह भाष्य में स्थित है। [**शब्द०**] "दृढः स्थूलबलयोः" (७।२।२०) इस सूत्र के भाष्य में—इतना शेष है।

विमर्श—'दृढः स्थूलबलयोः' यह सूत्र 'दृंह्+त' में न्=अनुस्वार और ह् का लोप तथा 'त्' का 'ध्' निपातित करके 'दृढः' बनाता है। यदि इट् का अभाव और ह् का ढत्व निपातित कर दिया जाय, धत्वष्टुत्व और ढलोप होना संभव ही है। फलतः यह "दृढः" भी प्रत्युदाहरण बन सकता है। परन्तु 'परिदृढं करोति' इस अर्थ में णिच् करके 'परिदृढि' धातु से क्त्वा और उसका ल्यप् करने पर 'परिदृढि+य' यहाँ 'ल्यपि लघुपूर्वात्' से 'णि' का अय् आदेश नहीं हो सकेगा क्योंकि 'ल्यपि लघुपूर्वात्' [६।४।५६] की दृष्टि में 'ढो ढे लोपः' [८।३।१३] असिद्ध है। अतः सयुक्त 'ढ्ढ्' मिलने से दीर्घ पूर्व में होगा, लघु नहीं। इसी प्रकार 'द्रढिका' में 'र ऋतो हलादेर्लघोः' से रेफ आदेश नहीं हो सकेगा। और 'परिदृढस्य अपत्यं कन्या' यहाँ उपोत्तम गुरु हो जायगा, लघु नहीं मिलेगा। अतः 'अणिञोरनार्षे' सूत्र से ष्यङ् की अतिप्रसक्ति होगी, ङीप् नहीं-हो सकेगा। परन्तु जब 'दृढः स्थूलबलयोः' (७।२।२०) से हलोप निपातित होता है तो वह असिद्ध नहीं होता है। अतः उक्त स्थलों में कोई भी अनुपपत्ति नहीं आती है।

[**मनो०**] किसी प्राचीन आचार्य ने जो यह व्याख्या की है—['दृढः' यह] 'दृंह्' का ही निपातन है, वृद्धि अर्थवाली 'दृह' धातु तो दूसरी ही है। इस 'दृह्' धातु से निष्ठा 'त' प्रत्यय करने पर आगम शास्त्र के अनित्य होने से इट् न होने

८।२।३३) इत्यत्र "वा" इति योगविभागात् पक्षे घत्वाभावे ढलोपे च प्रत्युदाहरणमिदं द्रष्टव्यमिति, तन्न। उभयोरपि निपातनाभ्युपगमात्। तदाह वामनः—'अथ दृहिः प्रकृत्यन्तरमस्ति तस्याप्येतन्निपातनं नलोपवर्जं मिति। युक्तं चैतत्, अन्यथा हि अस्माद् णेरय् न स्यात्, ष्यङ् च स्यात्।" [काशिका ७।२।२०]

द्रष्टव्यमितीति। ष्यङि णेरयाभावे चेष्टापत्तिरिति भावः। उभयोरपीति। त्वदवलम्बभूतेन वृत्तिकृतेति शेषः। तदाह—वामन इति।

अत्रारुचिबीजं तु "दृहेर्नकारहकारलोपार्थमि" ति भाष्यविरोधः। 'अनिदितो दृहेस्तु दृहितमित्येवेष्यत" इति कैयटविरोधश्चेति। किं च प्रसादोक्तरीत्या दृहेरपि इडभावढत्वयोः सिद्धाविण्निषेधप्रकरणे दृढ इति निपातनस्य व्यर्थत्वमित्यलम्।

पर "वा द्रुह" इस सूत्र में 'वा' इस योगविभाग से अर्थात् वैकल्पिक घत्व करके पक्ष में घत्व न होने पर (ढत्व करके) ढलोप कर देने पर 'दृढः' को प्रत्युदाहरण समझना चाहिये। [शब्द०] ष्यङ् होने में और णि का अय् न होने में इष्टापत्ति है, यह भाव है। [मनो०] किन्तु ऐसा ठीक नहीं है, क्योंकि दोनों धातुओं का निपातन कार्य माना गया है। (अर्थात् दृंह अथवा दृह् दोनों से ही निपातनात् 'दृढः' की सिद्धि मानी गयी है।) [शब्द०] आपके अवलम्बभूत वृत्तिकार ने दोनों धातुओं का निपातन स्वीकार किया है, यह शेष है, यही कह रहे हैं—[मनो०] जैसा कि वामन ने (काशिका में) कहा है "यदि 'दृह' यह दूसरी धातु मान ली जाय तो उसके भी न्=अनुस्वार के लोप को छोड़कर शेष सभी कार्य निपातन से होते हैं। और यह ठीक भी है, क्योंकि ऐसा न मानने पर इस (परिवृढय्य) में णि का अय् नहीं होगा और (पारिवृढी कन्या में) ष्यङ् होने लगेगा।" ("दृढः स्थूलबलयोः' ७।२।२० पर काशिका वृत्ति)

[शब्द०] यहाँ वामन के कथन में अरुचि का बीज तो—"दृंह् के हकार और नकार=अनुस्वार के लोप के लिये (निपातन) है" इस भाष्य से विरोध और "अनिदित् 'दृह' धातु से तो 'दृहितम्' यही रूप इष्ट है" इस कैयटीय कथन से—विरोध है। और भी, प्रसादव्याख्या में कही गयी रीति से 'दृह्' धातु के इट् का अभाव और ढत्व सिद्ध रहने पर इट्निषेध-प्रकरण में 'दृढः' यह निपातन करना व्यर्थ हो जाता है, विस्तार अनावश्यक है। (भाव यह है कि 'वा द्रुह०" सूत्र के 'वा' का योगविभाग करना और इट् आगम की अनित्यता की कल्पना करना और भाष्यव्याख्यान की उपेक्षा करना सर्वथा असंगत है॥)

उत्वमेवेति । सिद्धासिद्धयोरतुल्यबलत्वेन "विप्रतिषेधे परम्—" (पा० सू० १।४।२) इत्यस्याप्रवृत्तौ निष्प्रतिपक्षत्वादुत्वमेव भवतीत्यर्थः। तदुक्तम्— "पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य" इति । एतेन विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे इत्यादि व्याख्यातम् ॥

सूत्रे सु इति पृथक् पदं लुप्तषष्ठीकमित्याह—एतत्तदोर्यः सुरिति ।

अभावादुत्तरस्येति । आहार्याभावारोपादित्यर्थः ॥

मत्वात् पाग्दिदृढी कन्येत्यत्र व्यङ्गापत्तिश्च । एतत्सर्वं "दृढः स्थूलबलयोः' (पा० सू० ७।२। ०) इति सूत्रे भाष्ये काशिकायां च स्पष्टम् । उभयोरिति । उभयरूपयोर्निपातनत्वेनैव सिद्धिरिति काशिकादौ प्रदर्शितमेति भावः । अन्यमिति । अस्याशयस्तु—सर्वावलम्बभूताभ्यां "दृढः स्थूलबलयोः" इति सूत्रस्थ-भाष्यकैयटाभ्यां विरोधः, योगविभागस्यागमशास्त्रानित्यत्वस्य चाप्रामाण्यमिति तत्त्वज्ञाः ।

[मनस्+रथः यहाँ 'ससजुषोः रुः' से 'स्' का 'रु' करने पर 'हशि च' ६।१।११४ से रु का 'उ' और 'रोरि' ८।३।१४ से 'र्' का लोप प्राप्त होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' के आधार पर परवर्त्ती कार्य=लोप की बलवत्ता सिद्ध हो जाती है। परन्तु 'पूर्वत्रासिद्धम्' के अनुसार लोप असिद्ध हो जाता है। और] (मनो०) सिद्ध तथा असिद्ध शास्त्र तुल्यबलवाले नहीं होते हैं, इस कारण यहाँ 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इसकी प्रवृत्ति न होने पर किसी प्रतिपक्ष बाधक आदि के न होने से 'रु' का 'उ' ही होता है, यह (कौमुदी की पंक्ति का) अर्थ है। जैसा कि भाष्य में कहा गया है—"पूर्वत्रासिद्ध में अर्थात् त्रिपादीस्थ शास्त्र के विषय में विप्रतिषेध=तुल्यबलविरोध नहीं होता है क्योंकि उत्तरवर्त्ती (त्रिपादी) शास्त्र का अभाव=असिद्धत्व रहता है।" (शब्द०) उत्तरवर्त्ती शास्त्र न होने से=आहार्य अभावारोप होता है इस कारण (तुल्यबलविरोध नहीं हो पाता है। वास्तव में त्रिपादी शास्त्र हैं परन्तु उनमें इच्छा से प्रतियोगिता-संबन्धेन अभाव का आरोप कर लिया जाता है) यह अर्थ है।

(मनो०) इससे अर्थात् त्रिपादी असिद्ध होने से रहता ही नहीं है इसी लिये (अदस् शब्द के रूपों में) विभक्तिसम्बन्धी कार्य पहले हो जाता हैं, और उत्व, मत्व बाद में होते हैं-इत्यादि की व्याख्या हो गयी। (अतः मनरु+रथः में 'रु' का उत्व और गुण आदेश करने पर 'मनोरथः' यह सिद्ध होता है ॥)

(मनो०) "एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि" (६।१।१३) इस सूत्र में 'सु' यह पृथक् पद है जिसमें षष्ठी का लुक् हुआ है—इसी कारण (सिद्धान्त-

'एतत्तदर्थगतसंख्याभिधायी यः सुस्तस्येत्यर्थः। एतत्तदोर्विहित इति व्याख्याने तु 'परमस ददाति परमैष ददाती'त्यादौ न स्यात्। अर्थद्वारकसम्बन्धाश्रयणे

'मनोरथः' इत्यस्य सिद्धिविषये प्रतिपादयति—उत्वमेवेति।

एतत्तदोः सुलोपः०। (६।१।१३२) अककारयोरेतत्तदोर्यः सुस्तस्य लोपः स्याद्धलि न तु नञ्समासे—इति वृत्तिः। इममर्थमेव स्पष्टीकरोति मूले—एतत्तदर्थ-

---

कौमुदी में) कहा गया है—'एतत् और तत् शब्द का जो सु, उसका लोप होता है (हल् परे रहते, परन्तु नञ्समास में नहीं)।' 'एतत्' और 'तत्' इनके अर्थ में रहने वाली संख्या का अभिधान करने वाला जो 'सु' उसका लोप होता है, यह अर्थ है। 'एतत्' तथा 'तत्' से विहित जो 'सु' उसका लोप होता है, इस व्याख्यान में तो 'परमस ददाति' 'परमैष ददाति' इत्यादि में सुलोप नहीं हो सकेगा। किन्तु अर्थ

---

१. 'एतत्तदोः' इति षष्ठी अर्थद्वारकसम्बन्धबोधिकेति बोध्यम्। न चानन्तरपदाध्याहारेण तन्निरूपितसम्बन्धबोधिका षष्ठीति वाच्यम्, तथा सति एतत्तदोरनन्तरस्य सोर्लोप इति सूत्रार्थेन 'परमः स ददाति' इति लक्ष्ये परमपदोत्तरसु-प्रत्ययस्य लोपापत्तेस्तस्य तच्छब्दानरन्तत्वात्।

नन्वर्थद्वारकसम्बन्धार्थकत्वस्वीकारेऽपि परमपदोत्तरसुप्रत्ययस्य तत्पदार्थसंख्याभिधायित्वेन लोपापत्तेस्तदवस्थितत्वमिति। न चैतच्छब्दसाहचर्यात् तच्छब्दानन्तरस्यापि परस्यैव गृहणेन न दोष इति वाच्यम्; तथा सति परशब्दस्यैवाध्याहारस्य फलिततया 'एतत्तदोः' इति षष्ठ्याः पञ्चम्यर्थे लक्षणापत्तेः, अनन्तरशब्दाध्याहारे उत्तरत्वस्य कथमप्यलाभाच्च। एतच्छब्दसाहचर्यस्य तत्राविनिगमकत्वात्, परम एष ददाति' इति प्रयोगे पूर्वस्यापि दर्शनात्—इति चेत् न, एतत्तच्छब्दार्थतावच्छेदकावच्छिन्नधर्मितानिरूपित—संख्यानिष्ठप्रकारताप्रयोजकसोर्लोप इत्यर्थस्य विवक्षणेन परमपदोत्तर—सुप्रत्ययार्थैकत्व—निष्ठप्रकारता - निरूपितधर्मितायास्तच्छब्दार्थतावच्छेदक—बुद्धिविशेषविषयावच्छिन्न - त्वाभावेनादोषात्। न चैवमपि 'तत्कल्पम्' इत्यत्र कल्पबन्तोत्तर—सुप्रत्ययस्य तच्छब्दार्थतावच्छेदकबुद्धिविशेषविषयत्वावच्छिन्न-धर्मितानिरूपितैकत्वसंख्याप्रयोजकत्वेन सुलोपापत्तिरिति वाच्यम, स्वार्थतावच्छेदकावच्छिन्न-धर्मितानिरूपित-संख्यानिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वम्, स्ववाच्याव्यवहितत्वम्—इत्येतदुभयसम्बन्धेन एतत्तद्विशिष्टसोर्लोप इत्यर्थस्य विवक्षणेन 'तत्कल्पम्' इत्यत्र प्रथम-सम्बन्धसत्त्वेऽपि द्वितीयसम्बन्धस्याभावेनोक्तदोषाभावादिति दिगिति **परम्परानुयायिनः।**

लिङ्गं तु "अनञ्समासे" इति बोद्धव्यम् । अकोः किमिति । साकचकयोः शब्दान्तरत्वादप्रसङ्ग इति प्रश्नः । एषक इति । "अकोः" इति प्रतिषेध एव "तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते" इति परिभाषां ज्ञापयतीति भावः ॥

बहुलग्रहणेति । अत एव लोपं विना पादपूरणेऽपि क्वचिद्भवति—सास्मा अरम् । सः अस्मै इति च्छेदः ॥

लिङ्गमिति । विहितविशेषणे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति भावः ॥

गतेति । न स्यादिति । परमतत्, परमैतत्—इत्याभ्यां विहितत्वेन केवलाभ्यामविहितत्वादिति भावः । शब्दरत्ने—तद्वैयर्थ्यमिति । अनञ्समासग्रहणवैयर्थ्यमित्यर्थः । 'असः' इत्यादौ प्रथमैकवचनसोस्तच्छब्दाद् विहितत्वाभावात् लोपप्राप्त्यसम्भवेन तद्ग्रहणवैयर्थ्यं स्पष्टमिति बोध्यम् ।

के माध्यम से (सु के) सम्बन्ध का आश्रयण करने में तो 'अनञ्समासे' यह कथन प्रमाण है। (शब्द०) विहित-विशेषण मान लेने पर तो 'अनञ्समासे' का ग्रहण व्यर्थ होना स्पष्ट ही है। (क्योंकि नञ्समास कर देने पर 'अतद् + सु' आदि में 'तद्' से विहित 'सु' नहीं मिलता है, अतः लोप प्राप्त ही नहीं है। तब उसके वारणार्थ 'अनञ्समासे' का ग्रहण व्यर्थ होकर अर्थगत सम्बन्धाश्रयण में प्रमाण होता है।) यह भाव है।

[मनो०] ककाररहित तत् और एतत् के सु का ओप होता है—इसका क्या प्रयोजन है क्योंकि अकच्‌विशिष्ट तो दूसरा शब्द हो जाता है। अतः सुलोप का प्रसंग ही नहीं है ? इस आशय से प्रश्न है। 'एषको रुद्रः'—(यहाँ सुलोप न हो-यह उत्तर है।) "अकोः' ककाररहित का (सुलोप होता है) यह प्रतिषेध ही—"उसके मध्य में आया हुआ उसके ग्रहण से ग्रहीत होता है"—इस परिभाषा को ज्ञापित करता है, यह भाव है। (अतः अकच्‌सहित भी एतत् और तत् ही मान लिये जाते हैं उनका सुलोप प्राप्त होता है, उसका वारण करने के लिए 'अकोः' चरितार्थ है। अतः सुलोप न होने पर रुत्व, उत्व और गुण होकर 'एषको रुद्रः' आदि बनता है ॥)

[सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम् (६।१।१३४) 'सस्' इसके सु का लोप होता है, अच् परे रहते, यदि लोप होने पर ही पाद की पूर्ति हो रही हो। 'होने पर ही' इस अवधारण की प्रतीति तो पूर्ववर्त्ती सूत्र 'स्यश्छन्दसि बहुलम्' (६।१।११३) से 'बहुल' की अनुवृत्ति से ज्ञात होती है। मनो०] इसलिये लोप के विना पाद पूरा होने पर भी कहीं-कहीं लोप हो जाता है; जैसे—साम्या अरम्। सः अस्मै अरम्—यह सन्धिविच्छेद है।

॥ इति स्वादिसन्धिः ॥

सास्मा अरमिति । सोस्मा अरमिति सन्धावपि पादपूर्त्तेः । न च "प्रकृत्यान्तः पादम्—" (पा० सू० ६।१।११५) इति पूर्वरूपस्याभावेन न पादपूर्त्तिः । "सोऽयमागात्" इत्यादाविवात्रापि प्रातिशाख्येन सिद्धेः । एवञ्चावधारणपरतया न व्याख्येयम् । "सोऽहमाजन्म—" [रघु० १।५] इत्यादौ बहुलग्रहणेन क्वचिदप्रवृत्त्यापि सिद्धेरिति तात्पर्यम् ॥

ज्ञापयतीति । एवञ्च प्रकृतपरिभाषाज्ञापनेन अकज्विशिष्टयोरपि ग्रहणापत्तिस्तद्वारणाय 'अकोः' इति भावः ॥

'सोऽचि लोपे०' (पा० सू० ६।१।१३४) इति सूत्रव्याख्यानप्रसङ्गे परममूले इदमुक्तम्—'सत्येव' इत्यवधारणं तु 'स्यश्छन्दसि बहुलम्' (पा० सू० ६।२।१३२) इति पूर्वसूत्राद् बहुलग्रहणानुवृत्त्या लभ्यते, तेनेह न—'सोहमा० जन्मशुद्धानाम्' । मूले—**अत एव**— बहुलग्रहणानुवृत्त्यैव । शब्दरत्ने—**प्रातिशाख्ये** इति । अयं भावः—'सोऽयमागात्' इत्यादौ यथा "अव्यादवद्यात्" (पा० सू० ६।१।११६) इति सूत्रप्राप्तः प्रकृतिभावो न भवति तथैव 'सास्मा अरम्' अत्रापि नैव भविष्यतीति भावः । ऋग्वेदप्रातिशाख्ये द्वितीयपटले अत्रत्यो विचारो द्रष्टव्यः । **एवञ्चेति ।** बहुलगृहणेनोक्तप्रयोगसाधने चेत्यर्थः । अस्य 'तात्पर्यमि' त्यत्रान्वयो

(**शब्द०**) 'सोस्मा अरम्' इस प्रकार की सन्धि में भी पाद की पूर्ति होती है । (क्योंकि कोई अन्तर नहीं है ।) यह कि, 'प्रकृत्यान्तः पादमव्यपरे' इस सूत्र से (प्रकृतिभाव के कारण) पूर्वरूप न होने से पादपूर्ति नहीं होती है,—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि 'सोऽयमागात्' [सः अयम् आगात्] के समान यहाँ भी प्रतिशाख्य से सन्धि सिद्ध हो जाती है । (अर्थात् प्रकृतिभाव नहीं होता है ।) इस प्रकार (बहुलगृहण से उक्त प्रयोजन सिद्ध हो जाने से) यहाँ अवधारणपरक (=लोप होने पर ही–यह) व्याख्या नहीं करनी चाहिये ।

"सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्' (रघुवंश १।५) इत्यादि में, बहुलग्रहण के कारण कहीं-कहीं इस सूत्र की प्रवृत्ति न होने से भी, सिद्धि हो जाती है, यह तात्पर्य है ।

विमर्श—जब 'बहुलम्' की अनुवृत्ति की जाती है तो उसी के बल से कहीं पर प्रवृत्ति होती है और कहीं पर नहीं । अतः लक्ष्यानुसार सुलोप करना अथवा न करना सिद्ध हो जाता है । इस स्थिति में मनोरमाकार द्वारा अवधारण 'सति एव' मानने की कोई आवश्यकता नहीं है ॥

(**मनो०**) ॥ इस प्रकार स्वादिसन्धि समाप्त हुई ॥

॥ इति पञ्चसन्धिप्रकरणम् ॥

———०———

॥ इति भट्टोजिदीक्षितपौत्रहरिदीक्षितकृते मनोरमाव्याख्याने लघुशब्दरत्ने पञ्चसन्धिप्रकरणम् ॥

———०———

बोध्यः। **सिद्धेरिति**। लोपाभावस्य सिद्धेरित्यर्थः। **लघुशब्दरत्नेति**। अनेन बृहच्छब्दरत्नस्यापि सत्ता सूचितेति बोध्यम्।

पूर्वाः व्याख्याः समालोच्य स्मारं स्मारं गुरोर्गिरः।
रचितेयं नवा व्याख्या विश्वनाथाय स्वर्प्यते ॥

॥ इति जयशङ्करलाल-त्रिपाठि-विरचितायां 'भावप्रकाशिका'-व्याख्यायां स्वादिसन्धिप्रकरणम् ॥

॥ इति पञ्चसन्धिप्रकरणम् ॥

———०———

॥ इस प्रकार पञ्चसन्धिप्रकरण समाप्त हुआ ॥

(शब्द०) ॥ इस प्रकार भट्टोजिदीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित द्वारा रचित मनोरमाव्याख्यान-लघुशब्दरत्न में पञ्चसन्धिप्रकरण समाप्त हुआ ॥

———*———

॥ इस प्रकार जयशङ्करलाल त्रिपाठि-विरचित 'भावबोधिनी' हिन्दीव्याख्या में सशब्दरत्न प्रौढमनोरमा का 'पञ्चसन्धि'-प्रकरण समाप्त हुआ ॥

॥ शुभम्भूयात् ॥

———*———
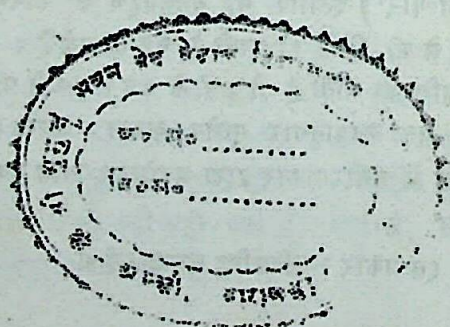
मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सीता'-'सावित्री' संस्कृत-हिन्दीव्याख्या नोट्स सहित

व्याख्याकार—पं. कालीकान्त झा

इसकी संस्कृत व्याख्या में 'सि. बालमनोरमा' टीका की तरह मूल ग्रन्थ के प्रतिपद की अतिसरल सुबोध शब्दों में व्याख्या की गयी है तथा सूत्रार्थ, वार्त्तिकार्थ और परिभाषाओं के विवेचन उदाहरण-प्रत्युदाहरण दे-देकर किये गये हैं। साथ में हिन्दी टीका और टीका के साथ विमर्शाख्य हिन्दी नोट्स हो जाने से सर्वसाधारण पाठक के लिए भी यह संस्करण सुलभ बोधगम्य हो गया है। संस्कृत टीका में प्रत्येक प्रयोग की साधनिका प्रश्नोत्तर लेखन-प्रकार की तरह की गयी है। अब परीक्षार्थियों को इस ग्रन्थ की प्रश्नोत्तरी की भी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

'सावित्री' हिन्दी व्याख्या नोट्स सहित

व्याख्याकार—पं. कालीकान्त झा

राष्ट्रभाषा प्रेमी छात्रों की तृष्टि के लिए तथा छात्र-सामान्य को अल्प व्यय में यह ग्रन्थ उपलब्ध हो सके, इसी उद्देश्य से यह लघुसंस्करण प्रकाशित किया गया है। विद्वान् लेखक ने ग्रन्थ के गूढार्थों का विमर्शाख्य नोट्स में सोदाहरण विवेचन किया है। यह इस संस्करण की प्रमुख विशेषता है।

परमलघुमञ्जुषा

सविमर्श 'भावप्रकाशिका'-'बालबोधिनी' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित

व्याख्याकार—डॉ. जयशंकरलाल त्रिपाठी

इस संस्करण की विशेषता-मूलग्रन्थ के प्रत्येक पद का आशय संस्कृत व्याख्या में लिखा गया है। हिन्दी में अनुवाद स्पष्ट न हो सकने वाले गंभीर स्थलों को 'विमर्श' के अन्तर्गत समझाया गया है। परिशिष्ट भाग में समस्त उद्धरणों के मूलस्थान का निर्देश, पारिभाषिक शब्दसूची आदि दी गयी है। भूमिका में ग्रन्थकार नागेशभट्ट के इतिहास पर विचार करते हुए ग्रन्थ के समस्त विषयों का संक्षेप में प्रतिपादन किया गया है, जो परीक्षार्थी छात्रों के लिए अधिक उपयोगी है।

Designed by : Sadhana Press, Vns.

फोन : २३३३४५८

अपरञ्च पुस्तक-प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन, गोलघर (मैदागिन) के पास

पो. बा. नं. १००८, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)

E-mail : cssoffice@satyam.net.in